☐ सम्पादकमण्डल
अनुयोगप्रवर्त्तक मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल'
श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री
श्री रतनमुनि
पण्डित श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल

☐ प्रबन्धसम्पादक
श्रीचन्द सुराणा 'सरस'

☐ सम्प्रेरक
मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'
श्री महेन्द्रमुनि 'दिनकर'

☐ प्रकाशनतिथि
वि. सं. २०४०, ई. सन् १९८३

☐ प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशनसमिति
जैनस्थानक, पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)

☐ मुद्रक
सतीशचन्द्र शुक्ल
वैदिक यंत्रालय,
केसरगंज, अजमेर—३०५००१

☐ मूल्य [illegible]

Published at the Holy Remembrance occasion
of
Rev. Guru Sri Joravarmalji Maharaj

TENTH ANGA

PRASHNAVYĀKARANA SUTRA

[With Original Text, Hindi Version, Notes, Annotations, Appendices etc.]

Proximity □
Up-pravartaka Shasansevi Rev. Swami Sri Brijlalji Maharaj

Convener & Chief Editor □
Yuvacharya Sri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

Translator □
Muni Shri Praveen Rishiji Maharaj

Editor □
Pt. Shobha Chandra Bharilla

Publishers □
Sri Agam Prakashan Samiti
Beawar (Raj.)

Jinagam Granthmala Publication No. 17

☐ **Board of Editors**

Anuyoga-pravartaka Muni Shri Kanhaiyalal 'Kamal'

Sri Devendra Muni Shastri

Sri Ratan Muni

Pt. Shobhachandra Bharilla

☐ **Managing Editor**

Srichand Surana 'Saras'

☐ **Promotor**

Munisri Vinayakumar 'Bhima'
Sri Mahendramuni 'Dinakar'

☐ **Publihers**

Sri Agam Prakashan Samiti,
Jain Sthanak, Pipaliya Bazar, Beawar (Raj.)
Pin 305901

☐ **Printer**

Satish Chandra Shukla
Vedic Yantralaya
Kesarganj, Ajmer

☐ **Price** Rs. 35/-

समर्पण

जिनके जीवन का क्षण–क्षण, कण-कण परम उज्ज्वल, निर्मल संयमाराधन से अनुप्राणित था,

जिनका व्यक्तित्व सत्य, शील तथा आत्मशौर्य की दिव्य ज्योति से जाज्वल्यमान था,

ध्यान तथा स्वाध्याय के सुधा-रस से जो सर्वथा आप्यायित थे,

धर्मसंघ के समुन्नयन एवं समुत्कर्ष में जो सहज आत्मतुष्टि की अनुभूति करते थे,

"मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णाः" के जो सजीव निदर्शन थे,

मेरे संयम-जीवितव्य, विद्या-जीवितव्य तथा साहित्यिक सर्जन में जिनकी प्रेरणा, सहयोग, प्रोत्साहन मेरे लिए अमर वरदान थे,

आगम-वाणी की भावात्मक परिव्याप्ति जिनकी रग-रग में उल्लसित थी,

मेरे सर्वतोमुखी अभ्युदय, धर्मशासन के अभिवर्धन तथा अध्यात्म-प्रभावना में ही जिन्होंने जीवन की सारवत्ता देखी,

उन परम श्रद्धास्पद, महातपा, बालब्रह्मचारी, संयम-सूर्य,

मेरे समादरणीय गुरुपम, ज्येष्ठ गुरु-बन्धु, स्व. उप-प्रवर्तक परम पूज्य प्रातःस्मरणीय

मुनि श्री व्रजलालजी स्वामी

म. सा. की पुण्य स्मृति में,

श्रद्धा, भक्ति, आदर एवं विनयपूर्वक समर्पित

—मधुकर मुनि

प्रकाशकीय

अतीव प्रसन्नता के साथ आगमप्रेमी स्वाध्यायशील पाठकों के कर-कमलों में दसवाँ अंग प्रश्नव्याकरण समर्पित किया जा रहा है। श्रीमद्भगवतीसूत्र और साथ ही प्रज्ञापनासूत्र के दूसरे भाग मुद्रणाधीन हैं। इनका मुद्रण पूर्त्ति के सन्निकट है। यथासंभव शीघ्र ये भी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किए जा सकेंगे। तत्पश्चात् उत्तराध्ययन मुद्रणालय में देने की योजना है, जो सम्पादित हो चुका है।

प्रस्तुत अंग का अनुवाद श्रमणसंघ के आचार्यवर्य पूज्य श्री आनन्दऋषिजी म. सा. के विद्वान् सन्त श्री प्रवीणऋषिजी म. ने किया है। इसके सम्पादन-विवेचन में पं. श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। आशा है पाठकों को यह संस्करण विशेष उपयोगी होगा।

श्रमणसंघ के युवाचार्य विद्वद्वरिष्ठ पूज्य श्री मिश्रीमलजी म. 'मधुकर' के प्रति, जिनके प्रवल प्रयास एवं प्रभाव के कारण यह विराट् श्रुतसेवा का कार्य सफलतापूर्वक चल रहा है, आभार प्रकट करने के लिए हमारे पास उपयुक्त शब्द नहीं है।

जिन-जिन महानुभावों का आर्थिक, बौद्धिक तथा अन्य प्रकार से प्रत्यक्ष-परोक्ष सहकार प्राप्त हो रहा है और जिसकी बदौलत हम द्रुतगति से प्रकाशन-कार्य को अग्रसर करने में समर्थ हो सके हैं, उन सब के प्रति भी आभार प्रकट करना हमारा कर्त्तव्य है।

अन्त में, घोर परिताप एवं दुःख के साथ उल्लेख करना पड़ रहा है कि जिन महान् सन्त की सात्त्विक सन्निधि और शुभाशीर्वाद से आगम प्रकाशन का यह पुण्य अनुष्ठान चल रहा था, उन प. पू. उपप्रवर्त्तक श्री व्रजलालजी म. सा. का सान्निध्य अब हमें प्राप्त नहीं रहेगा। दिनांक २ जुलाई, १९८३ को धूलिया (खानदेश) में आपका स्वर्गवास हो गया। तथापि हमें विश्वास है कि आपका परोक्ष शुभाशीर्वाद हमें निरन्तर प्राप्त रहेगा और शक्ति प्रदान करता रहेगा। प्रस्तुत आगम उन्हीं महात्मा की सेवा में समर्पित किया जा रहा है।

रतनचन्द मोदी	जतनराज मेहता	चांदमल विनायकिया
अध्यक्ष	महामंत्री	मंत्री

श्री आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

आदि-वचन

विश्व के जिन दार्शनिकों—दृष्टाओं/चिन्तकों ने "आत्मसत्ता" पर चिन्तन किया है, या आत्म-साक्षात्कार किया है, उन्होंने पर-हितार्थ आत्म-विकास के साधनों तथा पद्धतियों पर भी पर्याप्त चिन्तन-मनन किया है। आत्मा तथा तत्सम्बन्धित उनका चिन्तन-प्रवचन आज आगम/पिटक/वेद/उपनिषद् आदि विभिन्न नामों से विश्रुत है।

जैनदर्शन की यह धारणा है कि आत्मा के विकारों—राग-द्वेष आदि को साधना के द्वारा दूर किया जा-सकता है, और विकार जब पूर्णत: निरस्त हो जाते हैं तो आत्मा की शक्तियां ज्ञान/सुख/वीर्य आदि सम्पूर्ण रूप में उद्घाटित-उद्भासित हो जाती हैं। शक्तियों का सम्पूर्ण प्रकाश-विकास ही सर्वज्ञता है और सर्वज्ञ/आप्त-पुरुष की वाणी, वचन/कथन/प्ररूपणा—"आगम" के नाम से अभिहित होती है। आगम अर्थात् तत्त्वज्ञान, आत्म-ज्ञान तथा आचार-व्यवहार का सम्यक् परिबोध देने वाला शास्त्र/सूत्र/आप्तवचन।

सामान्यत: सर्वज्ञ के वचनों/वाणी का संकलन नहीं किया जाता, वह बिखरे सुमनों की तरह होती है, किन्तु विशिष्ट अतिशयसम्पन्न सर्वज्ञ पुरुष, जो धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते हैं, संघीय जीवन पद्धति में धर्म-साधना को स्थापित करते हैं, वे धर्मप्रवर्तक/अरिहंत या तीर्थंकर कहलाते हैं। तीर्थंकर देव की जनकल्याणकारी वाणी को उन्हीं के अतिशयसम्पन्न विद्वान् शिष्य गणधर संकलित कर "आगम" या शास्त्र का रूप देते हैं अर्थात् जिन-वचनरूप सुमनों की मुक्त वृष्टि जब मालारूप में ग्रथित होती है तो वह "आगम" का रूप धारण करती है। वही आगम अर्थात् जिन-प्रवचन आज हम सब के लिए आत्म-विद्या या मोक्ष-विद्या का मूल स्रोत हैं।

"आगम" को प्राचीनतम भाषा में "गणिपिटक" कहा जाता था। अरिहंतों के प्रवचनरूप समग्र शास्त्र-द्वादशांग में समाहित होते हैं और द्वादशांग/आचारांग-सूत्रकृतांग आदि के अंग-उपांग आदि अनेक भेदोपभेद विकसित हुए हैं। इस द्वादशांगी का अध्ययन प्रत्येक मुमुक्षु के लिए आवश्यक और उपादेय माना गया है। द्वादशांगी में भी बारहवां अंग विशाल एवं समग्र श्रुतज्ञान का भण्डार माना गया है, उसका अध्ययन बहुत ही विशिष्ट प्रतिभा एवं श्रुतसम्पन्न साधक कर पाते थे। इसलिए सामान्यत: एकादशांग का अध्ययन साधकों के लिए विहित हुआ तथा उसी ओर सबकी गति/मति रही।

जब लिखने की परम्परा नहीं थी, लिखने के साधनों का विकास भी अल्पतम था, तब आगमों/शास्त्रों/को स्मृति के आधार पर या गुरु-परम्परा से कंठस्थ करके सुरक्षित रखा जाता था। सम्भवत: इसलिए आगम ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा गया और इसीलिए श्रुति/स्मृति जैसे सार्थक शब्दों का व्यवहार किया गया। भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के एक हजार वर्ष बाद तक आगमों का ज्ञान स्मृति/श्रुति परम्परा पर ही आधारित रहा। पश्चात् स्मृतिदौर्बल्य, गुरुपरम्परा का विच्छेद, दुष्काल-प्रभाव आदि अनेक कारणों से धीरे-धीरे आगमज्ञान लुप्त होता चला गया। महासरोवर का जल सूखता-सूखता गोष्पदमात्र रह गया। मुमुक्षु श्रमणों के लिए यह जहाँ चिन्ता का विषय था, वहाँ चिन्तन की तत्परता एवं जागरूकता को चुनौती भी थी। वे तत्पर हुए श्रुतज्ञान-निधि के संरक्षण हेतु। तभी महान् श्रुतपारगामी देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने विद्वान् श्रमणों का एक सम्मेलन बुलाया और स्मृति-दोष से लुप्त होते आगम-ज्ञान को सुरक्षित एवं संजोकर रखने का आह्वान किया। सर्व-सम्मति से आगमों को लिपि-बद्ध किया गया।

जिनवाणी को पुस्तकारूढ करने का यह ऐतिहासिक कार्य वस्तुतः आज की समग्र ज्ञान-पिपासु प्रजा के लिए एक अवर्णनीय उपकार सिद्ध हुआ। संस्कृति, दर्शन, धर्म तथा आत्म-विज्ञान की प्राचीनतम ज्ञानधारा को प्रवहमान रखने का यह उपक्रम वीरनिर्वाण के ९८० या ९९३ वर्ष पश्चात् प्राचीन नगरी वल्लभी (सौराष्ट्र) में आचार्य श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में सम्पन्न हुआ। वैसे जैन आगमों की यह दूसरी अन्तिम वाचना थी; पर लिपिबद्ध करने का प्रथम प्रयास था। आज प्राप्त जैन सूत्रों का अन्तिम स्वरूप-संस्कार इसी वाचना में सम्पन्न किया गया था।

पुस्तकारूढ होने के बाद आगमों का स्वरूप मूल रूप में तो सुरक्षित हो गया, किन्तु काल-दोष, श्रमण-संघों के आन्तरिक मतभेदों, स्मृतिदुर्बलता, प्रमाद एवं भारतभूमि पर बाहरी आक्रमणों के कारण विपुल ज्ञान-भण्डारों का विध्वंस आदि अनेकानेक कारणों से आगमज्ञान की विपुल सम्पत्ति, अर्थबोध की सम्यक् गुरु-परम्परा धीरे-धीरे क्षीण एवं विलुप्त होने से नहीं रुकी। आगमों के अनेक महत्त्वपूर्ण पद, सन्दर्भ तथा उनके गूढार्थ का ज्ञान, छिन्न-विच्छिन्न होते चले गए। परिपक्व भाषाज्ञान के अभाव में, जो आगम हाथ से लिखे जाते थे, वे भी शुद्ध पाठ वाले नहीं होते, उनका सम्यक् अर्थ-ज्ञान देने वाले भी विरले ही मिलते। इस प्रकार अनेक कारणों से आगम की पावन धारा संकुचित होती गयी।

विक्रमीय सोलहवीं शताब्दी में वीर लोंकाशाह ने इस दिशा में क्रान्तिकारी प्रयत्न किया। आगमों के शुद्ध और यथार्थ अर्थज्ञान को निरूपित करने का एक साहसिक उपक्रम पुनः चालू हुआ। किन्तु कुछ काल बाद उसमें भी व्यवधान उपस्थित हो गये। साम्प्रदायिक-विद्वेष, सैद्धान्तिक विग्रह तथा लिपिकारों का अत्यल्प ज्ञान आगमों की उपलब्धि तथा उसके सम्यक् अर्थबोध में बहुत बड़ा विघ्न बन गया। आगम-अभ्यासियों को शुद्ध प्रतियां मिलना भी दुर्लभ हो गया।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में जब आगम-मुद्रण की परम्परा चली तो सुधी पाठकों को कुछ सुविधा प्राप्त हुई। धीरे-धीरे विद्वत्-प्रयासों से आगमों की प्राचीन चूर्णियां, निर्युक्तियां, टीकायें आदि प्रकाश में आईं और उनके आधार पर आगमों का स्पष्ट-सुगम भावबोध सरल भाषा में प्रकाशित हुआ। इससे आगम-स्वाध्यायी तथा ज्ञान-पिपासु जनों को सुविधा हुई। फलतः आगमों के पठन-पाठन की प्रवृत्ति बढ़ी है। मेरा अनुभव है, आज पहले से कहीं अधिक आगम-स्वाध्याय की प्रवृत्ति बढ़ी है, जनता में आगमों के प्रति आकर्षण व रुचि जागृत हो रही है। इस रुचि-जागरण में अनेक विदेशी आगमज्ञ विद्वानों तथा भारतीय जैनेतर विद्वानों की आगम-श्रुत-सेवा का भी प्रभाव व अनुदान है, इसे हम सगौरव स्वीकारते हैं।

आगम-सम्पादन-प्रकाशन का यह सिलसिला लगभग एक शताब्दी से व्यवस्थित चल रहा है। इस महनीय-श्रुत-सेवा में अनेक समर्थ श्रमणों, पुरुषार्थी विद्वानों का योगदान रहा है। उनकी सेवायें नींव की ईंट की तरह आज भले ही अदृश्य हों, पर विस्मरणीय तो कदापि नहीं, स्पष्ट व पर्याप्त उल्लेखों के अभाव में हम अधिक विस्तृत रूप में उनका उल्लेख करने में असमर्थ हैं, पर विनीत व कृतज्ञ तो हैं ही। फिर भी स्थानकवासी जैन परम्परा के कुछ विशिष्ट-आगम श्रुत-सेवी मुनिवरों का नामोल्लेख अवश्य करना चाहेंगे।

आज से लगभग साठ वर्ष पूर्व पूज्य श्री अमोलकऋषिजी महाराज ने जैन आगमों—३२ सूत्रों का प्राकृत से खड़ी बोली में अनुवाद किया था। उन्होंने अकेले ही बत्तीस सूत्रों के अनुवाद का कार्य सिर्फ ३ वर्ष व १५ दिन में पूर्ण कर अद्भुत कार्य किया। उनकी दृढ लगनशीलता, साहस एवं आगमज्ञान की गम्भीरता उनके कार्य से ही स्वतः परिलक्षित होती है। वे ३२ ही आगम अल्प समय में प्रकाशित भी हो गये।

इससे आगमपठन बहुत सुलभ व व्यापक हो गया और स्थानकवासी-तेरापंथी समाज तो विशेष उपकृत हुआ।

गुरुदेव श्री जोरावरमल जी महाराज का संकल्प

मैं जब प्रातःस्मरणीय गुरुदेव स्वामीजी श्री जोरावरमलजी म० के सान्निध्य में आगमों का अध्ययन-अनुशीलन करता था तब आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित आचार्य अभयदेव व शीलांक की टीकाओं से युक्त कुछ आगम उपलब्ध थे। उन्हीं के आधार पर मैं अध्ययन-वाचन करता था। गुरुदेवश्री ने कई वार अनुभव किया—यद्यपि यह संस्करण काफी श्रमसाध्य व उपयोगी है, अब तक उपलब्ध संस्करणों में प्रायः शुद्ध भी है, फिर भी अनेक स्थल अस्पष्ट हैं, मूलपाठों में व वृत्ति में कहीं-कहीं अशुद्धता व अन्तर भी है। सामान्य जन के लिये दुरूह तो हैं ही। चूंकि गुरुदेवश्री स्वयं आगमों के प्रकाण्ड पण्डित थे, उन्हें आगमों के अनेक गूढ़ार्थ गुरु-गम से प्राप्त थे। उनकी मेधा भी व्युत्पन्न व तर्क-प्रवण थी, अतः वे इस कमी को अनुभव करते थे और चाहते थे कि आगमों का शुद्ध, सर्वोपयोगी ऐसा प्रकाशन हो, जिससे सामान्य ज्ञान वाले श्रमण-श्रमणी एवं जिज्ञासु जन लाभ उठा सकें। उनके मन की यह तड़प कई वार व्यक्त होती थी। पर कुछ परिस्थितियों के कारण उनका यह स्वप्न-संकल्प साकार नहीं हो सका, फिर भी मेरे मन में प्रेरणा बन कर अवश्य रह गया।

इसी अन्तराल में आचार्य श्री जवाहरलाल जी महाराज, श्रमणसंघ के प्रथम आचार्य जैनधर्मदिवाकर आचार्य श्री आत्माराम जी म०, विद्वद्रत्न श्री घासीलाल जी म० आदि मनीषी मुनिवरों ने आगमों की हिन्दी, संस्कृत, गुजराती आदि भाषाओं में सुन्दर विस्तृत टीकायें लिखकर या अपने तत्त्वावधान में लिखवा कर कमी को पूरा करने का महनीय प्रयत्न किया है।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक आम्नाय के विद्वान् श्रमण परमश्रुतसेवी स्व० मुनि श्री पुण्यविजय जी ने आगम-सम्पादन की दिशा में बहुत व्यवस्थित व उच्चकोटि का कार्य प्रारम्भ किया था। विद्वानों ने उसे बहुत ही सराहा। किन्तु उनके स्वर्गवास के पश्चात् उस में व्यवधान उत्पन्न हो गया। तदपि आगमज्ञ मुनि श्री जम्बूविजयजी आदि के तत्त्वावधान में आगम-सम्पादन का सुन्दर व उच्चकोटि का कार्य आज भी चल रहा है।

वर्तमान में तेरापंथ सम्प्रदाय में आचार्य श्री तुलसी एवं युवाचार्य महाप्रज्ञजी के नेतृत्व में आगम-सम्पादन का कार्य चल रहा है और जो आगम प्रकाशित हुए हैं उन्हें देखकर विद्वानों को प्रसन्नता है। यद्यपि उनके पाठ-निर्णय में काफी मतभेद की गुंजाइश है, तथापि उनके श्रम का महत्त्व है। मुनि श्री कन्हैयालाल जी म० "कमल" आगमों की वक्तव्यता को अनुयोगों में वर्गीकृत करके प्रकाशित कराने की दिशा में प्रयत्नशील हैं। उनके द्वारा सम्पादित कुछ आगमों में उनकी कार्यशैली की विशदता एवं मौलिकता स्पष्ट होती है।

आगम-साहित्य के वयोवृद्ध विद्वान् पं० श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, विश्रुत मनीषी श्री दलसुखभाई मालवणिया जैसे चिन्तनशील प्रज्ञापुरुष आगमों के आधुनिक सम्पादन की दिशा में स्वयं भी कार्य कर रहे हैं तथा अनेक विद्वानों का मार्ग-दर्शन कर रहे हैं। यह प्रसन्नता का विषय है।

इस सब कार्य-शैली पर विहंगम अवलोकन करने के पश्चात् मेरे मन में एक संकल्प उठा। आज प्रायः सभी विद्वानों की कार्यशैली काफी भिन्नता लिये हुए है। कहीं आगमों का मूल पाठ मात्र प्रकाशित किया जा रहा है तो कहीं विशाल व्याख्याएँ की जा रही हैं। एक पाठक के लिए दुर्बोध है तो दूसरी जटिल। सामान्य पाठक को सरलतापूर्वक आगमज्ञान प्राप्त हो सके एतदर्थ मध्यमार्ग का अनुसरण आवश्यक है। आगमों का ऐसा संस्करण होना चाहिए जो सरल हो, सुबोध हो, संक्षिप्त हो और प्रामाणिक हो। मेरे गुरुदेव ऐसा ही चाहते थे। इसी भावना को लक्ष्य में रख कर मैंने ५-६ वर्ष पूर्व इस विषय की चर्चा प्रारम्भ की

थी, सुदीर्घ चिन्तन के पश्चात् वि. सं. २०३६ वैशाख शुक्ला दशमी, भगवान् महावीर कैवल्यदिवस को यह दृढ़ निश्चय घोषित कर दिया और आगमबत्तीसी का सम्पादन-विवेचन कार्य प्रारम्भ भी। इस साहसिक निर्णय में गुरुभ्राता शासनसेवी स्वामी श्री ब्रजलाल जी म. की प्रेरणा/प्रोत्साहन तथा मार्गदर्शन मेरा प्रमुख सम्बल बना है। साथ ही अनेक मुनिवरों तथा सद्‌गृहस्थों का भक्ति-भाव भरा सहयोग प्राप्त हुआ है, जिनका नामोल्लेख किये बिना मन सन्तुष्ट नहीं होगा। आगम अनुयोग शैली के सम्पादक मुनि श्री कन्हैयालालजी म० "कमल", प्रसिद्ध साहित्यकार श्री देवेन्द्रमुनिजी म० शास्त्री, आचार्य श्री आत्मारामजी म० के प्रशिष्य भण्डारी श्री पदमचन्दजी म० एवं प्रवचन-भूषण श्री अमरमुनिजी, विद्वद्‌रत्न श्री ज्ञानमुनिजी म०, स्व० विदुषी महासती श्री उज्ज्वलकुंवरजी म० की सुशिष्याएँ महासती दिव्यप्रभाजी, एम. ए., पी-एच. डी.; महासती मुक्तिप्रभाजी एम. ए., पी-एच. डी. तथा विदुषी महासती श्री उमरावकुंवरजी म० 'अर्चना', विश्रुत विद्वान् श्री दलसुखभाई मालवणिया, सुख्यात विद्वान् पं० श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, स्व. पं. श्री हीरालालजी शास्त्री, डा० छगनलालजी शास्त्री एवं श्रीचन्दजी सुराणा "सरस" आदि मनीषियों का सहयोग आगमसम्पादन के इस दुरूह कार्य को सरल बना सका है। इन सभी के प्रति मन आदर व कृतज्ञ भावना से अभिभूत है। इसी के साथ सेवा-सहयोग की दृष्टि से सेवाभावी शिष्य मुनि विनयकुमार एवं महेन्द्र मुनि का साहचर्य-सहयोग, महासती श्री कानकुंवरजी, महासती श्री झणकारकुंवरजी का सेवाभाव सदा प्रेरणा देता रहा है। इस प्रसंग पर इस कार्य के प्रेरणा-स्रोत स्व० श्रावक चिमनसिंहजी लोढ़ा, तथा श्री पुखराजजी सिसोदिया का स्मरण भी सहजरूप में हो आता है जिनके अथक प्रेरणा-प्रयत्नों से आगम समिति अपने कार्य में इतनी शीघ्र सफल हो रही है। चार वर्ष के अल्पकाल में ही सत्तरह आगम ग्रन्थों का मुद्रण तथा करीब १५-२० आगमों का अनुवाद-सम्पादन हो जाना हमारे सब सहयोगियों की गहरी लगन का द्योतक है।

मुझे सुदृढ़ विश्वास है कि परम श्रद्धेय स्वर्गीय स्वामी श्री हजारीमलजी महाराज आदि तपोपूत आत्माओं के शुभाशीर्वाद से तथा हमारे श्रमणसंघ के भाग्यशाली नेता राष्ट्र-संत आचार्य श्री आनन्दऋषिजी म० आदि मुनिजनों के सद्‌भाव-सहकार के बल पर यह संकल्पित जिनवाणी का सम्पादन-प्रकाशन कार्य शीघ्र ही सम्पन्न होगा।

इसी शुभाशा के साथ,

—मुनि मिश्रीमल "मधुकर"
(युवाचार्य)

□□

प्रस्तावना

आगमसाहित्य और प्रश्नव्याकरणसूत्र

दो धर्मधारायें

भारतीय संस्कृति, सभ्यता, आचार-विचार, चिन्तन यहां तक कि लौकिक और लोकोत्तर दृष्टिकोण दो धाराओं में प्रवाहित हुआ है। एक धारा 'वैदिक' और दूसरी धारा 'श्रमण' के नाम से प्रसिद्ध हुई। बाद में वैदिकधारा वैदिकधर्म और श्रमणधारा जैनधर्म एवं बौद्धधर्म के नाम से प्रचलित हो गई। इन दोनों की तुलना की जाए तो उनका पार्थक्य स्पष्ट हो जाएगा।

तुलना का मुख्य माध्यम उपलब्ध साहित्य ही हो सकता है। साहित्य एक ऐसा कोश है जिसमें ऐतिहासिक सूत्र भी मिलते हैं और उन आचार-विचारों का पुंज भी मिलता है जो समाज-रचना तथा लोकोत्तर साधना के मौलिक उपादान होते हैं।

वैदिकधर्म की साहित्यिक परम्परा की आद्य इकाई वेद हैं। वेदों का चिन्तन इहलोक तक सीमित है, पुरुषार्थ को पराहत करने वाला है, व्यक्ति के व्यक्तित्व का ऊर्ध्वीकरण करने में अक्षम है, पारतन्त्र्य की पग-पग पर अनुभूति कराने वाला है। यही कारण है कि आराध्य के रूप में जिन इन्द्रादि देवों की कल्पना की गई हैं, उनमें मानव-सुलभ काम, क्रोध, राग-द्वेष आदि वृत्तियों का साम्राज्य है। इन वैदिक देवों की पूज्यता किसी आध्यात्मिक शक्ति के कारण नहीं किन्तु अनेक प्रकार के अनुग्रह और निग्रह करने की शक्ति के कारण है। धार्मिक विधि-विधानों के रूप में यज्ञ मुख्य था और वैदिक देवों का डर यज्ञ का मुख्य कारण था।

वेद के बाद ब्राह्मणकाल प्रारम्भ हुआ। इसमें विविध प्रकार और नाम वाले देवों के सृजन की प्रक्रिया और देवों को गौणता प्राप्त हो गई किन्तु यज्ञ मुख्य बन गये। पुरोहितों ने यज्ञ क्रिया का इतना महत्त्व बढ़ाया कि देवताओं को यज्ञ के अधीन कर दिया। अभी तक उनको जो स्वातन्त्र्य प्राप्त था, वह गौण हो गया और वे यज्ञाधीन हो गए। ब्राह्मणवर्ग ने अपना इतना अधिक वर्चस्व स्थापित कर लिया कि उसके द्वारा किए गए वैदिक मन्त्रपाठ और विधि-विधान के बिना यज्ञ की संपूर्ति हो ही नहीं सकती थी। उन्होंने वेदपाठों के अध्ययन-उच्चारण को अपने वर्ग तक सीमित कर दिया और वेद उनकी अपनी संपत्ति हो गए।

वेदों का दर्शन ब्राह्मण वर्ग तक सीमित हो जाने की प्रतिक्रिया का यह परिणाम हुआ कि उपनिषदों की रचना प्रारम्भ हुई। औपनिषदिक ऋषियों ने आत्मस्वातंत्र्य के द्वार जन-साधारण के लिये उद्घाटित किये। उपनिषत् काल में विद्या, ज्ञान साधना के क्षेत्र में क्षत्रियों का प्रवेश हुआ और आत्मविद्या को प्रमुख स्थान दिया एवं यह स्पष्ट किया कि धर्म का सच्चा अर्थ आध्यात्मिक उत्कर्ष है, जिसके द्वारा व्यक्ति बहिर्मुखता को छोड़कर वासनाओं के पाश से मुक्त होकर, शुद्ध सच्चिदानन्द-घन रूप आत्म-स्वरूप की उपलब्धि के लिये अग्रसर होकर उसे प्राप्त करता है। यही यथार्थ धर्म है।

उपर्युक्त समग्र कथन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वैदिक धर्मधारा व्यक्ति में ऐसा कोई उत्साह जाग्रत नही कर सकी जो व्यक्तित्व-विकास का आवश्यक अंग है, नर से नारायण वनने का प्रशस्त पथ है। कालक्रम से परस्पर भिन्न आचार-विचारों के प्रवाह उसमें मिलते रहे। अतएव यह कहने में कोई सक्षम नहीं है कि वैदिक धर्म का मौलिक रूप अमुक है।

लेकिन जब हम जैन धर्म के साहित्य की अथ से लेकर अर्वाचीन धारा तक पर दृष्टिपात करते हैं तो भाषागत भिन्नता के अतिरिक्त आचार-विचार के मौलिक स्वरूप में कोई अन्तर नहीं देखते हैं। जैनों के आराध्य कोई व्यक्तिविशेष नहीं, अमुक नाम वाले भी नहीं किन्तु वे हैं जो पूर्ण आध्यात्मिक शक्तिसम्पन्न वीतराग हैं। वीतराग होने से वे आराधक से न प्रसन्न होते हैं और न अप्रसन्न ही। वे तो केवल अनुकरणीय आदर्श के रूप से आराध्य है।

यही कारण है कि जैनधर्म में व्यक्ति को उसके स्वत्व का वोध कराने की क्षमता रही हुई है। सारांश यह है कि मानव की प्रतिष्ठा वढ़ाने में जैन धर्म अग्रसर है। इसलिये किसी वर्णविशेष को गुरुपद का अधिकारी और साहित्य का अध्ययन करने वाला स्वीकार नहीं करके वहाँ यह वताया कि जो भी त्याग तपस्या का मार्ग अपनाए चाहे वह शूद्र ही क्यों न हो, गुरुपद को प्राप्त कर सकता है और मानव मात्र का सच्चा मार्गदर्शक भी वन सकता है एवं उसके लिए जैनशास्त्र-पाठ के लिये भी कोई वाधा नहीं है।

इसी प्रकार की अन्यान्य विभिन्नताएँ भी वैदिक और जैन धारा में हैं; जिन्हें देखकर कतिपय पाश्चात्य दार्शनिक विद्वानों ने प्रारम्भ में यह लिखना शुरू किया कि वौद्धधर्म की तरह जैनधर्म भी वैदिकधर्म के विरोध के लिये खड़ा किया गया एक क्रांतिकारी नया विचार है। लेकिन जैसे-जैसे जैनधर्म और वौद्धधर्म के मौलिक साहित्य का अध्ययन किया गया, पश्चिमी विद्वानों ने ही उनका भ्रम दूर किया तथा यह स्वीकार कर लिया गया कि जैनधर्म वैदिकधर्म के विरोध में खड़ा किया नया विचार नहीं किन्तु स्वतन्त्र धर्म है, उसकी शाखा भी नहीं है।

जैन-साहित्य का आविर्भाव काल

जैन परम्परा के अनुसार इस भारतवर्ष में कालचक्र उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के रूप में विभक्त है। प्रत्येक के छह आरे—विभाग—होते हैं। अभी अवसर्पिणी काल चल रहा है, इसके पूर्व उत्सर्पिणी काल था। इस प्रकार अनादिकाल से यह कालचक्र चल रहा है और चलता रहेगा। उत्सर्पिणी में सभी भाव उन्नति को प्राप्त होते हैं और अवसर्पिणी में ह्रास को। किन्तु दोनों में तीर्थंकरों का जन्म होता है, जिनकी संख्या प्रत्येक विभाग में चौवीस होती है। तदनुसार प्रस्तुत अवसर्पिणी काल में चौवीस तीर्थंकर हो चुके हैं। उनमें प्रथम ऋषभदेव और अंतिम महावीर हैं। दोनों के वीच असंख्य वर्षों का अंतर है। इन चौवीस तीर्थंकरों में से कुछ का निर्देश जैनेतर शास्त्रों में भी उपलब्ध है।

इन चौवीस तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट और उस उपदेश का आधार लेकर रचा गया साहित्य जैन परम्परा में प्रमाणभूत है। जैन परम्परा के अनुसार तीर्थंकर अनेक हों किन्तु उनके उपदेश में साम्य होता है और जिस काल में जो भी तीर्थंकर हों, उन्हीं का उपदेश और शासन तात्कालिक प्रजा में विचार और आचार के लिये मान्य होता है। इस दृष्टि से भगवान् महावीर अंतिम तीर्थंकर होने से वर्तमान में उन्हीं का उपदेश अंतिम उपदेश है और वही प्रमाणभूत है। शेष तीर्थंकरों का उपदेश उपलब्ध भी नहीं है और यदि हो, तब भी वह भगवान् महावीर के उपदेश के अन्तर्गत हो गया ऐसा मानना चाहिये। इसकी पुष्टि डा. जैकोवी आदि के विचारों से भी होती है।

उनका कहना है कि समय की दृष्टि से जैन आगमों का रचना-समय जो भी माना जाए, किन्तु उनमें जिन तथ्यों का संग्रह है, वे तथ्य ऐसे नहीं हैं, जो उसी काल के हों।[1]

प्रस्तुत में यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि भगवान् महावीर ने जो उपदेश दिया, उसे सूत्रवद्ध किया है गणधरों ने। इसीलिये अर्थोपदेश या अर्थ रूप शास्त्र के कर्त्ता भगवान् महावीर माने जाते हैं और शब्द रूप शास्त्र के कर्त्ता गणधर हैं।[2] अनुयोगद्वार सूत्र में सुत्तागम, अत्थागम, अत्तागम, अणंतरागम आदि जो लोकोत्तर आगम के भेद किये हैं, उनसे भी इसी का समर्थन होता है।

जैन साहित्य का नामकरण

आज से पच्चीस सौ वर्ष अथवा इससे भी पहले के जिज्ञासु श्रद्धाशील अपने-अपने समय के साहित्य को, जिसे आदर-सम्मानपूर्वक धर्मशास्त्र के रूप में मानते थे, विनयपूर्वक अपने-अपने गुरुओं से कंठोपकंठ प्राप्त करते थे। वे इस प्रकार से प्राप्त होने वाले शास्त्रों को कंठाग्र करते और उन कंठाग्र पाठों को वार-वार स्मरण करके याद रखते। धर्मवाणी के उच्चारण शुद्ध सुरक्षित रहें, इसका वे पूरा ध्यान रखते। कहीं भी काना, मात्रा, अनुस्वार, विसर्ग आदि निरर्थक रूप में प्रविष्ट न हो जाए, अथवा निकल न जाए इसकी पूरी सावधानी रखते थे। इसका समर्थन वर्तमान में प्रचलित अवेस्ता गाथाओं एवं वेदपाठों की उच्चारणप्रक्रिया से होता है।

जैनपरम्परा में भी एतद्विषयक विशेष विधान हैं। सूत्र का किस प्रकार उच्चारण करना चाहिए, उच्चारण करते समय किन-किन दोषों से दूर रहना चाहिए, इत्यादि का अनुयोगद्वार सूत्र आदि में स्पष्ट विधान किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में जैन परम्परा में भी उच्चारणविषयक कितनी सावधानी रखी जाती थी। इस प्रकार विशुद्ध रीति से संचित श्रुत-सम्पत्ति को गुरु अपने शिष्यों को तथा शिष्य पुनः अपनी परम्परा के शिष्यों को सौंपते थे। इस प्रकार श्रुत की यह परम्परा भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद लगभग एक हजार वर्ष तक निरंतर चलती रही। अविसंवादी रूप से इसको सम्पन्न करने के लिये एक विशिष्ट और आदरणीय वर्ग था, जो उपाध्याय के रूप में पहचाना जाता है। इसकी पुष्टि णमोकार मंत्र से होती है। जैन परम्परा में अरिहंत आदि पांच परमेष्ठी माने गये हैं, उनमें इस वर्ग का चतुर्थ स्थान है। इससे ज्ञात हो जाता है कि जैन संघ में इस वर्ग का कितना सम्मान था।

धर्मशास्त्र प्रारम्भ में लिखे नहीं गये थे, अपितु कंठाग्र थे और वे स्मृति द्वारा सुरक्षित रखे जाते थे, इसको प्रमाणित करने के लिये वर्तमान में प्रचलित श्रुति, स्मृति और श्रुत शब्द पर्याप्त हैं। ब्राह्मणपरम्परा में मुख्य प्राचीन शास्त्रों का नाम श्रुति और तदनुवर्ती बाद के शास्त्रों का नाम स्मृति है। ये दोनों शब्द रूढ़ नहीं, किन्तु यौगिक और अन्वर्थक हैं। जैन परम्परा में शास्त्रों का प्राचीन नाम श्रुत है। यह शब्द भी यौगिक है। अतः इन नामों वाले शास्त्र सुन-सुनकर सुरक्षित रखे गये ऐसा स्पष्टतया फलित होता है। जैनाचार्यों ने श्रुतज्ञान का जो स्वरूप बतलाया है और उसके जो विभाग किये हैं, उसके मूल में 'सुत्त'—श्रुत शब्द रहा हुआ है। वैदिक परम्परा में वेदों के सिवाय अन्य किसी भी ग्रन्थ के लिये श्रुति शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है, जबकि जैन परम्परा में समस्त प्राचीन अथवा अर्वाचीन शास्त्रों के लिये श्रुत शब्द का प्रयोग प्रचलित है। इस प्रकार श्रुत शब्द मूलतः यौगिक होते हुए भी अब रूढ़ हो गया है।

---

१ Doctrine of the Jainas P. 15

२ अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।
सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्तं पवत्तई॥

यद्यपि आज शास्त्रों के लिये 'आगम' शब्द जैन परम्परा में व्यापक रूप में प्रचलित हो गया है, लेकिन प्राचीन काल में वह 'श्रुत' या 'सम्यक् श्रुत' के नाम से प्रसिद्ध था। इसी से 'श्रुतकेवली' शब्द प्रचलित हुआ न कि 'आगमकेवली' या 'सूत्रकेवली'। इसी प्रकार स्थविरों की गणना में भी 'श्रुतस्थविर' शब्द को स्थान मिला है जो श्रुत शब्द के प्रयोग की प्राचीनता सिद्ध कर रहा है।

शास्त्रों के लिये आगम शब्द कब से प्रचलित हुआ और उसके प्रस्तावक कौन थे? इसके सूत्र हमें आचार्य उमास्वाति के तत्त्वार्थभाष्य में देखने को मिलते हैं। उन्होंने वहां श्रुत के पर्यायों का संग्रह कर दिया है। जो इस प्रकार हैं—श्रुत, आप्तवचन, आगम, उपदेश, ऐतिह्य, आम्नाय, प्रवचन और जिनवचन। इनमें आगम शब्द बोलने में सरल रहा तथा दूसरे शब्द अन्य-अन्य कथनों के लिये रूढ़ हो गये तो जैन शास्त्र को आगम शब्द से कहा जाना शुरु हो गया हो, यह सम्भव है, जिसकी परम्परा आज चालू है।

जैन आगमों का वर्गीकरण

समवायांग आदि आगमों से ज्ञात होता है कि भगवान् महावीर ने जो देशना दी थी उसकी संकलना द्वादशांगों में हुई थी। लेकिन उसके बाद आगमों की संख्या में वृद्धि होने लगी और इसका कारण यह है कि गणधरों के अतिरिक्त प्रत्येकबुद्ध महापुरुषों ने जो उपदेश दिया उसे भी प्रत्येकबुद्ध के केवली होने से आगमों में समाविष्ट कर लिया गया। इसी प्रकार द्वादशांगी के आधार पर मंदबुद्धि शिष्यों के हितार्थ श्रुतकेवली आचार्यों ने जो ग्रंथ बनाये उनका भी समावेश आगमों में कर लिया गया। इसका उदाहरण दशवैकालिक सूत्र है। अन्त में सम्पूर्ण दस पूर्व के ज्ञाता द्वारा ग्रथित ग्रन्थ भी आगम में समाविष्ट इसलिये किये गये कि वे भी आगम के आशय को ही पुष्ट करने वाले थे। उनका आगम से विरोध इसलिये भी नहीं हो सकता था कि वे आगम के आशय का ही बोध कराते थे और उनके रचयिता सम्यग्दृष्टि थे, जिसकी सूचना निम्नलिखित गाथा से मिलती है—

सुत्तं गणहरकथिदं तहेव पत्तेयबुद्धकथिदं च।
सुदकेवलिणा कथिदं अभिण्णदस पुव्व कथिदं च॥[1]

इसके बाद जब दशपूर्वी भी नहीं रहे तब भी आगमों की संख्या में वृद्धि होना नहीं रुका। श्वेताम्बर परम्परा में आगम रूप से मान्य कुछ प्रकीर्णक ग्रन्थ ऐसे भी हैं जो उस काल के बाद भी आगम रूप में सम्मिलित होते रहे। इसके दो कारण संभाव्य हैं। एक तो उनका वैराग्यभावना की वृद्धि में विशेष उपयोग होना माना गया हो और दूसरा उनके कर्त्ता आचार्यों की उस काल में विशेष प्रतिष्ठा रही हो।

इस प्रकार से जैनागमों की संख्या में वृद्धि होने लगी तब उनका वर्गीकरण करना आवश्यक हो गया। भगवान् महावीर के मौलिक उपदेश का गणधरकृत संग्रह, जो द्वादश अंग के रूप में था, स्वयं एक वर्ग बन जाए और उसका अन्य से पार्थक्य भी दृष्टिगत हो, अतएव आगमों का प्रथम वर्गीकरण अंग और अंगबाह्य के आधार पर हुआ। इसीलिये हम देखते हैं कि अनुयोगद्वार सूत्र में अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य, ऐसे श्रुत के दो भेद किये गये हैं। नन्दी सूत्र से भी ऐसे ही दो भेद होने की सूचना मिलती है। आचार्य उमास्वाति के तत्वार्थसूत्र-भाष्य (१-२०) से भी यही फलित होता है कि उनके समय तक अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य यही दो विभाग प्रचलित थे।

अंगप्रविष्ट आगमों के रूप में वर्गीकृत बारह अंगों की संख्या निश्चित थी, अतः उसमें तो किसी प्रकार की वृद्धि नहीं हुई। लेकिन अंगबाह्य आगमों की संख्या में दिनोंदिन वृद्धि होती जा रही थी। अतएव उनका

---

१ मूलाचार ५/८०

पुनर्वर्गीकरण किया जाना आवश्यक हो गया था। इसके लिये उनका वर्गीकरण १. उपांग, २. प्रकीर्णक, ३. छेद ४. चूलिका सूत्र और ५. मूल सूत्र, इन पांच विभागों में हुआ। लेकिन यह वर्गीकरण कब और किसने शुरु किया—यह जानने के निश्चित साधन नहीं हैं।

उपांग विभाग में बारह, प्रकीर्णक विभाग में दस, छेद विभाग में छह, चूलिका विभाग में दो और मूल सूत्र विभाग में चार शास्त्र हैं। इनमें से दस प्रकीर्णकों को और छेद सूत्रों में से महानिशीथ और जीतकल्प को तथा मूलसूत्रों में से पिंडनिर्युक्ति को स्थानकवासी और तेरापंथी परम्परा में आगम रूप में मान्य नहीं किया गया है।

आगमिक विच्छेद

आगमों की संख्या में वृद्धि हुई और वर्गीकरण भी किया गया लेकिन साथ ही यह भी विडंबना जुड़ी रही कि जैन श्रुत का मूल प्रवाह मूल रूप में सुरक्षित नहीं रह सका। आज उसका सम्पूर्ण नहीं तो अधिकांश भाग नष्ट विस्मृत और विलुप्त हो गया है। अंग आगमों का जो परिमाण आगमों में निर्दिष्ट है, उसे देखते हुए, अंगों का जो भाग आज उपलब्ध है उसका मेल नहीं बैठता।

यह तो पूर्व में संकेत किया जा चुका है कि प्रत्येक परम्परा अपने धर्मशास्त्रों को कंठस्थ रखकर शिष्य-प्रशिष्यों को उसी रूप में सौंपती थी। जैन श्रमणों का भी यही आचार था, काल के प्रभाव से श्रुतधरों का एक के बाद एक काल कवलित होते जाना जैन श्रमण के आचार के कठोर नियम, जैन श्रमण संघ के संख्याबल की कमी और बार-बार देश में पड़ने वाले दुर्भिक्षों के कारण कंठाग्र करने की धारा टूटती रही। इस स्थिति में जब आचार्यों ने देखा कि श्रुत का ह्रास हो रहा है, उसमें अव्यवस्था आ रही है, तब उन्होंने एकत्र होकर जैन श्रुत को व्यवस्थित किया।

भगवान् महावीर के निर्वाण के करीब १६० वर्ष बाद पाटलिपुत्र में जैन श्रमणसंघ एकत्रित हुआ। उन दिनों मध्यप्रदेश में भीषण दुर्भिक्ष के कारण जैन श्रमण तितर-बितर हो गये थे। अतएव एकत्रित हुए उन श्रमणों ने एक दूसरे से पूछकर ग्यारह अंगों को व्यवस्थित किया किन्तु उनमें से किसी को भी संपूर्ण दृष्टिवाद का स्मरण नहीं था। यद्यपि उस समय दृष्टिवाद के ज्ञाता आचार्य भद्रबाहु थे, लेकिन उन्होंने बारह वर्षीय विशेष प्रकार की योगसाधना प्रारम्भ कर रखी थी और वे नेपाल में थे। अतएव संघ ने दृष्टिवाद की वाचना के लिये अनेक साधुओं के साथ स्थूलभद्र को उनके पास भेजा। उनमें से दृष्टिवाद को ग्रहण करने में स्थूलभद्र ही समर्थ हुए। किन्तु दस पूर्वों तक सीखने के बाद उन्होंने अपनी श्रुतलब्धि-ऋद्धि का प्रयोग किया और जब यह बात आर्य भद्रबाहु को ज्ञात हुई तो उन्होंने वाचना देना बंद कर दिया, इसके बाद बहुत अनुनय-विनय करने पर उन्होंने शेष चार पूर्वों की सूत्रवाचना दी, किन्तु अर्थवाचना नहीं दी। परिणाम यह हुआ कि सूत्र और अर्थ से चौदह पूर्वों का ज्ञान आर्य भद्रबाहु तक और दस पूर्व तक का ज्ञान आर्य स्थूलभद्र तक रहा। इस प्रकार भद्रबाहु की मृत्यु के साथ ही अर्थात् वीर सं. १७० वर्ष बाद श्रुतकेवली नहीं रहे। फिर दस पूर्व की परम्परा भी आचार्य वज्र तक चली। आचार्य वज्र की मृत्यु विक्रम सं० ११४ में अर्थात् वीरनिर्वाण से ५८४ बाद हुई। वज्र के बाद आर्य रक्षित हुए। उन्होंने शिष्यों को भविष्य में मति मेधा धारणा आदि से हीन जानकर, आगमों का अनुयोगों में विभाग किया। अभी तक तो किसी भी सूत्र की व्याख्या चारों प्रकार के अनुयोगों से होती थी किन्तु उन्होंने उसके स्थान पर विभाग कर दिया कि अमुक सूत्र की व्याख्या केवल एक ही अनुयोगपरक की जाएगी।

आर्य रक्षित के बाद भी उत्तरोत्तर श्रुत-ज्ञान का ह्रास होता रहा और एक समय ऐसा आया जब पूर्वों का विशेषज्ञ कोई नहीं रहा। यह स्थिति वीरनिर्वाण के एक हजार वर्ष बाद हुई और दिगम्बर परम्परा के अनुसार वीरनिर्वाण सं. ६८३ के बाद हुई।

नन्दीसूत्र की चूर्णि में उल्लेख है कि द्वादशवर्षीय दुष्काल के कारण ग्रहण, गुणन और अनुप्रेक्षा के अभाव में सूत्र नष्ट हो गया अर्थात् कंठस्थ करने वाले श्रमणों के काल-कवलित होते जाने और दुष्काल के कारण श्रमण वर्ग के तितर-बितर हो जाने से नियमित सूत्रबद्धता नहीं रही। अतएव बारह वर्ष के दुष्काल के बाद स्कंदिलाचार्य के नेतृत्व में साधुसंघ मथुरा में एकत्र हुआ और जिसको जो याद था, उसका परिष्कार करके कालिक श्रुत को व्यवस्थित किया। आर्य स्कंदिल का युगप्रधानत्वकाल वीर नि. संवत् ८२७ से ८४० तक माना जाता है। अतएव यह वाचना इसी बीच हुई होगी।

इसी माथुरी वाचना के काल में वलभी में नागार्जुन सूरि ने श्रमणसंघ को एकत्रित कर आगमों को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया तथा विस्मृत स्थलों को पूर्वापर सम्बन्ध के अनुसार ठीक करके वाचना दी गई।

उपर्युक्त वाचनाओं के पश्चात् करीब डेढ़ सौ वर्ष बाद पुनः वलभी नगर में देवर्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में श्रमणसंघ इकट्ठा हुआ और पूर्वोक्त दोनों वाचनाओं के समय व्यवस्थित किये गये जो ग्रन्थ मौजूद थे उनको लिखवाकर सुरक्षित करने का निश्चय किया तथा दोनों वाचनाओं का परस्पर समन्वय किया गया और जहाँ तक हो सका अन्तर को दूर कर एकरूपता लाई गई। जो महत्त्वपूर्ण भेद थे उन्हें पाठान्तर के रूप में संकलित किया गया। यह कार्य वीर नि. सं. ९८० में अथवा ९९३ में हुआ। वर्तमान में जो आगम उपलब्ध हैं, उनका अधिकांश भाग इसी समय स्थिर हुआ, ऐसा कहा जा सकता है। फिर भी कई आगम उक्त लेखन के बाद भी नष्ट हुए हैं ऐसा नन्दीसूत्र में दी गई सूची से स्पष्ट है।

आगमों का रचनाकाल

भगवान् महावीर का उपदेश विक्रम पूर्व ५०० वर्ष में शुरु हुआ था, अतएव उपलब्ध किसी भी आगम की रचना का उससे पहले होना संभव नहीं है और अंतिम वाचना के आधार पर उनका लेखन विक्रम सं. ५१० (मतान्तर से ५२३) में हुआ था। अतः यह समयमर्यादा आगमों का काल है, ऐसा मानना पड़ेगा।

इस काल-मर्यादा को ध्यान में रखकर जब हम आगमों की भाषा का विचार करते हैं तो आचारांग के प्रथम और द्वितीय श्रुतस्कन्ध भाव और भाषा में भिन्न हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध द्वितीय से ही नहीं अपितु समस्त जैन-वाङ्मय में सबसे प्राचीन है। इसमें कुछ नया नहीं मिला हो, परिवर्तन परिवर्धन नहीं हुआ हो, यह तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु नया सबसे कम मिला है। वह भगवान् के साक्षात् उपदेश के अत्यन्त निकट है। इस स्थिति में उसे प्रथम वाचना की संकलना कहा जाना सम्भव है।

अंग आगमों में प्रश्नव्याकरण सूत्र

उपर्युक्त के परिप्रेक्ष्य में अब हम प्रश्नव्याकरण सूत्र की पर्यालोचना कर लें।

प्रश्नव्याकरण सूत्र अंगप्रविष्ट श्रुत माना गया है। यह दसवां अंग है। समवायांग, नन्दी और अनुयोगद्वार सूत्र में प्रश्नव्याकरण के लिये 'पण्हावागरणाइं' इस प्रकार से बहुवचन का प्रयोग किया है, जिसका संस्कृत रूप 'प्रश्नव्याकरणानि' होता है। किन्तु वर्तमान में उपलब्ध प्रश्नव्याकरण सूत्र के उपसंहार में पण्हावागरण इस प्रकार एकवचन का ही प्रयोग किया है। तत्त्वार्थभाष्य में भी प्रश्नव्याकरणम् इस प्रकार से एक वचनान्त का

प्रयोग किया गया है। दिगम्बर परम्परा में एकवचनान्त 'पण्हवायरणं' 'प्रश्नव्याकरणम्' एकवचनान्त का ही प्रयोग किया गया है। स्थानांगसूत्र के दशम् स्थान में प्रश्नव्याकरण का नाम 'पण्हावागरणदसा' बतलाया है, जिसका संस्कृत रूप टीकाकार अभयदेव सूरि ने 'प्रश्नव्याकरणदशा किया है, किन्तु यह नाम अधिक प्रचलित नहीं हो पाया।

प्रश्नव्याकरण यह समासयुक्त पद है। इसका अर्थ होता है—प्रश्नों का व्याकरण अर्थात् निर्वचन, उत्तर एवं निर्णय। इसमें किन प्रश्नों का व्याकरण किया गया था, इसका परिचय अचेलक परंपरा के धवला आदि ग्रन्थों एवं सचेलक परंपरा के स्थानांग, समवायांग और नन्दी सूत्र में मिलता है।

स्थानांग में प्रश्नव्याकरण के दस अध्ययनों का उल्लेख है—उपमा, संख्या, ऋषिभाषित, आचार्यभाषित, महावीरभाषित, क्षौमकप्रश्न, कोमलप्रश्न, अद्दागप्रश्न, अंगुष्ठप्रश्न और बाहुप्रश्न।

समवायांग में बताया गया है कि प्रश्नव्याकरण में १०८ प्रश्न, १०८ अप्रश्न और १०८ प्रश्नाप्रश्न हैं, जो मन्त्रविद्या एवं अंगुष्ठप्रश्न, बाहुप्रश्न, दर्पणप्रश्न आदि विद्याओं से सम्बन्धित हैं और इसके ४५ अध्ययन हैं। नन्दीसूत्र में भी यही बताया गया है कि प्रश्नव्याकरण में १०८ प्रश्न, १०८ अप्रश्न और १०८ प्रश्नाप्रश्न हैं, अंगुष्ठप्रश्न, बाहुप्रश्न, दर्पणप्रश्न आदि विचित्र विद्यातिशयों का वर्णन है, नागकुमारों व सुपर्णकुमारों की संगति के दिव्य संवाद हैं, ४५ अध्ययन हैं।

अचेलकपरम्परा के धवला आदि ग्रन्थों में प्रश्नव्याकरण का विषय बताते हुए कहा है—प्रश्नव्याकरण में आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी, इन चार प्रकार की कथाओं का वर्णन है। आक्षेपणी में छह द्रव्यों और नौ तत्त्वों का वर्णन है। विक्षेपणी में परमत की एकान्त दृष्टियों का पहले प्रतिपादन कर अनन्तर स्वमत अर्थात् जिनमत की स्थापना की जाती है। संवेदनी कथा पुण्यफल की कथा है, जिसमें तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव वासुदेव, देव एवं विद्याधरों की ऋद्धि का वर्णन होता है। निर्वेदनी में पापफल निरूपण होता है अतः उसमें नरक, तिर्यंच, कुमानुषयोनियों का वर्णन है और अंगप्रश्नों के अनुसार हेतुः नष्ट, मुष्टि, चिन्तन, लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, जीवित, मरण, जय, पराजय, नाम, द्रव्य, आयु और संख्या का भी निरूपण है।

उपर्युक्त दोनों परम्पराओं में दिये गये प्रश्नव्याकरण के विषयसंकेत से ज्ञात होता है कि प्रश्न शब्द मन्त्रविद्या एवं निमित्तशास्त्र आदि के विषय से सम्बन्ध रखता है। और चमत्कारी प्रश्नों का व्याकरण जिस सूत्र में वर्णित है, वह प्रश्नव्याकरण है। लेकिन वर्तमान में उपलब्ध प्रश्नव्याकरण में ऐसी कोई चर्चा नहीं है। अतः यहां प्रश्नव्याकरण का सामान्य अर्थ जिज्ञासा और उसका समाधान किया जाए तो ही उपयुक्त होगा। अहिंसा-हिंसा सत्य-असत्य आदि धर्माधर्म रूप विषयों की चर्चा जिस सूत्र में की गई है वह प्रश्नव्याकरण है। इसी दृष्टि से वर्तमान में उपलब्ध प्रश्नव्याकरण का नाम सार्थक हो सकता है।

एक प्रश्न और उसका उत्तर

सचेलक और अचेलक दोनों ही परम्पराओं में प्राचीन प्रश्नव्याकरण सूत्र का जो विषय बताया है, और वर्तमान में जो उपलब्ध है, उसके लिये एक प्रश्न उभरता है कि इस प्रकार का परिवर्तन किसने किया और क्यों किया ? इसके सम्बन्ध में वृत्तिकार अभयदेव सूरि लिखते हैं—इस समय का कोई अनधिकारी मनुष्य चमत्कारी विद्याओं का दुरुपयोग न करे, इस दृष्टि से वे विद्यायें इस सूत्र में से निकाल दी गईं और केवल आस्रव और संवर का समावेश कर दिया गया। दूसरे टीकाकार आचार्य ज्ञानविमल भी ऐसा ही उल्लेख करते हैं। परन्तु इन समाधानों से सही उत्तर नहीं मिल पाता है। हां यह कह सकते हैं कि वर्तमान प्रश्नव्याकरण भगवान् द्वारा प्रति-

पादित किसी प्रश्न के उत्तर का आंशिक भाग हो। इसी नाम से मिलती-जुलती प्रतियाँ ग्रन्थभंडारों में उपलब्ध होती हैं, जैसे कि जैसलमेर के खरतरगच्छ के आचार्यशाखा के भंडार में 'जयपाहुड-प्रश्नव्याकरण' नामक सं. १३३६ की एक ताड़पत्रीय प्रति थी। प्रति अशुद्ध लिखी गई थी और कहीं कहीं अक्षर भी मिट गये थे। मुनिश्री जिनविजय जी ने इसे सम्पादित और यथायोग्य पाठ संशोधित कर सं. २०१५ में सिंघी जैन ग्रन्थमाला के ग्रंथांक ४३ के रूप में प्रकाशित करवाया। इसकी प्रस्तावना में मुनिश्री ने जो संकेत किया है, उसका कुछ अंश है—

'प्रस्तुत ग्रंथ अज्ञात तत्त्व और भावों का ज्ञान प्राप्त करने-कराने का विशेष रहस्यमय शास्त्र है। यह शास्त्र जिस मनीषी या विद्वान् को अच्छी तरह से अवगत हो, वह इसके आधार से किसी भी प्रश्नकर्त्ता के लाभ-अलाभ, शुभ-अशुभ, सुख-दुःख एवं जीवन-मरण आदि वातों के सम्वन्ध में वहुत निश्चित एवं तथ्यपूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकता है तथा प्रश्नकर्त्ता को वता सकता है।'

इसके वाद उपसंहार के रूप में मुनिश्री ने लिखा है—

'इस ग्रंथ का नाम टीकाकार ने पहले **'जयपाहुड'** और फिर **'प्रश्नव्याकरण'** दिया है। मूल ग्रंथकार ने **'जयपायड'** दिया है। अन्त में भी 'प्रश्नव्याकरण समाप्तम्' लिखा है। प्रारम्भ में टीकाकार ने इस ग्रंथ का जो नाम 'प्रश्नव्याकरण' लिखा है, उसका उल्लेख इस प्रकार है—'महावीराख्यं सि (शि) रसा प्रणम्य प्रश्न-व्याकरणं शास्त्रं व्याख्यामीति।' मूल प्राकृत गाथाएँ ३७८ हैं। उसके साथ संस्कृतटीका है। यह प्रति २२७ पन्नों में वि० १३३६ की चैत वदो १ की लिखी हुई है। अन्त में 'चूडामणिसार-ज्ञानदीपक ग्रंथ ७३ गाथाओं का टीका सहित है। इसके अन्त में लिखा हुआ है 'इति जिनेन्द्रकथितं प्रश्नचूडामणिसारशास्त्र समाप्तम्।'

जिनरत्नकोश के पृ. १३३ में भी इस नाम वाली एक प्रति का उल्लेख है। इसमें २२८ गाथाएँ वतलाई हैं तथा शान्तिनाथ भण्डार, खम्भात में इसकी कई प्रतियाँ हैं, ऐसा कोश से ज्ञात होता है। नेपाल महाराजा की लाइब्रेरी में भी प्रश्नव्याकरण या ऐसे ही नाम वाले ग्रन्थ की सूचना तो मिलती है, लेकिन क्या वह अनुपलब्ध प्रश्नव्याकरण सूत्र की पूरक है, इसकी जानकारी अप्राप्य है।

उपर्युक्त उद्धरणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते है कि मूल प्राचीन प्रश्नव्याकरण सूत्र भिन्न-भिन्न विभागों में वंट गया और पृथक् पृथक् नाम वाले अनेक ग्रन्थ वन गये। सम्भव है उनमें मूल प्रश्नव्याकरण के विषयों की चर्चा की गई हो। यदि इन सवका पूर्वापर सन्दर्भों के साथ समायोजन किया जाए तो वहुत कुछ नया जानने को मिल सकता है। इसके लिये श्रीमन्तों का प्रचुर धन नहीं किन्तु सरस्वतीसाधकों का समय और श्रम अपेक्षित है।

प्राचीन प्रश्नव्याकरण की विलुप्ति का समय

प्राचीन प्रश्नव्याकरण कव लुप्त हुआ? इसके लिये निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। आगमों को लिपिवद्ध करने वाले आचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने इस विषय में कुछ सूचना नहीं दी है। इससे ज्ञात होता है कि समवायांग आदि में जिस प्रश्नव्याकरण का उल्लेख है वह उनके समक्ष विद्यमान था। उसी को उन्होंने लिपिवद्ध कराया हो, अथवा प्राचीन श्रुतपरम्परा से जैसा चला आ रहा था, वैसा ही समवायांग आदि में उसका विषय लिख दिया गया हो, कुछ स्पष्ट नहीं होता है। दिगम्वर परम्परा अंग साहित्य का विच्छेद मानती है, अतः वहाँ तो आचारांग आदि अंग साहित्य का कोई अंग नहीं है। अतः प्रश्नव्याकरण भी नहीं है जिस पर कुछ

विचार किया जा सके। किन्तु श्वेताम्बर परम्परा में जो प्रश्नव्याकरण प्रचलित है उससे यह स्पष्ट है कि तत्कालीन आगमों में इसकी कोई चर्चा नहीं है।

आचार्य जिनदास महत्तर ने शक संवत् ५०० की समाप्ति पर नन्दीसूत्र पर चूर्णि की रचना की। उसमें सर्वप्रथम वर्त्तमान प्रश्नव्याकरण के विषय से सम्बन्धित पांच संवर आदि का उल्लेख है। इसके बाद परम्परागत एक सौ आठ अंगुष्ठप्रश्न, बाहुप्रश्न आदि का उल्लेख किया है। इससे लगता है कि जिनदास गणि के समक्ष प्राचीन प्रश्नव्याकरण नहीं था, किन्तु वर्तमान प्रचलित प्रश्नव्याकरण ही था जिसके संवर आदि विषयों का उन्होंने उल्लेख किया है। इसका अर्थ यह है कि शक संवत् ५०० से पूर्व ही कभी प्रस्तुत प्रश्नव्याकरण सूत्र का निर्माण एवं प्रचार-प्रसार हो चुका था और अंग साहित्य के रूप में उसे मान्यता मिल चुकी थी।

रचयिता और रचनाशैली

प्रश्नव्याकरण का प्रारम्भ इस गाथा से होता है—

जंबू ! इणमो अण्हय-संवरविणिच्छयं पवयणस्स नीसंदं।

वोच्छामि णिच्छयत्थं सुहासियत्थं महेसीहिं।

अर्थात् हे जम्बू ! यहाँ महर्षि प्रणीत प्रवचनसार रूप आस्रव और संवर का निरूपण करूंगा।

गाथा में आर्य जम्बू को सम्बोधित किये जाने से टीकाकारों ने प्रश्नव्याकरण का उनके साक्षात् गुरु सुधर्मा से सम्बन्ध जोड़ दिया है। आचार्य अभयदेवसूरि ने अपनी टीका में प्रश्नव्याकरण का जो उपोद्घात दिया है, उसमें प्रवक्ता के रूप में सुधर्मा स्वामी का उल्लेख किया है परन्तु 'महर्षियों द्वारा सुभाषित' शब्दों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसका निरूपण सुधर्मा द्वारा नहीं हुआ है। यह सुधर्मा स्वामी के पश्चाद्वर्ती काल की रचना है। सुधर्मा और जम्बू के संवाद रूप में पुरातन शैली का अनुकरण मात्र किया गया है और रचनाकार अज्ञातनामा कोई गीतार्थ स्थविर हैं।

वर्तमान प्रश्नव्याकरण की रचना-पद्धति काफी सुघटित है। अन्य आगमों की तरह विकीर्ण नहीं है। भाषा अर्धमागधी प्राकृत है, किन्तु समासबहुल होने से अतीव जटिल हो गई है। प्राकृत के साधारण अभ्यासी को समझना कठिन है। संस्कृत या हिन्दी की टीकाओं के बिना उसके भावों को समझ लेना सरल नहीं है। कहीं-कहीं तो इतनी लाक्षणिक भाषा का उपयोग किया गया है जिसकी प्रतिकृति कादम्बरी आदि ग्रन्थों में देखने को मिलती है। इस तथ्य को समर्थ वृत्तिकार आचार्य अभयदेव ने भी अपनी वृत्ति के प्रारम्भ में स्वीकार किया है।

प्रस्तुत प्रश्नव्याकरण के दस अध्ययन हैं। इन दस अध्ययनों का वर्गीकरण दो प्रकार से किया गया है। प्रथम तो प्रश्नव्याकरण के दस अध्ययन और एक श्रुतस्कन्ध। जो प्रस्तुत श्रुत के उपसंहार वचन से स्पष्ट है—**'पण्हावागरणे णं एगो सुयक्खंधो दस अज्झयणा।** नन्दी और समवायांग श्रुत में भी प्रश्नव्याकरण का एक श्रुतस्कन्ध मान्य है। किन्तु आचार्य अभयदेव ने अपनी वृत्ति में पुस्तकान्तर से जो उपोद्घात उद्धृत किया है, उसमें दूसरे प्रकार से वर्गीकरण किया गया है। वहाँ प्रश्नव्याकरण के दो श्रुतस्कन्ध बतलाये हैं और प्रत्येक के पाँच-पाँच अध्ययनों का उल्लेख किया है—**दो सुयक्खंधा पण्णत्ता-आसवदारा य संवरदारा य। पढमस्स णं सुयक्खंधस्स''''''''पंचअज्झयणा। '''''''' दोच्चस्स णं सुयक्खंधस्स पंच अज्झयणा'''''''**। लेकिन आचार्य अभयदेव के समय में यह कथन मान्य नहीं था ऐसा उनके इन वाक्यों से स्पष्ट है—'या चेयं द्विश्रुतस्कन्धतोक्ताऽस्य सा न रूढा, एक श्रुतस्कन्धताया एव रूढत्वात्।' लेकिन प्रतिपाद्य विषय की भिन्नता को देखते हुए इसके दो श्रुतस्कन्ध मानना अधिक युक्तसंगत है।

प्रतिपाद्य विषय

प्रस्तुत प्रश्नव्याकरण में हिंसादि पांच आस्रवों और अहिंसा आदि पांच संवरों का वर्णन है। प्रत्येक

का एक-एक अध्ययन में सांगोपांग विस्तार से आशय स्पष्ट किया है। जिस अध्ययन का जो वर्णनीय विषय है, उसके सार्थक नामान्तर बतलाये हैं। जैसे कि आस्रव प्रकरण में हिंसादि प्रत्येक आस्रव के तीस-तीस नाम गिनाये हैं और इनके कटुपरिणामों का विस्तार से वर्णन किया है।

हिंसा आस्रव-अध्ययन का प्रारंभ इस प्रकार से किया है—

जारिसओ जंनामा जह य कओ जारिसं फलं दिंति।
जे वि य करेंति पावा पाणवहं तं निसामेह ॥

अर्थात् (सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं—हे जम्बू!) प्राणवध (हिंसा) का क्या स्वरूप है? उसके कौन-कौन से नाम हैं? वह जिस तरह से किया जाता है तथा वह जो फल देता है और जो-जो पापी जीव उसे करते हैं, उसे सुनो।

तदनन्तर हिंसा के पर्यायवाची नाम, हिंसा क्यों, किनकी और कैसे? हिंसा के करने वाले और दुष्परिणाम, नरक गति में हिंसा के कुफल, तिर्यंचगति और मनुष्यगति में हिंसा के कुफल का समग्र वर्णन इस प्रकार की भाषा में किया गया है कि पाठक को हिंसा की भीषणता का साक्षात् चित्र दिखने लगता है।

इसी हिंसा का वर्णन करने के प्रसंग में वैदिक हिंसा का भी निर्देश किया है एवं धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा का उल्लेख करना भी सूत्रकार भूले नहीं हैं। इसके अतिरिक्त जगत् में होने वाली विविध अथवा समस्त प्रकार की हिंसा-प्रवृत्ति का भी निर्देश किया गया है। हिंसा के संदर्भ में विविध प्रकार के मकानों के विभिन्न नामों का, खेतों के साधनों के नामों का तथा इसी प्रकार के हिंसा के अनेक निमित्तों का भी निर्देश किया गया है। इसी संदर्भ में अनार्य—म्लेच्छ जातियों के नामों की सूची भी दी गई है।

असत्य आस्रव के प्रकरण में सर्वप्रथम असत्य का स्वरूप बतलाकर असत्य के तीस सार्थक नामों का उल्लेख किया है। फिर असत्य भाषण किस प्रयोजन से किया जाता है और असत्यवादी कौन हैं, इसका संकेत किया है और अन्त में असत्य के कटुफलों का कथन किया है।

सूत्रकार ने असत्यवादी के रूप में निम्नोक्त मतों के नामों का उल्लेख किया है—

१. नास्तिकवादी अथवा वामलोकवादी—चार्वाक,
२. पंचस्कन्धवादी—बौद्ध,
३. मनोजीववादी—मन को जीव मानने वाले,
४. वायु जीववादी—प्राणवायु को जीव मानने वाले,
५. अंडे से जगत् की उत्पत्ति मानने वाले,
६. लोक को स्वयंभूकृत मानने वाले,
७. संसार को प्रजापति द्वारा निर्मित्त मानने वाले,
८. संसार को ईश्वरकृत मानने वाले,
९. समस्त संसार को विष्णुमय मानने वाले,
१०. आत्मा को एक, अकर्त्ता, वेदक, नित्य, निष्क्रिय, निर्गुण, निर्लिप्त मानने वाले,

११. जगत् को यादृच्छिक मानने वाले,
१२. जगत् को स्वभावजनित मानने वाले,
१३. जगत् को देवकृत मानने वाले,
१४. नियतिवादी—आजीवक।

इन असत्यवादकों के नामोल्लेख से यह स्पष्ट किया गया है कि विभिन्न दर्शनान्तरों की जगत् के विषय में क्या-क्या धारणाएँ थीं और वे इन्हीं विचारों का प्रचार करने के लिये वैध-अवैध उपाय करते रहते थे।

चौर्य आस्रव का विवेचन करते हुए संसार में विभिन्न प्रसंगों पर होने वाली विविध चोरियों और चोरी करने वालों के उपायों का विस्तार से वर्णन किया है। इस प्रकरण का प्रारम्भ भी पूर्व के अध्ययनों के वर्णन की तरह किया गया है। सर्वप्रथम अदत्तादान (चोरी) का स्वरूप बतलाकर सार्थक तीस नाम गिनाये हैं। फिर चोरी करने वाले कौन-कौन हैं और वे कैसी-कैसी वेशभूषा धारण कर जनता में अपना विश्वास जमाते और फिर धन-संपत्ति आदि का अपहरण कर कहाँ जाकर छिपते हैं, आदि का निर्देश किया है। अंत में चोरी के दुष्परिणामों को इसी जन्म में किस-किस रूप में और जन्मान्तरों में किन रूपों में भोगना पड़ता है, आदि का विस्तृत और मार्मिक चित्रण किया है।

अब्रह्मचर्य आस्रव का विवेचन करते हुए सर्व प्रकार के भोगपरायण मनुष्यों, देवों, देवियों, चक्रवर्तियों, वासुदेवों, माण्डलिक राजाओं एवं इसी प्रकार के अन्य व्यक्तियों के भोगों और भोगसामग्रियों का वर्णन किया है। साथ ही शारीरिक सौन्दर्य, स्त्री-स्वभाव तथा विविध प्रकार की कामक्रीडाओं का भी निरूपण किया है और अन्त में बताया है कि **ताओ वि उवणमंति मरणधम्मं अवितित्ता कामाणं**। इसी प्रसंग में स्त्रियों के निमित्त होने वाले विविध युद्धों का भी उल्लेख हुआ है। वृत्तिकार ने एतद्विषयक व्याख्या में सीता, द्रौपदी, रुक्मिणी, पद्मावती, तारा, रक्तसुभद्रा, अहिल्या, सुवर्णगुटिका, रोहिणी, किन्नरी, सुरूपा तथा विद्युन्मती की कथाएँ जैन परम्परा के अनुसार उद्धृत की हैं।

पांचवें परिग्रह आस्रव के विवेचन में संसार में जितने प्रकार का परिग्रह होता है और दिखाई देता है, उसका सविस्तार निरूपण किया है। इस परिग्रह रूपी पिशाच के पाश में सभी प्राणी आबद्ध हैं और यह जानते हुए भी कि इसके सदृश लोक में अन्य कोई बंधन नहीं है, उसका अधिक से अधिक संचय करते रहते हैं। परिग्रह के स्वभाव के लिये प्रयुक्त ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं—

अणंतं असरणं दुरंतं अधुवमणिच्चं असासयं पावकम्मनेमं अवकिरियव्वं विणासमूलं वहबंधपरिकिलेसबहुलं अणंतसंकिलेसकारणं।

इन थोड़े से शब्दों में परिग्रह का समग्र चित्रण कर दिया है। कहा है—उसका अंत नहीं है, यह किसी को शरण देने वाला नहीं है, दुःखद परिणाम वाला है, अस्थिर, अनित्य और अशाश्वत है, पापकर्म का मूल है, विनाश की जड़ है, वध, बंध और संक्लेश से व्याप्त है, अनन्त क्लेश इसके साथ जुड़े हुए हैं।

अंत में वर्णन का उपसंहार इन शब्दों के साथ किया है—**मोक्खवरमोत्तिमग्गस्स फलिहभूयो चरिमं अधम्मदारं समत्तं** अर्थात् श्रेष्ठ मोक्षमार्ग के लिये यह परिग्रह अर्गलारूप है।

इस प्रकार प्रथम श्रुतस्कन्ध के पांच अधिकारों में रोगों के स्वरूप और उनके द्वारा होने वाले दुःखों—पीड़ाओं का वर्णन है। रोग हैं आंतरिक विकार हिंसा, असत्य, स्तेय—चोरी, अब्रह्मचर्य—कामविकार और परिग्रह

तथा तज्जन्य दुःख हैं—वध, बंधन, अनेक प्रकार की कुयोनियों, कुलों में जन्म-मरण करते हुए अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करना।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध है इन रोगों से निवृत्ति दिलाने वाले उपायों के वर्णन का। इसमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के स्वरूप का और उनके सुखद प्रतिफलों का सविस्तार निरूपण किया है।

प्रथम संवर अहिंसा के प्रकरण में विविध व्यक्तियों द्वारा आराध्य विविध प्रकार की अहिंसा का विवेचन है। सर्वप्रथम अहिंसा के साठ सार्थक नामों का उल्लेख किया है। इन नामों में प्रकारान्तर से भगवती अहिंसा की महिमा, अतिशय और प्रभाव का निर्देश किया है। इन नामों से अहिंसा के व्यापक—सर्वांगीण—स्वरूप का चित्रण हो जाता है। अंत में अहिंसावृत्ति को संपन्न बनाने में कारणभूत पांच भावनाओं का वर्णन किया है।

सत्यरूप द्वितीय संवर के प्रकरण में विविध प्रकार के सत्यों का वर्णन किया है। इसमें व्याकरणसम्मत वचन को भी अमुक अपेक्षा से सत्य कहा है तथा बोलते समय व्याकरण के नियमों तथा उच्चारण की शुद्धता का ध्यान रखने का संकेत किया गया है। साथ ही दस प्रकार के सत्यों का निरूपण किया है—जनपदसत्य, संमतसत्य, स्थापनासत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीतिसत्य, व्यवहारसत्य, भावसत्य, योगसत्य और उपमासत्य।

इसके अतिरिक्त बोलने वालों को वाणीमर्यादा और शालीनता का ध्यान रखने के लिये कहा गया है कि ऐसा वचन नहीं बोलना चाहिये जो संयमघातक हो, पीड़ाजनक हो, भेद-विकथाकारक हो, कलहकारक हो, अपशब्द हो और अशिष्ट जनों द्वारा प्रयोग में लाया जाने वाला हो, अन्याय पोषक हो, अवर्णवाद से युक्त हो, लोकनिन्द्य हो, स्वप्रशंसा और परनिन्दा करने वाला हो, इत्यादि। ऐसे वचन संयम का घात करने वाले हैं, अतः उनका प्रयोग नहीं करना चाहिये।

अचौर्य संबन्धी प्रकरण में अचौर्य से सम्बन्धित अनुष्ठानों का वर्णन किया गया है। इसमें अस्तेय की स्थूल से लेकर सूक्ष्मतम व्याख्या की गई है।

अचौर्य के लिये प्रयुक्त अदत्तादानविरमण और दत्तानुज्ञात इन दो पर्यायवाची नामों का अन्तर स्पष्ट करते हुए बताया है कि अदत्त के मुख्यतया पांच प्रकार हैं—देव-अदत्त, गुरु-अदत्त, राज-अदत्त, गृहपति-अदत्त और सहधर्मी-अदत्त। इन पांचों प्रकारों के अदत्तों का स्थूल या सूक्ष्म किसी न किसी रूप में ग्रहण किया जाता है तो वह अदत्तादान है। ऐसे अदत्तादान का मन-वचन-काया से सर्वथा त्याग करना अदत्तादानविरमण कहलाता है। दत्तानुज्ञात में दत्त और अनुज्ञात यह दो शब्द हैं। इनका अर्थ सुगम है किन्तु व्यञ्जनिक अर्थ यह है कि दाता और आज्ञादायक के द्वारा भक्तिभावपूर्वक जो वस्तु दी जाए तथा लेने वाले की मानसिक स्वस्थता बनी रहे, ऐसी स्थिति का नियामक शब्द दत्तानुज्ञात है। दूसरा अर्थ यह है कि स्वामी के द्वारा दिये जाने पर भी जिसके उपयोग करने की अनुज्ञा—आज्ञा स्वीकृति गुरुजनों से प्राप्त हो, वही दत्तानुज्ञात है। अन्यथा उसे चोरी ही कहा जाएगा।

ब्रह्मचर्यसंवर प्रकरण में ब्रह्मचर्य के गौरव का प्रभावशाली शब्दों में विस्तार से निरूपण किया गया है। इसकी साधना करने वालों के संमानित एवं पूजित होने का प्ररूपण किया है। इन दोनों के माहात्म्यदर्शक कतिपय अंश इस प्रकार हैं—

सव्वपवित्तसुनिम्मियसारं, सिद्धिविमाणअवंगुयदारं।

\+ + + +

वेरविरामणपज्जवसाणं सव्वसमुद्दमहोदधितित्थं ।

जेण सुद्धचरिएण भवइ सुवंभणो सुसमणो सुसाहू सुइसी सुमुणी स संजए स एव भिक्खू जो सुद्धं चरति वंभचेरं ।

इसके अतिरिक्त ब्रह्मचर्य विरोधी प्रवृत्तियों का भी उल्लेख किया है और वह इसलिये कि ये कार्य ब्रह्मचर्य-साधक को साधना से पतित करने में कारण हैं ।

अन्तिम प्रकरण अपरिग्रहसंवर का है । इसमें अपरिग्रहवृत्ति के स्वरूप, तद्विपयक अनुष्ठानों और अपरिग्रहव्रतधारियों के स्वरूप का निरूपण है । इसकी पांच भावनाओं के वर्णन में सभी प्रकार के ऐन्द्रियिक विपयों के त्याग का संकेत करते हुए वताया है कि—

मणुन्नामणुन्न-सुब्भि-दुब्भि-राग-दोसपणिहियप्पा साहू मणवयणकायगुत्ते संवुडेणं पणिहितिंदिए चरेज्ज धम्मं ।

इस प्रकार से प्रस्तुत सूत्र का प्रतिपाद्य विपय पांच आस्रवों और पांच संवरों का निरूपण है । इनके वर्णन के लिये जिस प्रकार की शव्दयोजना और भावाभिव्यक्ति के लिए जैसे अलंकारों का उपयोग किया है, उसके लिये अनन्तरवर्ती शीर्पक में संकेत करते हैं ।

साहित्यिक मूल्यांकन

किसी भी ग्रन्थ के प्रतिपाद्य के अनुरूप भाव-भापा-शैली का उपयोग किया जाना उसके साहित्यिक स्तर के मूल्यांकन की कसौटी है । इस दृष्टि से जव हम प्रस्तुत प्रश्नव्याकरणसूत्र का अवलोकन करते हैं तो स्पष्ट होता है कि भारतीय वाङ्मय में इसका अपना एक स्तर है ।

भावाभिव्यक्ति के लिये प्रयुक्त शव्दयोजना प्रौढ़, प्रांजल और प्रभावक है । इसके द्वारा वर्ण्य का समग्र शव्दचित्र पाठक के समक्ष उपस्थित कर दिया है । इसके लिये हम पंच आस्रवों अथवा पंच संवरों में से किसी भी एक को उदाहरण के रूप में ले सकते हैं । जैसे कि हिंसा-आस्रव की भीपणता का वोध कराने के लिये निम्न प्रकार के कर्कश वर्णो और अक्षरों का प्रयोग किया है—

'पावो चंडो रुद्दो खुद्दो साहसिओ अणारिओ णिग्घिणो णिस्संसो महब्भओ पइभओ अइभओ वीहणओ तासणओ अणज्जो उव्वेयणओ य णिरवयक्खो णिद्धम्मो णिप्पिवासो णिक्कलुणो णिरयवासगमणनिधणो मोहमहब्भयपयट्टओ मरणविमणस्सो ।'

इसके विपरीत सत्य-संवर का वर्णन करने के लिये ऐसी कोमल-कांत-पदावली का उपयोग किया है, जो हृदयस्पर्शी होने के साथ-साथ मानवमन में नया उल्लास, नया उत्साह और उन्मेप उत्पन्न कर देती है । उदाहरण के लिये निम्नलिखित गद्यांश पर्याप्त है—

'......सच्चवयणं सुद्धं सुचियं सिवं सुजायं सुभासियं सुव्वयं सुकहियं सुदिट्ठं सुपतिट्ठियं सुपइट्ठियजसं सुसंजमियवयणवुइयं सुरवरनरवसभपवरवलवगसुविहियजणवहुमयं परमसाहुधम्मचरणं तवनियमपरिग्गहियं सुगतिपहदेसगं च लोगुत्तमं वयमिणं ।'

भापा, भाव के अनुरूप है, यत्र-तत्र साहित्यिक अलंकारों का भी उपयोग किया गया है । मुख्य रूप से उपमा और रूपक अलंकरों की वहुलता है । फिर भी अन्यान्य अलंकारों का उपयोग भी यथाप्रसंग किया गया है, जिनका ज्ञान प्रासंगिक वर्णनों को पढ़ने से हो जाता है ।

भावों की सही अनुभूति की बोधक भाषायोजना रस कहलाती है। इस अपेक्षा से भाषा का विचार करें तो प्रस्तुत ग्रंथ में शृंगार, वीर, करुणा, वीभत्स आदि साहित्यिक सभी रसों का समावेश हुआ है। जैसे कि हिंसा-आस्रव के कुफलों के वर्णन में वीभत्स और उनका भोग करने वालों के वर्णन में करुण रस की अनुभूति होती है। इसी प्रकार का अनुभव अन्य आस्रवों के वर्णन में भी होता है कि प्राणी अपने क्षणिक स्वार्थ की पूर्ति के लिये कितने-कितने वीभत्स कार्य कर बैठते हैं और परिणाम की चिन्ता न कर रुद्रता की चरमता को भी लांघ जाते हैं। लेकिन विपाककाल में बनने वाली उनकी स्थिति करुणता की सीमा भी पार जाती है। पाठक के मन में एक ऐसा स्थायी निर्वेदभाव उत्पन्न हो जाता है कि वह स्वयं के अंतर्जीवन की ओर झांकने का प्रयत्न करता है।

अब्रह्मचर्य-आस्रव के वर्णन में शृंगाररस से पूरित अनेक गद्यांश हैं। लेकिन उनमें उद्दाम शृंगार नहीं है, अपितु विरागभाव से अनुप्राणित है। सर्वत्र यही निष्कर्ष रूप में बताया है कि उत्तम से उत्तम भोग भोगने वाले भी अन्त में कामभोगों से अतृप्त रहते हुए ही मरणधर्म को प्राप्त होते हैं।

लेकिन अहिंसा आदि पांच संवरों के वर्णन में वीररस की प्रधानता है। आत्मविजेताओं की अदीन-वृत्ति को प्रभावशाली शब्दावली में जैसा का तैसा प्रकट किया है। सर्वत्र उनकी मनस्विता और मनोबल की सबलता का दिग्दर्शन कराया है।

इस प्रकार हम प्रस्तुत आगम को किसी भी कसौटी पर परखें, वाङ्‌मय में इसका अनूठा, अद्वितीय स्थान है। साहित्यिक कृति के लिये जितनी भी विशेषतायें होना चाहिये, वे सब इस में उपलब्ध हैं। विद्वान् गीतार्थ रचयिता ने इसकी रचना में अपनी प्रतिभा का पूर्ण प्रयोग किया है और प्रतिपाद्य के प्रत्येक आयाम पर प्रौढ़ता का परिचय दिया है।

तत्कालीन आचार-विचार का चित्रण

ग्रंथकार ने तत्कालीन समाज के आचार-विचार का भी विवरण दिया है। लोकजीवन की कैसी प्रवृत्ति थी और तदनुरूप उनकी कैसी मनोवृत्ति थी, आदि सभी का स्पष्ट उल्लेख किया है। एक ओर उनके आचार-विचार का कृष्णपक्ष मुखरित है तो दूसरी ओर उनके शुक्लपक्ष का भी परिचय दिया है। मनोविज्ञान-वेत्ताओं के लिये तो इसमें इतनी सामग्री संकलित कर दी गई है कि उससे यह जाना जा सकता है कि मनोवृत्ति की कौनसी धारा मनुष्य की किस प्रवृत्ति को प्रभावित करती है और उससे किस आचरण की ओर मुड़ा जा सकता है।

प्रस्तुत संस्करण

वैसे तो आस्रव और संवर की चर्चा अन्य आगमों में भी हुई है, किन्तु प्रश्नव्याकरणसूत्र तो इनके वर्णन का ही ग्रंथ है। जितना व्यवस्थित और क्रमबद्ध वर्णन इसमें किया गया है, उतना अन्यत्र नहीं हुआ है। यही कारण है कि प्राचीन आचार्यों ने इस पर टीकायें लिखी, इसके प्रतिपाद्य विषय के आशय को सरल सुबोध भाषा में स्पष्ट करने का प्रयास किया और वे इसमें सफल भी हुए हैं। उन्होंने ग्रंथ की समासबहुल शैली के आशय को स्पष्ट किया है, प्रत्येक शब्द में गर्भित गूढ़ रहस्य को प्रकट किया है। उनके इस उपकार के लिये वर्त्तमान ऋणी रहेगा, लेकिन आज साहित्यसृजन की भाषा का माध्यम बदल जाने से वे व्याख्याग्रन्थ भी सर्वजन-सुबोध नहीं रहे। इसीलिये वर्तमान की हिन्दी आदि लोकभाषाओं में अनेक संस्करण प्रकाशित हुए। उन सबकी अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। परन्तु यहाँ प्रस्तुत संस्करण के सम्बन्ध में ही कुछ प्रकाश डाल रहे हैं।

प्रस्तुत संस्करण के अनुवादक पं. मुनि श्री प्रवीणऋषिजी म. हैं, जो आचार्यसम्राट् श्री आनन्दऋषिजी म. के अन्तेवासी हैं। इस अनुवाद के विवेचक संपादक गुरुणांगुरु श्रद्धेय पंडितरत्न श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल हैं। जैन आगमों का आपने अनेक बार अध्ययन-अध्यापन किया है। यही कारण है कि आपने ग्रंथ के विवेचन में अभिधेय के आशय को स्पष्ट करने के लिये आवश्यक सभी विवरणों को यथाप्रसंग समायोजित कर ग्रंथ के हार्द को सुललित शैली में व्यक्त किया है। इसमें न तो कुछ अप्रासंगिक जोड़ा गया है और न वह कुछ छूट पाया है जो वर्ण्य के आशय को स्पष्ट करने के लिये अपेक्षित है। पाठक को स्वतः यह अनुभव होगा कि पंडितजी ने पांडित्यप्रदर्शन न करके स्वान्तःसुखाय लिखा है और जो कुछ लिखा है, उसमें उनकी अनुभूति तदाकार रूप में अवतरित हुई है। संक्षेप में कहें तो निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता कि आपकी भाषाशैली का जो भागीरथी गंगा जैसा सरल प्रवाह है, मनोभावों की उदारता है, वाचाशक्ति का प्रभाव है, वह सब इसमें पुंज रूप से प्रस्तुत कर दिया है। इसके सिवाय अधिक कुछ कहना मात्र शब्दजाल होगा, परन्तु इतनी अपेक्षा तो है ही कि पंडितप्रवर अन्य गम्भीर आगमों के आशय का ऐसी ही शैली में सम्पादन कर अपने ज्ञानवृद्धत्व के द्वारा जन-जन की ज्ञानवृद्धि के सूत्रधार बनें।

आशा और विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि आगमसाहित्य के क्षेत्र में यह सुरुचिपूर्ण संस्करण यशस्वी और आकर्षक रहेगा।

आगमसाहित्य के प्रकाशन की दशा और दिशा

उपसंहार के रूप में एतद् विषयक मुख्य बिन्दुओं पर संक्षेप में प्रकाश डालना उपयुक्त होगा।

यह तो पूर्व में कहा जा चुका है कि एक समय था जब धर्मग्रन्थ कंठोपकंठ सुरक्षित रखे जाते थे, लिखने का रिवाज न था। लेकिन परिस्थिति के परिवर्तित होने पर लेखन-प्रणाली स्वीकार कर ली गई और जैन आगमों को ताडपत्रादि पर लिपिबद्ध किया गया। जैन आचार्यों का यह परिश्रम अमूल्य एवं अभिनंदनीय रहा कि उनके प्रयासों के फलस्वरूप आगम ग्रन्थ किसी न किसी रूप में सुरक्षित रहे।

इसके बाद कागज पर लिखने का युग आया। इस युग में आगमों की अनेक प्रतिलिपियां हुईं और भिन्न-भिन्न ग्राम, नगरों के ग्रन्थभंडारों में सुरक्षित रखी गईं। लेकिन इस समय में लिपिकारों की अल्पज्ञता आदि के कारण पाठों में भेद हो गये। ऐसी स्थिति में यह निर्णय करना कठिन हो गया कि शुद्ध पाठ कौनसा है? इसी कारण आचार्यों ने उपलब्ध पाठों के आधार पर अपने-अपने ढंग से व्याख्याएँ कीं।

तत्पश्चात् मुद्रणयुग में जैनसंघ का प्रारंभ में प्रयत्न नगण्य रहा। विभिन्न दृष्टियों से संघ में शास्त्रों के मुद्रण के प्रति उपेक्षाभाव ही नहीं, विरोधभाव भी रहा। लेकिन विदेश में कुछ जर्मन विद्वानों और देश में कुछ प्रगतिशील जैनप्रमुखों ने आगमों को प्रकाशित करने की पहल की। उनमें अजीमगंज (बंगाल) के बाबू धनपतसिंहजी का नाम प्रमुख है। उन्होंने आगमों को टब्बों के साथ मुद्रित कर प्रकाशित कराया। इसके बाद विजयानन्दसूरिजी ने आगम-प्रकाशन कार्य करने वालों को प्रोत्साहित किया। सेठ भीमसिंह माणेक ने भी आगम-प्रकाशन की प्रवृत्ति प्रारंभ की और एक दो आगम टीका सहित निकाले। इसी प्रकार अन्यान्य व्यक्तियों की ओर से आगम-प्रकाशन का कार्य प्रारंभ किया गया। उसमें आगमोदय समिति का नाम प्रमुख है। समिति ने सभी आगमों को समयानुकूल और साधनों के अनुरूप प्रकाशित करवाया।

स्थानकवासी जैन संघ में सर्वप्रथम जीवराज घेलाभाई ने जर्मन विद्वानों द्वारा मुद्रित रोमन लिपि के आगमों को नागरी लिपि में प्रकाशित किया। इसके बाद पूज्य अमोलकऋषिजी ने बत्तीस आगमों का हिन्दी

अनुवाद किया और हैदरावाद से वे प्रकाशित हुए। तत्पश्चात् संघ में आगमों को व्यवस्थित रीति से संपादित करके प्रकाशित करने का मानस वना। पूज्य आत्मारामजी महाराज ने अनेक आगमों की अनुवाद सहित व्याख्याएँ की, जो पहले भिन्न-भिन्न सद्ग्रहस्थों की ओर से प्रकाशित हुईं और अब आत्माराम जैन साहित्य प्रकाशन समिति लुधियाना की ओर से मुद्रण और प्रकाशन कार्य हो रहा है। मुनिश्री फूलचन्दजी म. पुप्फभिक्खु ने दो भागों में मूल वत्तीसों आगमों को प्रकाशित किया। जिनमें कुछ पाठों को वदल दिया गया। इसके वाद पूज्य घासीलालजी महाराज ने हिन्दी, गुजराती और संस्कृत विवेचन सहित प्रकाशन का कार्य किया। इस समय आगम प्रकाशन समिति व्यावर की ओर से भी शुद्ध मूल पाठों सहित हिन्दी अनुवाद के प्रकाशन का कार्य हो रहा है।

इसके सिवाय महावीर जैन विद्यालय बंवई के तत्त्वावधान में मूल आगमों का परिप्कार करके शुद्ध पाठ सहित प्रकाशन का कार्य चल रहा है। अनेक आगम ग्रन्थ प्रकाशित भी हो चुके हैं। जैन विश्वभारती लाडनूं की ओर से भी ग्यारह अंग—आगम मूल प्रकाशित हो चुके हैं।

इस प्रकार से समग्र जैन संघ में आगमों के प्रकाशन के प्रति उत्साह है और मूल पाठों, पाठान्तरों, विभिन्न प्रतियों से प्राप्त लिपिभेद के कारण हुए शब्दभेद, विपयसूची, शब्दानुक्रमणिका, परिशिप्ट, प्रस्तावना सहित प्रकाशित हो रहे हैं। इससे यह लाभ हो रहा है कि विभिन्न ग्रन्थभंडारों में उपलब्ध प्रतियों के मिलाने का अवसर मिला, खंडित पाठों आदि को फुटनोट के रूप में उद्धृत भी किया जा रहा है। लेकिन इतनी ही जैन आगमों के प्रकाशन की सही दिशा नहीं मानी जा सकती है। अब तो यह आवश्यकता है कि कोई प्रभावक और वहुश्रुत जैनाचार्य देवर्धिगणि क्षमाश्रमण जैसा साहस करके सर्वमान्य, सर्वतः शुद्ध आगमों को प्रकाशित करने-कराने के लिये अग्रसर हो।

साथ ही जैन संघ का भी यह उत्तरदायित्व है कि आगममर्मज्ञ मुनिराजों और वयोवृद्ध गृहस्थ विद्वानों के लिये ऐसी अनुकूल परिस्थितियों का सर्जन करे, जिससे वे स्वसुखाय के साथ-साथ परसुखाय अपने ज्ञान को वितरित कर सकें। उनमें ऐसा उल्लास आये कि वे सरस्वती के साधक सरस्वती की साधना में एकान्तरूप से अपने को अर्पित कर दें। संभवतः यह स्थिति आज न वन सके, लेकिन भविप्य के जैन संघ को इसके लिये कार्य करना पड़ेगा। विश्व में जो परिवर्तन हो रहे हैं, यदि उनके साथ चलना है तो यह कार्य शीघ्र प्रारंभ करना चाहिए।

देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में जैन पीठों की स्थापना होती जा रही है और शोधसंस्थान भी स्थापित हो रहे हैं। उनसे जैन साहित्य के संशोधन को प्रोत्साहन मिला है और प्रकाशन भी हो रहा है। यह एक अच्छा कार्य है। अतः उनसे यह अपेक्षा है कि अपने साधनों के अनुरूप प्रतिवर्प भंडारों में सुरक्षित दो-चार प्राचीन ग्रन्थों को मूल रूप में प्रकाशित करने की ओर उन्मुख हों।

ऐसा करने से जैन साहित्य की विविध विधाओं का ज्ञान प्रसारित होगा और जैन साहित्य की विशालता, विविधरूपता एवं उपादेयता प्रकट होगी।

विज्ञेपु किं वहुना !

जैन स्थानक,
व्यावर (राज.) ३०५९०१

—देवकुमार जैन

अपनी बात

हमारे श्रमणसंघ के विद्वान् युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी महाराज जितने शान्त एवं गम्भीर प्रकृति के हैं, ज्ञान-गरिमा की दृष्टि से उतने ही स्फूर्त तथा क्रियाशील हैं। ज्ञान के प्रति अगाध प्रेम और उसके विस्तार की भावना आप में बड़ी तीव्र है। जब से आपश्री ने समस्त बत्तीस आगमों के हिन्दी अनुवाद-विवेचन युक्त आधुनिक शैली में प्रकाशन-योजना की घोषणा की है, विद्वानों तथा आगमपाठी ज्ञान-पिपासुओं में बड़ी उत्सुकता व प्रफुल्लता की भावना बढ़ी है। यह एक ऐतिहासिक आवश्यकता भी थी।

बहुत वर्षों पूर्व पूज्यपाद श्री अमोलकऋषिजी महाराज ने आगमों के हिन्दी अनुवाद का जो भगीरथ कार्य सम्पन्न किया था, वह सम्पूर्ण स्थानकवासी जैन समाज के लिए एक गौरव का कार्य तो था ही, अत्यन्त आवश्यक व उपयोगी भी था। वर्तमान में उन आगमों की उपलब्धि भी कठिन हो गई और आगमपाठी जिज्ञासुओं को बड़ी कठिनाई का अनुभव हो रहा था। श्रद्धेय आचार्यसम्राट् श्री आनन्दऋषिजी महाराज भी इस दिशा में चिन्तनशील थे और आपकी हार्दिक भावना थी कि आगमों का आधुनिक संस्करण विद्यार्थियों को सुलभ हो। युवाचार्यश्री की साहसिक योजना ने आचार्यश्री की अन्तरंग भावना को सन्तोष ही नहीं किन्तु आनन्द प्रदान किया।

आगम-सम्पादन-कार्य में अनेक श्रमण, श्रमणियों तथा विद्वानों का सहकार अपेक्षित है और युवाचार्यश्री ने बड़ी उदारता के साथ सबका सहयोग आमंत्रित किया। इससे अनेक प्रतिभाओं को सक्रिय होने का अवसर व प्रोत्साहन मिला। मुझ जैसे नये विद्यार्थियों को भी अनुभव की देहरी पर चढ़ने का अवसर मिला। सिकन्द्राबाद वर्षावास में राजस्थानकेसरी श्री पुष्करमुनिजी, साहित्यवाचस्पति श्री देवेन्द्रमुनिजी आदि भी आचार्यश्री के साथ थे। श्री देवेन्द्रमुनिजी हमारे स्थानकवासी जैन समाज के सिद्धहस्त लेखक व अधिकारी विद्वान् हैं। उन्होंने मुझे भी आगम-सम्पादन-कार्य में प्रेरित किया। उनकी बार-बार की प्रोत्साहनपूर्ण प्रेरणा से मैंने भी आगम-सम्पादन-कार्य में सहयोगी बनने का संकल्प किया। परम श्रद्धेय आचार्यश्री का मार्गदर्शन मिला और मैं इस पथ पर एक कदम बढ़ाकर आगे आया। फिर गति में कुछ मन्दता आ गई। आदरणीया विदुषी महासती प्रीतिसुधाजी ने मेरी मन्दता को तोड़ा, बल्कि कहना चाहिए झकझोरा, उन्होंने सिर्फ प्रेरणा व प्रोत्साहन ही नहीं, सहयोग भी दिया, बार-बार पूछते रहना, हर प्रकार का सहकार देना तथा अनेक प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ, टीकाएँ, टव्बा आदि उपलब्ध कराना, यह सब उन्हीं का काम था। यदि उनकी बलवती प्रेरणा व जीवन्त सहयोग न होता तो मैं शायद प्रश्नव्याकरणसूत्र का अनुवाद नहीं कर पाता।

प्रश्नव्याकरणसूत्र अपनी शैली का एक अनूठा आगम है। अन्य आगमों में जहाँ वर्ण्यविषय की विविधता विहंगम गति से चली है, वहाँ इस आगम की वर्णनशैली पिपीलिकायोग-मार्ग की तरह पिपीलिकागति से क्रमबद्ध चली है। पांच आश्रवों तथा पांच संवरों का इतना सूक्ष्म, तलस्पर्शी, व्यापक और मानव-मनोविज्ञान को छूने वाला वर्णन संसार के किसी भी अन्य शास्त्र या ग्रन्थ में मिलना दुर्लभ है।

शब्दशास्त्र का नियम है कि कोई भी दो शब्द एकार्थक नहीं होते। प्रत्येक शब्द, जो भले पर्यायवाची हों, एकार्थक प्रतीत होते हों, किन्तु उनका अर्थ, प्रयोजन, निष्पत्ति भिन्न होती है और वह स्वयं में कुछ न कुछ भिन्न

अर्थवत्ता लिये होता है। प्रश्नव्याकरणसूत्र में भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यही अद्भुतता है, विलक्षणता है कि हिंसा, अहिंसा, सत्य, असत्य आदि के ६०, ३० आदि जो पर्यायवाची नाम दिये हैं, वे सभी भिन्न-भिन्न अर्थ के द्योतक हैं। उनकी पहुँच मानव के गहन अन्तःकरण तक होती है और भिन्न-भिन्न मानसवृत्तियों, स्थितियों और प्रवृत्तियों को दर्शाती हैं। उदाहरण स्वरूप—हिंसा के पर्यायवाची नामों में क्रूरता भी है और क्षुद्रता भी है। क्रूरता को हिंसा समझना बहुत सरल है, किन्तु क्षुद्रता भी हिंसा है, यह बड़ी गहरी व सूक्ष्म बात है। क्षुद्र का हृदय छोटा, अनुदार होता है तथा वह भीत व त्रस्त रहता है। उसमें न देने की क्षमता है, न सहने की, इस दृष्टि से अनुदारता, असहिष्णुता तथा कायरता 'क्षुद्र' शब्द के अर्थ को उद्घाटित करती है और यहाँ हिंसा का क्षेत्र बहुत व्यापक हो जाता है।

तीसरे संवर द्वार में अस्तेयव्रत की आराधना कौन कर सकता है, उसकी योग्यता, अर्हता व पात्रता का वर्णन करते हुए बताया है—'संग्रह-परिग्रहकुशल' व्यक्ति अस्तेयव्रत की आराधना कर सकता है।

संग्रह-परिग्रह शब्द की भावना बड़ी सूक्ष्म है। टीकाकार आचार्य ने बताया है—'संग्रह-परिग्रह-कुशल' का अर्थ है संविभागशील, जो सबको समान रूप से बँटवारा करके सन्तुष्ट करता हो, वह समवितरणशील या संविभाग में कुशल व्यक्ति ही अस्तेयव्रत की आराधना का पात्र है।

'प्रार्थना' को चौर्य में गिनना व आदर को परिग्रह में समाविष्ट करना, बहुत ही सूक्ष्म विवेचना व चिन्तना की बात है। इस प्रकार के सैकड़ों शब्द हैं, जिनका प्रचलित अर्थों से कुछ भिन्न व कुछ विशिष्ट अर्थ है और उस अर्थ के उद्घाटन से बहुत नई अभिव्यक्ति मिलती है। मैंने टीका आदि के आधार पर उन अर्थों का उद्घाटन कर उनकी मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि स्पष्ट करने का प्रयत्न भी किया है।

यद्यपि आगम अनुवाद-सम्पादन के क्षेत्र में यह मेरा प्रथम प्रयास है, इसलिए भाषा का सौष्ठव, वर्णन की प्रवाहबद्धता व विषय की विशदता लाने में अपेक्षित सफलता नहीं मिली, जो स्वाभाविक ही है, किन्तु सुप्रसिद्ध साहित्यशिल्पी श्रीचन्दजी सुराना का सहयोग, पथदर्शन तथा भारतप्रसिद्ध विद्वान् मनीषी आदरणीय पं. श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल का अकथनीय सहयोग इस आगम को सुन्दर रूप प्रदान करने में समर्थ हुआ है। वास्तव में युवाचार्यश्री की उदारता तथा गुणज्ञता एवं पं. श्री भारिल्लजी साहब का संशोधन-परिष्कार मेरे लिए सदा स्मरणीय रहेगा। यदि भारिल्ल साहब ने संशोधन-श्रम न किया होता तो यह आगम इतने सुव्यवस्थित रूप में प्रकट न होता। मैं आशा व विश्वास करता हूँ कि पाठकों को मेरा श्रम सार्थक लगेगा और मुझे भी उनकी गुणज्ञता से आगे बढ़ने का साहस व आत्मबल मिलेगा। इसी भावना के साथ—

—प्रवीणऋषि

विषयानुक्रमणिका

प्रथम श्रुतस्कन्ध : आस्रवद्वार

द्वितीय अध्ययन—मृषावाद

तृतीय अध्ययन—अदत्तादान

चतुर्थ अध्ययन—अब्रह्म

पञ्चम अध्ययन—परिग्रह

द्वितीय श्रुतस्कन्ध—संवरद्वार

प्रथम अध्ययन—अहिंसा

द्वितीय अध्ययन—सत्य

तृतीय अध्ययन—दत्तानुज्ञात

चतुर्थ अध्ययन—ब्रह्मचर्य

पंचम अध्ययन—परिग्रहत्याग

परिशिष्ट

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

कार्यकारिणी समिति

पंचमगणहर-सिरिसुहम्मसामिपणीयं दसमं अंगं

पण्हावागरणाइं

पञ्चमगणधर-श्रीसुधर्मस्वामिप्रणीत दशम अंग

प्रश्नव्याकरणसूत्र

प्रश्नव्याकरणसूत्र

पूर्वपीठिका

प्रश्नव्याकरणसूत्र भगवान् महावीर द्वारा अर्थतः प्रतिपादित द्वादशांगी में दसवें अंग के रूप में परिगणित है। नन्दी आदि आगमों में इसका प्रतिपाद्य जो विषय बतलाया गया है, उपलब्ध प्रश्नव्याकरण में वह वर्णित नहीं है। वर्त्तमान में यह सूत्र दो मुख्य विभागों में विभक्त है—आस्रवद्वार और संवरद्वार। दोनों द्वारों में पाँच-पाँच अध्ययन होने से कुल दस अध्ययनों में यह पूर्ण हुआ है। अतः इसका नाम 'प्रश्नव्याकरणदशा' भी कहीं कहीं देखा जाता है।

प्रथम विभाग में हिंसा आदि पांच आस्रवों का और दूसरे विभाग में अहिंसा आदि पाँच संवरों का वर्णन किया गया है।

प्रथम विभाग का प्रथम अध्ययन हिंसा है।

बहुतों की ऐसी धारणा है कि हिंसा का निषेध मात्र अहिंसा है, अतएव वह निवृत्तिरूप ही है; किन्तु तथ्य इससे विपरीत है। अहिंसा के निवृत्तिपक्ष से उसका प्रवृत्तिपक्ष भी कम प्रबल नहीं है। करुणात्मक वृत्तियाँ भी अहिंसा हैं।

हिंसा-अहिंसा की परिभाषा और उनका व्यावहारिक स्वरूप विवादास्पद रहा है। इसीलिए आगमकार हिंसा का स्वरूप-विवेचन करते समय किसी एक दृष्टिकोण से बात नहीं करते हैं। उसके अन्तरंग, बहिरंग, सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक स्वरूप की तथा उसके कारणों की भी मीमांसा करते हैं।

प्रस्तुत आगम में विषय-विश्लेषण के लिए पाँच द्वारों से हिंसा का वर्णन किया गया है:—हिंसा का स्वभाव, उसके स्वरूपसूचक गुणनिष्पन्न नाम, हिंसा की विधि—हिंस्य जीवों का उल्लेख, उसका फल और हिंसक व्यक्ति। इन पाँच माध्यमों से हिंसा का स्वरूप स्पष्ट कर दिया गया है। हिंसा का कोई आयाम छूटा नहीं है।

हिंसा केवल चण्ड और रौद्र ही नहीं, क्षुद्र भी है। अनेकानेक रूप हैं और उन रूपों को प्रदर्शित करने के लिए शास्त्रकार ने उसके अनेक नामों का उल्लेख किया है। वस्तुतः परिग्रह, मैथुन, अदत्तादान और असत्य भी हिंसाकारक एवं हिंसाजन्य हैं, तथापि सरलता से समझाने के लिए इन्हें पृथक्-पृथक् रूप में परिभाषित किया गया है। अतएव आस्रवद्वार प्रस्तुत आगम में पाँच बतलाए गए हैं और इनका हृदयग्राही विशद वर्णन किया गया है।

आस्रव और संवर सात तत्त्वों या नौ पदार्थों में परिगणित हैं। अध्यात्मदृष्टि मुमुक्षु जनों के लिए इनका बोध होना आवश्यक ही नहीं, सफल साधना के लिए अनिवार्य भी है। आस्रव

जन्म-मरणरूप भवपरम्परा का प्रधान कारण है और संवर-आस्रवनिरोध विशुद्ध आत्मदशा-मुक्ति का मुख्य कारण है। इन दोनों तत्त्वों को जो यथावत् जान-बूझ लेता है, वही साधक निर्वाण-साधना में सफलता का भागी बन सकता है। किन कारणों से कर्म का बन्ध होता है और किन उपायों से कर्मबन्ध का निरोध किया जा सकता है, इस तथ्य को समीचीन रूप से अधिगत किए विना ही साधना के पथ पर चलने वाला कदापि 'सिद्ध' नहीं बन सकता।

आस्रव और संवर तत्त्व जैन अध्यात्म का एक विशिष्ट और मौलिक अभ्युपगम है। यद्यपि बौद्ध आगमों में भी आस्रव (आसव) शब्द प्रयुक्त हुआ है, पर उसका उद्गमस्थल जैन आगम ही हैं।

आगे पाँचों आस्रवों का अनुक्रम से विवरण दिया जा रहा है। तत्पश्चात् द्वितीय संवरद्वार का निरूपण किया गया है।

□□

[१]

आस्रवद्वार

प्रथम अध्ययन : हिंसा

१—जंबू[१] !

इणमो अण्हय-संवर विणिच्छयं, पवयणस्स णिस्संदं ।
वोच्छामि णिच्छयत्थं, सुभासियत्थं महेसीहिं ॥१॥

पंचविहो पण्णत्तो, जिणेहिं इह अण्हओ अणाईओ ।
हिंसामोसमदत्तं, अब्बंभपरिग्गहं चेव ॥२॥

जारिसओ जं णामा, जह य कओ जारिसं फलं देइ ।
जे वि य करेंति पावा, पाणवहं[२] तं णिसामेह ॥३॥

१—हे जम्बू ! आस्रव और संवर का भलीभाँति निश्चय कराने वाले प्रवचन के सार को मैं कहूंगा, जो महर्षियों—तीर्थंकरों एवं गणधरों आदि के द्वारा निश्चय करने के लिए सुभाषित है—समीचीन रूप से कहा गया है ॥१॥

जिनेश्वर देव ने इस जगत् में अनादि आस्रव को पाँच प्रकार का कहा है—(१) हिंसा, (२) असत्य, (३) अदत्तादान, (४) अब्रह्म और (५) परिग्रह ॥२॥

प्राणवधरूप प्रथम आस्रव जैसा है, उसके जो नाम हैं, जिन पापी प्रणियों द्वारा वह किया जाता है, जिस प्रकार किया जाता है और जैसा (घोर दुःखमय) फल प्रदान करता है, उसे तुम सुनो ॥३॥

विवेचन—आ—अभिविधिना सर्वव्यापकविधित्वेन श्रौति-स्रवति वा कर्म येभ्यस्ते आश्रवाः । जिनसे आत्मप्रदेशों में कर्म-परमाणु प्रविष्ट होते हों उन्हें आश्रव या आस्रव कहते हैं । आत्मा जिस समय क्रोधादि या हिंसादि भावों में तन्मय होती है, उस समय आश्रव की प्रक्रिया संपन्न होती है । बंधपूर्व प्रवृत्ति की उत्तर अवस्था आश्रव है । आत्मभूमि में शुभाशुभ फलप्रद कर्म-बीजों के बोने की प्रक्रिया आश्रव है ।

आश्रवों की संख्या और नामों के विषय में विविध प्रक्रियाएँ प्रचलित हैं । स्थानांगसूत्र में एक, पाँच छह, आठ, दस[३] आश्रव के प्रकार गिनाये हैं ।

---

१. देखिए परिशिष्ट १

२. पाठान्तर—पाणिवहं ।

३. स्थानांग-[१-१२, ५-१०९, ६-१६, ८-१२, १०-११]

तत्त्वार्थसूत्र में आश्रव के पाँच भेद—(१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय, (५) योग माने हैं।[1]

कहीं-कहीं आश्रव के बीस भेद भी गिनाये गये हैं।

प्रस्तुत तीन गाथाओं में से प्रथम गाथा में इस शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय का उल्लेख कर दिया गया है, अर्थात् यह प्रदर्शित कर दिया गया है कि इस शास्त्र में आस्रव और संवर की प्ररूपणा की जाएगी।

'सुभासियत्थं महेसीहिं (सुभाषितार्थं महर्षिभिः) अर्थात् यह कथन तीर्थंकरों द्वारा समीचीन रूप से प्रतिपादित है। यह उल्लेख करके शास्त्रकार ने अपने कथन की प्रामाणिकता एवं विश्वसनीयता प्रकट की है।

जिसने कर्मबन्ध के कारणों—आस्रवों और कर्मनिरोध के कारणों को भलीभांति जान लिया, उसने समग्र प्रवचन के रहस्य को ही मानो जान लिया। यह प्रकट करने के लिए इसे 'प्रवचन का निष्यंद' कहा है।

दूसरी गाथा में बताया है—प्रत्येक संसारी जीव को आस्रव अनादिकाल से हो रहा है—लगातार चल रहा है। ऐसा नहीं है कि कोई जीव एक बार सर्वथा आस्रवरहित होकर नये सिरे से पुनः आस्रव का भागी बने। अतएव आस्रव को यहाँ अनादि कहा है। अनादि होने पर भी आस्रव अनन्तकालिक नहीं है। संवर के द्वारा उसका परिपूर्ण निरोध किया जा सकता है, अन्यथा सम्पूर्ण अध्यात्मसाधना निष्फल सिद्ध होगी।

यहाँ पर स्मरण रखना चाहिए कि आस्रव संततिरूप से—परम्परा रूप से ही अनादि है।

इसमें आगे कहे जाने वाले पाँच आस्रवों के नामों का भी उल्लेख कर दिया गया है।

तृतीय गाथा में प्रतिपादित किया गया है कि यहाँ हिंसा आस्रव के संबंध में निम्नलिखित विषयों पर प्रकाश डाला जायेगा—

(१) हिंसा आस्रव का स्वरूप क्या है?
(२) उसके क्या-क्या नाम हैं, जिनसे उसके विविध रूपों का ज्ञान हो सके?
(३) हिंसारूप आस्रव किस प्रकार से किन-किन कृत्यों द्वारा किया जाता है?
(४) किया हुआ वह आस्रव किस प्रकार का फल प्रदान करता है?
(५) कौन पापी जीव हिंसा करते हैं?

हिंसा-आस्रव के संबंध में प्ररूपणा की जो विधि यहाँ प्रतिपादित की गई है, वही अन्य आस्रवों के विषय में भी समझ लेनी चाहिये।

प्राण-वध का स्वरूप—

२—पाणवहो णाम एसो जिणेहिं भणिओ—१ पावो २ चंडो ३ रुद्दो ४ खुद्दो ५ साहसिओ ६ अणारिओ ७ णिग्घिणो ८ णिस्संसो ९ महब्भओ १० पइभओ ११ अइभओ १२ बीहणओ १३ तासणओ १४ अणज्जओ १५ उव्वेयणओ य १६ णिरवयक्खो १७ णिद्धम्मो १८ णिप्पिवासो १९

---

१. मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगास्तद्भेदाः। —अ. ८-१।

णिक्कलुणो २० णिरयवासगमणनिधणो २१ मोहमहब्भयपयट्टग्रो २२ मरणवेमणस्सो। एस पढमं ग्रहम्मदारं ॥१॥

२—जिनेश्वर भगवान् ने प्राणवध को इस प्रकार कहा है—यथा (१) पाप (२) चण्ड (३) रुद्र (४) क्षुद्र (५) साहसिक (६) ग्रनार्य (७) निर्घृण (८) नृशंस (९) महाभय (१०) प्रतिभय (११) ग्रतिभय (१२) भापनक (१३) त्रासनक (१४) ग्रनार्य (१५) उद्वेगजनक (१६) निरपेक्ष (१७) निर्धर्म (१८) निष्पिपास (१९) निष्करुण (२०) नरकवास गमन-निधन (२१) मोहमहाभय प्रवर्तक (२२) मरणवैमनस्य, इति प्रथम ग्रधर्म-द्वार।

विवेचन—कारण-कार्य की परंपरानुसार अर्थात् सत्कार्यवाद के चिंतनानुसार कार्य का ग्रस्तित्व केवल ग्रभिव्यक्तिकाल में ही नहीं ग्रपितु कारण के रूप में, ग्रतीत में ग्रौर परिणाम के रूप में भविष्य में भी रहता है।

हिंसा क्षणिक घटना नहीं है, हिंसक कृत्य दृश्यकाल में अभिव्यक्त होता है, पर उसके उपादान ग्रतीत में एवं कृत्य के परिणाम के रूप में वह भविष्य में भी व्याप्त रहती है। ग्रर्थात् उसका प्रभाव त्रैकालिक होता है।

कार्यनिष्पत्ति के लिए उपादान के समकक्ष ही निमित्तकारण की भी ग्रावश्यकता होती है। उपादान आत्मनिष्ठ कारण है। निमित्त, परिवेष, उत्तेजक, उद्दीपक एवं साधनरूप है। वह वाहर स्थित होता है। ग्राश्रव—हिंसा का मौलिक स्वरूप उपादान में ही स्पष्ट होता है। आश्रव का उपादान चैतन्य की विभाव परिणति है। निमित्तसापेक्षता के कारण वैभाविक परिणति में वैविध्य ग्राता है। स्वरूपसूचक नामों का विपय है दृश्य—ग्रभिव्यक्ति कालीन हिंसा के विविध ग्रायामों को ग्रभिव्यक्त करना। हिंसा के स्वरूपसूचक ग्रंथकार द्वारा निर्दिष्ट कई विशेषण प्रसिद्ध हिंसाप्रवृत्ति के प्रतिपादक हैं, किंतु कई नाम हिंसा की अप्रसिद्ध प्रवृत्ति को प्रकाशित करते हैं। इन नामों का अभिप्राय इस प्रकार है—

(१) पाव—पापकर्म के वन्ध का कारण होने से यह पाप-रूप है।

(२) चंडो—जव जीव कपाय के भड़कने से उग्र हो जाता है, तव प्राणवध करता है, अतएव यह चण्ड है।

(३) रुद्दो—हिंसा करते समय जीव रौद्र-परिणामी वन जाता है, ग्रतएव हिंसा रुद्र है।

(४) खुद्दो—सरसरी तौर पर देखने से क्षुद्र व्यक्ति हिंसक नजर नहीं ग्राता। वह सहिष्णु, प्रतीकार प्रवृत्ति से शून्य नजर ग्राता है। मनोविज्ञान के अनुसार क्षुद्रता के जनक हैं दुर्बलता, कायरता एवं संकीर्णता। क्षुद्र ग्रन्य के उत्कर्प से ईर्ष्या करता है। प्रतीकार की भावना, शत्रुता की भावना उसका स्थायी भाव है। प्रगति का सामर्थ्य न होने के कारण वह ग्रन्तर्मानस में प्रतिक्रियावादी होता है। प्रतिक्रिया का मूल है असहिष्णुता। ग्रसहिष्णुता व्यक्ति को संकीर्ण वनाती है। ग्रहिंसा का उद्गम सर्वजगजीव के प्रति वात्सल्यभाव है और हिंसा का उद्गम ग्रपने ग्रौर परायेपन की भावना है।

संकीर्णता की विचारधारा व्यक्ति को चिंतन की समदृष्टि से व्यष्टि में केन्द्रित करती है।

१—पाठान्तर—पवड्ढग्रो

स्वकेन्द्रित विचारधारा व्यक्ति को क्षुद्र बनाती है। क्षुद्र प्राणी इसका सेवन करते हैं। यह आत्मभाव की अपेक्षा नीच भी है। अतएव इसे क्षुद्र कहा गया है।

(५) साहसिक—आवेश में विचारपूर्वक प्रवृत्ति का अभाव होता है। उसमें आकस्मिक अनसोचा काम व्यक्ति कर गुजरता है। स्वनियंत्रण भंग होता है। उत्तेजक परिस्थिति से प्रवृत्ति गतिशील होती है। विवेक लुप्त होता है। अविवेक का साम्राज्य छा जाता है। दशवैकालिक के अनुसार विवेक अहिंसा है, अविवेक हिंसा है। साहसिक अविवेकी होता है। इसी कारण उसे हिंसा कहा गया है। **'साहसिकः सहसा अविचार्य कारित्वात्'** अर्थात् विचार किए विना कार्य कर डालने वाला।

(६) **अणारिओ**—अनार्य पुरुषों द्वारा आचरित होने से अथवा हेय प्रवृत्ति होने से इसे अनार्य कहा गया है।

(७) **णिग्घिणो**—हिंसा करते समय पाप से घृणा नहीं रहती, अतएव यह निर्घृण है।

(८) **णिस्संसो**—हिंसा दयाहीनता का कार्य है, प्रशस्त नहीं है, अतएव नृशंस है।

(९, १०, ११,) **महब्भअ, पइभव, अतिभअ**—'अप्पेगे हिंसिसु मे त्ति वा वहंति, अप्पेगे हिसंति मे त्ति वा वहंति, अप्पेगे हिंसिस्संति मेत्ति वा वहंति, (आचारांग १।७।५२) अर्थात् कोई यह सोच कर हिंसा करते हैं कि इसने मेरी या मेरे संबंधी की हिंसा की थी या यह मेरी हिंसा करता है अथवा मेरी हिंसा करेगा। तात्पर्य यह है कि हिंसा की पृष्ठभूमि में प्रतीकार के अतिरिक्त भय भी प्रबल कारण है। हिंसा की प्रक्रिया में हिंसक भयभीत रहता है। हिंस्य भयभीत होता है। हिंसा कृत्य को देखनेवाले दर्शक भी भयभीत होते हैं। हिंसा में भय व्याप्त है। हिंसा भय का हेतु होने के कारण उसे महाभयरूप माना है। **'महाभयहेतुत्वात् महाभयः।'** (ज्ञानविमलसूरि प्र. व्या.)

हिंसा प्रत्येक प्राणी के लिए भय का कारण है। अतएव प्रतिभय है— **'प्रतिप्राणि-भयनिमित्तत्वात्।'** हिंसा प्राणवध (मृत्यु) स्वरूप है। प्राणिमात्र को मृत्युभय से बढ़कर अन्य कोई भय नहीं। अतिभयं—**'एतस्मात् अन्यत् भयं नास्ति, 'मरणसमं नत्थि भयमिति'** वचनात् अर्थात् मरण से अधिक या मरण के समान अन्य कोई भय नहीं है।

(१२) **बीहणओ**—भय उत्पन्न करने वाला।

(१३) **त्रासनक**—दूसरों को त्रास या क्षोभ उत्पन्न करने वाली है।

(१४) **अन्याय्य**—नीतियुक्त न होने के कारण वह अन्याय्य है।

(१५) **उद्वेजनक**—हृदय में उद्वेग—घबराहट उत्पन्न करने वाली।

(१६) **निरपेक्ष**—हिंसक प्राणी अन्य के प्राणों की अपेक्षा—परवाह नहीं करता—उन्हें तुच्छ समझता है। प्राणहनन करना उसके लिए खिलवाड़ होती है। अतएव उसे निरपेक्ष कहा गया है।

(१७) **निर्द्धर्म**—हिंसा धर्म से विपरीत है। भले ही वह किसी लौकिक कामना की पूर्ति के लिये, सद्गति की प्राप्ति के लिए अथवा धर्म के नाम पर की जाए, प्रत्येक स्थिति में वह अधर्म है, धर्म से विपरीत है। 'हिंसा नाम भवेद्धर्मो न भूतो न भविष्यति।' अर्थात् हिंसा त्रिकाल में भी धर्म नहीं हो सकती।

(१८) निष्पिपास—हिंसक के चित्त में हिंस्य के जीवन की पिपासा—इच्छा नहीं होती, अतः वह निष्पिपास कहलाती है।

(१९) निष्करुण—हिंसक के मन में करुणाभाव नहीं रहता—वह निर्दय हो जाता है, अतएव निष्करुण है।

(२०) नरकवासगमन-निधन—हिंसा नरकगति की प्राप्ति रूप परिणाम वाली है।

(२१) मोहमहाभयप्रवर्त्तक—हिंसा मूढता एवं परिणाम में घोर भय को उत्पन्न करने वाली प्रसिद्ध है।

(२२) मरणवैमनस्य—मरण के कारण जीवों में उससे विमनस्कता उत्पन्न होती है।

उल्लिखित विशेषणों के द्वारा सूत्रकार ने हिंसा के वास्तविक स्वरूप को प्रदर्शित करके उसकी हेयता प्रकट की है।

प्राणवध के नामान्तर—

३—तस्स य णामाणि इमाणि गोण्णाणि होंति तीसं, तं जहा—१ पाणवहं २ उम्मूलणा सरीराओ ३ अवीसंभो ४ हिंसविहिंसा तहा ५ अकिच्चं च ६ घायणा य ७ मारणा य ८ वहणा ९ उद्दवणा १० तिवायणा[1] य ११ आरंभसमारंभो १२ आउयकम्मस्सुवद्दवो भेयणिट्ठवणगालणा य संवट्टगसंखेवो १३ मच्चू १४ असंजमो १५ कडगमद्दणं १६ वोरमणं १७ परभवसंकामकारओ १८ दुग्गइप्पवाओ १९ पावकोवो य २० पावलोभो २१ छविच्छेओ २२ जीवियंतकरणो २३ भयंकरो २४ अणकरो २५ वज्जो २६ परियावणअण्हओ २७ विणासो २८ णिज्जवणा २९ लुंपणा ३० गुणाणं विराहणत्ति विय तस्स एवमाईणि णामधिज्जाणि होंति तीसं, पाणवहस्स कलुसस्स कडुयफल-देसगाइं ॥२॥

३—प्राणवधरूप हिंसा के विविध आयामों के प्रतिपादक गुणवाचक तीस नाम हैं। यथा (१) प्राणवध (२) शरीर से (प्राणों का) उन्मूलन (३) अविश्वास (४) हिंस्य विहिंसा (५) अकृत्य (६) घात (ना) (७) मारण (८) वधना (९) उपद्रव (१०) अतिपातना (११) आरम्भ-समारंभ (१२) आयुकर्म का उपद्रव—भेद—निष्ठापन—गालना—संवर्तक और संक्षेप (१३) मृत्यु (१४) असंयम (१५) कटक (सैन्य) मर्दन (१६) व्युपरमण (१७) परभवसंक्रामणकारक (१८) दुर्गतिप्रपात (१९) पापकोप (२०) पापलोभ (२१) छविच्छेद (२२) जीवित-अंतकरण (२३) भयंकर (२४) ऋणकर (२५) वज्र (२६) परितापन आस्रव (२७) विनाश (२८) निर्यापना (२९) लुंपना (३०) गुणों की विराधना। इत्यादि प्राणवध के कलुष फल के निर्देशक ये तीस नाम हैं।

१—पाणवह (प्राणवध)—जिस जीव को जितने प्राण प्राप्त हैं, उनका हनन करना।

२—उम्मूलणा सरीराओ (उन्मूलना शरीरात्)—जीव को शरीर से पृथक् कर देना—प्राणी के प्राणों का उन्मूलन करना।

---

१. पाठान्तर—णिवायणा।

(३) अवीसंभ (अविश्रम्भ)—अविश्वास, हिंसाकारक पर किसी को विश्वास नहीं होता। वह अविश्वासजनक है, अतः अविश्रम्भ है।

(४) हिंसविहिंसा (हिंस्यविहिंसा)—जिसकी हिंसा की जाती है उसके प्राणों का हनन।

(५) अकिच्चं (अकृत्यम्)—सत्पुरुषों द्वारा करने योग्य कार्य न होने के कारण हिंसा अकृत्य—कुकृत्य है।

(६) घायणा (घातना)—प्राणों का घात करना।

(७) मारणा (मारणा)—हिंसा मरण को उत्पन्न करने वाली होने से मारणा है।

(८) वहणा (वधना)—हनन करना, वध करना।

(९) उद्दवणा (उपद्रवणा)—अन्य को पीड़ा पहुँचाने के कारण यह उपद्रवरूप है।

(१०) तिवायणा (त्रिपातना) मन, वाणी एवं काय अथवा देह, आयु और इन्द्रिय—इन तीन का पतन कराने के कारण यह त्रिपातना है। इसके स्थान पर 'निवायणा' पाठ भी है, किन्तु अर्थ वही है।

(११) आरंभ-समारंभ (आरम्भ-समारम्भ)—जीवों को कष्ट पहुँचाने से या कष्ट पहुँचाते हुए उन्हें मारने से हिंसा को आरम्भ-समारम्भ कहा है। जहाँ आरम्भ-समारम्भ है, वहाँ हिंसा अनिवार्य है।

(१२) आउयक्कम्मस्स-उवद्दवो—भेयणिट्ठवणगालणा य संवट्टगसंखेवो (आयुःकर्मणः उपद्रवः—भेदनिष्ठापनगालना—संवर्त्तकसंक्षेपः)—आयुष्य कर्म का उपद्रवण करना, भेदन करना अथवा आयु को संक्षिप्त करना—दीर्घकाल तक भोगने योग्य आयु को अल्प समय में भोगने योग्य बना देना।

(१३) मच्चू (मृत्यु)—मृत्यु का कारण होने से अथवा मृत्यु रूप होने से हिंसा मृत्यु है।

(१४) असंजमो (असंयम)—जब तक प्राणी संयमभाव में रहता है, तब तक हिंसा नहीं होती। संयम की सीमा से बाहर—असंयम की स्थिति में ही हिंसा होती है, अतएव वह असंयम है।

(१५) कडगमद्दण (कटकमर्दन)—सेना द्वारा आक्रमण करके प्राणवध करना अथवा सेना का वध करना।

(१६) वोरमण (व्युपरमण)—प्राणों से जीव को जुदा करना।

(१७) परभवसंकामकारओ (परभवसंक्रमकारक)—वर्त्तमान भव से विलग करके परभव में पहुँचा देने के कारण यह परभवसंक्रमकारक है।

(१८) दुग्गतिप्पवाओ (दुर्गतिप्रपात)—नरकादि दुर्गति में गिराने वाली।

(१९) पावकोव (पापकोप)—पाप को कुपित—उत्तेजित करने वाली—भड़काने वाली।

(२०) पावलोभ (पापलोभ)—पाप के प्रति लुब्ध करने वाली—प्रेरित करने वाली।

(२१) छविच्छेअ (छविच्छेद)—हिंसा द्वारा विद्यमान शरीर का छेदन होने से यह छविच्छेद है।

(२२) जीवियंतकरण (जीवितान्तकरण)—जीवन का अन्त करने वाली।

(२३) भयंकर (भयङ्कर)—भय को उत्पन्न करने वाली।

(२४) अणकर (ऋणकर)—हिंसा करना अपने माथे ऋण—कर्ज चढ़ाना है, जिसका भविष्य में भुगतान करते घोर कष्ट सहना पड़ता है।

(२५) वज्ज (वज्र-वर्ज्य)—हिंसा जीव को वज्र की तरह भारी बनाकर अधोगति में ले जाने का कारण होने से वज्र है और आर्य पुरुषों द्वारा त्याज्य होने से वर्ज्य है।

(२६) परियावण-अण्हअ (परितापन-आस्रव)—प्राणियों को परितापना देने के कारण कर्म के आस्रव का कारण।

(२७) विणास (विनाश)—प्राणों का विनाश करना।

(२८) णिज्जवणा (निर्यापना)—प्राणों की समाप्ति का कारण।

(२९) लुंपणा (लुम्पना)—प्राणों का लोप करना।

(३०) गुणाणं विराहणा (गुणानां विराधना)—हिंसा मरने और मारने वाले—दोनों के सद्गुणों को विनष्ट करती है, अतः वह गुणविराधनारूप है।

विवेचन—स्वरूपसूचक नामों में दृश्यकालीन अर्थात् अभिव्यक्त हिंसा का चित्रण हुआ है। साथ ही हिंसा की प्रवृत्ति, परिणाम, कारण, उपजीवी, अनुजीवी, उत्तेजक, उद्दीपक, अंतर्बाह्य तथ्यों के आधार पर भी गुणनिष्पन्न नाम दिए हैं। ग्रंथकार ने गुणनिष्पन्न नामों का आधार बताते हुए लिखा है—'कलुसस्स कडुयफलदेसगाइं'—कलुष (हिंसारूप पाप) के कटुफल-निर्देशक ये नाम हैं। भाषा का हम सदैव उपयोग करते हैं, किंतु शब्दगत अर्थभेद की विविधता से प्रायः परिचित नहीं रहते। एक परिवार के अनेक शब्द होते हैं, जो समानताओं में बँधे होकर भी एक सूक्ष्म विभाजक रेखा से अलग-अलग होते हैं। गुणनिष्पन्न नाम ऐसे ही हैं।

प्राणवध, व्युपरमण, मृत्यु, जीवनविनाश ये गुणनिष्पन्न नाम समानताओं में बंधे होकर भी स्वयं की विशेषता प्रदर्शित करते हैं। प्राणवध में हिंसाप्रवृत्ति द्वारा प्राणियों का (प्राणों का) घात अभिप्रेत है। व्युपरमण में प्राणों से अर्थात् जीवन से प्राणी पृथक् होता है। व्युपरमणं—प्राणेभ्यः उपरमणं। प्राणवध से चैतन्य के शारीरिक सम्बन्ध के लिए आधारभूत जो प्राणशक्ति है, उस प्राण-शक्ति पर ही आघात प्रकट होता है। व्युपरमण में उस आधारभूत शक्ति से चैतन्य विरत होता है या परिस्थितियों के कारण उसे विरत होना पड़ता है। प्राणवध में हत्या का भाव तथा व्युपरमण में आत्महत्या का भाव समाविष्ट है। मृत्यु, जीवनविनाश एवं परभवसंक्रामणकारक, इस शब्दत्रयी में जीवन-समाप्तिकाल की घटना को तीन दृष्टियों से विश्लेषित किया गया है। 'मृत्युः, परलोकगमनकालः। परभवसंक्रामणकारकः प्राणातिपातस्यैव परभवगमनं। जीवितव्यं प्राण-धारणं तस्य अंतकरः।' सहजतया होनेवाली मृत्यु हिंसा नहीं है। परभवसंक्रमणकारक में भवान्तक की जो हेतु है, वह अभिप्रेत है। जीवित-अंतकर में जीने की इच्छा को या जिसके लिए व्यक्ति जीता है, जिसके आलंबन से जीता है, उसका विनाश अभिप्रेत है। जैसे धनलोभी व्यक्ति का धन ही सर्वस्व होता है। उसके प्राण धन में होते हैं। धन का विनाश उसके जीवन का विनाश होता है।

अवीसंभो (अविश्वास)—आस्था जीवन का शिखर है। जीवन के सारे व्यवहार विश्वास के बल पर ही होते हैं। विश्वसनीय बनने के लिए परदु:खकातरता तथा सुरक्षा का आश्वासन व्यक्ति की तरफ से अपेक्षित है। अहिंसा को आ-श्वास कहते हैं। विश्वास भी कहते हैं। क्योंकि अहिंसा **'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'** तथा सहजीवन जैसे जीवनदायी कल्याणकारक पवित्र सूत्रों को जीवन में साकार करती है। हिंसा का आधार सहजीवन नहीं, उसका विरोध है। सहअस्तित्व की अस्वीकृति जनसामान्य की दृष्टि में हिंसक को अविश्वसनीय बनाती है।

आस्था वहाँ पनपती है, जहाँ अपेक्षित प्रयोजन के लिए प्रयुक्त साधन से साध्य सिद्ध होता है। हिंसा साध्य-सिद्धि का सार्वकालिक सार्वभौमिक साधन नहीं है। हिंसा में साध्यप्राप्ति का आभास होता है किंतु वह मृगमरीचिका होती है। इसलिए हिंसा अविश्वास है।

हिंस-विहिंसा—श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा, 'हे पार्थ ! अहंकार का त्याग कर, तू निमित्त-मात्र है। जिन्हें तू मार रहा है, वे मर चुके हैं, नियति के गर्भ में।'

आत्मा शाश्वत, अमर, अविनाशी, अछेद्य एवं अभेद्य है। शरीर जड़ है, हिंसा किसकी ? अहिंसा के चिंतकों के सामने यह प्रश्न सदा रहा। हिटलर ने आत्म-अस्तित्व को अस्वीकृति देकर युद्ध की भयानकता को ओझल किया। श्रीकृष्ण ने आत्मस्वीकृति के साथ युद्ध को अनिवार्य बताकर अर्जुन को प्रेरित किया, किंतु श्रमण महर्षियों के सम्मुख युद्धसमर्थन-असमर्थन का प्रश्न न होने पर भी अहिंसा और हिंसा की व्याख्या आत्मा की अमरता की स्वीकृति के साथ हिंसा की संगति और हिंसा के निषेध को कैसे स्पष्ट किया जाय, यह प्रश्न था ही।

अहिंसा के परिपालन में श्रमण संस्कृति और उसमें भी जैनधर्म सर्वाधिक अग्रसर रहा। समस्या का समाधान देते हुए आचार्य उमास्वाति ने लिखा है 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणम् हिंसा' अर्थात् हिंसा में परप्राणवध से भी महत्त्वपूर्ण प्रमाद है। जैन चिंतकों ने अहिंसा का मूल आत्मस्वभाव में माना है। आत्मा की विभावपरिणति ही हिंसा है। जिस समय चेतन स्वभाव से भ्रष्ट हो जाता है, उसके फलस्वरूप घटने वाली अनेक क्रोधादि क्रियाएँ प्राणातिपातादि १८ पाप घटित होते हैं। अतएव वस्तुतः हिंसा के साथ आत्महिंसा होती ही है। अर्थात् स्व-घाती होकर ही हिंसा की जा सकती है। जब आत्मगुणों का घात होता है, तब ही हिंसा होती है।

न हिंसा परप्राणवधमात्र है, न परप्राणवध-निवृत्तिमात्र अहिंसा है। अप्रमत्त अवस्था की वह श्रेणी जो वीतरागता में परिणत होती है। द्रव्यहिंसा भी भाव अहिंसा की श्रेणी में आती है, जब कि प्रमत्त उन्मत्त अवस्था में द्रव्यहिंसा न होकर भी भाव हिंसा के कारण हिंसा मान्य होती है। हिंसा में स्वभावच्युति प्रधान है। हिंसक सर्वप्रथम स्वयं के शांत-प्रशांत अप्रमत्त स्वभाव का हनन करता है।

पापकोप—हिंसा का प्रथम नाम है पाप। हिंसा पाप है, क्योंकि उसका आदि, मध्य और अन्त अशुभ है। कर्मशास्त्रानुसार हिंसा औदायिकभाव का फल है। औदायिक भाव पूर्वबद्ध कर्मोदय-जन्य है। अर्थात् हिंसक हिंसा तब करता है जब उसके हिंसक संस्कारों का उदय होता है। आवेगमय संस्कारों का उदय कषाय है। कषाय में स्फोटकता है, तूफान है, अतएव उसे कोप भी कहा जाता है। बिना कषाय के हिंसा संभव नहीं है। अतः हिंसा को पापकोप कहा है।

पापलोभ—हिंसा पापों के प्रति लोभ—आकर्षण—प्रीति बढ़ाने वाली है, अतएव इसका एक नाम पापलोभ है।

पापियों का पापकर्म—

४—तं च पुण करेंति केइ पावा असंजया अविरया अणिहुयपरिणामदुप्पयोगा पाणवहं भयंकरं बहुविहं बहुप्पगारं परदुक्खुप्पायणपसत्ता इमेहिं तसथावरेहिं जीवेहिं पडिणिविट्ठा।

किं ते ?

४—कितने ही पातकी, संयमविहीन, तपश्चर्या के अनुष्ठान से रहित, अनुपशान्त परिणाम वाले एवं जिनके मन, वचन और काम का व्यापार दुष्ट है, जो अन्य प्राणियों को पीड़ा पहुँचाने में आसक्त रहते हैं तथा त्रस और स्थावर जीवों की रक्षा न करने के कारण वस्तुतः जो उनके प्रति द्वेषभाव वाले हैं, वे अनेक प्रकारों से, विविध भेद-प्रभेदों से भयंकर प्राणवध—हिंसा किया करते हैं।

वे विविध भेद-प्रभेदों से कैसे हिंसा करते हैं ?

जलचर जीव—

५—पाठीण-तिमि-तिमिंगल-अणेगझस-विविहजातिमंडुक्क-दुविहकच्छभ-नक्क[1] -मगर-दुविह-गाह-दिलिवेढय-मंडुय-सीमागार-पुलुय-सुंसुमार-बहुप्पगारा जलयरविहाणा कते य एवमाई।

५—पाठीन-एक विशेष प्रकार की मछली, तिमि-बड़े मत्स्य, तिमिंगल—महामत्स्य, अनेक प्रकार की मछलियाँ, अनेक प्रकार के मेंढक, दो प्रकार के कच्छप—अस्थिकच्छप और मांसकच्छप, मगर—सुंडामगर एवं मत्स्यमगर के भेद से दो प्रकार के मगर, ग्राह—एक विशिष्ट जलजन्तु, दिलिवेष्ट—पूंछ से लपेटने वाला जलीय जन्तु, मंडूक, सीमाकार, पुलक आदि ग्राह के प्रकार, सुंसुमार, इत्यादि अनेकानेक प्रकार के जलचर जीवों का घात करते हैं।

विवेचन—पापासक्त करुणाहीन एवं अन्य प्राणियों को पीड़ा पहुँचाने में आनन्द का अनुभव करने वाले पुरुष जिन-जिन जीवों का घात करते हैं, उनमें से प्रस्तुत पाठ में केवल जलीय जीवों का उल्लेख किया गया है। जलीय जीव इतनी अधिक जातियों के होते हैं कि उन सब के नामों का निर्देश करना कठिन ही नहीं, असंभव-सा है। उन सब का नामनिर्देश आवश्यक भी नहीं है। अतएव उल्लिखित नामों को मात्र उपलक्षण ही समझना चाहिए। सूत्रकार ने स्वयं ही 'एवमाई' पद से यह लक्ष्य प्रकट कर दिया है।

स्थलचर चतुष्पद जीव—

६—कुरंग-रुरु-सरभ- चमर-संवर- उरब्भ-ससय- पसय-गोण-रोहिय-हय- गय-खर-करभ-खग्ग-वाणर-गवय- विग-सियाल- कोल-मज्जार-कोलसुणह- सिरियंदलगावत्त- कोकंतिय-गोकण्ण-मिय-महिस-वियग्घ-छगल-दीविय-साण-तरच्छ-अच्छ-भल्ल-सद्दूल-सीह-चिल्लल-चउप्पयविहाणाकए य एवमाई।

६—कुरंग और रुरु जाति के हिरण, सरभ—अष्टापद, चमर—नील गाय, संवर—सांभर, उरभ्र—मेढा, शशक—खरगोश, पसय—प्रशय—वन्य पशुविशेष, गोण—बैल, रोहित—पशुविशेष, घोड़ा, हाथी, गधा, करभ—ऊंट, खड्ग—गेंडा, वानर, गवय—रोझ, वृक—भेड़िया, शृगाल—सियार—गीदड़, कोल—शूकर, मार्जार—बिलाव—बिल्ली, कोलशुनक—बड़ा शूकर, श्रीकंदलक एवं आवर्त्त

---

१. पाठान्तर—नक्कचक्क।

नामक खुर वाले पशु, लोमड़ी, गोकर्ण—दो खुर वाला विशिष्ट जानवर, मृग, भैंसा, व्याघ्र, वकरा, द्वीपिक—तेंदुआ, श्वान—जंगली कुत्ता, तरक्ष—जरख, रींछ—भालू, शार्दूल—सिंह, सिंह—केसरीसिंह, चित्तल—नाखून वाला एक विशिष्ट पशु अथवा हिरण की आकृति वाला पशुविशेष, इत्यादि चतुष्पद प्राणी हैं, जिनकी पूर्वोक्त पापी हिंसा करते हैं।

विवेचन—ऊपर जिन प्राणियों के नामों का उल्लेख किया गया है, उनमें से अधिकांश प्रसिद्ध हैं। उनके सम्वन्ध में विवेचन की आवश्यकता नहीं।

इन नामों में एक नाम 'सरभ' प्रयुक्त हुआ है। यह एक विशालकाय वन्य प्राणी होता है। इसे परासर भी कहते हैं। ऐसी प्रसिद्धि है कि सरभ, हाथी को भी अपनी पीठ पर उठा लेता है।

खड्ग ऐसा प्राणी है, जिसके दोनों पार्श्वभागों में पंखों की तरह चमड़ी होती है और मस्तक के ऊपर एक सींग होता है।[1]

उरपरिसर्प जीव—

७—अयगर-गोणस-वराहि-मउलि-काउदर-दब्भपुप्फ-आसालिय-महोरगोरगविहाणकाए य एवमाई।

७—अजगर, गोणस—विना फन का सर्पविशेष, वराहि—दृष्टिविष सर्प—जिसके नेत्रों में विष होता है, मुकुली—फन वाला सांप, काउदर—काकोदर—सामान्य सर्प, दब्भपुप्फ—दर्भपुष्प—एक प्रकार का दर्वीकर सर्प, आसालिक—सर्पविशेष, महोरग—विशालकाय सर्प, इन सव और इस प्रकार के अन्य उरपरिसर्प जीवों का पापी जन वध करते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ में उरपरिसर्प जीवों के कतिपय नामों का उल्लेख किया गया है। उरपरिसर्प जीव वे कहलाते हैं जो छाती से रेंग कर चलते हैं। इन नामों में एक नाम **आसालिक** आया है। टीका में इस जन्तु का विशेष परिचय दिया गया है। लिखा है—आसालिक वारह योजन लम्वा होता है। यह सम्मूर्च्छिम है और इसकी आयु मात्र एक अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण होती है। इसकी उत्पत्ति भूमि के अन्दर होती है। जव किसी चक्रवर्ती अथवा वासुदेव के विनाश का समय सन्निकट आता है तव यह उसके स्कन्धावार—सेना के पड़ाव के नीचे अथवा किसी नगरादि के विनाश के समय उसके नीचे उत्पन्न होता है। उसके उत्पन्न होने से पृथ्वी का वह भाग पोला हो जाता है और वह स्कन्धावार अथवा वस्ती उसी पोल में समा जाती है—विनष्ट हो जाती है।

महोरग का परिचय देते हुए टीकाकार ने उल्लेख किया है कि यह सर्प एक हजार योजन लम्वा होता है और अढ़ाई द्वीप के वाहर होता है। किन्तु यदि यह अढ़ाई द्वीप से बाहर ही होता है तो मनुष्य इसका वध नहीं कर सकते। संभव है अन्य किसी जाति के प्राणी वध करते हों। चतुर्थ सूत्र में 'केइ पावा' आदि पाठ है। वहाँ मनुष्यों का उल्लेख भी नहीं किया गया है। तत्त्व केवलिगम्य है।

भुजपरिसर्प जीव—

८—छीरल-सरंब-सेह-सेल्लग-गोधा-उंदुर-णउल-सरड-जाहग-मुगुंस-खाडहिल-वाउप्पिय[2] घिरोलिया सिरीसिवगणे य एवमाई।

१. प्रश्नव्याकरण—आचार्य हस्तीमलजी म., पृ. १६

२. 'वाउप्पिय' शव्द के स्थान पर कुछ प्रतियों में 'चाउप्पाइय'—चातुष्पदिक शव्द है।

८—क्षीरल—एक विशिष्ट जीव जो भुजाओं के सहारे चलता है, शरम्ब, सेह—सेही—जिसके शरीर पर बड़े-बड़े काले-सफेद रंग के कांटे होते हैं जो उसकी आत्मरक्षा में उपयोगी होते हैं, शल्यक, गोह, उंदर—चूहा, नकुल—नेवला—सर्प का सहज वैरी, शरट—गिरगिट—जो अपना रंग पलटने में समर्थ होता है, जाहक—कांटों से ढंका जीवविशेष—मुगुंस—गिलहरी, खाड़हिल—छछूंदर, गिल्लोरी, वातोत्पत्तिका—लोकगम्य जन्तुविशेष, घिरोलिका—छिपकली, इत्यादि अनेक प्रकार के भुजपरिसर्प जीवों का वध करते हैं।

विवेचन—परिसर्प जीव दो प्रकार के होते हैं—उरपरिसर्प और भुजपरिसर्प। सर्प और चूहे का सावधानी से निरीक्षण करने पर दोनों का अन्तर स्पष्ट प्रतीत होता है। प्रस्तुत पाठ में ऐसे जीवों का उल्लेख किया गया है, जो भुजाओं—अपने छोटे-छोटे पैरों से चलते हैं। उरपरिसर्पों के ऐसा कोई अंग नहीं होता। वे रेंग-रेंग कर ही चलते हैं।

नभचर जीव—

९—कादंवक-वक-वलाका-सारस-आडा-सेतीय-कुलल-वंजुल-पारिप्पव-कीर-सउण-दीविय-हंस-धत्तरिट्ठग-भास-कुलीकोस-कुंच-दगतुंड-ढेणियालग-सुईमुह-कविल-पिंगलक्खग-कारंडग-चक्कवाग-उक्कोस-गरुल-पिंगुल-सुय-वरहिण-मयणसाल-णंदीमुह-णंदमाणग-कोरंग-भिंगारग-कोणालग-जीवजीवग-तित्तिर वट्टग-लावग-कपिंजलग-कवोतग-पारेवग-चडग-ढिंक-कुक्कुड-वेसर-मयूरग-चउरग-हयपोंडरीय-करकरग-चीरल्ल-सेण-वायस-विहग-सेण-सिणचास-वग्गुलि-चम्मट्ठिल-विययपक्खी-समुग्गपक्खी खहयर-विहाणाकए य एवमाई।

९—कादम्बक—विशेष प्रकार का हंस, वक—वगुला, वलाका—विषकण्ठिका—वकजातीय पक्षिविशेष, सारस, आडासेतीय—आड, कुलल, वंजुल, परिप्लव, कीर—तोता, शकुन—तीतुर, दीपिका—एक प्रकार की काली चिड़िया, हंस—श्वेत हंस, धार्तराष्ट्र—काले मुख एवं पैरों वाला हंस-विशेष, भास—भासक, कुटीक्रोश, क्रौंच, दकतुंडक—जलकूकड़ी, ढेलियाणक—जलचर पक्षी, शूचीमुख—सुघरी, कपिल, पिंगलाक्ष, कारंडक, चक्रवाक—चकवा, उक्कोस, गरुड़, पिंगुल—लाल रंग का तोता, शुक—तोता, मयूर, मदनशालिका—मैना, नन्दीमुख, नन्दमानक—दो अंगुल प्रमाण शरीर वाला और भूमि पर फुदकने वाला विशिष्ट[1] पक्षी, कोरंग, भृंगारक—भिंगोड़ी, कुणालक, जीवजीवक—चातक, तित्तिर—तीतुर, वर्त्तक (वतख), लावक, कपिंजल, कपोत—कबूतर, पारावत—विशिष्ट प्रकार का कपोत—परेवा, चटक—चिड़िया, ढिंक, कुक्कुट—कुकड़ा—मुर्गा, वेसर, मयूरक—मयूर, चकोर, हृद-पुण्डरीक—जलीय पक्षी, करक, चीरल्ल—चील, श्येन—वाज, वायस—काक, विहग—एक विशिष्ट जाति का पक्षी, श्वेत चास, वल्गुली, चमगादड़, विततपक्षी—अढाई द्वीप से बाहर का एक विशेष पक्षी, समुद्गपक्षी, इत्यादि पक्षियों की अनेकानेक जातियाँ हैं, हिंसक जीव इनकी हिंसा करते हैं।

अन्य विविध प्राणी—

१०—जल-थल-खग-चारिणो उ पंचिंदियपसुगणे बिय-तिय-चउरिंदिए विविहे जीवे पियजीविए मरणदुक्खपडिकूले वराए हणंति बहुसंकिलिट्ठकम्मा।

---

१. प्रश्नव्याकरणसूत्र—सैलाना-संस्करण।

१०—जल, स्थल और आकाश में विचरण करने वाले पंचेन्द्रिय प्राणी तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय अथवा चतुरिन्द्रिय प्राणी अनेकानेक प्रकार के हैं। इन सभी प्राणियों को जीवन—प्राणधारण किये रहना—जीवित रहना प्रिय है। मरण का दुःख प्रतिकूल—अनिष्ट—अप्रिय है। फिर भी अत्यन्त संक्लिष्टकर्मा—अतीव क्लेश उत्पन्न करने वाले कर्मों से युक्त—पापी पुरुष इन बेचारे दीन-हीन प्राणियों का वध करते हैं।

विवेचन—जगत् में अगणित प्राणी हैं। उन सब की गणना सर्वज्ञ के सिवाय कोई छद्मस्थ नहीं जान सकता, किन्तु उनका नामनिर्देश करना तो सर्वज्ञ के लिए भी संभव नहीं। अतएव ऐसे स्थलों पर वर्गीकरण का सिद्धान्त अपनाना अनिवार्य हो जाता है। यहाँ यही सिद्धान्त अपनाया गया है। तिर्यंच समस्त त्रस जीवों को जलचर, स्थलचर, खेचर (आकाशगामी) और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रियों में वर्गीकृत किया गया है। द्वीन्द्रियादि जीव विकलेन्द्रिय—अधूरी-अपूर्ण इन्द्रियों वाले कहलाते हैं, क्योंकि इन्द्रियाँ कुल पांच हैं—स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय। इनमें से किन्हीं जीवों को परिपूर्ण पांचों प्राप्त होती हैं, किन्हीं को चार, तीन, दो और एक ही प्राप्त होती है। प्रस्तुत में एकेन्द्रिय जीवों की विवक्षा नहीं की गई है। केवल त्रस जीवों का ही उल्लेख किया गया है और उनमें भी तिर्यंचों का।

यद्यपि पहले जलचर, स्थलचर, उरपरिसर्प, भुजपरिसर्प, नभश्चर जीवों का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया गया है, तथापि यहाँ तिर्यंच पंचेन्द्रियों को जलचर, स्थलचर और नभश्चर—इन तीन भेदों में ही समाविष्ट कर दिया गया है। यह केवल विवक्षाभेद है।

ये सभी प्राणी जीवित रहने की उत्कट अभिलाषा वाले होते हैं। जैसे हमें अपने प्राण प्रिय हैं, इसी प्रकार इन्हें भी अपने-अपने प्राण प्रिय हैं। प्राणों पर संकट आया जान कर सभी अपनी रक्षा के लिए अपने सामर्थ्य के अनुसार बचाव का प्रयत्न करते हैं। मृत्यु उन्हें भी अप्रिय है—अनिष्ट है। किन्तु कलुषितात्मा विवेकविहीन जन इस तथ्य की ओर ध्यान न देकर उनके वध में प्रवृत्त होते हैं। ये प्राणी दीन हैं, मानव जैसा बचाव का सामर्थ्य भी उनमें नहीं होता। एक प्रकार से ये प्राणी मनुष्य के छोटे बन्धु हैं, मगर निर्दय एवं क्रूर मनुष्य ऐसा विचार नहीं करते।

हिंसा करने के प्रयोजन—

११—इमेहिं विविहेहिं कारणेहिं, किं ते ? चम्म-वसा-मंस-मेय-सोणिय-जग-फिप्फिस-मत्थुलुंग-हिययंत-पित्त-फोफस-दंतट्ठा अट्ठिमिज-णह-णयण-कण्ण-ण्हारुणि-णक्क-धमणि-सिंग-दाढि-पिच्छ-विस-विसाण-वालहेउं।

हिंसंति य भमर-महुकरिगणे रसेसु गिद्धा तहेव तेइंदिए सरीरोवगरणट्ठयाए किवणे बेइंदिए बहवे वत्थोहर-परिमंडणट्ठा।

११—चमड़ा, चर्बी, मांस, मेद, रक्त, यकृत, फेफड़ा, भेजा, हृदय, आंत, पित्ताशय, फोफस (शरीर का एक विशिष्ट अवयव), दांत, अस्थि—हड्डी, मज्जा, नाखून, नेत्र, कान, स्नायु, नाक, धमनी, सींग, दाढ़, पिच्छ, विष, विषाण—हाथी-दांत तथा शूकरदंत और बालों के लिए (हिंसक प्राणी जीवों की हिंसा करते हैं)।

रसासक्त मनुष्य मधु के लिए भ्रमर—मधुमक्खियों का हनन करते हैं, शारीरिक सुख या

दुःखनिवारण करने के लिए खटमल आदि त्रीन्द्रियों का वध करते हैं, (रेशमी) वस्त्रों के लिए अनेक द्वीन्द्रिय कीड़ों आदि का घात करते हैं ।

विवेचन—अनेक प्रकार के वाद्यों, जूतों, बटुवा, घड़ी के पट्टे, कमरपट्टे, संदूक, बेग, थैला आदि-आदि चर्मनिर्मित काम में लिये जाते हैं । इनके लिए पंचेन्द्रिय जीवों का वध किया जाता है, क्योंकि इन वस्तुओं के लिए मुलायम चमड़ा चाहिए और वह स्वाभाविक रूप से मृत पशुओं से प्राप्त नहीं होता । स्वाभाविक रूप से मृत पशुओं की चमड़ी अपेक्षाकृत कड़ी होती है । अत्यन्त मुलायम चमड़े के लिए तो विशेषतः छोटे बच्चों या गर्भस्थ बच्चों का वध करना पड़ता है । प्रथम गाय, भैंस आदि का घात करना, फिर उनके उदर को चीर कर गर्भ में स्थित बच्चे को निकाल कर उनकी चमड़ी उतारना कितना निर्दयतापूर्ण कार्य है । इस निर्दयता के सामने पैशाचिकता भी लज्जित होती है ! इन वस्तुओं का उपयोग करने वाले भी इस अमानवीय घोर पाप के लिए उत्तरदायी हैं । यदि वे इन वस्तुओं का उपयोग न करें तो ऐसी हिंसा होने का प्रसंग ही क्यों उपस्थित हो !

चर्वी खाने, चमड़ी को चिकनी रखने, यंत्रों में चिकनाई देने तथा दवा आदि में काम आती है ।

मांस, रक्त, यकृत, फेफड़ा आदि खाने तथा दवाई आदि के काम में लिया जाता है । आधुनिक काल में मांसभोजन निरन्तर बढ़ रहा है । अनेक लोगों की यह धारणा है कि पृथ्वी पर बढ़ती हुई मनुष्यसंख्या को देखते मांस-भोजन अनिवार्य है । केवल निरामिप भोजन—अन्न-शाक आदि की उपज इतनी कम है कि मनुष्यों के आहार की सामग्री पर्याप्त नहीं है । यह धारणा पूर्ण रूप से भ्रमपूर्ण है । डाक्टर ताराचंद गंगवाल का कथन है—**'परीक्षण व प्रयोग के आधार पर सिद्ध हो चुका है कि एक पौंड मांस प्राप्त करने के लिए लगभग सोलह पौंड अन्न पशुओं को खिलाया जाता है । उदाहरण के लिए एक बछड़े को, जन्म के समय जिसका वजन १०० पौंड हो, १४ महीने तक, जब तक वह ११०० पौंड का होकर बूचड़खाने में भेजने योग्य होता है, पालने के लिए १४०० पौंड दाना, २५०० पौंड सूखा घास, २५०० पौंड दाना मिला साइलेज और करीब ६००० पौंड हरा चारा खिलाना पड़ता है । इस ११०० पौंड के बछड़े से केवल ४६० पौंड खाने योग्य मांस प्राप्त हो सकता है । शेष हड्डी आदि पदार्थ अनुपयोगी निकल जाता है । यदि इतनी आहार-सामग्री खाद्यान्न के रूप में सीधे भोजन के लिए उपयोग की जाये तो बछड़े के मांस से प्राप्त होने वाली प्रोटीन की मात्रा से पांच गुनी अधिक मात्रा में प्रोटीन व अन्य पोषक पदार्थ प्राप्त हो सकते हैं । इसलिए यह कहना उपयुक्त नहीं होगा कि मांसाहार से सस्ती प्रोटीन व पोषक पदार्थ प्राप्त होते हैं ।'**

डाक्टर गंगवाल आगे लिखते हैं—'कुछ लोगों की धारणा है, यद्यपि यह धारणा भ्रान्ति पर ही आधारित है, कि शरीर को सबल और सशक्त बनाने के लिए मांसाहार जरूरी है । कुछ लोगों का यह विश्वास भी है कि शरीर में जिस चीज की कमी हो उसका सेवन करने से उसकी पूर्ति हो जाती है । शरीरपुष्टि के लिए मांस जरूरी है, इस तर्क के आधार पर ही कई लोग मांसाहार की उपयोगिता सिद्ध करते हैं ।

किन्तु इसकी वास्तविकता जानने के लिए यह आवश्यक है कि शरीर में भोजन से तत्त्व प्राप्त करने की प्रक्रिया को समझ लिया जाए । भोजन हम इसलिए करते हैं कि इससे हमें शरीर की गतिविधियों के संचालन के लिए आवश्यक ऊर्जा या शक्ति प्राप्त हो सके । इस ऊर्जा के मुख्य स्रोत हैं वायु और सूर्य । प्राणवायु या आक्सीजन से ही हमारे भोजन की पाचनक्रिया—

ऑक्साइडेशन—सम्पन्न होकर ऊर्जा प्राप्त होती है। यह प्राणवायु (ग्राक्सीजन) प्रकृति द्वारा प्रभूत मात्रा में हमें दी गई है। वायु में लगभग पांचवां भाग प्राणवायु का ही होता है।

शक्ति का दूसरा स्रोत है सूर्य। सूर्य की वेदों में अनेक मंत्रों द्वारा स्तुति की गई है, क्योंकि यही जीवनदाता है। सूर्य से ही सारा वनस्पति जगत् पैदा होता है और जीवित रहता है। इन्हीं वनस्पतियों या खाद्यान्नों से हम जीवन के लिए सत्त्व प्राप्त करते हैं। मांसाहार करने वाले भी अन्ततोगत्वा सूर्य की शक्ति पर ही निर्भर रहते हैं, क्योंकि पशु-पक्षी भी वनस्पतियां खाकर ही बढ़ते व जिन्दा रहते हैं। इसी प्रकार गर्मी, प्रकाश, विद्युत्, रासायनिक व यांत्रिक ऊर्जा भी वास्तव में आरंभिक रूप से सूर्य से ही प्राप्त होती है, यह बात अलग है कि बाद में एक प्रकार की ऊर्जा दूसरे प्रकार की ऊर्जा में परिणत होती रहती है।

इस प्रकार हमें अस्तित्व के लिए अनिवार्य पदार्थों—वायु, ऊर्जा, खनिज, विटामिन, जल आदि में से वायु और जल प्रकृति-प्रदत्त हैं।....ऊर्जा, शरीर में जिसकी माप के लिए 'कैलोरी' शब्द का प्रयोग किया जाता है, तीन पदार्थों—कार्बोहाइड्रेट, वसा और प्रोटीन—से प्राप्त होती है। (एक लीटर पानी को १५ डिग्री सेंटीग्रेड से १६ सेंटीग्रेड तक गर्म करने के लिए जितनी ऊष्मा या ऊर्जा की जरूरत होती है, उसे एक कैलोरी कहा जाता है।) एक ग्राम कार्बोहाइड्रेट से ४ कैलोरी, एक ग्राम वसा से ९ कैलोरी और एक ग्राम प्रोटीन से ४ कैलोरी प्राप्त होती है। इस प्रकार शरीर में ऊर्जा या शक्ति के लिए वसा और कार्बोहाइड्रेट अत्यावश्यक है।

हमारा भोजन मुख्य रूप से इन्हीं तीन तत्त्वों का संयोग होता है। भोजन खाने के बाद शरीर के भीतर होने वाली रासायनिक क्रियाओं से ही ये तत्त्व प्राप्त होते हैं। एक कुत्ते को कुत्ते का मांस खिला कर मोटा नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि इस मांस को भी उसी प्रकार की शारीरिक रासायनिक क्रिया से गुजरना होता है। **अतः यह धारणा तो भ्रान्तिमात्र ही है कि मांसाहार से शरीर में सीधी मांसवृद्धि होती है।**

जब शरीर में मांस और वनस्पति—दोनों प्रकार के आहार पर समान रासायनिक प्रक्रिया होती है तो फिर हमें यह देखना चाहिए कि किस पदार्थ से शरीर को शीघ्र और सरलता से आवश्यक पोषक तत्त्व प्राप्त हो सकते हैं?

साधारणतया एक व्यक्ति को बिल्कुल आराम की स्थिति में ७० कैलोरी प्रतिघंटा जरूरी होती है, अर्थात् पूरे दिन में लगभग १७०० कैलोरी पर्याप्त होती है। यदि व्यक्ति काम करता है तो उसकी कैलोरी की आवश्यकता बढ़ जाती है और उठने, बैठने, अन्य क्रिया करने में भी ऊर्जा की खपत होती है, अतः सामान्य पुरुषों के लिए २४००, महिला के लिए २२०० और बच्चे को १२०० से २२०० कैलोरी प्रतिदिन की जरूरत होती है।

कैलोरी का सब से सस्ता और सरल स्रोत कार्बोहाइड्रेट है। यह अनाज, दाल, शक्कर, फल व वनस्पतियों से प्राप्त किया जाता है।...............

इस प्रकार कहने की आवश्यकता नहीं कि स्वास्थ्यप्रद और संतुलित भोजन के लिए मांस का प्रयोग अनिवार्य नहीं है। जो तत्त्व सामिष आहार से प्राप्त किए जाते हैं, उतने ही और कहीं तो उससे भी अधिक तत्त्व, उतनी ही मात्रा में अनाज, दालों और दूध इत्यादि से प्राप्त किए जा सकते हैं। अतः शरीर की आवश्यकता के लिए मांस का भोजन कतई अनिवार्य नहीं है।

शाकाहारी निर्जीव अंडा—आजकल शाकाहारी अंडे का चलन भी बढ़ता जा रहा है। कहा जाता है कि अंडा पूर्ण भोजन है, अर्थात् उसमें वे सभी एमीनो एसिड मौजूद हैं जो शरीर के लिए आवश्यक होते हैं। पर दूध भी एक प्रकार से भोजन के उन सभी तत्त्वों से भरपूर है जो शारीरिक क्रियाओं के लिए अनिवार्य हैं। अतः जब दूसरे पदार्थों से आवश्यक एमीनो एसिड प्राप्त किया जा सकता है और उससे भी अपेक्षाकृत सस्ती कीमत में, तब अंडा खाना क्यों जरूरी है?

फिर अंडे की जर्दी में कोलेस्ट्रोल की काफी मात्रा होती है। यह सभी जानते हैं कि कोलेस्ट्रोल की मात्रा शरीर में बढ़ जाने पर ही हृदयरोग, हृदयाघात आदि रोग होते हैं। आज की वैज्ञानिक व्यवस्था के अनुसार शरीर को नीरोग और स्वस्थ रखने के लिए ऐसे पदार्थों के सेवन से बचना चाहिए, जिनमें कोलेस्ट्रोल की मात्रा विद्यमान हो।

अंडे में विटामिन 'सी' नहीं होता और इसकी पूर्ति के लिए अंडे के साथ अन्य ऐसे पदार्थों का सेवन जरूरी है जिनमें विटामिन 'सी' पाया जाता है। दूध में यह बात नहीं है। वह सब आवश्यक तत्त्वों से भरपूर है। मेरे विचार से अंडा अंडा ही है, शाकाहारी क्या?.........बच्चे देने वाले अंडे में जो तत्त्व होते हैं वे सभी तथाकथित शाकाहारी अंडे में भी मिलते हैं। **वैज्ञानिकों द्वारा जो प्रयोग किए गए हैं, उनसे यह सिद्ध हो गया है कि यदि शाकाहारी अंडे को भी विभिन्न प्रकार से उत्तेजित किया जाए तो उसमें जीवित प्राणी की भांति ही क्रियाएँ होने लगती हैं। इसलिए यह कहना तो गलत होगा कि बच्चे न देने वाले अंडों में जीव नहीं होता।** अतः अहिंसा में विश्वास करने वाले लोगों को शाकाहारी अंडे से भी परहेज़ करना ही चाहिए।

अन्त में डाक्टर महोदय कहते हैं—यह कितना विचित्र लगता है कि मानव आदिकाल में, जब सभ्यता का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था, जंगली पशुओं को मार कर अपना पेट भरता था और ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होता गया, वह मांसाहार से दूर होता गया। ...किन्तु अब लगता है कि नियति अपना चक्र पूरा कर रही है। मानव अपने भोजन के लिए पशुओं की हत्या करना अब बुरा नहीं मान रहा। क्या हम फिर उसी शिकारी संस्कृति की ओर आगे नहीं बढ़ रहे हैं, जिसे असभ्य और जंगली कह कर हजारों वर्ष पीछे छोड़ आए थे?[१]

इसी प्रकार मेद, रक्त, यकृत, फेफड़ा, आंत, हड्डी, दन्त, विषाण आदि विभिन्न अंगों के लिए भी भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राणियों का पापी लोग घात करते हैं। इन सब का पृथक्-पृथक् उल्लेख करना अनावश्यक है। मात्र विलासिता के लिए अपने ही समान सुख-दुःख का अनुभव करने वाले, दीन-हीन, असहाय, मूक और अपना बचाव करने में असमर्थ निरपराध प्राणियों का हनन करना मानवीय विवेक का दिवाला निकालना है, हृदयहीनता और अन्तरतर में पैठी पैशाचिक वृत्ति का प्रकटीकरण है। विवेकशील मानव को इस प्रकार की वस्तुओं का उपयोग करना किसी भी प्रकार योग्य नहीं कहा जा सकता।

१२—अण्णेहि य एवमाइएहिं बहूहिं कारणसएहिं अबुहा इह हिंसंति तसे पाणे। इमे य—एगिंदिए बहवे वराए तसे य अण्णे तयस्सिए चेव तणुसरीरे समारंभंति। अत्ताणे, असरणे, अणाहे, अबंधवे, कम्मणिगड-बद्धे, अकुसलपरिणाम-मंदबुद्धिजणदुव्विजाणए, पुढविमए, पुढविसंसिए, जलमए, जलगए,

---

१—राजस्थानपत्रिका, १७ अक्टूबर, १९८२

अणलाणिल-तण-वणस्सइगणणिस्सिए य तम्मयतज्जिए चेव तयाहारे तप्परिणय-वण्ण-गंध-रस-फास-बोंदिरूवे अचक्खुसे चक्खुसे य तसकाइए असंखे। थावरकाए य सुहुम-बायर-पत्तेय-सरीरणामसाहारणे अणंते हणंति अविजाणओ य परिजाणओ य जीवे इमेहिं विविहेहिं कारणेहिं।

१२—बुद्धिहीन अज्ञान पापी लोग पूर्वोक्त तथा अन्य अनेकानेक प्रयोजनों से त्रस—चलते-फिरते, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय—जीवों का घात करते हैं तथा बहुत-से एकेन्द्रिय जीवों का उनके आश्रय से रहे हुए अन्य सूक्ष्म शरीर वाले त्रस जीवों का समारंभ करते हैं। ये प्राणी त्राणरहित हैं—उनके पास अपनी रक्षा के साधन नहीं हैं, अशरण हैं—उन्हें कोई शरण—आश्रय देने वाला नहीं है, वे अनाथ हैं, बन्धु-बान्धवों से रहित हैं—सहायकविहीन हैं और बेचारे अपने कृत कर्मों की बेड़ियों से जकड़े हुए हैं। जिनके परिणाम—अन्तःकरण की वृत्तियाँ अकुशल—अशुभ हैं, जो मन्दबुद्धि हैं, वे इन प्राणियों को नहीं जानते। वे अज्ञानी जन न पृथ्वीकाय को जानते हैं, न पृथ्वीकाय के आश्रित रहे अन्य स्थावरों एवं त्रस जीवों को जानते हैं। उन्हें जलकायिक तथा जल में रहने वाले अन्य त्रस-स्थावर जीवों का ज्ञान नहीं है। उन्हें अग्निकाय, वायुकाय, तृण तथा (अन्य) वनस्पतिकाय के एवं इनके आधार पर रहे हुए अन्य जीवों का परिज्ञान नहीं है। ये प्राणी उन्हीं (पृथ्वीकाय आदि) के स्वरूप वाले, उन्हीं के आधार से जीवित रहने वाले अथवा उन्हीं का आहार करने वाले हैं। उन जीवों का वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और शरीर अपने आश्रयभूत पृथ्वी, जल आदि सदृश होता है। उनमें से कई जीव नेत्रों से दिखाई नहीं देते हैं और कोई-कोई दिखाई देते हैं। ऐसे असंख्य त्रसकायिक जीवों की तथा अनन्त सूक्ष्म, बादर, प्रत्येकशरीर और साधारणशरीर वाले स्थावरकाय के जीवों की जानबूझ कर या अनजाने इन (आगे कहे जाने वाले) कारणों से हिंसा करते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में एकेन्द्रिय आदि प्राणियों की दीनता, अनाथता, अशरणता आदि प्रदर्शित करके सूत्रकार ने उनके प्रति करुणाभाव जागृत किया है। तत्पश्चात् प्राणियों की विविधता प्रदर्शित की है।

जो जीव पृथ्वी को अपना शरीर बना कर रहते हैं, अर्थात् पृथ्वी ही जिनका शरीर है वे पृथ्वीकाय या पृथ्वीकायिक कहलाते हैं। इसी प्रकार जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ही जिनका शरीर है, वे क्रमशः जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक कहलाते हैं। पृथ्वीकायिक आदि के जीवत्व की सयुक्तिक एवं सप्रमाण सिद्धि आचारांग आदि शास्त्रों में की गई है। अतएव पाठक वहीं से समझ लें। विस्तार भय से यहाँ उसका उल्लेख नहीं किया जाता है।

जब कोई मनुष्य पृथ्वीकाय आदि की हिंसा करता है तब वह केवल पृथ्वीकाय की ही हिंसा नहीं करता, अपितु उसके आश्रित रहे हुए अनेकानेक अन्यकायिक एवं त्रसकायिक जीवों की भी हिंसा करता है।

जल के एक बिन्दु में वैज्ञानिकों ने ३६००० जो जीव देखे हैं, वस्तुतः वे जलकायिक नहीं, जलाश्रित त्रस जीव हैं। जलकायिक जीव तो असंख्य होते हैं, जिन्हें वैज्ञानिक अभी नहीं जान सके हैं।

पृथिवीकाय की हिंसा के कारण—

१३—किं ते ?

करिसण-पोक्खरिणी-वावि-वप्पिणि-कूव-सर-तलाग-चिइ-वेइय[1] खाइय-आराम-विहार-थूभ-पागार-दार-गोउर-अट्टालग-चरिया-सेउ-संकम-पासाय-विकप्प-भवण-घर - सरण-लयण-आवण - चेइय-देवकुल-चित्तसभा-पवा-आयतणा-वसह-भूमिघर-मंडवाण कए भायणभंडोवगरणस्स य विविहस्स य अट्ठाए पुढविं हिंसंति मंदबुद्धिया ।

१३. वे कारण कौन-से हैं, जिनसे (पृथ्वीकायिक) जीवों का वध किया जाता है ?

कृषि, पुष्करिणी (चौकोर वावड़ी जो कमलों से युक्त हो), वावड़ी, क्यारी, कूप, सर, तालाव, भित्ति, वेदिका, खाई, आराम, विहार (बौद्धभिक्षुओं के ठहरने का स्थान), स्तूप, प्राकार, द्वार, गोपुर (नगरद्वार—फाटक), अटारी, चरिका (नगर और प्राकार के बीच का आठ हाथ प्रमाण मार्ग), सेतु—पुल, संक्रम (ऊबड़-खाबड़ भूमि को पार करने का मार्ग), प्रासाद—महल, विकल्प—विकप्प—एक विशेष प्रकार का प्रासाद, भवन, गृह, सरण—झौंपड़ी, लयन—पर्वत खोद कर बनाया हुआ स्थानविशेष, दूकान, चैत्य—चिता पर बनाया हुआ चबूतरा, छतरी और स्मारक, देवकुल—शिखर-युक्त देवालय, चित्रसभा, प्याऊ, आयतन, देवस्थान, आवसथ—तापसों का स्थान, भूमिगृह—भौंयरा-तलघर और मंडप आदि के लिए तथा नाना प्रकार के भाजन—पात्र, भाण्ड—वर्त्तन आदि एवं उपकरणों के लिए मन्दबुद्धि जन पृथ्वीकाय की हिंसा करते हैं ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में उन वस्तुओं के नामों का उल्लेख किया गया है, जिनके लिए पृथ्वी-काय के जीवों की हिंसा की जाती है । किन्तु इन उल्लिखित वस्तुओं के लिए ही पृथ्वीकाय की हिंसा होती है, ऐसा नहीं समझना चाहिए । यह पदार्थ तो उपलक्षण मात्र हैं, अतः पृथ्वीकाय का घात जिन-जिन वस्तुओं के लिए किया जाता है, उन सभी का ग्रहण कर लेना चाहिए । भायण-भंडोवगरणस्स विविहस्स' इन पदों द्वारा यह तथ्य सूत्रकार ने स्वयं भी प्रकट कर दिया है ।

अप्काय की हिंसा के कारण—

१४—जलं च मज्जण-पाण-भोयण-वत्थधोवण-सोयमाइएहिं ।

१४. मज्जन—स्नान, पान—पीने, भोजन, वस्त्र धोना एवं शौच—शरीर, गृह आदि की शुद्धि, इत्यादि कारणों से जलकायिक जीवों की हिंसा की जाती है ।

विवेचन—यहाँ भी उपलक्षण से अन्य कारण जान लेना चाहिए । पृथ्वीकाय की हिंसा के कारणों में भवनादि बनाने का जो उल्लेख किया गया है, उनके लिए भी जलकाय की हिंसा होती है । सूत्रकार ने 'आइ (आदि)' पद का प्रयोग करके इस तात्पर्य को स्पष्ट कर दिया है ।

तेजस्काय की हिंसा के कारण—

१५—पयण-पयावण-जलावण-विदंसणेहिं अगणिं ।

---

१. श्री ज्ञानविमलसूरि रचित वृत्ति में 'वेइय' के स्थान पर "चेतिय" शब्द है, जिसका अर्थ किया है—"चेति मृतदहनार्थं काष्ठस्थापनं ।"

१५. भोजनादि पकाने, पकवाने, दीपक आदि जलाने तथा प्रकाश करने के लिए अग्निकाय के जीवों की हिंसा की जाती है।

विवेचन—यहाँ भी वे सब निमित्त समझ लेने चाहिए, जिन-जिन से अग्निकाय के जीवों की विराधना होती है।

वायुकाय की हिंसा के कारण—

१६—सुप्प-वियण-तालयंट-पेहुण-मुह-करयल-सागपत्त-वत्थमाईएहिं अणिलं हिंसंति।

१६—सूर्प—सूप—धान्यादि फटक कर साफ करने का उपकरण, व्यजन—पंखा, तालवृन्त—ताड़ का पंखा, मयूरपंख आदि से, मुख से, हथेलियों से, सागवान आदि के पत्ते से तथा वस्त्र-खण्ड आदि से वायुकाय के जीवों की हिंसा की जाती है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में जिन-जिन कारणों से वायुकाय की विराधना होती है, उन कारणों में से कतिपय कारणों का कथन किया गया है। शेष कारण स्वयं ही समझे जा सकते हैं।

वनस्पतिकाय की हिंसा के कारण—

१७—अगार-परियार-भक्ख-भोयण-सयणासण-फलक-मूसल-उक्खल-तत - विततातोज्ज-वहण-वाहण-मंडव-विविह-भवण-तोरण-विडंग- देवकुल-जालय-द्धचंद-णिज्जूहग- चंदसालिय-वेतिय-णिस्सेणि-दोणि-चंगेरी-खील-मंडक - सभा-पवावसह-गंध-मल्लाणुलेवणं-अंबर-जुयणंगल-मइय-कुलिय-संदण-सीया-रह-सगड-जाण-जोग्ग-अट्टालग-चरिय-दार-गोउर-फलिहा-जंत-सूलिय-लउड-मुसंढि-सयग्घी-बहुपहरणा-वरणुवक्खराणकए, अण्णेहिं य एवमाइएहिं बहूहिं कारणसएहिं हिंसंति ते तरुगणे भणियाभणिए य एवमाई।

१७—अगार—गृह, परिचार—तलवार की म्यान आदि, भक्ष्य—मोदक आदि, भोजन—रोटी वगैरह, शयन—शय्या आदि, आसन—बिस्तर-बैठका आदि, फलक—पाट-पाटिया, मूसल, ओखली, तत—वीणा आदि, वितत—ढोल आदि, आतोद्य—अनेक प्रकार के वाद्य, वहन—नौका आदि, वाहन—रथ-गाड़ी आदि, मण्डप, अनेक प्रकार के भवन, तोरण, विडंग—विटंक, कपोतपाली—कबूतरों के बैठने के स्थान, देवकुल—देवालय, जालक—झरोखा, अर्द्धचन्द्र—अर्धचन्द्र के आकार की खिड़की या सोपान, निर्यूहक—द्वारशाखा, चन्द्रशाला—अटारी, वेदी, निःसरणी—नसैनी, द्रोणी—छोटी नौका, चंगेरी—बड़ी नौका या फूलों की डलिया, खूंटा—खूंटी, स्तंभ—खम्भा, सभागार, प्याऊ, आवसथ—आश्रम, मठ, गंध, माला, विलेपन, वस्त्र, युग—जूवा, लांगल—हल, मतिक—जमीन जोतने के पश्चात् ढेला फोड़ने के लिए लम्बा काष्ठ-निर्मित उपकरणविशेष, जिससे भूमि समतल की जाती है, कुलिक—विशेष प्रकार का हल-बखर, स्यन्दन—युद्ध-रथ, शिविका—पालकी, रथ, शकट—छकड़ा गाड़ी, यान, युग्य—दो हाथ का वेदिकायुक्त यानविशेष, अट्टालिका, चरिका—नगर और प्राकार के मध्य का आठ हाथ का चौड़ा मार्ग, परिघ—द्वार, फाटक, आगल, अरहट आदि, शूली, लकुट—लकड़ी-लाठी, मुसुंढी, शतघ्नी—तोप या महाशिला जिससे सैकड़ों का हनन हो सके तथा अनेकानेक प्रकार के शस्त्र, ढक्कन एवं अन्य उपकरण बनाने के लिए और इसी प्रकार

के ऊपर कहे गए तथा नहीं कहे गए ऐसे बहुत-से सैकड़ों कारणों से अज्ञानी जन वनस्पतिकाय की हिंसा करते हैं।

विवेचन—वनस्पतिकाय की सजीवता अब केवल आगमप्रमाण से ही सिद्ध नहीं, अपितु विज्ञान से भी सिद्ध हो चुकी है। वनस्पति का आहार करना, आहार से वृद्धिगत होना, छेदन-भेदन करने से मुरझाना आदि जीव के लक्षण प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त उनमें चैतन्य के सभी धर्म विद्यमान हैं। वनस्पति में क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषाय हैं, आहार, भय, मैथुन, परिग्रह रूप संज्ञाएँ हैं, लेश्या विद्यमान है, योग और उपयोग है। वे मानव की तरह सुख-दुःख का अनुवेदन करते हैं। अतएव वनस्पति की सजीवता में किंचित् भी सन्देह के लिए अवकाश नहीं है।

वनस्पति का हमारे जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। उसका आरंभ-समारंभ किए विना गृहस्थ का काम नहीं चल सकता। तथापि निरर्थक आरंभ का विवेकी जन सदैव त्याग करते हैं। प्रयोजन विना वृक्ष या लता का एक पत्ता भी नहीं तोड़ते—नहीं तोड़ना चाहिए।

वृक्षों के अनाप-सनाप काटने से आज विशेषतः भारत का वायुमंडल वदलता जा रहा है। वर्षा की कमी हो रही है। लगातार अनेक प्रांतों में सूखा पड़ रहा है। हजारों मनुष्य और लाखों पशु मरण-शरण हो रहे हैं। अतएव शासन का वृक्षसंरक्षण की ओर ध्यान आकर्षित हुआ है। जैनशास्त्र सदा से ही मानव-जीवन के लिए वनस्पति की उपयोगिता और महत्ता का प्रतिपादन करते चले आ रहे हैं। इससे ज्ञानी पुरुषों की सूक्ष्म और दूरगामिनी प्रज्ञा का परिचय प्राप्त होता है।

हिंसक जीवों का दृष्टिकोण—

१८—सत्ते सत्तपरिवज्जिया उवहणंति दढमूढा दारुणमई कोहा माणा माया लोहा हस्स रई अरई सोय वेयत्थी जीय-धम्मत्थकामहेउं सवसा अवसा अट्ठा अणट्ठाए य तसपाणे थावरे य हिंसंति मंदबुद्धी।

सवसा हणंति, अवसा हणंति, सवसा अवसा दुहओ हणंति, अट्ठा हणंति, अणट्ठा हणंति, अट्ठा अणट्ठा दुहओ हणंति, हस्सा हणंति, वेरा हणंति, रईय हणंति, हस्सा-वेरा-रईय हणंति, कुद्धा हणंति, लुद्धा हणंति, मुद्धा हणंति, कुद्धा लुद्धा मुद्धा हणंति, अत्था हणंति, धम्मा हणंति, कामा हणंति, अत्था धम्मा कामा हणंति ॥३॥

१८—दृढमूढ—हिताहित के विवेक से सर्वथा शून्य अज्ञानी, दारुण मति वाले पुरुष क्रोध से प्रेरित होकर, मान, माया और लोभ के वशीभूत होकर तथा हँसी-विनोद—दिलवहलाव के लिए, रति, अरति एवं शोक के अधीन होकर, वेदानुष्ठान के अर्थी होकर, जीवन, धर्म, अर्थ एवं काम के लिए, (कभी) स्ववश—अपनी इच्छा से और (कभी) परवश—पराधीन होकर, (कभी) प्रयोजन से और (कभी) विना प्रयोजन त्रस तथा स्थावर जीवों का, जो अशक्त—शक्तिहीन हैं, घात करते हैं। (ऐसे हिंसक प्राणी वस्तुतः) मन्दवुद्धि हैं।

वे वुद्धिहीन क्रूर प्राणी स्ववश (स्वतंत्र) होकर घात करते हैं, विवश होकर घात करते हैं, स्ववश—विवश दोनों प्रकार से घात करते हैं। सप्रयोजन घात करते हैं, निष्प्रयोजन घात करते हैं, सप्रयोजन और निष्प्रयोजन दोनों प्रकार से घात करते हैं। (अनेक पापी जीव) हास्य-विनोद से, वैर से और अनुराग से प्रेरित होकर हिंसा करते हैं। क्रुद्ध होकर हनन करते हैं, लुब्ध होकर हनन

करते हैं, मुग्ध होकर हनन करते हैं, क्रुद्ध-लुब्ध-मुग्ध होकर हनन करते हैं, अर्थ के लिए घात करते हैं, धर्म के लिए—धर्म मान कर घात करते हैं, काम-भोग के लिए घात करते हैं तथा अर्थ-धर्म-कामभोग तीनों के लिए घात करते हैं।

विवेचन—पृथक्-पृथक् जातीय प्राणियों की हिंसा के विविध प्रयोजन प्रदर्शित करके शास्त्रकार ने यहाँ सब का उपसंहार करते हुए त्रस एवं स्थावर प्राणियों की हिंसा के सामूहिक कारणों का दिग्दर्शन कराया है।

यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि पूर्व सूत्रों में बाह्य निमित्तों की मुख्यता से चर्चा की गई है और प्रस्तुत सूत्र में क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति आदि अन्तरंग वृत्तियों की प्रेरणा को हिंसा के कारण रूप में चित्रित किया गया है। बाह्य और आभ्यन्तर कारणों के संयोग से ही कार्य की निष्पत्ति होती है। अन्तर में कषायादि दूषित वृत्तियां न हों तो केवल बाह्य प्रयोजनों के लिए हिंसा नहीं की जाती अथवा कम से कम अनिवार्य हिंसा ही की जाती है। साधु-सन्त हिंसा के बिना ही जीवन-निर्वाह करते हैं। इसके विपरीत अनेक सुसंस्कारहीन, कल्मषवृत्ति वाले, निर्दय मनुष्य मात्र मनोविनोद के लिए—मरते हुए प्राणियों को छटपटाते—तड़फते देख कर आनन्द अनुभव करने के लिए अत्यन्त क्रूरतापूर्वक हिरण, खरगोश आदि निरपराध भद्र प्राणियों का घात करने में भी नहीं हिचकते। ऐसे लोग दानवता, पैशाचिकता को भी मात करते हैं।

मूल में धर्म एवं वेदानुष्ठान के निमित्त भी हिंसा करने का उल्लेख किया गया है। इसमें मूढता—मिथ्यात्व ही प्रधान कारण है। बकरा, भैंसा, गाय, अश्व आदि प्राणियों की अग्नि में आहुति देकर अथवा अन्य प्रकार से उनका वध करके मनुष्य स्वर्गप्राप्ति का मनोरथ—मंसूबा करता है। यह विषपान करके अमर बनने के मनोरथ के समान है। निरपराध पंचेन्द्रिय जीवों का जान-बूझकर क्रूरतापूर्वक वध करने से भी यदि स्वर्ग की प्राप्ति हो तो नरक के द्वार ही बंद हो जाएँ!

तात्पर्य यह है कि बाह्य कारणों से अथवा कलुषित मनोवृत्ति से प्रेरित होकर या धर्म मान कर—किसी भी कारण से हिंसा की जाए, यह एकान्त पाप ही है और उससे आत्मा का अहित ही होता है।

हिंसक जन—

१६—कयरे ते ?

जे ते सोयरिया मच्छबंधा साउणिया वाहा कूरकम्मा वाउरिया दीवित-बंधणप्पओग-तप्पगल-जाल-वीरल्लगायसीदब्भ-वग्गुरा-कूडछेलियाहत्था हरिएसा साउणिया य वीदंसगपासहत्था वणचरगा लुद्धगा महुघाया पोयघाया एणीयारा पएणीयारा सर-दह-दीहिय-तलाग-पल्लल-परिगालण-मलण-सोत्तबंधण-सलिलासयसोसगा विसगरलस्स य दायगा उत्तणवल्लर-दवग्गि-णिद्दया पलीवगा कूरकम्मकारी।

१९—वे हिंसक प्राणी कौन हैं?

शौकरिक—जो शूकरों का शिकार करते हैं, मत्स्यबन्धक—मछलियों को जाल में बांधकर मारते हैं, जाल में फँसाकर पक्षियों का घात करते हैं, व्याध—मृगों, हिरणों को फँसाकर मारने

वाले, क्रूरकर्मा वागुरिक—जाल में मृग आदि को फँसाने के लिए घूमने वाले, जो मृगादि को मारने के लिए चीता, बन्धनप्रयोग—फँसाने—बांधने के लिए उपाय, मछलियां पकड़ने के लिए तप्र—छोटी नौका, गल—मछलियां पकड़ने के लिए कांटे पर आटा या मांस, जाल, वीरल्लक—बाज पक्षी, लोहे का जाल, दर्भ—डाभ या दर्भनिर्मित रस्सी, कूटपाश, बकरी—चीता आदि को पकड़ने के लिए पिंजरे आदि में रक्खी हुई अथवा किसी स्थान पर बांधी हुई बकरी अथवा बकरा, इन सब साधनों को हाथ में लेकर फिरने वाले—इन साधनों का प्रयोग करने वाले, हरिकेश—चाण्डाल, चिड़ीमार, बाज पक्षी तथा जाल को रखने वाले, वनचर—भील आदि वनवासी, मधु-मक्खियों का घात करने वाले, पोतघातक—पक्षियों के बच्चों का घात करने वाले, मृगों को आकर्षित करने के लिए मृगियों का पालन करने वाले, सरोवर, ह्रद, वापी, तालाब, पल्लव—क्षुद्र जलाशय को मत्स्य, शंख आदि प्राप्त करने के लिये खाली करने वाले—पानी निकाल कर, जलागम का मार्ग रोक कर तथा जलाशय को किसी उपाय से सुखाने वाले, विष अथवा गरल—अन्य वस्तु में मिले विष को खिलाने वाले, उगे हुए त्रण—घास एवं खेत को निर्दयतापूर्वक जलाने वाले, ये सब क्रूरकर्मकारी हैं, (जो अनेक प्रकार के प्राणियों का घात करते हैं)।

विवेचन—प्रारंभ में, तृतीय गाथा में हिंसा आदि पापों का विवेचन करने के लिए जो क्रम निर्धारित किया गया था, उसके अनुसार पहले हिंसा के फल का कथन किया जाना चाहिए। किन्तु प्रस्तुत में इस क्रम में परिवर्त्तन कर दिया गया है। इसका कारण अल्पवक्तव्यता है। हिंसकों का कथन करने के पश्चात् विस्तार से हिंसा के फल का निरूपण किया जाएगा।

सूत्र का अर्थ सुगम है, अतएव उसके पृथक् विवेचन की आवश्यकता नहीं है।

हिंसक जातियाँ—

२०—इमे य बहवे मिलक्खुजाई, के ते ? सक-जवण-सवर-बब्बर-गाय-मुरुंडोद-भडग-तित्तिय-पक्कणिय-कुलक्ख-गोड-सीहल-पारस-कोंचंध-दविल-बिल्लल-पुलिंद-अरोस-डोंब-पोक्कण-गंध-हारग-बहलीय-जल्ल-रोम-मास-बउस-मलया-चुंचुया य चूलिया कोंकणगा-मेत्त[1] पण्हव-मालव-महुर-आभासिय-अणक्ख-चीण-लासिय-खस-खासिया-नेहुर-मरहट्ठ-मुट्ठिय-आरव-डोबिलग-कुहण-केकय-हूण-रोमग-रुरु-मरुया-चिलायविसयवासी य पावमइणो।

२०—(पूर्वोक्त हिंसाकारियों के अतिरिक्त) ये बहुत-सी म्लेच्छ जातियाँ भी हैं, जो हिंसक हैं। वे (जातियां) कौन-सी हैं ?

शक, यवन, शबर, बब्बर, काय (गाय), मुरुंड, उद, भडक, तित्तिक, पक्कणिक, कुलाक्ष, गौड, सिंहल, पारस, क्रौंच, आन्ध्र, द्रविड़, बिल्वल, पुलिंद, आरोष, डोंब, पोकण, गान्धार, बहलीक, जल्ल, रोम, मास, बकुश, मलय, चुंचुक, चूलिक, कोंकण, मेद, पण्हव, मालव, महुर, आभाषिक, अणक्क, चीन, ल्हासिक, खस, खासिक, नेहुर, महाराष्ट्र, मौष्टिक, आरब, डोबलिक, कुहण, कैकय, हूण,

---

1. पूज्य श्री हस्तीमलजी म. सम्पादित तथा बीकानेर वाली प्रति में 'कोंकणगामेत्त' पाठ है और पूज्य श्री घासीलालजी म. तथा श्रीमद्ज्ञानविमल सूरि की टीकावली प्रति में—'कोंकणग-कणय-सेय-मेता'—पाठ है। यह पाठभेद है।

रोमक, रुरु, मरुक, चिलात, इन देशों के निवासी, जो पाप बुद्धि वाले हैं, वे (हिंसा में प्रवृत्त रहते हैं।)

विवेचन –मूल पाठ में जिन जातियों का नाम-निर्देश किया गया है, वे अधिकांश देश-सापेक्ष हैं। इनमें कुछ नाम ऐसे हैं जो आज भी भारत के अन्तर्गत हैं और कुछ ऐसे जो भारत से बाहर हैं। कुछ नाम परिचित हैं, बहुत-से अपरिचित हैं। टीकाकार के समय में भी उनमें से बहुत-से अपरिचित ही थे। कुछ के विषय में आधुनिक विद्वानों ने जो अन्वेषण किया है, वह इस प्रकार है—

शक—ये सोवियाना अथवा कैस्पियन सागर के पूर्व में स्थित प्रदेश के निवासी थे। ईसा की प्रथम शताब्दी में उन्होंने तक्षशिला, मथुरा तथा उज्जैन पर अपना प्रभाव जमा लिया था। चौथी शताब्दी तक पश्चिमी भारत पर ये राज्य करते रहे।

बर्बर—इन लोगों का प्रदेश उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश से लगाकर अरब सागर तक फैला हुआ था।

शबर—डॉ. डी. सी. सरकार ने इनको गंजम और विशाखापत्तन के सावर लोगों के सदृश माना है। डॉ. बी. सी. लॉ इन्हें दक्षिण के जंगल-प्रदेश की जाति मानते हैं। 'पउमचरिउं'[1] में इन्हें हिमालय के पार्वत्य प्रदेश का निवासी बतलाया गया है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में इन्हें दस्युओं के रूप में आंध्र, पुलिन्द और पुंड्रों के साथ वर्गीकृत किया गया है।

यवन—अशोककालिक इनका निवासस्थान काबुल नदी की घाटी एवं कंधार देश था। पश्चात् ये उत्तर-पश्चिमी भाग में रहे। कालीदास के अनुसार यवनराज्य सिन्धु नदी के दक्षिणी तट पर था।

साधनाभाव से पाठनिर्दिष्ट सभी प्रदेशों और उनमें बसने वाली जातियों का परिचय देना शक्य नहीं है। विशेष जिज्ञासु पाठक अन्यत्र देखकर उनका परिचय प्राप्त कर सकते हैं।

२१—जलयर-थलयर-सणप्फ-योरग-खहयर-संडासतुंड-जीवोवग्घायजीवी सण्णी य असण्णिणो पज्जत्ते अपज्जत्ते य असुभलेस्स-परिणामे एए अण्णे य एवमाई करेंति पाणाइवायकरणं।

पावा पावाभिगमा[2] पावरुई पाणवहकयरई पाणवहरूवाणुट्ठाणा पाणवहकहासु अभिरमंता तुट्ठा पावं करेत्तु होंति य बहुप्पगारं।

२१—ये—पूर्वोक्त विविध देशों और जातियों के लोग तथा इनके अतिरिक्त अन्य जातीय और अन्य देशीय लोग भी, जो अशुभ लेश्या-परिणाम वाले हैं, वे जलचर, स्थलचर, सनखपद, उरग, नभश्चर, संडासी जैसी चोंच वाले आदि जीवों का घात करके अपनी आजीविका चलाते हैं। वे संज्ञी, असंज्ञी, पर्याप्त और अपर्याप्त जीवों का हनन करते हैं।

वे पापी जन पाप को ही उपादेय मानते हैं। पाप में ही उनकी रुचि-प्रीति होती है। वे प्राणियों का घात करके प्रसन्नता अनुभव करते हैं। उनका अनुष्ठान—कर्त्तव्य प्राणवध करना ही

---

१. पउमचरिउं—२७-५-७.

२. किसी किसी प्रति में यहाँ "पावमई" शब्द भी है।

होता है। प्राणियों की हिंसा की कथा-वार्ता में ही वे आनन्द मानते हैं। वे अनेक प्रकार के पापों का आचरण करके संतोष अनुभव करते हैं।

विवेचन—जलचर और स्थलचर प्राणियों का उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। जिनके पैरों के अग्रभाग में नख होते हैं वे सिंह, चीता आदि पशु सनखपद कहलाते हैं। संडासी जैसी चोंच वाले प्राणी ढंक, कंक आदि पक्षी होते हैं।

प्रस्तुत पाठ में कुछ पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जैसे संज्ञी, असंज्ञी, पर्याप्त और अपर्याप्त। उनका आशय इस प्रकार है—

संज्ञी—संज्ञा अर्थात् विशिष्ट चेतना—आगे-पीछे के हिताहित का विचार करने की शक्ति जिन प्राणियों को प्राप्त है, वे संज्ञी अथवा समनस्क—मन वाले—कहे जाते हैं। ऐसे प्राणी पंचेन्द्रियों में ही होते हैं।

असंज्ञी—एक इन्द्रिय वाले जीवों से लेकर चार इन्द्रिय वाले सभी जीव असंज्ञी हैं, अर्थात् उनमें मनन-चिन्तन करने की विशिष्ट शक्ति नहीं होती। पाँचों इन्द्रियों वाले जीवों में कोई-कोई संज्ञी और कोई-कोई असंज्ञी होते हैं।

पर्याप्त—पर्याप्ति शब्द का अर्थ पूर्णता है। जिन जीवों को पूर्णता प्राप्त हो चुकी है, वे पर्याप्त और जिन्हें पूर्णता प्राप्त नहीं हुई है, वे अपर्याप्त कहलाते हैं।

अभिप्राय यह है कि कोई भी जीव वर्त्तमान भव को त्याग कर जब आगामी भव में जाता है तब तैजस और कार्मण शरीर के सिवाय उसके साथ कुछ नहीं होता। उसे नवीन भव में नवीन सृष्टि रचनी पड़ती है। सर्वप्रथम वह उस भव के योग्य शरीरनिर्माण करने के लिए पुद्‌गलों का आहरण—ग्रहण करता है। इन पुद्‌गलों को ग्रहण करने की शक्ति उसे प्राप्त होती है। इस शक्ति की पूर्णता आहारपर्याप्ति कहलाती है। तत्पश्चात् उन गृहीत पुद्‌गलों को शरीररूप में परिणत करने की शक्ति की पूर्णता शरीरपर्याप्ति है। गृहीत पुद्‌गलों को इन्द्रिय रूप में परिणत करने की शक्ति की पूर्णता इन्द्रियपर्याप्ति है। श्वासोच्छ्‌वास के योग्य, भाषा के योग्य और मनोनिर्माण के योग्य पुद्‌गलों को ग्रहण करके उन्हें श्वासोच्छ्‌वास, भाषा और मन के रूप में परिणत करने की शक्ति की पूर्णता क्रमशः श्वासोच्छ्‌वासपर्याप्ति, भाषापर्याप्ति और मनःपर्याप्ति कही जाती है।

शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्‌वास, भाषा और मन का निर्माण यथाकाल होता है। उनके लिए दीर्घ काल अपेक्षित है। किन्तु निर्माण करने की शक्ति—क्षमता अन्तर्मुहूर्त्त में ही उत्पन्न हो जाती है। जिन जीवों को इस प्रकार की क्षमता प्राप्त हो चुकी है, वे पर्याप्त और जिन्हें वह क्षमता प्राप्त नहीं हुई—होने वाली है अथवा होगी ही नहीं—जो शीघ्र ही पुनः मृत्यु को प्राप्त हो जाएँगे, वे अपर्याप्त कहलाते हैं।

पर्याप्तियाँ छह प्रकार की हैं—१. आहारपर्याप्ति, १. शरीरपर्याप्ति, ३. इन्द्रियपर्याप्ति, ४. श्वासोच्छ्‌वासपर्याप्ति, ५. भाषापर्याप्ति और ६. मनःपर्याप्ति। इनमें से एकेन्द्रिय जीवों में आदि की चार, द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रियों में पाँच और संज्ञी पंचेन्द्रियों में छहों पर्याप्तियाँ होती हैं। सभी पर्याप्तियों का प्रारंभ तो एक साथ हो जाता है किन्तु पूर्णता क्रमशः होती है।

हिंसकों की उत्पत्ति—

२२—तस्स य पावस्स फलविवागं अयाणमाणा वड्ढंति महब्भयं अविस्सामवेयणं दीहकाल-बहुदुक्खसंकडं णरयतिरिक्खजोणिं।

२२—(पूर्वोक्त मूढ़ हिंसक लोग) हिंसा के फल-विपाक को नहीं जानते हुए, अत्यन्त भयानक एवं दीर्घकाल पर्यन्त बहुत-से दुःखों से व्याप्त—परिपूर्ण एवं अविश्रान्त—लगातार निरन्तर होने वाली दुःख रूप वेदना वाली नरकयोनि और तिर्यञ्चयोनि को बढ़ाते हैं।

विवेचन—पूर्व में तृतीय गाथा में कथित फलद्वार का वर्णन यहाँ किया गया है। हिंसा का फल तिर्यंचयोनि और नरकयोनि बतलाया गया है और वह भी अतीव भयोत्पादक एवं निरन्तर दुःखों से परिपूर्ण। तिर्यंचयोनि की परिधि बहुत विशाल है। एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक के सभी जीव तिर्यंचयोनिक ही होते हैं। पंचेन्द्रियों में चारों गति के जीव होते हैं। इनमें पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक जीवों के दुःख तो किसी अंश में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु अन्य एकेन्द्रियादि तिर्यंचों के कष्टों को मनुष्य नहीं-जैसा ही जानता है। एकेन्द्रियों के दुःखों का हमें प्रत्यक्षीकरण नहीं होता। इनमें भी जिनको निरन्तर एक श्वासोच्छ्वास जितने काल में साधिक १७ वार जन्म-मरण करना पड़ता है, उनके दुःख तो हमारी कल्पना से भी अतीत हैं। नरकयोनि तो एकान्ततः दुःखमय ही है। इस योनि में उत्पन्न होने वाले प्राणी जन्मकाल से लेकर मरणकाल तक निरन्तर—एक क्षण के व्यवधान या विश्राम विना सतत भयानक से भयानक पीड़ा भोगते ही रहते हैं। उसका दिग्दर्शन मात्र ही कराया जा सकता है। शास्त्रकार ने स्वयं उन दुःखों का वर्णन आगे किया है।

कई लोग नरकयोनि का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। किन्तु किसी की स्वीकृति या अस्वीकृति पर किसी वस्तु का अस्तित्व और नास्तित्व निर्भर नहीं है। तथ्य स्वतः है। जो है उसे अस्वीकार कर देने से उसका अभाव नहीं हो जाता।

कुछ लोग नरकयोनि के अस्तित्व में शंकाशील रहते हैं। उन्हें विचार करना चाहिए कि नरक का अस्तित्व मानकर दुष्कर्मों से बचे रहना तो प्रत्येक परिस्थिति में हितकर ही है। नरक न हो तो भी पापों का परित्याग लाभ का ही कारण है, किन्तु नरक का नास्तित्व मान कर यदि पापाचरण किया और नरक का अस्तित्व हुआ तो कैसी दुर्गति होगी ! कितनी भीषणतम वेदनाएँ भुगतनी पड़ेंगी !

प्रत्येक शुभ और अशुभ कर्म का फल अवश्य होता है। तो फिर घोरतम पापकर्म का फल घोरतम दुःख भी होना चाहिए और उसे भोगने के लिए कोई योनि और स्थान भी अवश्य होना चाहिए। इस प्रकार घोरतम दुःखमय वेदना भोगने का जो स्थान है, वही नरकस्थान है।

नरक-वर्णन—

२३—इओ आउक्खए चुया असुभकम्मबहुला उववज्जंति णरएसु हुलियं महालएसु वयरामय-कुड्ड-रुद्द-णिस्संधि-दार-विरहिय-णिम्मद्दव-भूमितल-खरामरिसविसम-णिरय-घरचारएसु महोसिण-सया-पतत्त दुग्गंध-विस्स-उव्वेयजणगेसु बीभच्छदरिसणिज्जेसु णिच्चं हिमपडलसीयलेसु कालोभासेसु य भीम-गंभीर-लोमहरिसणेसु णिरभिरामेसु णिप्पडियार-वाहिरोगजरापीलिएसु अईव णिच्चंधयार-

तिमिस्सेसु पइभएसु ववगय-गह-चंद-सूर-णक्खत्तजोइसेसु मेय-वसा-मंसपडल-पोच्चड-पूय-रुहि-रुक्किण्ण-विलीण-चिक्कण-रसिया वावण्णकुहियचिक्खल्लकद्दमेसु कुकू-लाणल-पलित्तजालमुम्मुर-असिक्खुर-करवत्तधारासु णिसिय-विच्छुयडंक-णिवायोवम्म-फरिसअइदुस्सहेसु य, अत्ताणा असरणा कडुयदुक्ख-परितावणेसु अणुबद्ध-णिरंतर-वेयणेसु जमपुरिस-संकुलेसु ।

२३—पूर्ववर्णित हिंसाकारी पापीजन यहाँ—मनुष्यभव से आयु की समाप्ति होने पर, मृत्यु को प्राप्त होकर अशुभ कर्मों की बहुलता के कारण शीघ्र ही—सीधे ही—नरकों में उत्पन्न होते हैं ।

नरक बहुत विशाल—विस्तृत हैं । उनकी भित्तियाँ वज्रमय हैं । उन भित्तियों में कोई सन्धि-छिद्र नहीं है, बाहर निकलने के लिए कोई द्वार नहीं है । वहाँ की भूमि मृदुतारहित—कठोर है, अत्यन्त कठोर है । वह नरक रूपी कारागार विषम है । वहाँ नारकावास अत्यन्त उष्ण एवं तप्त रहते हैं । वे जीव वहाँ दुर्गन्ध—सडांध के कारण सदैव उद्विग्न—घबराए रहते हैं । वहाँ का दृश्य ही अत्यन्त बीभत्स है—वे देखते ही भयंकर प्रतीत होते हैं । वहाँ (किन्हीं स्थानों में जहाँ शीत की प्रधानता है) हिम-पटल के सदृश शीतलता (बनी रहती) है । वे नरक भयंकर हैं, गंभीर एवं रोमांच खड़े कर देने वाले हैं । अरमणीय—घृणास्पद हैं । वे जिसका प्रतीकार न हो सके अर्थात् असाध्य कुष्ठ आदि व्याधियों, रोगों एवं जरा से पीड़ा पहुंचाने वाले हैं । वहाँ सदैव अन्धकार रहने के कारण प्रत्येक वस्तु अतीव भयानक लगती है । ग्रह, चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र आदि की ज्योति—प्रकाश का अभाव है, मेद, वसा—चर्बी, मांस के ढेर होने से वह स्थान अत्यन्त घृणास्पद है । पीव और रुधिर के बहने से वहाँ की भूमि गीली और चिकनी रहती है और कीचड़-सी बनी रहती है । (जहाँ उष्णता की प्रधानता है) वहाँ का स्पर्श दहकती हुई करीष की अग्नि या खदिर (खैर) की अग्नि के समान उष्ण तथा तलवार, उस्तरा अथवा करवत की धार के सदृश तीक्ष्ण है । वह स्पर्श बिच्छू के डंक से भी अधिक वेदना उत्पन्न करने वाला अतिशय दुस्सह है । वहाँ के नारक जीव त्राण और शरण से विहीन हैं—न कोई उनकी रक्षा करता है, न उन्हें आश्रय देता है । वे नरक कटुक दुःखों के कारण घोर परिणाम उत्पन्न करने वाले हैं । वहाँ लगातार दुःखरूप वेदना चालू ही रहती है— पल भर के लिए भी चैन नहीं मिलती । वहाँ यमपुरुष अर्थात् पन्द्रह प्रकार के परमाधामी देव भरे पड़े हैं । (जो नारकों को भयंकर-भयंकर-यातनाएँ देते हैं—जिनका वर्णन आगे किया जाएगा ।)

विवेचन—प्रस्तुत पाठ में नरकभूमियों का प्रमुख रूप से वर्णन किया गया है । इस वर्णन से नारक जीवों को होने वाली वेदना—पीड़ा का उल्लेख भी कर दिया गया है । नरकभूमियाँ विस्तृत हैं सो केवल लम्बाई-चौड़ाई की दृष्टि से ही नहीं, किन्तु नारकों के आयुष्य की दृष्टि से भी समझना चाहिए । मनुष्यों की आयु की अपेक्षा नारकों की आयु बहुत लम्बी है । वहाँ कम से कम आयु भी दस हजार वर्ष से कम नहीं और अधिक से अधिक तेतीस सागरोपम जितनी है । सागरोपम एक बहुत बड़ी संख्या है, जो प्रचलित गणित की परिधि से बाहर है ।

नरकभूमि अत्यन्त कर्कश, कठोर और ऊबड़-खाबड़ है । उस भूमि का स्पर्श ही इतना कष्टकर होता है, मानो हजार बिच्छुओं के डंकों का एक साथ स्पर्श हुआ हो । कहा है—

तहाँ भूमि परसत दुख इसो,
बीछू सहस डसें तन तिसो ।

नरक में घोर अंधकार सदैव व्याप्त रहता है। चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र आदि का लेशमात्र भी प्रकाश नहीं है।

मांस, रुधिर, पीव, चर्वी आदि घृणास्पद वस्तुएँ ढेर की ढेर वहाँ बिखरी पड़ी हैं, जो अतीव उद्वेग उत्पन्न करती हैं। यद्यपि मांस, रुधिर आदि औदारिक शरीर में ही होते हैं और वहाँ औदारिक शरीरधारी मनुष्य एवं पंचेन्द्रिय तिर्यंच नहीं हैं, तथापि वहाँ के पुद्गल अपनी विचित्र परिणमनशक्ति से इन घृणित वस्तुओं के रूप में परिणत होते रहते हैं। इनके कारण वहाँ सदैव दुर्गन्ध—सड़ांध फैली रहती है जो दुस्सह त्रास उत्पन्न करती है।

नरकों के कोई स्थान अत्यन्त शीतमय हैं तो कोई अतीव उष्णतापूर्ण हैं। जो स्थान शीतल हैं वे हिमपटल से भी असंख्यगुणित शीतल हैं और जो उष्ण हैं वे खदिर की धधकती अग्नि से भी अत्यधिक उष्ण हैं।

नारक जीव ऐसी नरकभूमियों में सुदीर्घ काल तक भयानक से भयानक यातनाएँ निरन्तर, प्रतिक्षण भोगते रहते हैं। वहाँ उनके प्रति न कोई सहानुभूति प्रकट करने वाला, न सान्त्वना देने वाला और न यातनाओं से रक्षण करने वाला है। इतना ही नहीं, वरन् भयंकर से भयंकर कष्ट पहुँचाने वाले परमाधामी देव वहाँ हैं, जिनका उल्लेख यहाँ 'जमपुरिस' (यमपुरुष) के नाम से किया गया है। ये यमपुरुष पन्द्रह प्रकार के हैं और विभिन्न रूपों में नारकों को घोर पीड़ा पहुँचाना इनका मनोरंजन है। वे इस प्रकार हैं—

१. **अम्ब**—ये नारकों को ऊपर आकाश में ले जाकर एकदम नीचे पटक देते हैं।

२. **अम्बरीष**—छुरी आदि शस्त्रों से नारकों के शरीर के टुकड़े-टुकड़े करके भाड़ में पकाने योग्य बनाते हैं।

३. **श्याम**—रस्सी से या लातों-घूंसों से नारकों को मारते हैं और यातनाजनक स्थानों में पटक देते हैं।

४. **शबल**—ये नारक जीवों के शरीर की आंतें, नसें और कलेजे आदि को बाहर निकाल लेते हैं।

५. **रुद्र**—भाला-बर्छी आदि नुकीले शस्त्रों में नारकों को पिरो देते हैं। इन्हें रौद्र भी कहते हैं। अतीव भयंकर होते हैं।

६. **उपरुद्र**—नारकों के अंगोपांगों को फाड़ने वाले, अत्यन्त ही भयंकर असुर।

७. **काल**—ये नारकों को कड़ाही में पकाते हैं।

८. **महाकाल**—नारकों के मांस के खण्ड-खण्ड करके उन्हें जबर्दस्ती खिलाने वाले अतीव काले असुर।

९. **असिपत्र**—अपनी वैक्रिय शक्ति द्वारा तलवार जैसे तीक्ष्ण पत्तों वाले वृक्षों का वन बनाकर उनके पत्ते नारकों पर गिराते हैं और नारकों के शरीर के तिल जितने छोटे-छोटे टुकड़े कर डालते हैं।

१०. **धनुष**—ये धनुष से तीखे बाण फेंककर नारकों के कान, नाक आदि अवयवों का छेदन करते हैं और अन्य प्रकार से भी उन्हें पीड़ा पहुँचा कर आनन्द मानते हैं।

११. कुम्भ—ये असुर नारकों को कुम्भियों में पकाते हैं।

१२. वालु—ये वैक्रियलब्धि द्वारा बनाई हुई कदम्ब—वालुका अथवा वज्र-वालुका—रेत में नारकों को चना आदि की तरह भूनते हैं।

१३. वैतरणी—ये यम पुरुष मांस, रुधिर, पीव, पिघले तांबे—सीसे आदि अत्युष्ण पदार्थों से उबलती-उफनती वैतरणी नदी में नारकों को फेंक देते हैं और उसमें तैरने को विवश करते हैं।

१४. खरस्वर—ये वज्रमय तीक्ष्ण कंटकों से व्याप्त शाल्मली वृक्ष पर चढ़ा कर करुण आक्रन्दन करते नारकों को इधर-उधर खींचते हैं।

१५. महाघोष—ये भयभीत होकर अथवा दुस्सह यातना से बचने के अभिप्राय से भागते हुए नारक जीवों को बाड़े में बन्द कर देते हैं और भयानक ध्वनि करते हुए उन्हें रोक देते हैं।

इस प्रकार हिंसा करने वाले और हिंसा करके आनन्द का अनुभव करने वाले जीवों को नरक में उत्पन्न होकर जो वचनागोचर घोरतर यातनाएँ भुगतनी पड़ती हैं, यहाँ उनका साधारण शब्द-चित्र ही खींचा गया है। वस्तुतः वे वेदनाएँ तो अनुभव द्वारा ही जानी जा सकती हैं।

नारकों का बीभत्स शरीर—

२४—तत्थ य अंतोमुहुत्तलद्धिभवपच्चएणं णिवत्तंति उ ते सरीरं हुंडं बीभच्छदरिसणिज्जं बीहणगं अट्ठि-ण्हारु-णह-रोम-वज्जियं असुभगं दुक्खविसहं।

तओ य पज्जत्तिमुवगया इंदिएहिं पंचहिं वेएंति असुहाए वेयणाए उज्जल-बल-विउल-कक्खड-खर-फरुस-पयंड-घोर-बीहणगदारुणाए।

२४—वे पूर्वोक्त पापी जीव नरकभूमि में उत्पन्न होते ही अन्तर्मुहूर्त्त में नरकभवकारणक (वैक्रिय) लब्धि से अपने शरीर का निर्माण कर लेते हैं। वह शरीर हुंड—हुंडक संस्थान वाला—बेडौल, भद्दी आकृति वाला, देखने में बीभत्स, घृणित, भयानक, अस्थियों, नसों, नाखूनों और रोमों से रहित; अशुभ और दुखों को सहन करने में सक्षम होता है।

शरीर का निर्माण हो जाने के पश्चात् वे पर्याप्तियों से—इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास और भाषा-मन रूप पर्याप्तियों से पूर्ण—पर्याप्त हो जाते हैं और पांचों इन्द्रियों से अशुभ वेदना का वेदन करते हैं। उनकी वेदना उज्ज्वल, बलवती, विपुल, उत्कट, प्रखर, परुष, प्रचण्ड, घोर, बीहनक—डरावनी और दारुण होती है।

विवेचन—वेदना का सामान्य अर्थ है—अनुभव करना। वह प्रायः दो प्रकार की होती है—सातावेदना और असातावेदना। अनुकूल, इष्ट या सुखरूप वेदना सातावेदना कहलाती है और प्रतिकूल, अनिष्ट या दुःखरूप वेदना को असातावेदना कहते हैं। नारक जीवों की वेदना असातावेदना ही होती है। उस असातावेदना का प्रकर्ष प्रकट करने के लिए शास्त्रकार ने अनेक विशेषणों का प्रयोग किया है। इन विशेषणों में आपाततः एकार्थकता का आभास होता है किन्तु 'शब्दभेदादर्थभेदः' अर्थात् शब्द के भेद से अर्थ में भेद हो जाता है, इस नियम के अनुसार प्रत्येक शब्द के अर्थ में विशेषता—भिन्नता है, जो इस प्रकार है—

उज्जल (उज्ज्वल)—उजली अर्थात् सुखरूप विपक्ष के लेश से भी रहित—जिसमें सुख का तनिक भी सम्मिश्रण नहीं।

बल-विउल (बल-विपुल)—प्रतीकार न हो सकने के कारण अतिशय बलवती एवं समग्र शरीर में व्याप्त रहने के कारण विपुल।

उक्कड (उत्कट)—चरम सीमा को प्राप्त।

खर-फरुस (खर-परुष)—शिला आदि के गिरने पर होने वाली वेदना के सदृश होने से खर तथा कूष्माण्डी के पत्ते के समान कर्कश स्पर्श वाले पदार्थों से होने वाली वेदना के समान होने से परुष—कठोर।

पयंड (प्रचण्ड)—शीघ्र ही समग्र शरीर में व्याप्त हो जाने वाली।

घोर (घोर)—शीघ्र ही औदारिक शरीर से युक्त जीवन को विनष्ट कर देने वाली अथवा दूसरे के जीवन की अपेक्षा न रखने वाली (किन्तु नारक वैक्रिय शरीर वाले होते हैं, अतः इस वेदना को निरन्तर सहन करते हुए भी उनके जीवन का अन्त नहीं होता।)

बीहणग (भीषणक)—भयानक—भयजनक।

दारुण (दारुण)—अत्यन्त विकट, घोर।

यहाँ यह ध्यान में रहना चाहिए कि देवों की भांति नारकों का शरीर वैक्रिय शरीर होता है और उसका कारण नरकभव है। आयुष्य पूर्ण हुए विना—अकाल में—इस शरीर का अन्त नहीं होता। परमाधामी उस शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं तथापि वह पारे की तरह फिर जुड़ जाता है।

देवों और नारकों की भाषा और मनःपर्याप्ति एक साथ पूर्ण होती है, अतः दोनों में एकता की विवक्षा कर ली जाती है। वस्तुतः ये दोनों पर्याप्तियाँ भिन्न-भिन्न हैं।

नारकों को दिया जाने वाला लोमहर्षक दुःख—

२५—किं ते?

कंदुमहाकुंभिए पयण-पउलण-तवग-तलण-भट्ठभज्जणाणि य लोहकडाहुकड्ढणाणि य कोट्टबलि-करण-कोट्टणाणि य सामलितिक्खग्ग-लोहकंटग-अभिसरणपसारणाणि फालणविदारणाणि य अवकोडक-बंधणाणि लट्ठिसयतालणाणि य गलगंबलुल्लंवणाणि सूलग्गभेयणाणि य आएसपवंचणाणि खिंसणविमाण-णाणि विघुट्ठपणिज्जणाणि वज्झसयमाइकाणि य।

२५—नारकों को जो वेदनाएँ भोगनी पड़ती हैं, वे क्या—कैसी हैं?

नारक जीवों को कंदु—कढाव जैसे चौड़े मुख के पात्र में और महाकुंभी—सँकड़े मुखवाले घड़ा सरीखे महापात्र में पकाया और उबाला जाता है। तवे पर रोटी की तरह सेका जाता है। चनों की भांति भाड़ में भूंजा जाता है। लोहे की कढ़ाई में ईख के रस के समान औटाया जाता है। जैसे देवी के सामने बकरे की बलि चढ़ाई जाती है, उसी प्रकार उनकी बलि चढ़ाई जाती है—उनकी काया के खंड-खंड कर दिए जाते हैं। लोहे के तीखे शूल के समान तीक्ष्ण कांटों वाले शाल्मलिवृक्ष

(सेंमल) के कांटों पर उन्हें इधर-उधर घसीटा जाता है। काष्ठ के समान उनकी चीर-फाड़ की जाती है। उनके पैर और हाथ जकड़ दिए जाते हैं। सैकड़ों लाठियों से उन पर प्रहार किए जाते हैं। गले में फंदा डाल कर लटका दिया जाता है। उनके शरीर को शूली के अग्रभाग से भेदा जाता है। झूठे आदेश देकर उन्हें ठगा जाता—धोखा दिया जाता है। उनकी भर्त्सना की जाती है, अपमानित किया जाता है। (उनके पूर्वभव में किए गए घोर पापों की) घोषणा करके उन्हें वधभूमि में घसीट कर ले जाया जाता है। वध्य जीवों को दिए जाने वाले सैकड़ों प्रकार के दुःख उन्हें दिए जाते हैं।

विवेचन—मूल पाठ का आशय स्पष्ट है। इसका विवरण करने की आवश्यकता नहीं। नरकभूमि के कारण होने वाली वेदनाओं (क्षेत्र-वेदनाओं) का पहले प्रधानता से वर्णन किया गया था। प्रस्तुत पाठ में परमाधामी देवों द्वारा दी जाने वाली भयानक यातनाओं का दिग्दर्शन कराया गया है।

पाठ से स्पष्ट है कि परमाधामी जीव जब नारकों को व्यथा प्रदान करते हैं तब वे उनके पूर्वकृत पापों की उद्घोषणा भी करते हैं, अर्थात् उन्हें अपने कृत पापों का स्मरण भी कराते हैं। नारकों के पाप जिस कोटि के होते हैं, उन्हें प्रायः उसी कोटि की यातना दी जाती है। जैसे—जो लोग जीवित मुर्गा-मुर्गी को उबलते पानी में डाल कर उबालते हैं, उन्हें कंदु और महाकुंभी में उबाला जाता है। जो पापी जीववध करके मांस को काटते-भूनते हैं, उन्हें उसी प्रकार काटा-भूना जाता है। जो देवी-देवता के आगे बकरा आदि प्राणियों का घात करके उनके खण्ड-खण्ड करते हैं, उनके शरीर के भी नरक में परमाधामियों द्वारा तिल-तिल जितने खण्ड-खण्ड किए जाते हैं। यही बात प्रायः अन्य वेदनाओं के विषय में भी जान लेना चाहिए।

२६—एवं ते पुव्वकम्मकयसंचयोवतत्ता णिरयग्गिमहग्गिसंपलित्ता गाढदुक्खं महब्भयं कक्कसं असायं सारीरं माणसं य तिव्वं दुविहं वेएंति वेयणं पावकम्मकारी बहूणि पलिओवम-सागरोवमाणि कलुणं पालेंति ते अहाउयं जमकाइयतासिया य सद्दं करेंति भीया।

२६—इस प्रकार वे नारक जीव पूर्व जन्म में किए हुए कर्मों के संचय से सन्तप्त रहते हैं। महा-अग्नि के समान नरक की अग्नि से तीव्रता के साथ जलते रहते हैं। वे पापकृत्य करने वाले जीव प्रगाढ दुःख-मय, घोर भय उत्पन्न करने वाली, अतिशय कर्कश एवं उग्र शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार की असातारूप वेदना का अनुभव करते रहते हैं। उनकी यह वेदना बहुत पल्योपम और सागरोपम काल तक रहती है। वे अपनी आयु के अनुसार करुण अवस्था में रहते हैं। वे यमकायिक देवों द्वारा त्रास को प्राप्त होते हैं और (दुस्सह वेदना के वशीभूत हो कर) भयभीत होकर शब्द करते हैं—रोते-चिल्लाते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ में नारकों के सम्बन्ध में 'अहाउयं' पद का प्रयोग किया गया है। यह पद सूचित करता है कि जैसे सामान्य मनुष्य और तिर्यंच उपघात के निमित्त प्राप्त होने पर अकाल-मरण से मर जाते हैं, अर्थात् दीर्घकाल तक भोगने योग्य आयु को अल्पकाल में, यहाँ तक कि अन्तर्मुहूर्त्त में भोग कर समाप्त कर देते हैं, वैसा नारकों में नहीं होता। उनकी आयु निरुपक्रम होती है। जितने काल की आयु बँधी है, नियम से उतने ही काल में वह भोगी जाती है।

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, नारकों का आयुष्य बहुत लम्बा होता है। वर्षों

या युगों में उस की गणना नहीं की जा सकती। अतएव उसे उपमा द्वारा ही वतलाया जाता है। इसे जैन आगमों में उपमा-काल कहा गया है। वह दो प्रकार का है—पल्योपम और सागरोपम।

पल्य का अर्थ गड़हा—गड्ढा है। एक योजन (चार कोस) लम्बा-चौड़ा और एक योजन गहरा एक गड़हा हो। उसमें देवकुरु या उत्तरकुरु क्षेत्र के युगलिक मनुष्य के, अधिक से अधिक सात दिन के जन्मे बालक के बालों के छोटे-छोटे टुकड़ों से—जिनके फिर टुकडे न हो सकें, भरा जाए। बालों के टुकड़े इस प्रकार ठूंस-ठूंस कर भरे जाएँ कि उनमें न वायु का प्रवेश हो, न जल प्रविष्ट हो सके और न अग्नि उन्हें जला सके। इस प्रकार भरे पल्य में से सौ-सौ वर्ष के पश्चात् एक-एक बालाग्र निकाला जाए। जितने काल में वह पल्य पूर्ण रूप से खाली हो जाए, उतना काल एक पल्योपम कहलाता है। दस कोटाकोटी पल्योपम का एक सागरोपम काल होता है। एक करोड़ से एक करोड़ का गुणाकार करने पर जो संख्या निष्पन्न होती है उसे कोटाकाटी कहते हैं।

नारक जीव अनेकानेक पल्योपमों और सागरोपमों तक निरन्तर ये वेदनाएँ भुगतते रहते हैं। कितना भयावह है हिंसाजनित पाप का परिणाम !

नारक जीवों की करुण पुकार—

२७—किं ते ?

अविभाव सामि भाय बप्प ताय जियवं मुय मे मरामि दुब्बलो वाहिपीलिओऽहं किं दाणिऽसि एवं दारुणो णिद्दय ? मा देहि मे पहारे, उस्सासेयं मुहुत्तं मे देहि, पसायं करेह, मा रुस वीसमामि, गेविज्जं मुयह मे मरामि गाढं तण्हाइओ अहं देहि पाणीयं।

२७—(नारक जीव) किस प्रकार रोते-चिल्लाते हैं ?

हे अज्ञातबन्धु ! हे स्वामिन् ! हे भ्राता ! अरे बाप ! हे तात ! हे विजेता ! मुझे छोड़ दो। मैं मर रहा हूँ। मैं दुर्बल हूँ ! मैं व्याधि से पीडित हूँ। आप इस समय क्यों ऐसे दारुण एवं निर्दय हो रहे हैं ? मेरे ऊपर प्रहार मत करो। मुहूर्त्त भर—थोड़े समय तक सांस तो लेने दीजिए ! दया कीजिए। रोष न कीजिए। मैं जरा विश्राम ले लूँ। मेरा गला छोड़ दीजिए। मैं मरा जा रहा हूँ। मैं प्यास से पीडित हूँ। (तनिक) पानी दे दीजिए।

विवेचन—नारकों को परमाधामी असुर जब लगातार पीड़ा पहुँचाते हैं, पल भर भी चैन नहीं लेने देते, तब वे किस प्रकार चिल्लाते हैं, किस प्रकार दीनता दिखलाते हैं और अपनी असहाय अवस्था को व्यक्त करते हैं, यह इस पाठ में वर्णित है। पाठ से स्पष्ट है कि नारकों को क्षण भर भी शान्ति-चैन नहीं मिलती है। जब प्यास से उनका गला सूख जाता है और वे पानी की याचना करते हैं तो उन्हें पानी के बदले क्या मिलता है, इसका वर्णन आगे प्रस्तुत है।

नरकपालों द्वारा दिये जाने वाले घोर दुःख—

२८—हंता पिय[1] इमं जलं विमलं सीयलं त्ति घेत्तूण य णरयपाला तवियं तउयं से दिंति कलसेण अंजलीसु दट्ठूण य तं पवेवियंगोवंगा अंसुपगलंतपप्पुयच्छा छिण्णा तण्हाइयम्ह कलुणाणि

१. 'ताहे तं पियं'—पाठभेद।

जंपमाणा विप्पेक्खंता दिसोदिसिं अत्ताणा असरणा अणाहा अबंधवा बंधुविप्पहूणा विपलायंति य मिया इव वेगेण भयुव्विग्गा।

२८—'अच्छा, हाँ, (तुम्हें प्यास सता रही है ? तो लो) यह निर्मल और शीतल जल पीओ।' इस प्रकार कह कर नरकपाल अर्थात् परमाधामी असुर नारकों को पकड़ कर खौला हुआ सीसा कलश से उनकी अंजुली में उड़ेल देते हैं। उसे देखते ही उनके अंगोपांग काँपने लगते हैं। उनके नेत्रों से आंसू टपकने लगते हैं। फिर वे कहते हैं—'(रहने दीजिए), हमारी प्यास शान्त हो गई!' इस प्रकार करुणापूर्ण वचन बोलते हुए भागने-बचने के लिए दिशाएँ—इधर-उधर देखने लगते हैं। अन्ततः वे त्राणहीन, शरणहीन, अनाथ—हित को प्राप्त कराने वाले और अहित से बचाने वाले से रहित, बन्धु-विहीन—जिनका कोई सहायक नहीं, बन्धुओं से वंचित एवं भय के मारे घबड़ा करके मृग की तरह बड़े वेग से भागते हैं।

विवेचन—जिन लोगों ने समर्थ होकर, प्रभुता प्राप्त करके, सत्तारूढ होकर असहाय, दुर्बल एवं असमर्थ प्राणियों पर अत्याचार किए हैं, उन्हें यदि इस प्रकार की यातनाएँ भोगनी पड़ें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

यहाँ आंसुओं के टपकने का या इसी प्रकार के जो अन्य कथन हैं, वे भाव के द्योतक हैं, जैसे अश्रुपात केवल आन्तरिक पीड़ा को प्रकट करने के लिए कहा गया है। प्रस्तुत कथन मुख्य रूप से औदारिक शरीरधारियों (मनुष्यों) के लिए है, अतएव उन्हें उनकी भाषा में—भावना में समझाना शास्त्रकार ने योग्य समझा होगा।

२९—घेत्तूणबला पलायमाणाणं णिरणुकंपा मुहं विहाडेत्तुं लोहदंडेहिं कलकलं ण्हं वयणंसि छुभंति केइ जमकाइया हसंता। तेण दड्ढा संतो रसंति य भीमाइं विस्सराइं रुवंति य कलुणगाइं पारेवगा व एवं पलविय-विलाव-कलुण-कंदिय-बहुरुण्णरुइयसद्दो परिदेवियरुद्धबद्धय णारयारवसंकुलो णीसिट्ठो। रसिय-भणिय-कुविय-उक्कूइय-णिरयपाल तज्जिय गिण्हक्कम पहर छिंद भिंद उप्पाडेह उक्खणाहि कत्ताहि विकत्ताहि य भुज्जो हण विहण विच्छुब्भोच्छुब्भ-आकड्ढ-विकड्ढ।

किं ण जंपसि ? सराहि पावकम्माइं[1] दुक्कयाइं एवं वयणमहप्पगब्भो पडिसुयासद्दसंकुलो तासओ सया णिरयगोयराणं महाणगरडज्झमाण-सरिसो णिग्घोसो, सुच्चइ अणिट्ठो तहियं णेरइयाणं जाइज्जंताणं जायणाहिं।

२९—कोई-कोई अनुकम्पा-विहीन यमकायिक उपहास करते हुए इधर-उधर भागते हुए उन नारक जीवों को जबर्दस्ती पकड़ कर और लोहे के डंडे से उनका मुख फाड़ कर उसमें उबलता हुआ शीशा डाल देते हैं। उबलते शीशे से दग्ध होकर वे नारक भयानक आर्त्तनाद करते हैं—बुरी तरह चिल्लाते हैं। वे कबूतर की तरह करुणाजनक आक्रंदन करते हैं, खूब रुदन करते हैं—चीत्कार करते हुए अश्रु बहाते हैं। विलाप करते हैं। नरकपाल उन्हें रोक लेते हैं, बांध देते हैं। तब नारक आर्त्तनाद करते हैं, हाहाकार करते हैं, बड़बड़ाते हैं—शब्द करते हैं, तब नरकपाल कुपित होकर और उच्च ध्वनि से उन्हें धमकाते हैं। कहते हैं—इसे पकड़ो, मारो, प्रहार करो, छेद डालो, भेद डालो, इसकी

---

१. 'पावकम्माणं' के आगे "कियाइं" पाठ भी कुछ प्रतियों में है, जिसका अर्थ—'किये हुए' होता है।

चमड़ी उधेड़ दो, नेत्र बाहर निकाल लो, इसे काट डालो, खण्ड-खण्ड कर डालो, हनन करो, फिर से और अधिक हनन करो, इसके मुख में (गर्मागर्म) शीशा उड़ेल दो, इसे उठा कर पटक दो या मुख में और शीशा डाल दो, घसीटो उलटा, घसीटो।

नरकपाल फिर फटकारते हुए कहते हैं—बोलता क्यों नहीं! अपने पापकर्मों को, अपने कुकर्मों को स्मरण कर! इस प्रकार अत्यन्त कर्कश नरकपालों की ध्वनि की वहाँ प्रतिध्वनि होती है। नारक जीवों के लिए वह ऐसी सदैव त्रासजनक होती है कि जैसे किसी महानगर में आग लगने पर घोर शब्द—कोलाहल होता है, उसी प्रकार निरन्तर यातनाएँ भोगने वाले नारकों का अनिष्ट निर्घोष वहाँ सुना जाता है।

विवेचन—मूल पाठ स्वयं विवेचन है। यहाँ भी नारकीय जीवों की घोरातिघोर यातनाओं का शब्द-चित्र अंकित किया गया है। कितना भीषण चित्र है! जब किसी का गला तीव्र प्यास से सूख रहा हो तब उसे उबला हुआ गर्मागर्म शीशा अंजलि में देना और जब वह आर्त्तनाद कर भागे तो जबर्दस्ती लोहमय दंड से उसका मुँह फाड़ कर उसे पिलाना कितना करुण है! इस व्यथा का क्या पार है? मगर पूर्वभव में घोरातिघोर पाप करने वालों—नारकों को ऐसी यातना सुदीर्घ काल तक भोगनी पड़ती हैं। वस्तुतः उनके पूर्वकृत दुष्कर्म ही उनकी इन असाधारण व्यथाओं के प्रधान कारण हैं।

नारकों की विविध पीड़ाएँ—

३०—किं ते?

असिवण-दब्भवण-जंतपत्थर-सूइतल-क्खार-वावि-कलकलंत-वेयरणि-कलंब-वालुया-जलियगुह-णिरुंभण-उसिणोसिण-कंटइल्ल-दुग्गम-रहजोयण-तत्तलोहमग्गगमण-वाहणाणि।

३०—(नारक जीवों की यातनाएँ इतनी ही नहीं हैं।) प्रश्न किया गया है—वे यातनाएँ कैसी हैं?

उत्तर है—नारकों को असि-वन में अर्थात् तलवार की तीक्ष्णधार के समान पत्तों वाले वृक्षों के वन में चलने को बाध्य किया जाता है, तीखी नोक वाले दर्भ (डाभ) के वन में चलाया जाता है, उन्हें यन्त्रप्रस्तर—कोल्हू में डाल कर (तिलों की तरह) पेरा जाता है, सूई की नोक समान अतीव तीक्ष्ण कण्टकों के सदृश स्पर्श वाली भूमि पर चलाया जाता है, क्षारवापी—क्षारयुक्त पानी वाली वापिका में पटक दिया जाता है, उकलते हुए सीसे आदि से भरी वैतरणी नदी में बहाया जाता है, कदम्बपुष्प के समान—अत्यन्त तप्त—लाल हुई रेत पर चलाया जाता है, जलती हुई गुफा में बंद कर दिया जाता है, उष्णोष्ण अर्थात् अत्यन्त ही उष्ण एवं कण्टकाकीर्ण दुर्गम—विषम-ऊबड़खाबड़ मार्ग में रथ में (बैलों की तरह) जोत कर चलाया जाता है, लोहमय उष्ण मार्ग में चलाया जाता है और भारी भार वहन कराया जाता है।

नारकों के शस्त्र—

३१—इमेहिं विविहेहिं आउहेहिं—

किं ते?

मुग्गर-मुसु ंढि-करकय-सत्ति-हल-गय-मूसल-चक्क-कोंत-तोमर-सूल-लउड- भिंडिपालसद्धल-पट्टिस- चम्मेट्ठ-दुहण- मुट्ठिय-असि-खेडग- खग्ग-चाव- णाराय- कणग-कप्पिणि- वासि- परसु- टंक-तिक्ख-णिम्मल-अण्णेहि य एवमाइएहिं असुभेहिं वेउव्विएहिं पहरणसएहिं अणुबद्धतिव्ववेरा परोप्परवेयणं उदीरेंति अभिहणंता ।

तत्थ य मोग्गर-पहारचुण्णिय-मुसु ंढि-संभग्ग-महियदेहा जंतोवपीलणफुरंतकप्पिया केइत्थ सचम्मका विगत्ता णिम्मूलुल्लूणकण्णोट्ठणासिका छिण्णहत्थपाया, असि-करकय-तिक्ख-कोंत-परसुप्प-हारफालिय-वासीसंतच्छितंगमंगा कलकलमाण-खार-परिसित्त-गाढडज्झंतगत्ता कु ंतग्ग-भिण्ण-जज्जरिय-सव्वदेहा विलोलंति महीतले विसूणियंगमंगा ।

३१—(नारकों में परस्पर में तीव्र वैरभाव बँधा रहता है, अर्थात् नरकभव के स्वभाव से ही नारक आपस में एक-दूसरे के प्रति उग्र वैरभाव वाले होते हैं। अतएव) वे अशुभ विक्रियालब्धि से निर्मित सैकड़ों शस्त्रों से परस्पर—एक-दूसरे को वेदना उत्पन्न—उदीरित करते हैं।

शिष्य ने प्रश्न किया—वे विविध प्रकार के आयुध—शस्त्र कौन-से हैं ?

गुरु ने उत्तर दिया—वे शस्त्र ये हैं—मुद्गर, मुसु ंढि, करवत, शक्ति, हल, गदा, मूसल, चक्र, कुन्त (भाला), तोमर (बाण का एक प्रकार), शूल, लकुट (लाठी), भिंडिमाल (पाल), सद्धल (एक विशेष प्रकार का भाला), पट्टिस—पट्टिश—शस्त्रविशेष, चम्मेट्ठ (चमड़े से मढ़ा पाषाणविशेष—गोफण) द्रुघण—वृक्षों को भी गिरा देने वाला शस्त्रविशेष, मौष्टिक—मुष्टिप्रमाण पाषाण, असि—तलवार अथवा असिखेटक—तलवार सहित फलक, खङ्ग, चाप—धनुष, नाराच—बाण, कनक—एक प्रकार का बाण, कप्पिणी—कर्त्तिका—कैंची, वसूला—लकड़ी छीलने का औजार; परशु—फरसा और टंक—छेनी। ये सभी अस्त्र-शस्त्र तीक्ष्ण और निर्मल—शाण पर चढ़े जैसे चमकदार होते हैं। इनसे तथा इसी प्रकार के अन्य शस्त्रों से भी (नारक परस्पर एक-दूसरे को) वेदना की उदीरणा करते हैं।

नरकों में मुद्गर के प्रहारों से नारकों का शरीर चूर-चूर कर दिया जाता है, मुसु ंढी से संभिन्न कर दिया जाता है, मथ दिया जाता है, कोल्हू आदि यंत्रों से पेरने के कारण फड़फड़ाते हुए उनके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाते हैं। कइयों को चमड़ी सहित विकृत कर दिया जाता है, कान ओठ नाक और हाथ-पैर समूल काट लिए जाते हैं, तलवार, करवत, तीखे भाले एवं फरसे से फाड़ दिये जाते हैं, वसूला से छीला जाता है, उनके शरीर पर उबलता खारा जल सींचा जाता है, जिससे शरीर जल जाता है, फिर भालों की नोक से उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाते हैं, इस इस प्रकार उनके समग्र शरीर को जर्जरित कर दिया जाता है। उनका शरीर सूज जाता है और वे पृथ्वी पर लोटने लगते हैं।

विवेचन—नरकभूमियों में मुख्यत: तीन प्रकार से घोर वेदना होती है—१. क्षेत्रजनित वेदना, २. नरकपालों द्वारा पहुँचाई जाने वाली वेदना और ३. परस्पर नारकों द्वारा उत्पन्न की हुई वेदना। क्षेत्रजनित वेदना नरकभूमियों के निमित्त से होती है, जैसे अतिशय उष्णता और अतिशय शीतलता आदि। इस प्रकार की वेदना का उल्लेख पहले किया जा चुका है। (देखिए सूत्र २३)। वास्तव में नरकभूमियों में होने वाला शीत और उष्णता का भयानकतम दु:ख कहा नहीं जा सकता। ऊपर की भूमियों में उष्णता का दु:ख है तो नीचे की भूमियों में शीत का वचनातीत दु:ख है। उष्णता वाली नरकभूमियों को धधकते लाल-लाल अंगारों की उपमा या अतिशय प्रदीप्त—जाज्वल्यमान पृथ्वी

की उपमा दी गई है। यह उपमा मात्र समझाने के लिए है। वहाँ की उष्णता तो इनसे अनेकानेक-गुणित है। वहाँ की गर्मी इतनी तीव्रतम होती है कि मेरु के बराबर का लोहपिण्ड भी उसमें गल सकता है।

जिन नरकभूमियों में शीत है, वहाँ की शीतलता भी असाधारण है। शीतप्रधान नरकभूमि में से यदि किसी नारक को लाकर यहाँ बर्फ पर लिटा दिया जाए, ऊपर से बर्फ ढंक दिया जाए और पार्श्वभागों में भी बर्फ रख दिया जाए तो उसे बहुत राहत का अनुभव होगा। वह ऐसी विश्रान्ति का अनुभव करेगा कि उसे निद्रा आ जाएगी। इससे वहाँ की शीतलता की थोड़ी-बहुत कल्पना की जा सकती है।

इसी प्रकार की क्षेत्रजनित अन्य वेदनाएँ भी वहाँ असामान्य हैं, जिनका उल्लेख पूर्व में किया गया है।

परमाधार्मिक देवों द्वारा दिये जाने वाले घोर कष्टों का कथन भी किया जा चुका है। ज्यों ही कोई पापी जीव नरक में उत्पन्न होता है, ये असुर उसे नाना प्रकार की यातनाएँ देने के लिए सन्नद्ध हो जाते हैं और जब तक नारक जीव अपनी लम्बी आयु पूरी नहीं कर लेता तब तक वे निरन्तर उसे सताते ही रहते हैं। किन्तु परमाधामियों द्वारा दी जाने वाली वेदना तीसरे नरक तक ही होती है, क्योंकि ये तीसरे नरक से आगे नहीं जाते। चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें नरक में दो निमित्तों से ही वेदना होती है—भूमिजनित और परस्परजनित। प्रस्तुत सूत्र में परस्परजनित वेदना का उल्लेख किया गया है।

नारकों को भव के निमित्त से वैक्रियलब्धि प्राप्त होती है। किन्तु वह लब्धि स्वयं उनके लिए और साथ ही अन्य नारकों के लिए यातना का कारण बनती है। वैक्रियलब्धि से दुःखों से बचने के लिए वे जो शरीर निर्मित करते हैं, उससे उन्हें अधिक दुःख की ही प्राप्ति होती है। भला सोचते हैं, पर बुरा होता है। इसके अतिरिक्त जैसे यहाँ श्वान एक-दूसरे को सहन नहीं करता एक दूसरे को देखते ही घुर्राता है, झपटता है, आक्रमण करता है, काटता-नोंचता है; उसी प्रकार नारक एक दूसरे को देखते ही उस पर आक्रमण करते हैं, विविध प्रकार के शस्त्रों से—जो वैक्रियशक्ति से बने होते हैं—हमला करते हैं। शरीर का छेदन-भेदन करते हैं। अंगोपांगों को काट डालते हैं। इतना त्रास देते हैं जो हमारी कल्पना से भी बाहर है। यह वेदना सभी नरकभूमियों में भोगनी पड़ती है।

नरकों का वर्णन जानने के लिए जिज्ञासु जनों को सूत्रकृतांगसूत्र[1] के प्रथमश्रुत का 'नरक-विभक्ति' नामक पंचम अध्ययन भी देखना चाहिए।

३२—तत्थ य विग-सुणग-सियाल-काक-मज्जार-सरभ-दीविय-वियग्घग-सद्दूल-सीह-दप्पिय-खुहाभिभूएहिं णिच्चकालमणसिएहिं घोरा रसमाण-भीमरूवेहिं अक्कमित्ता दढदाढागाढ-डक्क-कड्ढिय-सुतिक्ख-णह-फालिय-उद्धदेहा विच्छिप्पंते समंतओ विमुक्कसंधिबंधणा वियंगियंगमंगा कंक-कुरर-गिद्ध-घोर-कट्ठवायसगणेहि य पुणो खरथिरदढणक्ख-लोहतुंडेहिं उवइत्ता पक्खाहय-तिक्ख-णक्ख-विक्किण्ण-जिब्भंछिय-णयणणिद्दओलुग्गविगय-वयणा उक्कोसंता य उप्पयंता णिपयंता भमंता।

३२—नरक में दर्पयुक्त—मदोन्मत्त, मानो सदा काल से भूख से पीडित, जिन्हें कभी भोजन न मिला हो, भयावह, घोर गर्जना करते हुए, भयंकर रूप वाले भेड़िया, शिकारी कुत्ते, गीदड़, कौवे,

१—आगम प्रकाशन समिति ब्यावर द्वारा प्रकाशित सूत्रकृतांग प्रथम भाग, पृ. २८६ से ३१४

विलाव, अष्टापद, चीते, व्याघ्र, केसरी सिंह और सिंह नारकों पर आक्रमण कर देते हैं, अपनी मजबूत दाढ़ों से नारकों के शरीर को काटते हैं, खींचते हैं, अत्यन्त पैने नोकदार नाखूनों से फाड़ते हैं और फिर इधर-उधर चारों ओर फेंक देते हैं। उनके शरीर के बन्धन ढीले पड़ जाते हैं। उनके अंगोपांग विकृत और पृथक् हो जाते हैं। तत्पश्चात् दृढ एवं तीक्ष्ण दाढों, नखों और लोहे के समान नुकीली चोंच वाले कंक, कुरर और गिद्ध आदि पक्षी तथा घोर कष्ट देने वाले काक पक्षियों के झुंड कठोर, दृढ तथा स्थिर लोहमय चोंचों से (उन नारकों के ऊपर) झपट पड़ते हैं। उन्हें अपने पंखों से आघात पहुँचाते हैं। तीखे नाखूनों से उनकी जीभ बाहर खींच लेते हैं और आँखें बाहर निकाल लेते हैं। निर्दयतापूर्वक उनके मुख को विकृत कर देते हैं। इस प्रकार की यातना से पीडित वे नारक जीव रुदन करते हैं, कभी ऊपर उछलते हैं और फिर नीचे आ गिरते हैं, चक्कर काटते हैं।

विवेचन—वस्तुतः नरक में भेड़िया, विलाव, सिंह, व्याघ्र आदि तिर्यंच चतुष्पद नहीं होते, किन्तु नरकपाल ही नारकों को त्रास देने के लिए अपनी विक्रियाशक्ति से भेड़िया आदि का रूप बना लेते हैं। नारकों की इस करुणाजनक पीड़ा पर अधिक विवेचन की आवश्यकता नहीं है। इन भयानक से भयानक यातनाओं का शास्त्रकार ने स्वयं वर्णन किया है। इसका एक मात्र प्रयोजन यही है कि मनुष्य हिंसा रूप दुष्कर्म से बचे और उसके फलस्वरूप होने वाली यातनाओं का भाजन न बने। ज्ञानी महापुरुषों की यह अपार करुणा ही समझना चाहिए कि उन्होंने जगत् के जीवों को सावधान किया है! शास्त्रकारों का हिंसकों के प्रति जैसा करुणाभाव है, उसी प्रकार हिंस्य जीवों के प्रति भी है। फिर भी जिनका विवेक सर्वथा लुप्त है, जो मिथ्याज्ञान अथवा अज्ञान के घोरतर अन्धकार में विचरण कर रहे हैं, वे अपनी रसलोलुपता की क्षणिक पूर्ति के लिए अथवा देवी-देवताओं को प्रसन्न करने की कल्पना से प्रेरित होकर या पशुबलि से स्वर्ग—सुगति की प्राप्ति का मिथ्या मनोरथ पूर्ण करने के लिए हिंसा में प्रवृत्त होते हैं।

नारकों की मरने के बाद की गति—

३३—पुव्वकम्मोदयोवगया, पच्छाणुसएण डज्झमाणा णिंदंता पुरेकडाइं कम्माइं पावगाइं तहिं तहिं तारिसाणि ओसण्णचिक्कणाइं दुक्खाइं अणुभवित्ता तओ य आउक्खएणं उव्वट्टिया समाणा बहवे गच्छंति तिरियवसहिं दुक्खुत्तरं सुदारुणं जम्मणमरण-जरावाहिपरियट्टणारहट्टं जल-थल-खहयर-परोप्पर-विहिंसण-पवंचं इमं च जगपागडं वरागा दुक्खं पावेंति दीहकालं।

३३—पूर्वोपार्जित पाप कर्मों के अधीन हुए, पश्चात्ताप (की आग) से जलते हुए, अमुक-अमुक स्थानों में, उस-उस प्रकार के पूर्वकृत कर्मों की निन्दा करके, अत्यन्त चिकने—बहुत कठिनाई से छूट सकने वाले—निकाचित दुःखों को भुगत कर, तत्पश्चात् आयु (नारकीय आयु) का क्षय होने पर नरकभूमियों में से निकल कर बहुत-से जीव तिर्यंचयोनि में उत्पन्न होते हैं। (किन्तु उनकी वह तिर्यंच योनि भी) अतिशय दुःखों से परिपूर्ण होती है अथवा अत्यन्त कठिनाई से पूरी की जाने वाली होती है, दारुण कष्टों वाली होती है, जन्म-मरण-जरा-व्याधि का अरहट उसमें घूमता रहता है। उसमें जलचर, स्थलचर और नभश्चर के पारस्परिक घात-प्रत्याघात का प्रपंच या दुष्चक्र चलता रहता है। तिर्यंचगति के दुःख जगत् में प्रकट—प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। नरक से किसी भी भाँति निकले और तिर्यंचयोनि में जन्मे वे पापी जीव बेचारे दीर्घ काल तक दुःखों को प्राप्त करते हैं।

विवेचन—जैनसिद्धान्त के अनुसार नारक जीव नरकायु के पूर्ण होने पर ही नरक से

निकलते हैं। उनका मरण 'उद्वर्त्तन' कहलाता है। पूर्व में बतलाया जा चुका है कि नारकों का आयुष्य निरुपक्रम होता है। विष, शस्त्र आदि के प्रयोग से भी वह बीच में समाप्त नहीं होता, अर्थात् उनकी अकालमृत्यु नहीं होती। अतएव मूल पाठ में 'आउक्खएण' पद का प्रयोग किया गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि जब नरक का आयुष्य पूर्ण रूप से भोग कर क्षीण कर दिया जाता है, तभी नारक नरकयोनि से छुटकारा पाता है।

मानव किसी कषाय आदि के आवेश से जब आविष्ट होता है तब उसमें एक प्रकार का उन्माद जागृत होता है। उन्माद के कारण उसका हिताहितसम्बन्धी विवेक लुप्त हो जाता है। वह कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के भान को भूल जाता है। उसे यह विचार नहीं आता कि मेरी इस प्रवृत्ति का भविष्य में क्या परिणाम होगा? वह आविष्ट अवस्था में अकरणीय कार्य कर बैठता है और जब तक उसका आवेश कायम रहता है तब तक वह अपने उस दुष्कर्म के लिए गौरव अनुभव करता है, अपनी सराहना भी करता है। किन्तु उसके दुष्कर्म के कारण और उसके प्रेरक आन्तरिक दुर्भाव के कारण प्रगाढ़—चिकने—निकाचित कर्मों का बन्ध होता है। बन्धे हुए कर्म जब अपना फल प्रदान करने के उन्मुख होते हैं—अबाधा काल पूर्ण होने पर फल देना प्रारम्भ करते हैं तो भयंकर से भयंकर यातनाएँ उसे भोगनी पड़ती हैं। उन यातनाओं का शब्दों द्वारा वर्णन होना असंभव है, तथापि जितना संभव है उतना वर्णन शास्त्रकार ने किया है। वास्तव में तो उस वर्णन को 'नारकीय यातनाओं का दिग्दर्शन' मात्र ही समझना चाहिए।

स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक नारक जीव को भव-प्रत्यय अर्थात् नारक भव के निमित्त से उत्पन्न होने वाला अवधिज्ञान होता है। उस अवधिज्ञान से नारक अपने पूर्वभव में किए घोर पापों के लिए पश्चात्ताप करते हैं। किन्तु उस पश्चात्ताप से भी उनका छुटकारा नहीं होता। हाँ, नारकों में यदि कोई सम्यग्दृष्टि जीव हो तो वह वस्तुस्वरूप का विचार करके—कर्मफल की अनिवार्यता समझ कर नारकीय यातनाएँ समभाव से सहन करता है और अपने समभाव के कारण दुःखानुभूति को किंचित् हल्का बना सकता है। मगर मिथ्यादृष्टि तो दुःखों की आग के साथ-साथ पश्चात्ताप की आग में भी जलते रहते हैं। अतएव मूलपाठ में 'पच्छाणुसएण डज्झमाणा' पदों का प्रयोग किया गया है।

नारक जीव पुनः तदनन्तर भव में नरक में उत्पन्न नहीं होता। (देवगति में भी उत्पन्न नहीं होता,) वह तिर्यंच अथवा मनुष्य गति में ही जन्म लेता है। अतएव कहा गया है—**'बहवे गच्छंति तिरियवसहिं'** अर्थात् बहुत-से जीव नरक से निकल कर तिर्यंचवसति में जन्म लेते हैं।

तिर्यंचयोनि, नरकयोनि के समान एकान्त दुःखमय नहीं है। उसमें दुःखों की बहुलता के साथ किंचित् सुख भी होता है। कोई-कोई तिर्यंच तो पर्याप्त सुख की मात्रा का अनुभव करते हैं, जैसे राजा-महाराजाओं के हस्ती, अश्व अथवा समृद्ध जनों द्वारा पाले हुए कुत्ता आदि।

नरक से निकले हुए और तिर्यंचगति में जन्मे हुए घोर पापियों को सुख-सुविधापूर्ण तिर्यंच-गति की प्राप्ति नहीं होती। पूर्वकृत कर्म वहाँ भी उन्हें चैन नहीं लेने देते। तिर्यंच होकर भी वे अतिशय दुःखों के भाजन बनते हैं। उन्हें जन्म, जरा, मरण, आधि-व्याधि के चक्कर में पड़ना पड़ता है।

तिर्यंच प्राणी भी परस्पर में आघात—प्रत्याघात किया करते हैं। चूहे को देखते ही बिल्ली उस पर झपटती है, बिल्ली को देख कर कुत्ता हमला करता है, कुत्ते पर उससे अधिक बलवान् सिंह आदि

आक्रमण करते हैं। मयूर सर्प को मार डालता है। इस प्रकार अनेक तिर्यंचों में जन्मजात वैरभाव होता है। नारक जीव नरक से निकल कर दुःखमय तिर्यंचयोनि में जन्म लेते हैं। वहाँ उन्हें विविध प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं।

तिर्यंचयोनि के दुःख—

३४—किं ते ?

सीउण्ह-तण्हा- खुह-वेयण-अप्पईकार- अडवि- जम्मणणिच्च- भउव्विग्गवास- जग्गण-वह-बंधण-ताडण-अंकण - णिवायण- अट्ठिभंजण-णासाभेय- प्पहारदूमण- छविच्छेयण-अभिओग- पावण-कसंकुसार-णिवाय-दमणाणि-वाहणाणि य।

३४—प्रश्न—वे तिर्यंचयोनि के दुःख कौन-से हैं ?

उत्तर—शीत—सर्दी, उष्ण—गर्मी, तृषा—प्यास, क्षुधा—भूख, वेदना का अप्रतीकार, अटवी—जंगल में जन्म लेना, निरन्तर भय से घबड़ाते रहना, जागरण, वध—मारपीट सहना, बन्धन—बांधा जाना, ताड़न, दागना—लोहे की शलाका, चीमटा आदि को गर्म करके निशान बनाना—डामना, गड़हे आदि में गिराना, हड्डियाँ तोड़ देना, नाक छेदना, चाबुक, लकड़ी आदि के प्रहार सहन करना, संताप सहना, छविच्छेदन—अंगोपांगों को काट देना, जबर्दस्ती भारवहन आदि कामों में लगना, कोड़ा—चाबुक, अंकुश एवं आर—डंडे के अग्र भाग में लगी हुई नोकदार कील आदि से दमन किया जाना, भार वहन करना आदि-आदि।

विवेचन—शास्त्रकार पूर्व ही उल्लेख कर चुके हैं कि तिर्यंचगति के कष्ट जगत् में प्रकट हैं, प्रत्यक्ष देखे-जाने जा सकते हैं। प्रस्तुत सूत्र में उल्लिखित दुःख प्रायः इसी कोटि के हैं। ये दुःख पंचेन्द्रिय तिर्यंचों सम्बन्धी हैं। तिर्यंचों में कोई पंचेन्द्रिय होते हैं, कोई चार, तीन, दो या एक इन्द्रिय वाले होते है। चतुरिन्द्रिय आदि के दुःखों का वर्णन आगे किया जाएगा।

मनुष्य सर्दी-गर्मी से अपना बचाव करने के लिए अनेकानेक उपायों का आश्रय लेते हैं। सर्दी से बचने के लिए अग्नि का, बिजली के चूल्हे आदि का, गर्म—ऊनी या मोटे वस्त्रों का, रुईदार रजाई आदि का, मकान आदि का उपयोग करते हैं। गर्मी से बचाव के लिए भी उनके पास अनेक साधन हैं और वातानुकूलित भवन आदि भी बनने लगे हैं। किन्तु पशु-पक्षियों के पास इनमें से कौन-से साधन हैं ? बेचारे विवश होकर सर्दी-गर्मी सहन करते हैं।

भूख-प्यास की पीड़ा होने पर वे उसे असहाय होकर सहते हैं। अन्न-पानी मांग नहीं सकते। जब बैल बेकाम हो जाता है, गाय-भैंस दूध नहीं देती, तब अनेक मनुष्य उन्हें घर से छुट्टी दे देते हैं। वे गलियों में भूखे-प्यासे आवारा फिरते हैं। कभी-कभी पापी हिंसक उन्हें पकड़ कर कत्ल करके उनके मांस एवं अस्थियों को बेच देते हैं।

कतिपय पालतू पशुओं को छोड़ कर तिर्यंचों की वेदना का प्रतीकार करने वाला कौन है ! कौन जंगल में जाकर पशु-पक्षियों के रोगों की चिकित्सा करता है !

तिर्यंचों में जो जन्म-जात वैर वाले हैं, उन्हें परस्पर एक-दूसरे से निरन्तर भय रहता है, शशक, हिरण आदि शिकारियों के भय से ग्रस्त रहते हैं और पक्षी व्याधों—बहेलियों के डर से घबराते हैं। इसी प्रकार अत्राण—अशरण एवं साधनहीन होने के कारण सभी पशु-पक्षी निरन्तर भय-ग्रस्त बने रहते हैं।

इसी प्रकार अन्य पीड़ाएँ भी उन्हें चुपचाप सहनी पड़ती हैं। मारना, पीटना, दागना, भार वहन करना, वध—वन्धन किया जाना आदि-आदि अपार यातनाएँ हैं जो नरक से निकले और तिर्यंच पंचेन्द्रिय पर्याय में जन्मे पापी प्राणियों को निरन्तर भोगनी पड़ती हैं।

कुछ मांसभक्षी और नरकगति के अतिथि वनने की सामग्री जुटाने वाले मिथ्यादृष्टि पापी जीव पशु-पक्षियों का अत्यन्त निर्दयतापूर्वक वध करते हैं। वेचारे पशु तड़पते हुए प्राणों का परित्याग करते हैं। कुछ अधम मनुष्य तो मांस-विक्रय का धंधा ही चलाते हैं। इस प्रकार तिर्यंचों की वेदना भी अत्यन्त दुस्सह होती है।

३४—मायापिइ-विप्पओग-सोय-परिपीलणाणि य सत्थग्गि-विसाभिघाय-गल-गवलावलण-मारणाणि य गलजालुच्छिप्पणाणि य पउलण-विकप्पणाणि य जावज्जीविगबंधणाणि य, पंजरणिरोहणाणि य सयूहणिग्घाडणाणि य धमणाणि य दोहिणाणि य कुदंडगलबंधणाणि य वाडगपरिवारणाणि य पंकजलणिमज्जणाणि य वारिप्पवेसणाणि य ओवायणिभंग-विसमणिवडणदवग्गिजालदहणाई य।

३५—(पूर्वोक्त दु:खों के अतिरिक्त तिर्यंचगति में) इन दु:खों को भी सहन करना पड़ता है—

माता-पिता का वियोग, शोक से अत्यन्त पीडित होना या श्रोत—नासिका आदि श्रोतों—नथुनों आदि के छेदन से पीड़ित होना, शस्त्रों से, अग्नि से और विष से आघात पहुँचना, गर्दन—गले एवं सींगों का मोड़ा जाना, मारा जाना, मछली आदि को गल-काँटे में या जाल में फँसा कर जल से बाहर निकालना, पकाना, काटा जाना, जीवन पर्यन्त वन्धन में रहना, पींजरे में वन्द रहना, अपने समूह—टोले से पृथक् किया जाना, भैंस आदि को फूंका लगाना अर्थात् ऊपर में वायु भर देना और फिर उसे दुहना—जिससे दूध अधिक निकले, गले में डंडा बाँध देना, जिससे वह भाग न सके, वाड़े में घेर कर रखना, कीचड़-भरे पानी में डुबोना, जल में घुसेड़ना, गडहे में गिरने से अंग-भंग हो जाना, पहाड़ के विषम—ऊँचे-नीचे-ऊबड़खाबड़ मार्ग में गिर पड़ना, दावानल की ज्वालाओं में जलना या जल मरना; आदि-आदि कष्टों से परिपूर्ण तिर्यंचगति में हिंसाकारी पापी नरक से निकल कर उत्पन्न होते हैं।

३६—एयं ते दुक्ख-सय-संपलित्ता णरगाओ आगया इहं सावसेसकम्मा तिरिक्ख-पंचिंदिएसु पाविंति पावकारी कम्माणि पमाय-राग-दोस-बहुसंचियाइं अईव अस्साय-कक्कसाइं।

३६—इस प्रकार वे हिंसा का पाप करने वाले पापी जीव सैकड़ों पीड़ाओं से पीड़ित होकर, नरकगति से आए हुए, प्रमाद, राग और द्वेष के कारण बहुत संचित किए और भोगने से शेष रहे कर्मों के उदयवाले अत्यन्त कर्कश असाता को उत्पन्न करने वाले कर्मों से उत्पन्न दु:खों के भाजन बनते हैं।

विवेचन—पंचेन्द्रिय तिर्यंचों को होने वाली यातनाओं का उल्लेख करने के पश्चात् प्रस्तुत सूत्र में नारकीय जीवों की तिर्यंचगति में उत्पत्ति के कारण का निर्देश किया गया है।

नारकों की आयु यद्यपि मनुष्यों और तिर्यंचों से बहुत अधिक लम्बी होती है, तथापि वह अधिक से अधिक तेतीस सागरोपम प्रमाण है। आयुकर्म के सिवाय शेष सातों कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति कोटाकोटी सागरोपमों की बतलाई गई है, अर्थात् आयुकर्म की स्थिति से करोड़ों-करोड़ों गुणा अधिक है। तेतीस सागरोपम की आयु भी सभी नारकों की नहीं होती। सातवीं नरकभूमि में उत्पन्न हुए

नारकों की ही होती है और उनमें भी सब की नहीं—किन्हीं-किन्हीं की। ऐसी स्थिति में जिन घोर पाप करने वालों का नरक में उत्पाद होता है, वे वहाँ की तीव्र-तीव्रतर-तीव्रतम यातनाएँ निरन्तर भोग कर बहुतेरे पाप-कर्मों की निर्जरा तो कर लेते हैं, फिर भी समस्त पापकर्मों की निर्जरा हो ही जाए, यह संभव नहीं है। पापकर्मों का दुष्फल भोगते-भोगते भी कुछ कर्मो का फल भोगना शेष रह जाता है। यही तथ्य प्रकट करने के लिए शास्त्रकार ने 'सावसेसकम्मा' पद का प्रयोग किया है। जिन कर्मों का भोग शेष रह जाता है, उन्हें भोगने के लिए जीव नरक से निकल कर तिर्यंचगति में जन्म लेता है।

इतनी घोरातिघोर यातनाएँ सहन करने के पश्चात् भी कर्म अवशिष्ट क्यों रह जाते हैं ? इस प्रश्न का एक प्रकार से समाधान ऊपर किया गया है। दूसरा समाधान मूलपाठ में ही विद्यमान है। वह है—'पमाय-राग-दोस बहुसंचियाइं' अर्थात् घोर प्रमाद, राग और द्वेष के कारण पापकर्मों का बहुत संचय किया गया था। इस प्रकार संचित कर्म जब अधिक होते हैं और उनकी स्थिति भी आयुकर्म की स्थिति से अत्यधिक होती है तब उसे भोगने के लिए पापी जीवों को तिर्यंचयोनि में उत्पन्न होना पड़ता है। जो नारक जीव नरक से निकल कर तिर्यंचों में उत्पन्न होते हैं, वे पंचेन्द्रियों में उत्पन्न होते हैं। अतएव यहाँ पंचेन्द्रिय जीवों—तिर्यंचों के दुःख का वर्णन किया गया है। किन्तु पंचेन्द्रिय तिर्यंच मरकर फिर चतुरिन्द्रिय आदि तिर्यंचों में भी उत्पन्न हो सकता है और बहुत-से हिंसक जीव उत्पन्न होते भी हैं, अतएव आगे चतुरिन्द्रिय आदि तिर्यंचों के दुःखों का भी वर्णन किया जाएगा।

चतुरिन्द्रिय जीवों के दुःख—

३७—भमर-मसग-मच्छिमाइएसु य जाइकुलकोडि-सयसहस्सेहिं णवहिं चउरिंदियाणं तहिं तहिं चेव जम्मणमरणाणि अणुहवंता कालं संखिज्जं भमंति णेरइयसमाणतिव्वदुक्खा फरिसरसण-घाण-चक्खु-सहिया।

३७—चार इन्द्रियों वाले भ्रमर, मशक—मच्छर, मक्खी आदि पर्यायों में, उनकी नौ लाख जाति-कुलकोटियों में वारंवार जन्म-मरण (के दुःखों) का अनुभव करते हुए, नारकों के समान तीव्र दुःख भोगते हुए स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु से युक्त होकर वे पापी जीव संख्यात काल तक भ्रमण करते रहते हैं।

विवेचन—इन्द्रियों के आधार पर तिर्यंच जीव पाँच भागों में विभक्त हैं—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। प्रस्तुत सूत्र में चतुरिन्द्रिय जीवों के दुःखों के विषय में कथन किया गया है।

चतुरिन्द्रिय जीवों को चार पूर्वोक्त इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं। इन चारों इन्द्रियों के माध्यम से उन्हें विविध प्रकार की पीडाएँ भोगनी पड़ती हैं। भ्रमर, मच्छर, मक्खी आदि जीव चार इन्द्रियों वाले हैं।

उच्च अथवा नीच गोत्र कर्म के उदय से प्राप्त वंश कुल कहलाते हैं। उन कुलों की विभिन्न कोटियाँ (श्रेणियाँ) कुलकोटि कही जाती हैं। एक जाति में विभिन्न अनेक कुल होते हैं। समस्त संसारी जीवों के मिल कर एक करोड़ साढे सत्तानवे लाख कुल शास्त्रों में कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं—

मनुष्य	१२ लाख कुलकोटियाँ
देव	२६ " "
नारक	२५ " "
जलचर पंचेन्द्रिय तिर्यंच	१२½ " "
स्थलचर चतुष्पद पंचेन्द्रिय	१० " "
स्थलचर उरपरिसर्प पंचेन्द्रिया	१० " "
स्थलचर भुजपरिसर्प पंचेन्द्रिय	९ " "
खेचर पंचेन्द्रिय तिर्यंच	१२ " "
चतुरिन्द्रिय तिर्यंच	९ " "
त्रीन्द्रिय तिर्यंच	८ " "
द्वीन्द्रिय तिर्यंच	७ " "
पृथ्वीकायिक स्थावर	१२ " "
अप्कायिक स्थावर	७ " "
तेजःकायिक स्थावर	३ " "
वायुकायिक स्थावर	७ " "
वनस्पतिकायिक स्थावर	२८ " "
	योग—१,९७५,००००

इनमें से चतुरिन्द्रिय जीवों की यहाँ नव लाख कुलकोटियाँ प्रतिपादित की गई हैं। जैसे नारक जीव नारक पर्याय का अन्त हो जाने पर पुनः तदनन्तर भव में नरक में जन्म नहीं लेते, वैसा नियम चतुरिन्द्रियों के लिए नहीं है। ये जीव मर कर वार-वार चतुरिन्द्रियों में जन्म लेते रहते हैं। संख्यात काल तक अर्थात् संख्यात हजार वर्षों जितने सुदीर्घ काल तक वे चतुरिन्द्रिय पर्याय में ही जन्म-मरण करते रहते हैं। उन्हें वहाँ नारकों जैसे तीव्र दुःखों को भुगतना पड़ता है।

त्रीन्द्रिय जीवों के दुःख—

३८—तहेव तेइंदिएसु कुंथु-पिप्पीलिया-अवधिकादिएसु य जाइकुलकोडिसयसहस्सेहिं अट्ठहिं अणूणएहिं तेइंदियाणं तहिं तहिं चेव जम्मणमरणाणि अणुहवंता कालं संखेज्जगं भमंति णेरइयसमाण-तिव्वदुक्खा फरिस-रसण-घाण-संपउत्ता।

३८—इसी प्रकार कुंथु, पिपीलिका—चींटी, अंधिका—दीमक आदि त्रीन्द्रिय जीवों की पूरी आठ लाख कुलकोटियों में से विभिन्न योनियों एवं कुलकोटियों में जन्म-मरण का अनुभव करते हुए (वे पापी हिंसक प्राणी) संख्यात काल अर्थात् संख्यात हजार वर्षों तक नारकों के सदृश तीव्र दुःख भोगते हैं। ये त्रीन्द्रिय जीव स्पर्शन, रसना और घ्राण—इन तीन इन्द्रियों से युक्त होते हैं।

विवेचन—पूर्व सूत्र में जो स्पष्टीकरण किया गया है, उसी प्रकार का यहाँ भी समझ लेना चाहिए। त्रीन्द्रिय-पर्याय में उत्पन्न हुआ जीव भी उत्कर्षतः संख्यात हजार वर्षों तक[1] वार-वार जन्म मरण करता हुआ त्रीन्द्रिय पर्याय में ही बना रहता है।

---

१. अभयदेवटीका

द्वीन्द्रिय जीवों के दुःख—

३९—गंडूलय-जलूय-किमिय-चंदणगमाइएसु य जाइकुलकोडिसयसहस्सेहिं सत्तहिं अणूणएहिं वेइंदियाणं तहिं तहिं चेव जम्मणमरणाणि अणुहवंता कालं संखेज्जगं भमंति णेरइयसमाण-तिव्वदुक्खा फरिस-रसण-संपउत्ता।

३९—गंडूलक—गिंडोला, जलौक—जोंक, कृमि, चन्दनक आदि द्वीन्द्रिय जीव पूरी सात लाख कुलकोटियों में से वहीं-वहीं अर्थात् विभिन्न कुलकोटियों में जन्म-मरण की वेदना का अनुभव करते हुए संख्यात हजार वर्षों तक भ्रमण करते रहते हैं। वहाँ भी उन्हें नारकों के समान तीव्र दुःख भुगतने पड़ते हैं। ये द्वीन्द्रिय जीव स्पर्शन और रसना—जिह्वा, इन दो इन्द्रियों वाले होते हैं।

विवेचन—सूत्र का अर्थ स्पष्ट है। विशेषता इतनी ही है कि इनकी कुलकोटियाँ सात लाख हैं और ये जीव दो इन्द्रियों के माध्यम से तीव्र असाता वेदना का अनुभव करते हैं।

एकेन्द्रिय जीवों के दुःख—

४०—पत्ता एगिंदियत्तणं वि य पुढवि-जल-जलण-मारुय-वणप्फइ-सुहुम-बायरं च पज्जत्तम-पज्जत्तं पत्तेयसरीरणाम-साहारणं च पत्तेयसरीरजीविएसु य तत्थवि कालमसंखेज्जगं भमंति अणंतकालं च अणंतकाए फासिंदियभावसंपउत्ता दुक्खसमुदयं इमं अणिट्ठं पावंति पुणो पुणो तहिं तहिं चेव परभव-तरुगणगहणे।

४०—एकेन्द्रिय अवस्था को प्राप्त हुए पृथ्वीकाय, जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय के दो-दो भेद हैं—सूक्ष्म और बादर, अर्थात् सूक्ष्मपृथ्वीकाय और बादरपृथ्वीकाय, सूक्ष्मजलकाय और बादरजलकाय आदि। इनके अन्य प्रकार से भी दो-दो प्रकार होते हैं, यथा—पर्याप्तक और अपर्याप्तक। वनस्पतिकाय में इन भेदों के अतिरिक्त दो भेद और भी हैं—प्रत्येकशरीरी और साधारणशरीरी। इन भेदों में से प्रत्येकशरीर पर्याय में उत्पन्न होने वाले पापी—हिंसक जीव असंख्यात काल तक उन्हीं-उन्हीं पर्यायों में परिभ्रमण करते रहते हैं और अनन्तकाय अर्थात् साधारणशरीरी जीवों में अनन्त काल तक पुनः पुनः जन्म-मरण करते हुए भ्रमण किया करते हैं। ये सभी जीव एक स्पर्शनेन्द्रिय वाले होते हैं। इनके दुःख अतीव अनिष्ट होते हैं। वनस्पतिकाय रूप एकेन्द्रिय पर्याय में कायस्थिति सबसे अधिक—अनन्तकाल की है।[1]

विवेचन—प्रकृत सूत्र में एकेन्द्रिय जीवों के दुःखों का वर्णन करने के साथ उनके भेदों और प्रभेदों का उल्लेख किया गया है। एकेन्द्रिय जीव मूलतः पाँच प्रकार के हैं—पृथ्वीकाय आदि। इनमें से प्रत्येक सूक्ष्म और बादर के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं। वनस्पतिकाय के इन दो भेदों के अतिरिक्त साधारणशरीरी और प्रत्येकशरीरी, ये दो भेद अधिक होतें हैं। इन का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

---

१. असंखोसप्पिणिउस्सप्पिणी एगिंदियाणं चउण्हं।
ता चेव ऊ अणंता, वणस्सईए य बोद्धव्वा॥
—अभयदेव टीका पृ. २४—आगमोदयसमिति

सूक्ष्म – सूक्ष्मनामकर्म के उदय से जिन स्थावर जीवों का शरीर अतीव सूक्ष्म हो, चर्मचक्षु से दिखाई न दे, सिर्फ अतिशयज्ञानी ही जिसे देख सकें, ऐसे लोकव्यापी जीव ।

बादर—बादरनामकर्म के उदय से जिनका शरीर अपेक्षाकृत बादर हो। यद्यपि सूक्ष्म और बादर शब्द आपेक्षिक हैं, एक की अपेक्षा जो सूक्ष्म है वह दूसरे की अपेक्षा बादर (स्थूल) हो सकता है और जो किसी की अपेक्षा बादर है वह अन्य की अपेक्षा सूक्ष्म भी हो सकता है। किन्तु सूक्ष्म और बादर यहाँ आपेक्षिक नहीं समझना चाहिए। नामकर्म के उदय पर ही यहाँ सूक्ष्मता और बादरता निर्भर है। अर्थात् सूक्ष्मनामकर्म के उदय वाले जीव सूक्ष्म और बादर नामकर्म के उदय वाले जीव बादर कहे गए हैं। कोई-कोई त्रसजीव भी अत्यन्त सूक्ष्म शरीर वाले होते हैं। उनका शरीर भी चक्षुगोचर नहीं होता। सम्मूर्छिम मनुष्यों का शरीर भी इतना सूक्ष्म होता है कि दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। फिर भी वे यहाँ गृहीत नहीं हैं, क्योंकि उनके सूक्ष्मनामकर्म का उदय नहीं होता।

पर्याप्तक-अपर्याप्तक—इन दोनों शब्दों की व्याख्या पूर्व में की जा चुकी है।

प्रत्येकशरीर—यह वनस्पतिकाय का भेद है। जिस जीव के एक शरीर का स्वामी एक ही हो, वह प्रत्येकशरीर या प्रत्येकशरीरी जीव कहलाता है।

साधारणशरीर—ऐसे जीव जो एक ही शरीर में, उसके स्वामी के रूप में अनन्त हों। ऐसे जीव निगोदकाय के जीव भी कहे जाते हैं। सूक्ष्म निगोद के जीव सम्पूर्ण आकाश में व्याप्त हैं। बादर निगोद के जीव कन्दमूल आदि में होते हैं।

लोकाकाश में असंख्यात गोल हैं। एक-एक गोल में असंख्यात-असंख्यात निगोद हैं और एक-एक निगोद में अनन्त-अनन्त जीव हैं।

साधारणशरीर वाले जीवों के विषय में कहा गया है कि वे एक शरीर में अर्थात् एक ही शरीर के स्वामी के रूप में अनन्त होते हैं। यह कथन औदारिकशरीर की अपेक्षा से ही समझना चाहिए, अर्थात् वे जीव तो अनन्त होते हैं किन्तु उन सब का शरीर एक ही होता है। जब शरीर एक ही होता है तो उनका आहार और श्वासोच्छ्वास आदि भी साधारण ही होता है।[1] किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि उनके तैजस और कार्मण शरीर भिन्न-भिन्न ही होते हैं।

ये साधारणशरीरी अथवा निगोदिया जीव अनन्त काल तक अर्थात् अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल पर्यन्त उसी पर्याय में लगातार जन्म-मरण की वेदना का अनुभव करते रहते हैं।

४१—कुद्दाल-कुलिय-दालण-सलिल-मलण-खुंभण-रुंभण-अणलाणिल-विविहसत्थघट्टण-परोप्पराभिहणणमारणविराहणाणि य अकामकाइं परप्पओगोदीरणाहि य कज्जप्पओयणेहिं य पेस्सपसुणिमित्तं ओसहाहारमाइएहिं उक्खणण उक्कत्थण-पयण-कुट्टण-पीसण-पिट्टण-भज्जण-गालण-आमोडण-सडण-फुडण-भंजण-छेयण-तच्छण-विलुंचण-पत्तज्झोडण-अग्गिदहणाइयाइं, एवं ते भवपरंपरादुक्खसमणुबद्धा अडंति संसारबीहणकरे जीवा पाणाइवायणिरया अणंतकालं।

---

१. साहारणमाहारो, साहारणमाणपाणगहणं च।
साहारणजीवाणं, साहारणलक्खणं भणियं॥ —गोमट्टसार, जीवकाण्ड १९२

४१—कुदाल और हल से पृथ्वी का विदारण किया जाना, जल का मथा जाना और निरोध किया जाना, अग्नि तथा वायु का विविध प्रकार के शस्त्रों से घट्टन होना, पारस्परिक आघातों से आहत होना—एक दूसरे को पीड़ा पहुँचाना, मारना, दूसरों के निष्प्रयोजन अथवा प्रयोजन वाले व्यापार से उत्पन्न होने वाली विराधना की व्यथा सहन करना, नौकर-चाकरों तथा गाय-भैंस-बैल आदि पशुओं की दवा और आहार आदि के लिए खोदना, छानना, मोड़ना, सड़ जाना, स्वयं टूट जाना, मसलना-कुचलना, छेदन करना, छीलना, रोमों का उखाड़ना, पत्ते आदि तोड़ना, अग्नि से जलाना, इस प्रकार भवपरम्परा में अनुबद्ध हिंसाकारी पापी जीव भयंकर संसार में अनन्त काल तक परिभ्रमण करते रहते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में उन हिंसक जीवों के दुःख का वर्णन किया गया है जो पहले नरक के अतिथि बने, तत्पश्चात् पापकर्मों का फल भोगना शेष रह जाने के कारण तिर्यंच पंचेन्द्रिय पर्याय में, फिर विकलेन्द्रिय अवस्था में और फिर एकेन्द्रिय अवस्था में उत्पन्न होते हैं। जब वे पृथ्वीकाय में जन्म लेते हैं तो उन्हें कुदाल, फावड़ा, हल आदि द्वारा विदारण किए जाने का कष्ट भोगना पड़ता है। जलकाय में जन्म लेते हैं तो उनका मथन, विलोड़न आदि किया जाता है। तेजस्काय और वायुकाय में स्वकाय शस्त्रों और परकाय शस्त्रों से विविध प्रकार से घात किया जाता है। वनस्पतिकाय के जीवों की यातनाएँ भी क्या कम हैं! उन्हें उखाड़ कर फेंक दिया जाता है, पकाया जाता है, कूटा-पीसा जाता है, आग में जलाया और जल में गलाया जाता है—सड़ाया जाता है। उनका छेदन-भेदन आदि किया जाता है। फल-फूल-पत्र आदि तोड़े जाते हैं, नोंच लिये जाते हैं। इस प्रकार अनेकानेक प्रकार की यातनाएँ वनस्पतिकाय के जीवों को सहन करनी पड़ती हैं। वनस्पतिकाय के जीवों को वनस्पतिकाय में ही वारंवार जन्म-मरण करते-करते अनन्त काल तक इस प्रकार की वेदनाएँ भोगनी पड़ती हैं। ये समस्त दुःख हिंसा में रति रखने वाले—हिंसा करके प्रसन्न होने वाले प्राणियों को भोगने पड़ते हैं।

मनुष्यभव के दुःख—

४२—जे वि य इह माणुसत्तणं आगया कहिं वि णरगा उव्वट्टिया अधण्णा ते वि य दीसंति पायसो विकयविगलरूवा खुज्जा वडभा य वामणा य वहिरा काणा कुंटा पंगुला विगला य मूका य मम्मणा य अंधयगा एगचक्खू विणिहयसंचिल्लया[1] वाहिरोगपीलिय-अप्पाउय-सत्थवज्झबाला कुलक्खण-उक्किण्णदेहा दुब्बल-कुसंघयण-कुप्पमाण-कुसंठिया कुरूवा किविणा य हीणा हीणसत्ता णिच्चं सोक्खपरि-वज्जिया असुहदुक्खभागी णरगाओ इहं सावसेसकम्मा उव्वट्टिया समाणा।

४२—जो अधन्य (हिंसा का घोर पापकर्म करने वाले) जीव नरक से निकल कर किसी भाँति मनुष्य-पर्याय में उत्पन्न होते हैं, किन्तु जिनके पापकर्म भोगने से शेष रह जाते हैं, वे भी प्रायः विकृत एवं विकल—अपरिपूर्ण रूप-स्वरूप वाले, कुवड़े, टेढे-मेढे शरीर वाले, वामन—बौने, बधिर—बहरे, काने, टोंटे—टूटे हाथ वाले, पंगुल—लँगड़े, अंगहीन, गूंगे, मम्मण—अस्पष्ट उच्चारण करने वाले, अंधे, खराब एक नेत्र वाले, दोनों खराब आंखों वाले या पिशाचग्रस्त, कुष्ठ आदि व्याधियों और ज्वर आदि रोगों से अथवा मानसिक एवं शारीरिक रोगों से पीडित, अल्पायुष्क,

---

१. पाठान्तर—संपिसल्लया।

शस्त्र से वध किए जाने योग्य, अज्ञान—मूढ, अशुभ लक्षणों से भरपूर शरीर वाले, दुर्बल, अप्रशस्त संहनन वाले, वेडौल अंगोपांगों वाले, खराब संस्थान—आकृति वाले, कुरूप, दीन, हीन, सत्त्वविहीन, सुख से सदा वंचित रहने वाले और अशुभ दुःखों के भाजन होते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में ऐसे प्राणियों की दुर्दशा का चित्रण किया गया है जो हिंसा के फलस्वरूप नरक में उत्पन्न हुए थे और फिर नरक से किसी तरह कठिनाई से निकल कर सीधे मनुष्य-भव को प्राप्त हुए हैं अथवा पहले तिर्यंच गति की यातनाएँ भुगत कर फिर मानवभव को प्राप्त हुए हैं, किन्तु जिनके घोरतर पापकर्मों का अन्त नहीं हो पाया है। जिनको पापों का फल भोगना बाकी रह गया है। उस बाकी रहे पापकर्म का फल उन्हें मनुष्य योनि में भोगना पड़ता है। उसी फल का यहाँ दिग्दर्शन कराया गया है।

ऐसे पापी प्राणी अधन्य होते हैं। उन्हें सर्वत्र निन्दा, अपमान, तिरस्कार और धिक्कार ही मिलता है। वे कहीं और कभी आदर-सम्मान नहीं पाते। इसके अतिरिक्त उनका शरीर विकृत होता है, बेडौल होता है, अंधे, काने, वहिरे, गूंगे, चपड़ी आंखों वाले, अस्पष्ट उच्चारण करने वाले होते हैं। उनका संहनन—अस्थिनिचय—कुत्सित होता है। संस्थान अर्थात् शरीर की आकृति भी निन्दित होती है। कुष्ठादि भीषण व्याधियों से और ज्वरादि रोगों से तथा मानसिक रोगों से पीडित रहते हैं। उनका जीवन ऐसा होता है मानो वे भूत-पिशाच से ग्रस्त हों। वे ज्ञानहीन, मूर्ख होते हैं। सत्त्वविहीन होते हैं और किसी न किसी शस्त्र से वध होने पर वे मरण-शरण होते हैं। जीवन में उन्हें कभी और कहीं भी आदर-सन्मान नहीं मिलता, तिरस्कार, फटकार, धुत्कार और धिक्कार ही मिलता है। वे सुखों के नहीं, दुःखों के ही पात्र वनते हैं।

क्या नरक से निकले हुए सभी जीव मनुष्य-पर्याय पाकर पूर्वोक्त दुर्दशा के पात्र वनते हैं? इस प्रश्न का उत्तर मूल पाठ से ही मिल जाता है। मूल पाठ में *'पायसो'* और *'सावसेसकम्मा'* ये दो पद ध्यान देने योग्य हैं। इनका तात्पर्य यह है कि सभी जीवों की ऐसी दुर्दशा नहीं होती, वरन् प्रायः अर्थात् अधिकांश जीव मनुष्यगति पाकर पूर्वोक्त दुःखों के भागी होते हैं। अधिकांश जीव वे हैं जिनके पाप-कर्मों का फल-भोग पूरा नहीं हुआ है, अपितु कुछ शेष है।

जिन प्राणियों का फल-भोग परिपूर्ण हो जाता है, वे कुछ जीव नरक से सीधे निकल कर लोकपूज्य, आदरणीय, सन्माननीय एवं यशस्वी भी होते हैं, यहाँ तक कि कोई-कोई अत्यन्त विशुद्धिप्राप्त जीव तीर्थंकर पद भी प्राप्त करता है।

उपसंहार—

४३—एवं णरगं तिरिक्ख-जोणिं कुमाणुसत्तं च हिंडमाणा पावंति अणंताइं दुक्खाइं पावकारी। एसो सो पाणवहस्स फलविवागो। इहलोइओ परलोइओ अप्पसुहो वहुदुक्खो महब्भयो बहुरयप्पगाढो दारुणो कक्कसो असाओ वाससहस्सेहिं मुंचई ण य अवेदयित्ता अत्थि हु मोक्खो त्ति एवमाहंसु णाय-कुलणंदणो महप्पा जिणो उ वीरवरणामधेज्जो कहेसी य पाणवहस्स फलविवागं। एसो सो पाणवहो चंडो रुद्दो खुद्दो अणारिओ णिग्घिणो णिसंसो महब्भओ बीहणओ तासणओ अणज्जाओ उव्वेयणओ य णिरवयक्खो णिद्धम्मो णिप्पिवासो णिक्कलुणो णिरयवासगमणणिधणो मोहमहब्भयपवड्ढओ मरण-वेमणसो। पढमं अहम्मदारं सम्मत्तं त्ति बेमि ॥१॥

४३—इस प्रकार (हिंसारूप) पापकर्म करने वाले प्राणी नरक और तिर्यंच योनि में तथा कुमानुष-अवस्था में भटकते हुए अनन्त दुःख प्राप्त करते हैं।

यह (पूर्वोक्त) प्राणवध (हिंसा) का फलविपाक है, जो इहलोक (मनुष्यभव) और परलोक (नारकादि भव) में भोगना पड़ता है। यह फलविपाक अल्प सुख किन्तु (भव-भवान्तर में) अत्यधिक दुःख वाला है। महान् भय का जनक है और अतीव गाढ़ कर्मरूपी रज से युक्त है। अत्यन्त दारुण है, अत्यन्त कठोर है और अत्यन्त असाता को उत्पन्न करने वाला है। हजारों वर्षों (सुदीर्घ काल) में इससे छुटकारा मिलता है। किन्तु इसे भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलता। हिंसा का यह फलविपाक ज्ञातकुल-नन्दन महात्मा महावीर नामक जिनेन्द्रदेव ने कहा है। यह प्राणवध चण्ड, रौद्र, क्षुद्र और अनार्य जनों द्वारा आचरणीय है। यह घृणारहित, नृशंस, महाभयों का कारण, भयानक, त्रासजनक और अन्यायरूप है। यह उद्वेगजनक, दूसरे के प्राणों की परवाह न करने वाला, धर्महीन, स्नेह-पिपासा से शून्य, करुणाहीन है। इसका अन्तिम परिणाम नरक में गमन करना है अर्थात् यह नरक-गति में जाने का कारण है। मोहरूपी महाभय को बढ़ाने वाला और मरण के कारण उत्पन्न होने वाली दीनता का जनक है।

विवेचन—नरक से निकले तिर्यंचयोनियों में उत्पन्न होकर पश्चात् मनुष्यभव में जन्मे अथवा सीधे मनुष्यभव में आए घोर हिंसाकारी जीवों को विभिन्न पर्यायों में दुःख भोगना पड़ता है, उसका वर्णन शास्त्रकार ने विस्तारपूर्वक किया है। उस फलविपाक का उपसंहार प्रस्तुत पाठ में किया गया है।

यह फलविपाक शास्त्रकार ने अपनी बुद्धि या कल्पना से प्ररूपित नहीं किया है किन्तु ज्ञातपुत्र सर्वज्ञ देव श्रीमहावीर ने कहा है, यह उल्लेख करके प्रस्तुत प्ररूपणा की पूर्ण प्रामाणिकता भी प्रकट कर दी है।

मूल में हिंसा के फलविपाक को अल्प सुख और बहुत दुःख का कारण कहा गया है, इसका तात्पर्य यह है कि हिंसक को हिंसा करते समय प्रसन्नता होती है। शिकारी शिकार करके, उसमें सफलता प्राप्त करके अर्थात् शशक, हिरण, व्याघ्र, सिंह आदि के प्राण हरण करके प्रमोद का अनुभव करता है, यह हिंसाजन्य सुख है जो वास्तव में घोर दुःख का कारण होने से सुखाभास ही है। सुख की यह क्षणिक अनुभूति जितनी तीव्र होती है, भविष्य में उतना ही अधिक और तीव्र दुःख का अनुभव करना पड़ता है।

प्राणवध के फलविपाक को चण्ड, रुद्र आदि शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है। इन शब्दों का स्पष्टीकरण पूर्व में किया जा चुका है। (देखिए सूत्र संख्या २)

प्रथम अधर्मद्वार समाप्त हुआ।

श्री सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी से कहा—जैसा मैंने श्रमण भगवान् महावीर से सुना है, वैसा ही तुम्हारे समक्ष प्रतिपादन किया है, स्वमनीषिका से नहीं। □□

द्वितीय अध्ययन : मृषावाद

मृषावाद का स्वरूप—

४४—जंबू[1] ! बिइयं अलियवयणं लहुसग-लहुचवल-भणियं भयंकरं दुहकरं अयसकरं वेरकरगं अरइ-रइ-रागदोस-मणसंकिलेस-वियरणं अलियणियडिसाइजोयबहुलं णीयजणणिसेवियं णिस्संसं अप्पच्चयकारगं परमसाहुगरहणिज्जं परपीलाकारगं परमकिण्हलेस्ससेवियं दुग्गइविणिवायविवड्ढणं भवपुणब्भवकरं चिरपरिचिय-मणुगयं दुरंतं कित्तियं बिइयं अहम्मदारं ।

४४—जम्बू ! दूसरा (आस्रवद्वार) अलीकवचन अर्थात् मिथ्याभाषण है । यह गुण-गौरव से रहित, हल्के, उतावले और चंचल लोगों द्वारा बोला जाता है, (स्व एवं पर के लिए) भय उत्पन्न करने वाला, दु:खोत्पादक, अपयशकारी एवं वैर उत्पन्न करने वाला है । यह अरति, रति, राग, द्वेष और मानसिक संक्लेश को देने वाला है । शुभ फल से रहित है । धूर्त्तता एवं अविश्वसनीय वचनों की प्रचुरता वाला है । नीच जन इसका सेवन करते हैं । यह नृशंस, क्रूर अथवा निन्दित है । अप्रतीतिकारक है—विश्वसनीयता का विघातक है । उत्तम साधुजनों—सत्पुरुषों द्वारा निन्दित है । दूसरों को—जिनसे असत्यभाषण किया जाता है, उनको पीड़ा उत्पन्न करने वाला है । उत्कृष्ट कृष्णलेश्या से सहित है अर्थात् कृष्णलेश्या वाले लोग इसका प्रयोग करते हैं । यह दुर्गतियों में निपात को बढ़ाने वाला—वारंवार दुर्गतियों में ले जाने वाला है । भव—पुनर्भव करने वाला अर्थात् जन्म-मरण की वृद्धि करने वाला है । यह चिरपरिचित है—अनादि काल से जीव इसके अभ्यासी हैं । निरन्तर साथ रहने वाला है और बड़ी कठिनाई से इसका अन्त होता है अथवा इसका परिणाम अतीव अनिष्ट होता है ।

विवेचन—प्राणवध नामक प्रथम आस्रवद्वार के विवेचन के पश्चात् दूसरे आस्रवद्वार का विवेचन यहाँ से प्रारम्भ किया गया है । श्रीसुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी को लक्ष्य करके यह प्ररूपणा की है ।

अलीक वचनों का स्वरूप समझाने के लिए उसे अनेकानेक विशेषणों से युक्त प्रकट किया गया है ।

असत्य वचनों का प्रयोग ऐसे मनुष्य ही करते हैं जिनमें गुणों की गरिमा नहीं होती, जो क्षुद्र, हीन, तुच्छ या टुच्चे होते हैं । जो अपने वचनों का स्वयं ही मूल्य नहीं जानते, जो उतावल में सोचे-समझे विना ही बोलते हैं और जिनकी प्रकृति में चंचलता होती है । इस प्रकार विचार किए विना चंचलतापूर्वक जो वचन बोले जाते हैं, वे स्व-पर के लिए भयंकर सिद्ध होते हैं । उनके फलस्वरूप अनेक प्रकार के दु:ख भोगने पड़ते हैं । अतएव साधुजन—सत्पुरुष असत्य का कदापि सेवन नहीं करते । वे सुविचारित सत्य तथ्य का ही प्रयोग करते हैं और वह भी ऐसा कि जिससे किसी को पीड़ा न हो, क्योंकि पीड़ाजनक वचन तथ्य होकर भी सत्य नहीं कहलाता ।

---

१. "इह खलु जंबू"—पाठ भी कुछ प्रतियों में है ।

असत्यभाषी को इस भव में निन्दा और तिरस्कार का पात्र बनना पड़ता है। असत्यभाषण करके जिन्हें धोखा दिया जाता अथवा हानि पहुँचाई जाती है, उनके साथ वैर बँध जाता है और कभी-कभी उस वैर की परम्परा अनेकानेक भवों तक चलती रहती है। असत्यभाषी के अन्तर में यदि स्वल्प भी उज्ज्वलता का अंश होता है तो उसके मन में भी संक्लेश उत्पन्न होता है। जिसे ठगा जाता है उसके मन में तो संक्लेश होता ही है।

असत्यभाषी को अपनी प्रामाणिकता प्रकट करने के लिए अनेक प्रकार के जाल रचने पड़ते हैं, धूर्तता कपट का आश्रय लेना पड़ता है। यह क्रूरता से परिपूर्ण है। नीच लोग ही असत्य का आचरण करते हैं। साधुजनों द्वारा निन्दनीय है। परपीड़ाकारी है। कृष्णलेश्या से समन्वित है।

असत्य दुर्गति में ले जाना है और संसार-परिभ्रमण की वृद्धि करने वाला है।

असत्यभाषी अपने असत्य को छिपाने के लिए कितना ही प्रयत्न क्यों न करे, अन्त में प्रकट हो जाता है। जब प्रकट हो जाता है तो असत्यभाषी की सच्ची बात पर भी कोई विश्वास नहीं करता। वह अप्रतीति का पात्र बन जाता है।

'परपीलाकारगं' कह कर शास्त्रकार ने असत्य एक प्रकार की हिंसा का ही रूप है, यह प्रदर्शित किया है।

मृषावाद के नामान्तर—

४५—तस्स य णामाणि गोण्णाणि होंति तीसं। तं जहा—

१ अलियं २ सढं ३ अणज्जं ४ मायामोसो ५ असंतगं ६ कूडकवडमवत्थुगं च ७ णिरत्थयमवत्थयं च ८ विद्देसगरहणिज्जं ९ अणुज्जुगं १० ककणा य ११ वंचणा य १२ मिच्छापच्छाकडं च १३ साई उ १४ उच्छण्णं १५ उक्कूलं च १६ अट्टं १७ अब्भक्खाणं च १८ किव्विसं १९ वलयं २० गहणं च २१ मम्मणं च २२ णूमं २३ णिययी २४ अपच्चओ २५ असमओ २६ असच्चसंधत्तणं २७ विवक्खो २८ अवहीयं २९ उवहिअसुद्धं ३० अवलोवोत्ति।

अवि य तस्स एयाणि एवमाइयाणि णामधेज्जाणि होंति तीसं, सावज्जस्स अलियस्स वइजोगस्स अणेगाइं।

४५—इस असत्य के गुणनिष्पन्न अर्थात् सार्थक तीस नाम हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. अलीक २. शठ ३. अन्याय्य (अनार्य) ४. माया-मृषा ५. असत्क ६. कूटकपटअवस्तुक ७. निरर्थकअपार्थक ८. विद्वेष-गर्हणीय ९. अनृजुक १०. कल्कना ११. वञ्चना १२. मिथ्यापश्चात्कृत १३. साति १४. उच्छन्न १५. उत्कूल १६. आर्त्त १७. अभ्याख्यान १८. किल्विष १९. वलय २०. गहन २१. मन्मन २२. नूम २३. निकृति २४. अप्रत्यय २५. असमय २६. असत्यसंधत्व २७. विपक्ष २८. अपधीक २९. उपधि-अशुद्ध ३०. अपलोप।

सावद्य (पापयुक्त) अलीक वचनयोग के उल्लिखित तीस नामों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक नाम हैं।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ में असत्य के तीस सार्थक नामों का उल्लेख किया गया है। अन्त में

यह निर्देश भी कर दिया गया है कि अलीक के इन तीस नामों के अतिरिक्त भी अन्य अनेक नाम हैं।

असत्य के तीस नामों का उल्लेख करके सूत्रकार ने असत्य के विविध प्रकारों को सूचित किया है, अर्थात् किस-किस प्रकार के वचन असत्य के अन्तर्गत हैं, यह प्रकट किया है। उल्लिखित नामों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

(१) अलीक—झूठ, मिथ्यावचन।

(२) शठ—धूर्त्त, मायावी जनों द्वारा आचरित।

(३) अनार्य (अन्याय्य)—अनार्य पुरुषों का वचन होने से अनार्य है अथवा अन्याययुक्त है।

(४) माया-मृषा—माया रूप कषाय से युक्त और मृषा होने से इसे माया-मृषा कहा जाता है।

(५) असत्क—असत् पदार्थ को कहने वाला।

(६) कूट-कपट-अवस्तुक—दूसरों को ठगने से कूट, भाषा का विपर्यास होने से कपट, तथ्य-वस्तुशून्य होने से अवस्तुक है।

(७) निरर्थक-अपार्थक—प्रयोजनहीन होने के कारण निष्प्रयोजन और सत्यहीन होने से अपार्थक है।

(८) विद्वेषगर्हणीय—विद्वेष और निन्दा का कारण।

(९) अनृजुक—कुटिलता-सरलता का अभाव, वक्रता से युक्त।

(१०) कल्कना—मायाचारमय।

(११) वञ्चना—दूसरों को ठगने का कारण।

(१२) मिथ्यापश्चात्कृत—न्यायी पुरुष झूठा समझ कर पीछे कर देते हैं, अतः मिथ्यापश्चात्कृत है।

(१३) साति—अविश्वास का कारण।

(१४) उच्छन्न—स्वकीय दोषों और परकीय गुणों का आच्छादक। इसे 'अपच्छन्न' भी कहते हैं।

(१५) उत्कूल—सन्मार्ग की मर्यादा से अथवा न्याय रूपी नदी के तट से गिराने वाला।

(१६) आर्त्त—पाप से पीड़ित जनों का वचन।

(१७) अभ्याख्यान—दूसरे में अविद्यमान दोषों को कहने वाला।

(१८) किल्विष—पाप या पाप का जनक।

(१९) वलय—गोलमोल—टेढा-मेढा, चक्करदार वचन।

(२०) गहन—जिसे समझना कठिन हो, जिस वचन से असलियत का पता न चले।

(२१) मन्मन—स्पष्ट न होने के कारण, अस्पष्ट वचन।

(२२) नूम—सचाई को ढँकने वाला।

(२३) निकृति—किए हुए मायाचार को छिपाने वाला वचन।

(२४) अप्रत्यय—विश्वास का कारण न होने से या अविश्वासजनक होने से अप्रत्यय है।

(२५) असमय—सम्यक् आचार से रहित।

(२६) असत्यसन्धता—झूठी प्रतिज्ञाओं का कारण।

(२७) विपक्ष—सत्य और धर्म का विरोधी।

(२८) अपधीक—निन्दित मति से उत्पन्न।

(२९) उपधि-अशुद्ध—मायाचार से अशुद्ध।

(३०) अवलोप—वस्तु के वास्तविक स्वरूप का लोपक।

विवेचन—इन तीस नामों से असत्य के विविध रूपों का एवं उसकी व्यापकता का पता चलता है।

मृषावादी—

४६—तं च पुण वयंति केई अलियं पावा असंजया अविरया कवडकुडिलकडुयचडुलभावा कुद्धा लुद्धा भया य हस्सट्ठिया य सक्खी चोरा चारभडा खंडरक्खा जियजूयकरा य गहियगहणा कक्ककुरुग-कारगा, कुलिंगी उवहिया वाणियगा य कूडतुलकूडमाणी कूडकाहावणोवजीविया पडगारका, कलाया, कारुइज्जा वंचणपरा चारियचाडुयार-णगरगुत्तिय-परिचारगा दुट्ठवाइसूयगअणवलभणिया य पुव्व-कालियवयणदच्छा साहसिया लहुस्सगा असच्चा गारविया असच्चट्ठावणाहिचित्ता उच्चच्छंदा अणिग्गहा अणियत्ता छंदेणमुक्कवाया भवंति अलियाहिं जे अविरया।

४६—यह असत्य कितनेक पापी, असंयत—संयमहीन, अविरत—सर्वविरति और देशविरति से रहित, कपट के कारण कुटिल, कटुक और चंचल चित्त वाले, क्रुद्ध—क्रोध से अभिभूत, लुब्ध—लोभ के वशीभूत, स्वयं भयभीत और अन्य को भय उत्पन्न करने वाले, हँसी-मजाक करने वाले, झूठी गवाही देने वाले, चोर, गुप्तचर—जासूस, खण्डरक्ष—राजकर लेने वाले—चुंगी वसूल करने वाले, जूआ में हारे हुए—जुआरी, गिरवी रखने वाले—गिरवी के माल को हजम करने वाले, कपट से किसी बात को बढ़ा-चढ़ा कर कहने वाले, मिथ्या मत वाले कुलिंगी—वेषधारी, छल करने वाले, बनिया—वणिक्, खोटा नापने-तोलने वाले, नकली सिक्कों से आजीविका चलाने वाले, जुलाहे, सुनार—स्वर्णकार, कारीगर, दूसरों को ठगने वाले, दलाल, चाटुकार—खुशामदी, नगररक्षक, मैथुन-सेवी—स्त्रियों को बहकाने वाले, खोटा पक्ष लेने वाले, चुगलखोर, उत्तमर्ण—साहूकार के ऋण संबंधी तकाजे से दबे हुए अधमर्ण—कर्जदार, किसी के बोलने से पूर्व ही उसके अभिप्राय को ताड़ लेने वाले, साहसिक—सोच-विचार किए विना ही प्रवृत्ति करने वाले, निस्सत्त्व—अधम, हीन, सत्पुरुषों का अहित करने वाले—दुष्ट जन, अहंकारी, असत्य की स्थापना में चित्त को लगाए रखने वाले, अपने को उत्कृष्ट बताने वाले, निरंकुश, नियमहीन और विना विचारे यद्वा-तद्वा बोलने वाले लोग, जो असत्य से विरत नहीं हैं, वे (असत्य) बोलते हैं।

विवेचन—मूल पाठ अपने आप में ही स्पष्ट है। इस पर अधिक विवेचन की आवश्यकता नहीं है।

असत्यभाषी जनों का यहाँ उल्लेख किया गया है। असत्यभाषण वही करते हैं जो संयत और विरत नहीं होते। जिनका जीवन संयमशील है और जो पापों से विरत हैं, असत्य उनके निकट भी नहीं फटकता।

असत्य के मूलतः चार कारण हैं—क्रोध, लोभ, भय और हास्य। क्रोध से अभिभूत मानव विवेक-विचार से विहीन हो जाता है। उसमें एक प्रकार का उन्माद उत्पन्न हो जाता है। तब वह सत्य-असत्य के भान से रहित होकर कुछ भी बोल जाता है। लोभ से ग्रस्त मनुष्य असत्य का सेवन करने से परहेज नहीं करता। लोभ से अंधा आदमी असत्य सेवन को अपने साध्य की सिद्धि का अचूक साधन मानता है। भय से पीड़ित लोग भी असत्य का आश्रय लेकर अपने दुष्कर्म के दंड से बचने का प्रयत्न करते हैं। उन्हें यह समझ नहीं होती कि कृत दुष्कर्म पर पर्दा डालने के लिए

असत्य का सहारा लेने से दुष्कर्म गुरुतर बन जाता है। हँसी-मज़ाक में असत्य का प्रयोग साधारण समझा जाता है। कहना चाहिए कि असत्य हास्य-विनोद का मूलाधार है। किन्तु विवेकी पुरुष ऐसे हँसी-मज़ाक से बचते हैं, जिसके लिए असत्य का आश्रय लेना पड़े।

झूठी साक्षी स्पष्ट असत्य है। किन्तु आज-कल के न्यायालयों में यह बहुप्रचलित है। कतिपय लोगों ने इसे धंधा बना लिया है। कुछ रुपये देकर उनसे न्यायालयों में चाहे जो कहलवाया जा सकता है। ऐसे लोगों को भविष्य के दुष्परिणामों का ध्यान नहीं होता कि असत्य को सत्य और सत्य को असत्य कहने से आगे कैसी दुर्दशा भोगनी पड़ेगी।

चोरी करने वाले, जुआ खेलने वाले, व्यभिचारी, स्त्रियों को बहका कर उड़ा ले जाने वाले और चकला चलाने वाले लोग असत्य का सेवन किए बिना रह ही नहीं सकते।

मिथ्या मतों को मानने वाले और त्यागियों के नाना प्रकार के वेष धारण करने वाले भी असत्यभाषी हैं। इनके विषय में आगे विस्तार से प्रतिपादन किया जाएगा।

कर्जदार को भी असत्य भाषण करना पड़ता है। जब उत्तमर्ण या साहूकार ऋण वसूलने के लिए तकाज़े करता है और कर्जदार चुकाने की स्थिति में नहीं होता तो, एक सप्ताह में दूँगा, एक मास में चुका दूँगा, इत्यादि झूठे वायदे करता है। अतएव सद्गृहस्थ को इस असत्य से बचने के लिए ऋण न लेना ही सर्वोत्तम है। अपनी आवश्यकताओं को सीमित करके आय को देखते हुए ही व्यय करना चाहिए। कदाचित् किसी से कभी उधार लेना ही पड़े तो उतनी ही मात्रा में लेना चाहिए, जिसे सरलता पूर्वक चुकाना असंभव न हो और जिस के कारण असत्य न बोलना पड़े—अप्रतिष्ठा न हो।

जुलाहे, सुनार, कारीगर, वणिक् आदि धंधा करने वाले सभी असत्यभाषी होते हैं, ऐसा नहीं है। शास्त्रकार ने मूल में 'केई' शब्द का प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया है।

इसी प्रकार मूल पाठ में उल्लिखित अन्य विशेषणों के संबंध में भी समझ लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि असत्य के पाप से बचने के लिए सदा सावधान रहना चाहिए।

मृषावादी—नास्तिकवादी का मत—

४७—अवरे णत्थिगवाइणो वामलोयवाई भणंति - सुण्णं[1] ति, णत्थि जीवो, ण जाइ इह परे वा लोए, ण य किंचिवि फुसइ पुण्णपावं, णत्थि फलं सुकयदुक्कयाणं, पंचमहाभूइयं सरीरं भासंति, हे वायजोगजुत्तं। पंच य खंधे भणंति केइ, मणं य मणजीविया वदंति, वाउजीवोत्ति एवमाहंसु, सरीरं साइयं सणिधणं, इह भवे एगभवे तस्स विप्पणासम्मि सव्वणासोत्ति, एवं जंपंति मुसावाई। तम्हा दाण-वय-पोसहाणं तव-संजम-बंभचेर-कल्लाणमाइयाणं णत्थि फलं, ण वि य पाणवहे अलियवयणं ण चेव चोरिक्ककरणं परदारसेवणं वा सपरिग्गह-पावकम्मकरणं वि णत्थि किंचि ण णेरइय-तिरिय-मणुयाण जोणी, ण देवलोगो वा अत्थि, ण य अत्थि सिद्धिगमणं, अम्मापियरो णत्थि, ण वि अत्थि पुरिसकारो,

---

१. आगमोदयसमिति, आचार्य हस्तीमलजी म. वाले और सैलाना वाले संस्करण में 'सुण्णं ति' पाठ नहीं है, किन्तु अभयदेवीय टीका में इसकी व्याख्या की गई है। अतः यह पाठ संगत है। सन्मति ज्ञानपीठ आगरा वाले संस्करण में इसें स्वीकार किया है। —सम्पादक

पच्चक्खाणमवि णत्थि, ण वि अत्थि कालमच्चू य, अरिहंता चक्कवट्टी बलदेवा वासुदेवा णत्थि, णेवत्थि केइ रिसओ धम्माधम्मफलं च णवि अत्थि किंचि बहुयं च थोवगं वा, तम्हा एवं विजाणिऊण जहा सुबहु इंदियाणुकूलेसु सव्वविसएसु वट्टह, णत्थि काइ किरिया वा अकिरिया वा एवं भणंति णत्थिगवाइणो वामलोयवाई।

४७—दूसरे, नास्तिकवादी, जो लोक में विद्यमान वस्तुओं को भी अवास्तविक कहने के कारण—लोकविरुद्ध मान्यता के कारण 'वामलोकवादी' हैं, उनका कथन इस प्रकार है—यह जगत् शून्य (सर्वथा असत्) है, क्योंकि जीव का अस्तित्व नहीं है। वह मनुष्यभव में या देवादि-परभव में नहीं जाता। वह पुण्य-पाप का किंचित् भी स्पर्श नहीं करता। सुकृत-पुण्य या दुष्कृत-पाप का (सुख-दुःख रूप) फल भी नहीं है। यह शरीर पाँच भूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) से बना हुआ है। वायु के निमित्त से वह सब क्रियाएँ करता है। कुछ लोग कहते हैं— श्वासोच्छ्वास की हवा ही जीव है।

कोई (बौद्ध) पाँच स्कन्धों (रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार) का कथन करते हैं। कोई-कोई मन को ही जीव (आत्मा) मानते हैं। कोई वायु को ही जीव के रूप में स्वीकार करते हैं। किन्हीं-किन्हीं का मन्तव्य है कि शरीर सादि और सान्त है—शरीर का उत्पाद और विनाश हो जाता है। यह भव ही एक मात्र भव है। इस भव का समूल नाश होने पर सर्वनाश हो जाता है अर्थात् आत्मा जैसी कोई वस्तु शेष नहीं रहती। मृषावादी ऐसा कहते हैं। इस कारण दान देना, व्रतों का आचरण करना, पोषध की आराधना करना, तपस्या करना, संयम का आचरण करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना आदि कल्याणकारी अनुष्ठानों का (कुछ भी) फल नहीं होता। प्राणवध और असत्यभाषण भी (अशुभ फलदायक) नहीं हैं। चोरी और परस्त्रीसेवन भी कोई पाप नहीं हैं। परिग्रह और अन्य पापकर्म भी निष्फल हैं अर्थात् उनका भी कोई अशुभ फल नहीं होता। नारकों, तिर्यंचों और मनुष्यों की योनियाँ नहीं हैं। देवलोक भी नहीं है। मोक्ष-गमन या मुक्ति भी नहीं हैं। माता-पिता भी नहीं हैं। पुरुषार्थ भी नहीं है अर्थात् पुरुषार्थ कार्य की सिद्धि में कारण नहीं है। प्रत्याख्यानत्याग भी नहीं है। भूतकाल, वर्त्तमानकाल और भविष्यकाल नहीं हैं और न मृत्यु है। अरिहन्त, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव भी कोई नहीं होते। न कोई ऋषि है, न कोई मुनि है। धर्म और अधर्म का थोड़ा या बहुत—किंचित् भी फल नहीं होता। इसलिए ऐसा जानकर इन्द्रियों के अनुकूल (रुचिकर) सभी विषयों में प्रवृत्ति करो—किसी प्रकार के भोग-विलास से परहेज मत करो। न कोई शुभ क्रिया है और न कोई अशुभ क्रिया है। इस प्रकार लोक-विपरीत मान्यता वाले नास्तिक विचारधारा का अनुसरण करते हुए इस प्रकार का कथन करते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ में नास्तिकवादियों की मान्यताओं का दिग्दर्शन कराया गया है। इससे पूर्व के सूत्र में विविध प्रकार के लौकिक जनों का, जो व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए, आजीविका, व्यापार-धंधा, परिवार-पालन आदि के लिए असत्यभाषण करते हैं, उनका कथन किया गया था। इस सूत्र में नास्तिकदर्शन का मन्तव्य उल्लिखित किया गया है। एक व्यक्ति किसी कारण जब असत्यभाषण करता है तब वह प्रधानतः अपना ही अहित करता है। किन्तु जब कोई दार्शनिक असत्य पक्ष की स्थापना करता है, असत्य को आगम में स्थान देता है, तब वह असत्य विराट् रूप धारण कर लेता है। वह मृषावाद दीर्घकाल पर्यन्त प्रचलित रहता है और असंख्य-असंख्य लोगों को प्रभावित करता

है। वह न जाने कितने लोगों को, कितने काल तक मिथ्या धारणाओं का शिकार बनाता रहता है। ऐसी धारणाएँ व्यक्तिगत जीवन को कलुषित करती हैं और साथ ही सामाजिक जीवन को भी निरंकुश, स्वेच्छाचारी बना कर विनष्ट कर देती हैं। अतएव वैयक्तिक असत्य की अपेक्षा दार्शनिक असत्य हजारों-लाखों गुणा अनर्थकारी है। यहाँ दार्शनिक असत्य के ही कतिपय रूपों का उल्लेख किया गया है।

शून्यवाद—सर्वप्रथम शून्यवादी के मत का उल्लेख किया गया है। बौद्धदर्शन अनेक सम्प्रदायों में विभक्त है। उनमें से एक सम्प्रदाय माध्यमिक है। यह शून्यवादी है। इसके अभिमतानुसार किसी भी वस्तु की सत्ता नहीं है। जैसे स्वप्न में अनेकानेक दृश्य दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु जागृत होने पर या वास्तव में उनकी कहीं भी सत्ता नहीं होती। इसी प्रकार प्राणी भ्रम के वशीभूत होकर नाना पदार्थों का अस्तित्व समझता है, किन्तु भ्रमभंग होने पर वह सभी कुछ शून्य मानता है।

यहाँ विचारणीय यह है कि यदि समग्र विश्व शून्य रूप है तो शून्यवादी स्वयं भी शून्य है या नहीं ? शून्यवादी यदि शून्य है तो इसका स्पष्ट अर्थ यह निकला कि शून्यवादी कोई है ही नहीं। इसी प्रकार उसके द्वारा प्ररूपित शून्यवाद यदि सत् है तो शून्यवाद समाप्त हो गया और शून्यवाद असत् है तो भी उसकी समाप्ति ही समझिए। इस प्रकार शून्यवाद युक्ति से विपरीत तो है ही, प्रत्यक्ष अनुभव से भी विपरीत है। पानी पीने वाले की प्यास बुझ जाती है, वह अनुभव सिद्ध है। किन्तु शून्यवादी कहता है—पानी नहीं, पीने वाला भी नहीं, पीने की क्रिया भी नहीं और प्यास की उपशान्ति भी नहीं ! सब कुछ शून्य है।

शून्यवाद के पश्चात् अनात्मवादी नास्तिकों के मत का उल्लेख किया गया है। इनके कतिपय मन्तव्यों का भी मूलपाठ में दिग्दर्शन कराया गया है। अनात्मवादियों की मान्यता है कि जीव अर्थात् आत्मा की स्वतन्त्र एवं त्रैकालिक सत्ता नहीं है। जो कुछ भी है वह पांच भूत ही हैं। पृथ्वी, जल, तेजस् (अग्नि), वायु और आकाश, ये पाँच भूत हैं। इनके संयोग से शरीर का निर्माण होता है। इन्हीं से चैतन्य की उत्पत्ति हो जाती है। प्राणवायु के कारण शरीर में हलन-चलन-स्पन्दन आदि क्रियाएँ होती हैं। चैतन्य शरीराकार परिणत भूतों से उत्पन्न होकर उन्हीं के साथ नष्ट हो जाता है। जैसे जल का बुलबुला जल से उत्पन्न होकर जल में ही विलीन हो जाता है, उसका पृथक् अस्तित्व नहीं है, उसी प्रकार चैतन्य का भी पंच भूतों से अलग अस्तित्व नहीं है। अथवा जैसे धातकी पुष्प, गुड़, आटा आदि के संयोग से उनमें मादकशक्ति उत्पन्न हो जाती है, वैसे ही पंच भूतों के मिलने से चैतन्य-शक्ति उत्पन्न हो जाती है।

जब आत्मा की ही पृथक् सत्ता नहीं है तो परलोक के होने की बात ही निराधार है। अतएव न जीव मर कर फिर जन्म लेता है, न पुण्य और पाप का अस्तित्व है। सुकृत और दुष्कृत का कोई फल किसी को नहीं भोगना पड़ता।

नास्तिकों की यह मान्यता अनुभवप्रमाण से बाधित है, साथ ही अनुमान और आगम प्रमाणों से भी बाधित है।

यह निर्विवाद है कि कारण में जो गुण विद्यमान होते हैं, वही गुण कार्य में आते हैं। ऐसा कदापि नहीं होता कि जो गुण कारण में नहीं हैं, वे अकस्मात् कार्य में उत्पन्न हो जाएँ। यही कारण है कि मिष्ठान्न तैयार करने के लिए गुड़, शक्कर आदि मिष्ट पदार्थों का उपयोग किया जाता है

और काला वस्त्र तैयार करने के लिए काले तंतुओं को काम में लाया जाता है। यदि कारण में अविद्यमान गुण भी कार्य में आने लगें तो बालू को पीलने से भी तेल निकलने लगे। किसी भी वस्तु से कोई भी वस्तु बन जाए! किन्तु ऐसा होता नहीं। बालू से तेल निकलता नहीं। गुड़-शक्कर के बदले राख या धूल से मिठाई बनती नहीं।

इस निर्विवाद सिद्धान्त के आधार पर पांच भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति की मान्यता पर विचार किया जाए तो यह मान्यता कपोल-कल्पित ही सिद्ध होती है। नास्तिकों से पूछना चाहिए कि जिन पांच भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति कही जाती है, उनमें पहले से चैतन्यशक्ति विद्यमान है अथवा नहीं? यदि विद्यमान नहीं है तो उनसे चैतन्यशक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती, क्योंकि जो धर्म कारण में नहीं होता, वह कार्य में भी नहीं हो सकता। यदि भूतों में चेतना विद्यमान है तो फिर चेतना से ही चेतना की उत्पत्ति कहनी चाहिए, भूतों से नहीं।

मदिरा में जो मादकशक्ति है, वह उसके कारणों में पहले से ही विद्यमान रहती है, अपूर्व उत्पन्न नहीं होती।

इसके अतिरिक्त चेतनाशक्ति के कारण यदि भूत ही हैं तो मृतक शरीर में ये सभी विद्यमान होने से उसमें चेतना क्यों नहीं उत्पन्न हो जाती? कहा जा सकता है कि मृतक शरीर में रोग—दोप होने के कारण चेतना उत्पन्न नहीं होती, तो यह कथन भी प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि आयुर्वेद का विधान है—

मृतस्य समीभवन्ति रोगाः।

अर्थात् मृत्यु हो जाने पर सब—वात, पित्त, कफ—दोप सम हो जाते हैं—नीरोग अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

अनात्मवादी कहते हैं—आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नहीं है। इन्द्रियों से उसका परिज्ञान नहीं होता, अतएव मन से भी वह नहीं जाना जा सकता, क्योंकि इन्द्रियों द्वारा जाने हुए पदार्थ को ही मन जान सकता है। अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष जैसी कोई वस्तु है ही नहीं। इस प्रकार किसी भी रूप में आत्मा का प्रत्यक्ष न होने से वह अनुमान के द्वारा भी नहीं जाना जा सकता। आगम परस्पर विरोधी प्ररूपणा करते हैं, अतएव वे स्वयं अप्रमाण हैं तो आत्मा के अस्तित्व को कैसे प्रमाणित कर सकते हैं?

यह कथन तर्क और अनुभव से असंगत है। सर्वप्रथम तो 'मैं हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ' इस प्रकार जो अनुभूति होती है, उसी से आत्मा की सिद्धि हो जाती है। घट, पट आदि चेतनाहीन पदार्थों को ऐसी प्रतीति नहीं होती। अतएव 'मैं' की अनुभूति से उस का कोई विपय सिद्ध होता है और जो 'मैं' शब्द का विपय (वाच्य) है, वही आत्मा कहलाता है।

गुण का प्रत्यक्ष हो तो वही गुणी का प्रत्यक्ष माना जाता है। घट के रूप और आकृति को देखकर ही लोग घट को देखना मानते हैं। अनन्त गुणों का समुदाय रूप समग्र पदार्थ कभी किसी संसार के प्राणी के ज्ञान में प्रतिभासित नहीं होता। इस नियम के अनुसार चेतना जीव का गुण होने से और उसका अनुभव-प्रत्यक्ष होने से जीव का भी प्रत्यक्ष मानना चाहिए।

अनुमान और आगम प्रमाण से भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। एक ही माता-पिता

के एक समान वातावरण में पलने वाले दो पुत्रों में धरती-आकाश जैसी जो विषमता दृष्टिगोचर होती है, वह किसी अदृष्ट कारण से ही होती है। वह अदृष्ट कारण पूर्वजन्मकृत शुभाशुभ कर्म ही हो सकता है और पूर्वजन्मकृत शुभाशुभ कर्म का फल आत्मा का पूर्व जन्म में अस्तित्व माने विना नहीं सिद्ध हो सकता।

वालक को जन्मते ही स्तनपान करने की अभिलाषा होती है और स्तन का अग्रभाग मुख में जाते ही वह दूध को चूसने लगता है। उसे स्तन को चूसना किसने सिखलाया है? माता वालक के मुख में स्तन लगा देती है, परन्तु उसे चूसने की क्रिया तो वालक स्वयं ही करता है। यह किस प्रकार होता है? स्पष्ट है कि पूर्व जन्मों के संस्कारों की प्रेरणा से ही ऐसा होता है। क्या इससे आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि नहीं होती?

'एगे आया' इत्यादि आगम वाक्यों से भी आत्मा की त्रैकालिक सत्ता प्रमाणित है।

विस्तार से आत्मसिद्धि के जिज्ञासु जनों को दर्शनशास्त्र के ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए।

आत्मा की सिद्धि हो जाने पर परलोक-पुनर्जन्म, पाप-पुण्य, पाप-पुण्य का फल, विविध योनियों में जन्म लेना आदि भी सिद्ध हो जाता है।

पूर्वजन्म की स्मृति की घटनाएँ आज भी अनेकानेक घटित होती रहती हैं। ये घटनाएँ आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व को अभ्रान्त रूप से सिद्ध करती हैं।

पंचस्कन्धवाद—बौद्धमत में पांच स्कन्ध माने गए हैं—(१) रूप (२) वेदना (३) विज्ञान (४) संज्ञा और (५) संस्कार।

१—**रूप**—पृथ्वी, जल आदि तथा इनके रूप, रस आदि।
२—**वेदना**—सुख, दुःख आदि का अनुभव।
३—**विज्ञान**—विशिष्ट ज्ञान अर्थात् रूप, रस, घट, पट आदि का ज्ञान।
४—**संज्ञा**—प्रतीत होने वाले पदार्थों का अभिधान—नाम।
५—**संस्कार**—पुण्य-पाप आदि धर्मसमुदाय।

बौद्धदर्शन के अनुसार समस्त जगत् इन पांच स्कन्धों का ही प्रपंच है। इनके अतिरिक्त आत्मा का पृथक् रूप से कोई अस्तित्व नहीं है। यह पाँचों स्कन्ध क्षणिक हैं।

वौद्धों में चार परम्पराएँ हैं—(१) वैभाषिक (२) सौत्रान्तिक (३) योगाचार और (४) माध्यमिक। वैभाषिक सभी पदार्थों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, किन्तु सभी को क्षणिक मानते हैं। क्षण-क्षण में आत्मा का विनाश होता रहता है, परन्तु उसकी सन्तति—सन्तानपरम्परा निरन्तर चालू रहती है। उस सन्तानपरम्परा का सर्वथा उच्छेद हो जाना—वंद हो जाना ही मोक्ष है। सौत्रान्तिक सम्प्रदाय के अनुसार जगत् के पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं होता। उन्हें अनुमान द्वारा ही जाना जाता है। योगाचार पदार्थों को असत् मानकर सिर्फ ज्ञान की ही सत्ता स्वीकार करते हैं और वह ज्ञान क्षणिक है। माध्यमिक सम्प्रदाय इन सभी से आगे बढ़ कर ज्ञान की भी सत्ता नहीं मानता। वह शून्यवादी है। न ज्ञान है और न ज्ञेय है। शून्यवाद के अनुसार वस्तु सत् नहीं, असत् भी नहीं, सत्-असत् भी नहीं और सत्-असत् नहीं ऐसा भी नहीं। तत्त्व इन चारों कोटियों से विनिर्मुक्त है।

इन सब भ्रान्त मान्यताओं का प्रतीकार विस्तारभय से यहाँ नहीं किया जा रहा है। दर्शनशास्त्र में विस्तार से इनका खण्डन किया गया है।

वायु-जीववाद—कुछ लोग वायु को—प्राणवायु को ही जीव स्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि जब तक श्वासोच्छ्वास चालू रहता है तब तक जीवन है और श्वासोच्छ्वास का अन्त हो जाना ही जीवन का अन्त हो जाना है। उसके पश्चात् परलोक में जाने वाला कोई जीव—आत्मा शेष नहीं रहता।

किन्तु विचारणीय है कि वायु जड़ है और जीव चेतन है। वायु में स्पर्श आदि जड़ के धर्म स्पष्ट प्रतीत होते हैं, जबकि जीव स्पर्श आदि से रहित है। ऐसी स्थिति में वायु को ही जीव कैसे माना जा सकता है?

आत्मा की सत्ता या नित्य सत्ता न मानने के फलस्वरूप स्वतः ही इस प्रकार की धारणाएँ पनपती हैं कि परभव नहीं है। शरीर का विनाश होने पर सर्वनाश हो जाता है। अतएव दान, व्रत, पोषध, तप, संयम, ब्रह्मचर्य आदि का आचरण निष्फल है। इनके करने का कुछ भी शुभ फल नहीं होता। साथ ही हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य, परिग्रह आदि कुकृत्यों का भी कोई दुष्फल नहीं होता। इसी कारण यह विधान कर दिया गया है कि—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः॥

अर्थात्—जब तक जीओ, सुख से—मस्त होकर जीओ। सुखपूर्वक जीवनयापन करने के लिए पैसा न हो तो ऋण लेकर घी पीओ—खाओ-पीओ। यह शरीर यहीं भस्मीभूत-राख हो जाता है। इसका फिर आगमन कहाँ है!

नरक है, स्वर्ग है, मोक्ष है, इत्यादि मान्यताएँ कल्पनामात्र हैं। अतएव इन्द्रियों के विषयों का सेवन करने में संकोच मत करो—मौज करो, मस्त रहो। धर्म-अधर्म का विचार त्याग दो। वे कहते भी हैं—

पिब खाद च चारुलोचने! यदतीतं वरगात्रि! तन्न ते।
न हि भीरु! गतं निवर्त्तते, समुदयमात्रमिदं कलेवरम्॥

अर्थात्—अरी सुलोचने! मजे से मन चाहा खाओ, (मदिरा आदि) सभी कुछ पीओ। हे सुन्दरी! जो बीत गया सो सदा के लिए गया, वह अब हाथ आने वाला नहीं। हे भीरु! (स्वर्ग-नरक की चिन्ता मत करो) यह कलेवर तो पांच भूतों का पिण्ड ही है। इन भूतों के बिखर जाने पर आत्मा या जीव जैसी कोई वस्तु शेष नहीं रहती।

इस प्रकार आत्मा का सनातन अस्तित्व स्वीकार न करने से जो विचारधारा उत्पन्न होती है, वह कितनी भयावह है! आत्मा को घोर पतन की ओर ले जाने वाली तो है ही, सामाजिक सदाचार, नैतिकता, प्रामाणिकता और शिष्टाचार के लिए भी चुनौती है! यदि संसार के सभी मनुष्य इस नास्तिकवाद को मान्य कर लें तो क्षण भर भी संसार में शान्ति न रहे। सर्वत्र हाहाकार मच जाए। बलवान् निर्बल को निगल जाए। सामाजिक मर्यादाएँ ध्वस्त हो जाएँ। यह भूतल ही नरक बन जाए।

असद्भाववादी का मत

४८—इमं वि बितियं कुदंसणं असब्भाववाइणो पण्णवेंति मूढा—संभूओ अंडगाओ लोगो।
सयंभुणा सयं य णिम्मिओ।
एवं एयं अलियं पयंपंति।

४७—(वामलोकवादी नास्तिकों के अतिरिक्त) कोई-कोई असद्भाववादी—मिथ्यावादी मूढ जन दूसरा कुदर्शन—मिथ्यामत इस प्रकार कहते हैं—

यह लोक अंडे से उद्भूत—प्रकट हुआ है।

इस लोक का निर्माण स्वयं स्वयंभू ने किया है।

इस प्रकार वे मिथ्या कथन करते हैं।

विवेचन—उल्लिखित मूल पाठ में सृष्टि की उत्पत्ति मान कर उसकी उत्पत्ति की विधि किस प्रकार मान्य की गई है, इस सम्बन्ध में अनेकानेक मतों में से दो मतों का उल्लेख किया गया है। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि यह वाद—कथन वास्तविक नहीं है। अज्ञानी जन इस प्रकार की प्ररूपणा करते हैं।

किसी-किसी का अभिमत है कि यह समग्र जगत् अंडे से उत्पन्न या उद्भूत हुआ है और स्वयंभू ने इसका निर्माण किया है।

अंडसृष्टि के मुख्य दो प्रकार हैं—एक प्रकार छान्दोग्योपनिषद् में बतलाया गया है और दूसरा प्रकार मनुस्मृति में दिखलाया गया है।

छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार सृष्टि से पहले प्रलयकाल में यह जगत् असत् अर्थात् अव्यक्त था। फिर वह सत् अर्थात् नाम रूप कार्य की ओर अभिमुख हुआ। तत्पश्चात् यह अंकुरित बीज के समान कुछ-कुछ स्थूल बना। आगे चलकर वह जगत् अंडे के रूप में बन गया। एक वर्ष तक वह अण्डे के रूप में बना रहा। एक वर्ष बाद अंडा फूटा। अंडे के कपालों (टुकड़ों) में से एक चांदी का और दूसरा सोने का बना। जो टुकड़ा चांदी का था उससे यह पृथ्वी बनी और सोने के टुकड़े से ऊर्ध्वलोक—स्वर्ग बना। गर्भ का जो जरायु (वेष्टन) था उससे पर्वत बने और जो सूक्ष्म वेष्टन था वह मेघ और तुषार रूप में परिणत हो गया। उसकी धमनियाँ नदियाँ बन गईं। जो मूत्राशय का जल था वह समुद्र बन गया। अंडे के अन्दर से जो गर्भ रूप में उत्पन्न हुआ वह आदित्य बना।[1]

यह स्वतन्त्र अंडे से बनी सृष्टि है। दूसरे प्रकार की अंडसृष्टि का वर्णन मनुस्मृति में पाया जाता है वह इस प्रकार है—[2]

---

१. छान्दोग्योपनिषद् ३, १९

२. आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥
ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥
योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः, सूक्ष्मोऽव्यक्तसनातनः।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः, स एव स्वयमुद्बभौ॥
सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात्सिसृक्षुर्विविधा प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ, तासु बीजमपासृजत्॥

पहले यह जगत् अन्धकार रूप था। यह न किसी से जाना जाता था, न इसका कोई लक्षण (पहचान) था। यह तर्क-विचार से अतीत और पूरी तरह से प्रसुप्त-सा अज्ञेय था।

तब अव्यक्त रहे हुए भगवान् स्वयंभू पांच महाभूतों को प्रकट करते हुए स्वयं प्रकट हुए।

यह जो अतीन्द्रिय, सूक्ष्म, अव्यक्त, सनातन, सर्वान्तिर्यामी और अचिन्त्य परमात्मा है, वह स्वयं (इस प्रकार) प्रकट हुआ।

उसने ध्यान करके अपने शरीर से अनेक प्रकार के जीवों को बनाने की इच्छा से सर्वप्रथम जल का निर्माण किया और उसमें बीज डाल दिया।

वह बीज सूर्य के समान प्रभा वाला स्वर्णमय अंडा बन गया। उससे सर्वलोक के पितामह ब्रह्मा स्वयं प्रकट हुए।

नर—परमात्मा से उत्पन्न होने के कारण जाल को नार कहते हैं। वह नार इसका पूर्व घर (आयन) है, इसलिए इसे नारायण कहते हैं।

जो सब का कारण है, अव्यक्त और नित्य है तथा सत् और असत् स्वरूप है, उससे उत्पन्न वह पुरुष लोक में ब्रह्मा कहलाता है।

एक वर्ष तक उस अंडे में रहकर उस भगवान् ने स्वयं ही अपने ध्यान से उस अंडे के दो टुकड़े कर दिए।

उन दो टुकड़ों से उसने स्वर्ग और पृथ्वी का निर्माण किया। मध्यभाग से आकाश, आठ दिशाओं और जल का शाश्वत स्थान निर्मित किया।

इस क्रम के अनुसार पहले भगवान् स्वयंभू प्रकट हुए और जगत् को बनाने की इच्छा से अपने शरीर से जल उत्पन्न किया। फिर उसमें बीज डालने से वह अंडाकार हो गया। ब्रह्मा या नारायण ने अंडे में प्रकट होकर उसे फोड़ दिया, जिससे समस्त संसार प्रकट हुआ।

इन सब मान्यताओं को यहां मृषावाद में परिगणित किया गया है। जैसा कि आगे कहा जायगा, जीवाजीवात्मक अथवा षड्द्रव्यात्मक लोक अनादि और अनन्त है। न कभी उत्पन्न होता है और न कभी इसका विनाश होता है। द्रव्यरूप से नित्य और पर्याय रूप से अनित्य है।

तदण्डमभवद्धैमं, सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा, सर्वलोकपितामहः॥
आपो नारा इति प्रोक्ता, आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं, तेन नारायणः स्मृतः॥
यत्तत्कारणमव्यक्तं, नित्यं सदसत्कारणम्।
तद्विसृष्टः स पुरुषो, लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते॥
तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद् द्विधा॥
ताभ्यां स शकलाभ्यां च, दिवं भूमिं च निर्ममे।
मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानञ्च शाश्वतम्॥

प्रजापति का सृष्टि-सर्जन—

४९—पयावइणा इस्सरेण य कयं ति केई।

एवं विण्हुमयं कसिणमेव य जगं ति केइ।

एवमेगे वयंति मोसं एगे आया अकारओ वेदओ य सुकयस्स दुक्कयस्स य करणाणि कारणाणि सव्वहा सव्वहिं च णिच्चो य णिक्किओ णिग्गुणो य अणुवलेवओ त्ति विय एवमाहंसु असब्भावं।

४८—कोई-कोई कहते हैं कि यह जगत् प्रजापति या महेश्वर ने बनाया है।

किसी का कहना है कि यह समस्त जगत् विष्णुमय है।

किसी की मान्यता है कि आत्मा अकर्त्ता है किन्तु (उपचार से) पुण्य और पाप (के फल) का भोक्ता है। सर्व प्रकार से तथा सर्वत्र देश-काल में इन्द्रियां ही कारण हैं। आत्मा (एकान्त) नित्य है, निष्क्रिय है, निर्गुण है और निर्लेप है। असद्भाववादी इस प्रकार प्ररूपणा करते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में अनेक मिथ्या मान्यताओं का उल्लेख किया गया है। उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

प्रजापतिसृष्टि—मनुस्मृति में कहा है—ब्रह्मा ने अपने देह के दो टुकड़े किए। एक टुकड़े को पुरुष और दूसरे टुकड़े को स्त्री बनाया। फिर स्त्री में विराट् पुरुष का निर्माण किया।

उस विराट् पुरुष ने तप करके जिसका निर्माण किया, वही मैं (मनु) हूँ, अतएव हे श्रेष्ठ द्विजो! सृष्टि का निर्माणकर्त्ता मुझे समझो।[1]

मनु कहते हैं—दुष्कर तप करके प्रजा की सृष्टि करने की इच्छा से मैंने प्रारम्भ में दश महर्षि प्रजापतियों को उत्पन्न किया।

उन प्रजापतियों के नाम ये हैं—(१) मरीचि (२) अत्रि (३) अंगिरस् (४) पुलस्त्य (५) पुलह (६) क्रतु (७) प्रचेतस् (८) वशिष्ठ (९) भृगु और (१०) नारद।[2]

ईश्वरसृष्टि—ईश्वरवादी एक—अद्वितीय, सर्वव्यापी, नित्य, सर्वतंत्रस्वतंत्र ईश्वर के द्वारा सृष्टि का निर्माण मानते हैं। ये ईश्वर को जगत् का उपादानकारण नहीं, निमित्तकारण कहते हैं।

---

१. द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देह-मर्द्धम् पुरुषोऽभवत्।
अर्धम् नारी तस्यां स, विराजमसृजत्प्रभुः॥
तपस्तप्त्वाऽसृजद् यं तु स स्वयं पुरुषो विराट्।
तं मां वित्तास्य सर्वस्य, सृष्टारं द्विजसत्तमाः॥

—मनुस्मृति अ. १. ३२-३२

२. अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु, तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम्।
पतीन् प्रजानामसृजं, महर्षीनादितो दश॥
मरीचिमत्र्यंगिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्।
प्रचेतसं वशिष्ठञ्च, भृगुं नारदमेव च॥

—मनुस्मृति अ. १–३४–३५

ईश्वर को ही कर्मफल का प्रदाता मानते हैं। ईश्वर द्वारा प्रेरित होकर ही संसारी जीव स्वर्ग या नरक में जाता है।

इस प्रकार जगत् की सृष्टि के विषय में, यों तो 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' इस लोकोक्ति के अनुसार अनेकानेक मत हैं, तथापि यहाँ मुख्य रूप से तीन मतों का उल्लेख किया गया है—अंडे से सृष्टि, प्रजापति द्वारा सृष्टि और ईश्वर द्वारा सृष्टि।

किन्तु सृष्टि-रचना की मूल कल्पना ही भ्रमपूर्ण है। वास्तव में यह जगत् सदा काल से है और सदा काल विद्यमान रहेगा।

इस विशाल एवं विराट् जगत् के मूलभूत तत्त्व जीव और अजीव हैं। ये दोनों तत्त्व न कभी सर्वथा उत्पन्न होते हैं और न कभी सर्वथा विनष्ट होते हैं। जगत् का एक भी परमाणु न सत् से असत् हो सकता है और न असत् से सत् ही हो सकता है। साधारणतया लोक में जो उत्पाद और विनाश कहलाता है, वह विद्यमान पदार्थों की अवस्थाओं का परिवर्त्तन मात्र है। मनुष्य की तो बात ही क्या, इन्द्र में भी यह सामर्थ्य नहीं कि वह शून्य में से एक भी कण का निर्माण कर सके और न यह शक्ति है कि किसी सत् को असत्—शून्य बना सके। प्रत्येक कार्य का उपादानकारण पहले ही विद्यमान रहता है। यह तथ्य भारतीय दर्शनों में और साथ ही विज्ञान द्वारा स्वीकृत है। ऐसी स्थिति में जगत् की मूलतः उत्पत्ति की कल्पना भ्रमपूर्ण है।

अंडे से जगत् की उत्पत्ति कहने वालों को सोचना चाहिए कि जब पांच भूतों की सत्ता नहीं थी तो अकस्मात् अंडा कैसे पैदा हो गया? अंडे के पैदा होने के लिए पृथिवी चाहिए, जल चाहिए, तेज भी चाहिए और रहने के लिए आकाश भी चाहिये! फिर देव और मनुष्य आदि भी अचानक किस प्रकार उत्पन्न हो गए?

विष्णुमय जगत् की मान्यता भी कपोल-कल्पना के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। जब जगत् नहीं था तो विष्णुजी रहते कहाँ थे? उन्हें जगत्-रचना की इच्छा और प्रेरणा क्यों हुई? अगर वे घोर अन्धकार में रहते थे, उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं था तो बिना उपादान-सामग्री के ही उन्होंने इतने विराट् जगत् की सृष्टि किस प्रकार कर डाली?

सृष्टि के विषय में अन्य मन्तव्य भी यहाँ बतलाए गए हैं। उन पर अन्यान्य दार्शनिक ग्रन्थों में विस्तार से गंभीर ऊहापोह किया गया है। अतएव जिज्ञासुओं को उन ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए। विस्तृत चर्चा करना यहाँ अप्रासंगिक होगा। प्रस्तुत में इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि सृष्टि की रचना संबंधी समस्त कल्पनाएँ मृषा हैं। जगत् अनादि एवं अनन्त है। ईश्वर तो परम वीतराग, सर्वज्ञ और कृतकृत्य है। जो आत्मा आध्यात्मिक विकास की चरम सीमा प्राप्त कर चुका है, जिसने शुद्ध आत्मस्वरूप को प्रकट कर लिया है, वही आत्मा परमात्मा है—ईश्वर है। उसे जगत् की रचना या संचालन की झंझटों में पड़ने की क्या अपेक्षा है? सृष्टि का रचयिता और नियंत्रक मानने से ईश्वर में अनेक दोषों की उपपत्ति होती है। यथा—यदि वह दयालु है तो दुःखी जीवों की सृष्टि क्यों करता है? कहा जाए कि जीव अपने पापकर्मों से दुःख भोगते हैं तो वह पापकर्मों को करने क्यों देता है? सर्वशक्तिमान् होने से उन्हें रोक नहीं देता? पहले तो ईश्वर जीवों को सर्वज्ञ होने के कारण जान-बूझ कर पापकर्म करने देता है, रोकने में समर्थ हो कर भी रोकता नहीं और फिर उन्हें पापकर्मों का दंड देता है! किसी को नरक में भेजता है, किसी को अन्य प्रकार से सजा देकर पीडा पहुँचाता है! ऐसी स्थिति में उसे करुणावान् कैसे कहा जा सकता है?

यदि यह सब ईश्वर की क्रीडा है—लीला है तो फिर उसमें और बालक में क्या अन्तर रहा ? फिर यह लीला कितनी क्रूरतापूर्ण है ?

इस प्रकार ये सारी कल्पनाएँ ईश्वर के स्वरूप को दूषित करने वाली हैं। सब मृषावाद है।

एकात्मवाद—प्रस्तुत सूत्र में एकात्मवाद की मान्यता का उल्लेख करके उसे मृषावाद बतलाया गया है। यह वेदान्तदर्शन की मान्यता है।[1] यद्यपि जैनागमों में भी संग्रहनय के दृष्टिकोण से आत्मा के एकत्व का कथन किया गया है किन्तु व्यवहार आदि अन्य नयों की अपेक्षा भिन्नता भी प्रतिपादित की गई है। द्रव्य की अपेक्षा से अनन्तानन्त आत्माएँ हैं। वे सब पृथक्-पृथक्, एक दूसरी से असंबद्ध, स्वतंत्र हैं। एकान्तरूप से आत्मा को एक मानना प्रत्यक्ष से और युक्तियों से भी बाधित है। मनुष्य, पशु, पक्षी, कीड़ा-मकोड़ा, वनस्पति आदि के रूप में आत्मा का अनेकत्व प्रत्यक्षसिद्ध है। अगर आत्मा एकान्ततः एक ही हो तो एक का मरण होने पर सब का मरण और एक का जन्म होने पर सब का जन्म होना चाहिए। एक के सुखी या दुःखी होने पर सब को सुखी या दुःखी होना चाहिए। किसी के पुण्य-पाप पृथक् नहीं होने चाहिए। इसके अतिरिक्त पिता-पुत्र में, पत्नी-पुत्री-माता आदि में भी भेद नहीं होना चाहिए। इस प्रकार सभी लौकिक एवं लोकोत्तर व्यवस्थाएँ नष्ट हो जाएँगी। अतएव एकान्त एकात्मवाद भी मृषावाद है।

अकर्तृवाद—सांख्यमत के अनुसार आत्मा अमूर्त्त, चेतन, भोक्ता, नित्य, सर्वव्यापक और अक्रिय है। वह अकर्त्ता है, निर्गुण है और सूक्ष्म है।[2]

वे कहते हैं—न तो आत्मा बद्ध होता है, न उसे मोक्ष होता है और न वह संसरण करता—एक भव से दूसरे भव में जाता है। मात्र नाना पुरुषों के आश्रित प्रकृति को ही संसार, बन्ध और मोक्ष होता है।[3]

सांख्यमत में मौलिक तत्त्व दो हैं—पुरुष अर्थात् आत्मा तथा प्रधान अर्थात् प्रकृति। सृष्टि के आविर्भाव के समय प्रकृति से बुद्धितत्त्व, बुद्धि से अहंकार, अहंकार से पांच कर्मेन्द्रियाँ; पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, और पाँच तन्मात्र अर्थात् रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द तथा इन पाँच तन्मात्रों से पृथ्वी आदि पाँच महाभूतों का उद्‌भव होता है। यह सांख्यसृष्टि की प्रक्रिया है।

सांख्य पुरुष (आत्मा) को नित्य, व्यापक और निष्क्रिय कहते हैं। अतएव वह अकर्त्ता भी है।

विचारणीय यह है कि यदि आत्मा कर्त्ता नहीं है तो भोक्ता कैसे हो सकता है ? जिसने शुभ या अशुभ कर्म नहीं किए हैं, वह उनका फल क्यों भोगता है ?

---

१. एक एव हि भूतात्मा, भूते-भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥

२. अमूर्त्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः।
अकर्त्ता निर्गुणः सूक्ष्म-आत्मा कापिलदर्शने ॥

३. तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥

—सांख्यकारिका

पुरुष चेतन और प्रकृति जड़ है और प्रकृति को ही संसार, बन्ध और मोक्ष होता है। जड़ प्रकृति में बन्ध-मोक्ष-संसार मानना मृषावाद है। उससे बुद्धि की उत्पत्ति कहना भी विरुद्ध है।

सांख्यमत में इन्द्रियों को पाप-पुण्य का कारण माना है, किन्तु वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ नामक उनकी मानी हुई पांच कर्मेन्द्रियाँ जड़ हैं। वे पाप-पुण्य का उपार्जन नहीं कर सकतीं। स्पर्शन आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियां भी द्रव्य और भाव के भेद से दो-दो प्रकार की हैं। द्रव्येन्द्रियां जड़ हैं। वे भी पुण्य-पाप का कारण नहीं हो सकतीं। भावेन्द्रियां आत्मा से कथंचित् अभिन्न हैं। उन्हें कारण मानना आत्मा को ही कारण मानना कहलाएगा।

आत्मा को एकान्त नित्य (कूटस्थ अपरिणामी), निष्क्रिय, निर्गुण और निर्लेप मानना भी अप्रामाणिक है। जब आत्मा सुख-दु:ख का भोक्ता है तो अवश्य ही उसमें परिणाम-अवस्थापरिवर्त्तन मानना पड़ेगा। अन्यथा कभी सुख का भोक्ता और कभी दु:ख का भोक्ता कैसे हो सकता है? एकान्त अपरिणामी होने पर जो सुखी है, वह सदैव सुखी ही रहना चाहिए और जो दु:खी है, वह सदैव दु:खी ही रहना चाहिए। इस अनिष्टापत्ति को टालने के लिए सांख्य कह सकते हैं कि आत्मा परमार्थत: भोक्ता नहीं है। बुद्धि सुख-दु:ख का भोग करती है और उसके प्रतिबिम्बमात्र से आत्मा (पुरुष) अपने आपको सुखी-दु:खी अनुभव करने लगता है। मगर यह कथन संगत नहीं हो सकता, क्योंकि बुद्धि जड़ प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण जड़ है और जड़ को सुख-दु:ख का अनुभव हो नहीं सकता। जो स्वभावत: जड़ है वह पुरुष के संसर्ग से भी चेतनावान् नहीं हो सकता।

आत्मा को क्रियारहित मानना प्रत्यक्ष से बाधित है। उसमें गमनागमन, जानना-देखना आदि क्रियाएँ तथा सुख-दु:ख, हर्ष-विषाद आदि की अनुभूतिरूप क्रियाएँ प्रत्यक्ष देखी जाती हैं।

आत्मा को निर्गुण मानना किसी अपेक्षाविशेष से ही सत्य हो सकता है, सर्वथा नहीं। अर्थात् प्रकृति के गुण यदि उसमें नहीं हैं तो ठीक, मगर पुरुष के गुण ज्ञान-दर्शनादि से रहित मानना योग्य नहीं है। ज्ञानादि गुण यदि चैतन्यस्वरूप आत्मा में नहीं होंगे तो किसमें होंगे? जड़ में तो चैतन्य का होना असंभव है।

वस्तुत: आत्मा चेतन है, द्रव्य से नित्य-अपरिणामी होते हुए भी पर्याय से अनित्य-परिणामी है, अपने शुभ और अशुभ कर्मों का कर्त्ता है और उनके फल सुख-दु:ख का भोक्ता है। अतएव वह सर्वथा निष्क्रिय और निर्गुण नहीं हो सकता।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में जगत् की उत्पत्ति और आत्मा संबंधी मृषावाद का उल्लेख किया गया है।

मृषावाद—

५०—जं वि इहं किंचि जीवलोए दीसइ सुकयं वा दुकयं वा एयं जदिच्छाए वा सहावेण वावि दइवतप्पभावओ वावि भवइ। णत्थेत्थ किंचि कयगं तत्तं लक्खणविहाणणियत्तीए कारियं एवं केइ जंपंति इड्ढि-रस-सायागारवपरा बहवे करणालसा परूवेंति धम्मवीमंसएणं मोसं।

५०—कोई-कोई ऋद्धि, रस और साता के गारव (अहंकार) से लिप्त या इनमें अनुरक्त बने हुए और क्रिया करने में आलसी बहुत से वादी धर्म की मीमांसा (विचारणा) करते हुए इस प्रकार मिथ्या प्ररूपणा कहते हैं—

इस जीवलोक में जो कुछ भी सुकृत या दुष्कृत दृष्टिगोचर होता है, वह सब यदृच्छा से, स्वभाव से अथवा दैवतप्रभाव—विधि के प्रभाव से ही होता है। इस लोक में कुछ भी ऐसा नहीं है जो पुरुषार्थ से किया गया तत्त्व (सत्य) हो। लक्षण (वस्तुस्वरूप) और विद्या (भेद) की कर्त्री नियति ही है, ऐसा कोई करते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में एकान्त यदृच्छावादी, स्वभाववादी, दैव या दैवतवादी एवं नियतिवादी के मन्तव्यों का उल्लेख करके उन्हें मृषा (मिथ्या) बतलाया गया है। साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि ऐसे वादी वस्तुतः ऋद्धि, रस और साता में आसक्त रहते हैं। वे पुरुषार्थहीन, प्रमादमय जीवन यापन करने वाले हैं, अतएव पुरुषार्थ के विरोधी हैं। उल्लिखित वादों का आशय संक्षेप में इस प्रकार है—

यदृच्छावाद—सोच-विचार किए विना ही—अनभिसन्धिपूर्वक, अर्थप्राप्ति यदृच्छा कहलाती है। यदृच्छावाद का मन्तव्य है—प्राणियों को जो भी सुख या दुःख होता है, वह सब अचानक-अतर्कित ही उपस्थित हो जाता है। यथा—काक आकाश में उड़ता-उड़ता अचानक किसी ताड़ के नीचे पहुँचा और अकस्मात् ही ताड़ का फल टूट कर गिरा और काक उससे आहत-घायल हो गया। यहाँ न तो काक का इरादा था कि मुझे आघात लगे और न ताड़-फल का अभिप्राय था कि मैं काक को चोट पहुँचाऊँ! सब कुछ अचानक हो गया। इसी प्रकार जगत् में जो घटनाएँ घटित होती हैं, वे सब विना अभिसन्धि—इरादे के घट जाती हैं। बुद्धिपूर्वक कुछ भी नहीं होता। अतएव अपने प्रयत्न एवं पुरुषार्थ का अभिमान करना वृथा है।[1]

स्वभाववाद—पदार्थ का स्वतः ही अमुक रूप में परिणमन होना स्वभाववाद कहलाता है। स्वभाववादियों का कथन है—जगत् में जो कुछ भी होता है, स्वतः ही हो जाता है। मनुष्य के करने से कुछ भी नहीं होता। कांटों में तीक्ष्णता कौन उत्पन्न करता है—कौन उन्हें नोकदार बनाता है? पशुओं और पक्षियों के जो अनेकानेक विचित्र-विचित्र आकार—रूप आदि दृष्टिगोचर होते हैं, उनको बनाने वाला कौन है? वस्तुतः यह सब स्वभाव से ही होता है। कांटे स्वभाव से ही नोकदार होते हैं और पशु-पक्षियों की विविधरूपता भी स्वभाव से ही उत्पन्न होती है। इसमें न किसी की इच्छा काम आती है, न कोई इसके लिए प्रयत्न या पुरुषार्थ करता है। इसी प्रकार जगत् के समस्त कार्यकलाप स्वभाव से ही हो रहे हैं। पुरुषार्थ को कोई स्थान नहीं है। लाख प्रयत्न करके भी कोई वस्तु के स्वभाव में तनिक भी परिवर्त्तन नहीं कर सकता।[2]

विधिवाद—जगत् में कुछ लोग एकान्त विधिवाद—भाग्यवाद का समर्थन करके मृषावाद करते हैं। उनका कथन है कि प्राणियों को जो भी सुख-दुःख होता है, जो हर्ष-विवाद के प्रसंग उपस्थित होते हैं, न तो यह इच्छा से और न स्वभाव से होते हैं, किन्तु विधि या भाग्य—दैव से ही

---

१. अतर्कितोपस्थितमेव सर्वं, चित्रं जनानां सुखदुःखजातम्।
काकस्य तालेन यथाभिघातो, न बुद्धिपूर्वोऽत्र वृक्षाभिमानः॥

—अभयदेववृत्ति पृ. ३६

२. कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं, विचित्रभावं मृगपक्षिणाञ्च।
स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं, न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः?॥

—अभयदेववृत्ति, पृ. ३६

होते हैं। दैव की अनुकूलता हो तो विना पुरुषार्थ किये इष्ट वस्तु प्राप्त हो जाती है और जब भाग्य प्रतिकूल होता है तो हजार-हजार प्रयत्न करने पर भी नहीं प्राप्त होती। अतएव संसार में सुख-दुःख का जनक भाग्य ही है। विधिवादी कहते हैं—

जिस अर्थ की प्राप्ति होती है वह हो ही जाती है, क्योंकि दैव अलंघनीय है—सर्वोपरि है, उसकी शक्ति अप्रतिहत है। अतएव दैववश जो कुछ होता है, उसके लिए मैं न तो शोक करता हूँ और न विस्मय में पड़ता हूँ। जो हमारा है, वह हमारा ही होगा। वह किसी अन्य का नहीं हो सकता।[1]

तात्पर्य यह है कि एकमात्र भाग्य ही शुभाशुभ फल का प्रदाता है। विधि के विधान को कोई टाल नहीं सकता।

नियतिवाद—भवितव्यता अथवा होनहार नियति कहलाती है। कई प्रमादी मनुष्य भवितव्य के सहारे निश्चिन्त रहने को कहते हैं। उनका कथन होता है—आखिर हमारे सोचने और करने से क्या होना जाना है! जो होनहार है, वह होकर ही रहता है और अनहोनी कभी होती नहीं।[2]

पुरुषार्थवाद—यद्यपि मूल पाठ में पुरुषार्थवाद का नामोल्लेख नहीं किया गया है, तथापि अनेक लोग एकान्त पुरुषार्थवादी देखे जाते हैं। उनका मत भी मृषावाद के अन्तर्गत है। कोई-कोई कालवादी भी हैं। उपलक्षण से यहाँ उनका भी ग्रहण कर लेना चाहिए।

एकान्त पुरुषार्थवादी स्वभाव, दैव आदि का निषेध करके केवल पुरुषार्थ से ही सर्व प्रकार की कार्यसिद्धि स्वीकार करते हैं। उनका कथन है—लक्ष्मी उद्योगी पुरुष को ही प्राप्त होती हैं। लक्ष्मी की प्राप्ति भाग्य से होती है, ऐसा कहने वाले पुरुष कायर हैं। अतएव दैव को ठोकर मारकर अपनी शक्ति के अनुसार पुरुषार्थ करो। प्रयत्न किए जाओ। प्रयत्न करने पर भी यदि सिद्धि न हो तो इसमें क्या दोष—बुराई है।

कार्य तो उद्योग-पुरुषार्थ करने से ही सिद्ध होते हैं। निठल्ले बैठे-बैठे मंसूबे करते रहने से सिद्धि नहीं मिलती। शेर सोया पड़ा रहे और मृग आकर उसके मुख में प्रविष्ट हो जाएँ, ऐसा क्या कभी हो सकता है? नहीं! शेर को अपनी भूख मिटाने के लिए पुरुषार्थ के सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है।

कालवाद—एकान्त कालवादियों का कथन है कि स्वभाव, नियति, पुरुषार्थ आदि नहीं, किन्तु काल से ही कार्य की सिद्धि होती है। सब कारण विद्यमान होने पर भी जब तक काल परिपक्व नहीं होता तब तक कार्य नहीं होता। अमुक काल में ही गेहूँ, चना आदि धान्य की निष्पत्ति

---

१. प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः, किम् कारणं? दैवमलङ्घनीयम्।
तस्मान्न शोचामि न विस्मयामि, यदस्मदीयं न हि तत् परेषाम्॥
—अभयदेववृत्ति, पृ. ३५

२. न हि भवति यन्न भाव्यं, भवति च भाव्यं विनापि यत्नेन।
करतलगतमपि नश्यति, यस्य नु भवितव्यता नास्ति॥
—अ. वृत्ति पृ. ३५

होती है। समय आने पर ही सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि होती है। अतएव एकमात्र कारण काल ही है।'[1]

ये सब एकान्त मृषावाद हैं। वास्तव में काल, स्वभाव, नियति, दैव और पुरुषार्थ, सभी यथायोग्य कार्यसिद्धि के सम्मिलित कारण हैं। स्मरण रखना चाहिए कि कार्यसिद्धि एक कारण से नहीं, अपितु सामग्री—समग्र कारणों के समूह—से होती है। काल आदि एक-एक कारण अपूर्ण कारक होने से सिद्धि के समर्थ कारण नहीं हैं। कहा गया है—

कालो सहाव नियई, पुव्वकयं पुरिसकारणेगंता।
मिच्छत्तं, ते चेव उ समासओ होंति सम्मत्तं॥

काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत (दैव—विधि) और पुरुषकार को एकान्त कारण मानना अर्थात् इन पांच में से किसी भी एक को कारण स्वीकार करना और शेष को कारण न मानना मिथ्यात्व है। ये सब मिलकर ही यथायोग्य कारण होते हैं, ऐसी मान्यता ही सम्यक्त्व है।

झूठा दोषारोपण करने वाले निन्दक—

५१—अवरे अहम्मओ रायदुट्ठं अब्भक्खाणं भणंति अलियं चोरोत्ति अचोरयं करेंतं, डामरिउत्ति वि य एमेव उदासीणं, दुस्सीलोत्ति य परदारं गच्छइत्ति मइलिंति सीलकलियं, अयं वि गुरुतप्पओ त्ति। अण्णे एमेव भणंति उवाहणंता मित्तकलत्ताइं सेवंति अयं वि लुत्तधम्मो, इमोवि विस्संभवाइओ पावकम्मकारी अगम्मगामी अयं दुरप्पा बहुएसु य पावगेसु जुत्तोत्ति एवं जंपंति मच्छरी। भद्दगे वा गुणकित्ति-णेह-परलोय-णिप्पिवासा। एवं ते अलियवयणदच्छा परदोसुप्पायणप्पसत्ता वेढेंति अक्खाइयबीएणं अप्पाणं कम्मबंधणेण मुहरी असमिक्खियप्पलावा।

५१—कोई-कोई—दूसरे लोग राज्यविरुद्ध मिथ्या दोषारोपण करते हैं। यथा—चोरी न करने वाले को चोर कहते हैं। जो उदासीन है—लड़ाई-झगड़ा नहीं करता, उसे लड़ाईखोर या झगड़ालू कहते हैं। जो सुशील है—शीलवान् है, उसे दुःशील—व्यभिचारी कहते हैं, यह परस्त्रीगामी है, ऐसा कहकर उसे मलिन करते हैं—बदनाम करते हैं। उस पर ऐसा आरोप लगाते हैं कि यह तो गुरुपत्नी के साथ अनुचित सम्बन्ध रखता है। कोई-कोई किसी की कीर्त्ति अथवा आजीविका को नष्ट करने के लिए इस प्रकार मिथ्यादोषारोपण करते हैं कि—यह अपने मित्र की पत्नियों का सेवन करता है। यह धर्महीन—अधार्मिक है, यह विश्वासघाती है, पाप कर्म करता है, नहीं करने योग्य कृत्य करता है, यह अगम्यगामी है अर्थात् भगिनी, पुत्रवधू आदि अगम्य स्त्रियों के साथ सहवास करता है, यह दुष्टात्मा है, बहुत-से पाप कर्मों को करने वाला है। इस प्रकार ईर्ष्यालु लोग मिथ्या प्रलाप करते हैं। भद्र पुरुष के परोपकार, क्षमा आदि गुणों की तथा कीर्त्ति, स्नेह एवं परभव की लेशमात्र परवाह न करने वाले वे असत्यवादी, असत्य भाषण करने में कुशल, दूसरों के दोषों को (मन से घड़कर) बताने में निरत रहते हैं। वे विचार किए विना बोलने वाले, अक्षय दुःख के कारणभूत अत्यन्त दृढ़ कर्मबन्धनों से अपनी आत्मा को वेष्टित—बद्ध करते हैं।

---

१. कालः सृजति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः।
कालः सुप्तेषु जागर्त्ति, कालो हि दुरतिक्रमः॥

—प्र. व्या. (सन्मति ज्ञानपीठ) पृ. २१२

विवेचन—प्रस्तुत पाठ में ऐसे लोगों का दिग्दर्शन कराया गया है जो ईर्ष्यालु हैं और इस कारण दूसरों की यशकीर्त्ति को सहन नहीं कर सकते। किसी की प्रतिष्ठावृद्धि देखकर उन्हें घोर कष्ट होता है। दूसरों के सुख को देखकर जिन्हें तीव्र दुःख का अनुभव होता है। ऐसे लोग भद्र पुरुषों को अभद्रता से लांछित करते हैं। तटस्थ रहने वाले को लड़ाई-झगड़ा करने वाला कहते हैं। जो सुशील—सदाचारी हैं, उन्हें वे कुशील कहने में संकोच नहीं करते। उनकी धृष्टता इतनी बढ़ जाती है कि वे उन सदाचारी पुरुषों को मित्र-पत्नी का अथवा गुरुपत्नी का—जो माता की कोटि में गिनी जाती है—सेवन करने वाला तक कहते नहीं हिचकते। पुण्यशील पुरुष को पापी कहने की धृष्टता करते हैं। ऐसे असत्यभाषण में कुशल, डाह से प्रेरित होकर किसी को कुछ भी लांछन लगा देते हैं। उन्हें यह विचार नहीं आता कि इस घोर असत्य भाषण और मिथ्यादोषारोपण का क्या परिणाम होगा ? वे यह भी नहीं सोचते कि मुझे परलोक में जाना है और इस मृषावाद का दुष्परिणाम भुगतना पड़ेगा। ऐसे लोग दूसरों को लांछित करके, उन्हें अपमानित करके, उनकी प्रतिष्ठा को मलीन करके भले ही क्षणिक सन्तोष का अनुभव कर लें, किन्तु वे इस पापाचरण के द्वारा ऐसे घोरतर पापकर्मों का संचय करते हैं जो बड़ी कठिनाई से भोगे विना नष्ट नहीं हो सकते। असत्यवादी को भविष्य में होने वाली यातनाओं से बचाने की सद्भावना से शास्त्रकार ने मृषावाद के अनेक प्रकारों का यहाँ उल्लेख किया है और आगे भी करेंगे।

लोभजन्य अनर्थकारी झूठ—

५२—णिक्खेवे अवहरंति परस्स अत्थम्मि गढियगिद्धा अभिजुंजंति य परं असंतएहिं। लुद्धा य करेंति कूडसक्खित्तणं असच्चा अत्थालियं च कण्णालियं च भोमालियं च तह गवालियं च गरुयं भणंति अहरगइगमणं। अण्णं पि य जाइरूवकुलसीलपच्चयं मायाणिउणं चवलपिसुणं परमट्ठभेयगमसंतगं विद्देसमणत्थकारगं पावकम्ममूलं दुद्दिट्ठं दुस्सुयं अमुणियं णिल्लज्जं लोयगरहणिज्जं वहबंधपरिकिलेस-बहुलं जरामरणदुक्खसोयणिम्मं असुद्धपरिणामसंकिलिट्ठं भणंति।

५२—पराये धन में अत्यन्त आसक्त वे (मृषावादी लोभी) निक्षेप (धरोहर) को हड़प जाते हैं तथा दूसरे को ऐसे दोषों से दूषित करते हैं जो दोष उनमें विद्यमान नहीं होते। धन के लोभी झूठी साक्षी देते हैं। वे असत्यभाषी धन के लिए, कन्या के लिए, भूमि के लिए तथा गाय-बैल आदि पशुओं के निमित्त अधोगति में ले जाने वाला असत्यभाषण करते हैं। इसके अतिरिक्त वे मृषावादी जाति, कुल, रूप एवं शील के विषय में असत्य भाषण करते हैं। मिथ्या षड्यंत्र रचने में कुशल, परकीय असद्गुणों के प्रकाशक, सद्गुणों के विनाशक, पुण्य-पाप के स्वरूप से अनभिज्ञ, असत्याचरण-परायण लोग अन्यान्य प्रकार से भी असत्य बोलते हैं। वह असत्य माया के कारण गुणहीन है, चपलता से युक्त है, चुगलखोरी (पैशुन्य) से परिपूर्ण है, परमार्थ को नष्ट करने वाला, असत्य अर्थवाला अथवा सत्त्व से हीन, द्वेषमय, अप्रिय, अनर्थकारी, पापकर्मों का मूल एवं मिथ्यादर्शन से युक्त है। वह कर्णकटु, सम्यग्ज्ञानशून्य, लज्जाहीन, लोकगर्हित, वध-बन्धन आदि रूप क्लेशों से परिपूर्ण, जरा, मृत्यु, दुःख और शोक का कारण है, अशुद्ध परिणामों के कारण संक्लेश से युक्त है।

विवेचन—प्रकृत पाठ में भी असत्यभाषण के अनेक निमित्तों का उल्लेख किया गया है और साथ ही असत्य की वास्तविकता अर्थात् असत्य किस प्रकार का होता है, यह दिखलाया गया है।

धन के लिए असत्य भाषण किया जाता है, यह तो लोक में सर्वविदित है। किन्तु धन-लोभ के कारण अन्धा बना हुआ मनुष्य इतना पतित हो जाता है कि वह परकीय धरोहर को हड़प कर मानो उसके प्राणों को ही हड़प जाता है।

इस पाठ में चार प्रकार के असत्यों का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है—(१) अर्थालीक (२) भूम्यलीक (३) कन्यालीक और (४) गवालीक। इनका अर्थ इस प्रकार है—

(१) **अर्थालीक**—अर्थ अर्थात् धन के लिए बोला जाने वाला अलीक (असत्य)। धन शब्द से यहाँ सोना, चांदी, रुपया, पैसा, मणि, मोती आदि रत्न, आभूषण आदि भी समझ लेना चाहिए।

(२) **भूम्यलीक**—भूमि प्राप्त करने के लिए या वेचने के लिए असत्य बोलना। अच्छी उपजाऊ भूमि को बंजर भूमि कह देना अथवा बंजर भूमि को उपजाऊ भूमि कहना, आदि।

(३) **कन्यालीक**—कन्या के सम्बन्ध में असत्य भाषण करना, सुन्दर सुशील कन्या को असुन्दर या दुश्शील कहना और दुश्शील को सुशील कहना, आदि।

(४) **गवालीक**—गाय, भैंस, बैल, घोड़ा आदि पशुओं के सम्बन्ध में असत्य बोलना।

चारों प्रकार के असत्यों में उपलक्षण से समस्त अपद, द्विपद और चतुष्पदों का समावेश हो जाता है।

संसारी जीव एकेन्द्रियपर्याय में अनन्तकाल तक लगातार जन्म-मरण करता रहता है। किसी प्रबल पुण्य का उदय होने पर वह एकेन्द्रिय पर्याय से बाहर निकलता है। तब उसे जिह्वा इन्द्रिय प्राप्त होती है और बोलने की शक्ति आती है। इस प्रकार बोलने की शक्ति प्राप्त हो जाने पर भी सोच-विचार कर सार्थक भावात्मक शब्दों का प्रयोग करने का सामर्थ्य तो तभी प्राप्त होता है जब प्रगाढतर पुण्य के उदय से जीव संज्ञी पंचेन्द्रिय दशा प्राप्त करे। इनमें भी व्यक्त वाणी मनुष्य-पर्याय में ही प्राप्त होती है। तात्पर्य यह है कि अनन्त पुण्य की पूंजी से व्यक्त वाणी बोलने का सामर्थ्य हम प्राप्त करते हैं। इतनी महर्घ्य शक्ति का सदुपयोग तभी हो सकता है, जब हम स्व-पर के हिताहित का विचार करके सत्य, तथ्य, प्रिय भाषण करें और आत्मा को मलीन—पाप की कालिमा से लिप्त करने वाले वचनों का प्रयोग न करें।

मूल पाठ में **पावकम्ममूलं दुद्दिट्ठं दुस्सुयं अमुणियं** पद विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं। इनका तात्पर्य यह है कि जिस बात को, जिस घटना को हमने अच्छी तरह देखा न हो, जिसके विषय में प्रामाणिक पुरुष से सुना न हो और जिसे सम्यक् प्रकार से जाना न हो, उसके विषय में अपना अभिमत प्रकट कर देना—अप्रमाणित को प्रमाणित कर देना भी असत्य है। यह असत्य पाप का मूल है।

स्मरण रखना चाहिए कि तथ्य और सत्य में अन्तर है। सत्य की व्युत्पत्ति है—सद्भ्यो हितम् सत्यम्, अर्थात् सत्पुरुषों के लिए जो हितकारक हो, वह सत्य है। कभी-कभी कोई वचन तथ्य होने पर भी सत्य नहीं होता। जिस वचन से अनर्थ उत्पन्न हो, किसी के प्राण संकट में पड़ते हों, जो वचन हिंसाकारक हो, ऐसे वचनों का प्रयोग सत्यभाषण नहीं है। सत्य की कसौटी अहिंसा है। जो वचन अहिंसा का विरोधी न हो, किसी के लिए अनर्थजनक न हो और हितकर हो, वही वास्तव में सत्य में परिगणित होता है।

जो वचन परमार्थ के भेदक हों—मुक्तिमार्ग के विरोधी हैं, कपटपूर्वक बोले जाते हैं, जो निर्लज्जतापूर्ण हैं और लोक में गर्हित हैं—सामान्य जनों द्वारा भी निन्दित हैं, सत्यवादी ऐसे वचनों का भी प्रयोग नहीं करता।

उभय-घातक—

५३—अलियाहिसंधि-सण्णिविट्ठा असंतगुणुदीरया य संतगुणणासगा य हिंसाभूओवघाइयं अलियं संपउत्ता वयणं सावज्जमकुसलं साहुगरहणिज्जं अहम्मजणणं भणंति, अणभिगय-पुण्णपावा पुणो वि अहिगरण-किरिया-पवत्तगा बहुविहं अणत्थं अवमद्दं अप्पणो परस्स य करेंति।

५३—जो लोग मिथ्या अभिप्राय—आशय में सन्निविष्ट हैं—असत् आशय वाले हैं, जो असत्—अविद्यमान गुणों की उदीरणा करने वाले—जो गुण नहीं हैं उनका होना कहने वाले, विद्यमान गुणों के नाशक—लोपक हैं—दूसरों में मौजूद गुणों को आच्छादित करने वाले हैं, हिंसा करके प्राणियों का उपघात करते हैं, जो असत्य भाषण करने में प्रवृत्त हैं, ऐसे लोग सावद्य—पापमय, अकुशल—अहितकर, सत्-पुरुषों द्वारा गर्हित और अधर्मजनक वचनों का प्रयोग करते हैं। ऐसे मनुष्य पुण्य और पाप के स्वरूप से अनभिज्ञ होते हैं। वे पुन: अधिकरणों अर्थात् पाप के साधनों—शस्त्रों आदि की क्रिया में—शस्त्रनिर्माण आदि पापोत्पादक उपादानों को बनाने, जुटाने, जोड़ने आदि की क्रिया में प्रवृत्ति करने वाले हैं, वे अपना और दूसरों का बहुविध—अनेक प्रकार से अनर्थ और विनाश करते हैं।

विवेचन—जिनका आशय ही असत्य से परिपूर्ण होता है, वे अनेकानेक प्रकार से सत्य को ढँकने और असत्य को प्रकट करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। वे अपने और अपना जिन पर रागभाव है ऐसे स्नेही जनों में जो गुण नहीं हैं, उनका होना कहते हैं और द्वेष के वशीभूत होकर दूसरे में जो गुण विद्यमान हैं, उनका अभाव प्रकट करने में संकोच नहीं करते। ऐसे लोग हिंसाकारी वचनों का प्रयोग करते भी नहीं हिचकते।

प्रस्तुत पाठ में एक तथ्य यह भी स्पष्ट किया गया है कि मृषावादी असत्य भाषण करके पर का ही अहित, विनाश या अनर्थ नहीं करता किन्तु अपना भी अहित, विनाश और अनर्थ करता हैं। मृषावाद के पाप के सेवन करने का विचार मन में जब उत्पन्न होता है तभी आत्मा मलीन हो जाता है और पापकर्म का बन्ध करने लगता है। मृषावाद करके, दूसरे को धोखा देकर कदाचित् दूसरे का अहित कर सके अथवा न कर सके, किन्तु पापमय विचार एवं आचार से अपना अहित तो निश्चित रूप से कर ही लेता है। अतएव अपने हित की रक्षा के लिए भी मृषावाद का परित्याग आवश्यक है।

पाप का परामर्श देने वाले—

५४—एमेव जंपमाणा महिससूकरे य साहिंति घायगाणं, ससयपसयरोहिए य साहिंति वागुराणं, तित्तिर-वट्टग-लावगे य कविंजल-कवोयगे य साहिंति साउणीणं, झस-मगर-कच्छभे य साहिंति मच्छियाणं, संखंके खुल्लए य साहिंति मगराणं, अयगर-गोणसमंडलिदव्वीकरे मउली य साहिंति वालवीणं, गोहा-सेहग-सल्लग-सरडगे य साहिंति लुद्धगाणं, गयकुलवाणरकुले य साहिंति पासियाणं,

सुग-वरहिण-मयणसाल-कोइल-हंसकुले सारसे य साहिंति पोसगाणं, वहबंधजायणं च साहिंति गोम्मियाणं, धण-धण्ण-गवेलए य साहिंति तक्कराणं, गामागर-णगरपट्टणे य साहिंति चारियाणं, पारघाइय पंथघाइयाओ य साहिंति गंठिभेयाणं, कयं च चोरियं साहिंति णगरगुत्तियाणं। लंछण-णिलंछण-धमण-दूहण-पोसण-वणण-दवण-वाहणाइयाइं साहिंति बहूणि गोमियाणं, धाउ-मणि-सिल-प्पवाल-रयणागरे य साहिंति आगरीणं, पुप्फविहिं फलविहिं च साहिंति मालियाणं, अग्घमहुकोसए य साहिंति वणचराणं।

५४—इसी प्रकार (स्व-पर का अहित करने वाले मृषावादी जन) घातकों को भैंसा और शूकर बतलाते हैं, वागुरिकों—व्याधों को—शशक—खरगोश, पसय—मृगविशेष या मृगशिशु और रोहित बतलाते हैं, तीतुर, वतक और लावक तथा कपिजल और कपोत—कबूतर पक्षीघातकों—चिड़ीमारों को बतलाते हैं, झष—मछलियाँ, मगर और कछुआ मच्छीमारों को बतलाते हैं, शंख (द्वीन्द्रिय जीव), अंक—जल-जन्तुविशेष और क्षुल्लक—कौड़ी के जीव धीवरों को बतला देते हैं, अजगर, गोणस, मंडली एवं दर्वीकर जाति के सर्पों को तथा मुकुली—विना फन के सर्पों को सँपेरों को—साँप पकड़ने वालों को बतला देते हैं, गोधा, सेह, शल्लकी और सरट—गिरगिट लुब्धकों को बतला देते हैं. गजकुल और वानरकुल अर्थात् हाथियों और बन्दरों के झुंड पाशिकों—पाश द्वारा पकड़ने वालों को बतलाते हैं, तोता, मयूर, मैना, कोकिला और हंस के कुल तथा सारस पक्षी पोपकों—इन्हें पकड़ कर, बंदी बना कर रखने वालों को बतला देते हैं। आरक्षकों—कारागार आदि के रक्षकों को वध, वन्ध और यातना देने के उपाय बतलाते हैं। चोरों को धन, धान्य और गाय-बैल आदि पशु बतला कर चोरी करने की प्रेरणा करते हैं। गुप्तचरों को ग्राम, नगर, आकर और पत्तन आदि बस्तियाँ (एवं उनके गुप्त रहस्य) बतलाते हैं। ग्रन्थिभेदकों—गांठ काटने वालों को रास्ते के अन्त में अथवा बीच में मारने-लूटने-टांठ काटने आदि की सीख देते हैं। नगररक्षकों—कोतवाल आदिपुलिसकर्मियों को की हुई चोरी का भेद बतलाते हैं। गाय आदि पशुओं का पालन करने वालों को लांछन—कान आदि काटना, या निशान बनाना, नपुंसक—बधिया करना, धमण—भैंस आदि के शरीर में हवा भरना (जिससे वह दूध अधिक दे), दुहना, पोषना—जौ आदि खिला कर पुष्ट करना, बछड़े को दूसरी गाय के साथ लगाकर गाय को धोखा देना अर्थात् वह गाय दूसरे के बछड़े को अपना समझकर स्तन-पान कराए, ऐसी भ्रान्ति में डालना, पीड़ा पहुँचाना, वाहन गाड़ी आदि में जोतना, इत्यादि अनेकानेक पाप-पूर्ण कार्य कहते या सिखलाते हैं। इसके अतिरिक्त (वे मृषावादी जन) खान वालों को गैरिक आदि धातुएँ बतलाते हैं, चन्द्रकान्त आदि मणियाँ बतलाते हैं, शिलाप्रवाल—मूंगा और अन्य रत्न बतलाते हैं। मालियों को पुष्पों और फलों के प्रकार बतलाते हैं तथा वनचरों—भील आदि वनवाली जनों को मधु का मूल्य और मधु के छत्ते बतलाते हैं अर्थात् मधु का मूल्य बतला कर उसे प्राप्त करने की तरकीब सिखाते हैं।

विवेचन—पूर्व में बतलाया गया था कि मृषावादी जन स्व और पर—दोनों के विघातक होते हैं। वे किस प्रकार उभय—विघातक हैं, यह तथ्य यहाँ अनेकानेक उदाहरणों द्वारा सुस्पष्ट किया गया है। जिनमें विवेक मूलत: है ही नहीं या लुप्त हो गया है, जो हित-अहित या अर्थ-अनर्थ का समीचीन विचार नहीं कर सकते, ऐसे लोग कभी-कभी स्वार्थ अथवा क्षुद्र-से स्वार्थ के लिए प्रगाढ़ पाप-कर्मों का संचय कर लेते हैं। शिकारियों को हिरण, व्याघ्र, सिंह आदि बतलाते हैं—अर्थात् अमुक स्थान पर भरपूर शिकार करने योग्य पशु मिलेंगे ऐसा सिखलाते हैं। शिकारी वहाँ जाकर उन पशुओं

का घात करते हैं। इसी प्रकार चिड़ीमारों को पक्षियों का पता बताते हैं, मच्छीमारों को मछलियों आदि जलचर जीवों के स्थान एवं घात का उपाय बतला कर प्रसन्न होते हैं। चोरों, डाकुओं, जेबकतरों आदि को चोरी आदि के स्थान-उपाय आदि बतलाते हैं। आजकल जेब काटना सिखाने के लिए अनेक नगरों में प्रशिक्षणशालाएँ चलती हैं, ऐसा सुना जाता है। कोई-कोई कैदियों को अधिक से अधिक यातनाएँ देने की शिक्षा देते हैं। कोई मधुमक्खियों को पीड़ा पहुँचा कर, उनका छत्ता तोड़ कर उसमें से मधु निकालना सिखलाते हैं। तात्पर्य यह है कि विवेकविकल लोग अनेक प्रकार से ऐसे वचनों का प्रयोग करते हैं, जो हिंसा आदि अनर्थों के कारण हैं और हिंसाकारी वचन मृषावाद में ही गर्भित हैं, भले ही वे निस्वार्थ भाव से बोले जाएँ। अतः सत्य के उपासकों को अनर्थकर वचनों से बचना चहिए। ऐसी भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए जिससे आरम्भ-समारम्भ आदि को उत्तेजना मिले या हिंसा हो।

५५—जंताइं विसाइं मूलकम्मं आहेवण-आविंधण-आभिओग-मंतोसहिप्पओगे चोरिय-परदार-गमण-बहुपावकम्मकरणं उक्खंधे गामघाइयाओ वणदहण-तलागभेयणाणि बुद्धिविसविणासणाणि वसीकरणमाइयाइं भय-मरण-किलेसदोसजणणाणि भावबहुसंकिलिट्ठमलिणाणि भूयघाओवघाइयाइं सच्चाइं वि ताइं हिंसगाइं वयणाइं उदाहरंति।

५५—मारण, मोहन, उच्चाटन आदि के लिए (लिखित) यन्त्रों या पशु-पक्षियों को पकड़ने वाले यन्त्रों, संखिया आदि विषों, गर्भपात आदि के लिए जड़ी-बूटियों के प्रयोग, मन्त्र आदि द्वारा नगर में क्षोभ या विद्वेष उत्पन्न कर देने अथवा मन्त्रबल से धनादि खींचने, द्रव्य और भाव से वशीकरण मन्त्रों एवं औषधियों के प्रयोग करने, चोरी, परस्त्रीगमन करने आदि के बहुत-से पापकर्मों के उपदेश तथा छल से शत्रुसेना की शक्ति को नष्ट करने अथवा उसे कुचल देने के, जंगल में आग लगा देने, तालाब आदि जलाशयों को सुखा देने के, ग्रामघात—गांव को नष्ट कर देने के, बुद्धि के विषय-विज्ञान आदि अथवा बुद्धि एवं स्पर्श, रस आदि विषयों के विनाश के, वशीकरण आदि के, भय, मरण, क्लेश और दुःख उत्पन्न करने वाले, अतीव संक्लेश होने के कारण मलिन, जीवों का घात और उपघात करने वाले वचन तथ्य (यथार्थ) होने पर भी प्राणियों का घात करने वाले होने से असत्य वचन, मृषावादी बोलते हैं।

विवेचन—पूर्व में प्रतिपादित किया जा चुका है कि वस्तुतः सत्य वचन वही कहा जाता है जो हिंसा का पोषक, हिंसा का जनक अथवा किसी भी प्राणी को कष्टदायक न हो। जो वचन तथ्य तो हो किन्तु हिंसाकारक हो, वह सत्य की परिभाषा में परिगणित नहीं होता। अतएव सत्य की शरण ग्रहण करने वाले सत्पुरुषों को अतथ्य के साथ तथ्य असत्य वचनों का भी त्याग करना आवश्यक है। सत्यवादी की वाणी अमृतमयी होनी चाहिए, विष वमन करने वाली नहीं। उससे किसी का अकल्याण न हो। इसीलिए कहा गया है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्,
न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।

अर्थात् सत्य के साथ प्रिय वचनों का प्रयोग करना चाहिए। अप्रिय सत्य का प्रयोग असत्य-प्रयोग के समान ही त्याज्य है।

इस तथ्य को सूत्रकार ने यहाँ स्पष्ट किया है। साथ ही प्राणियों का उपघात करने वाली भाषा का विवरण भी दिया है। यथा-मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र आदि के प्रयोग बतला कर किसी का अनिष्ट करना, चोरी एवं परस्त्रीगमन सम्बन्धी उपाय बतलाना, ग्रामघात की विधि बतलाना, जंगल को जलाने का उपदेश देना आदि। ऐसे समस्त वचन हिंसोत्तेजक अथवा हिंसाजनक होने के कारण विवेकवान् पुरुषों के लिए त्याज्य हैं।

हिंसक उपदेश-आदेश—

५६—पुट्ठा वा अपुट्ठा वा परतत्तियवावडा य असमिक्खियभासिणो उवदिसंति, सहसा उट्टा गोणा गवया दमंतु, परिणयवया अस्सा हत्थी गवेलग-कुक्कुडा य किज्जंतु, किणावेह य विक्केह पयह य सयणस्स देह पियह दासी-दास-भयग-भाइल्लगा य सिस्सा य पेसगजणो कम्मकरा य किंकरा य एए सयणपरिजणो य कीस अच्छंति ! भारिया भे करित्तु कम्मं, गहणाइं वणाइं खेत्तखिलभूमिवल्लराइं उत्तण-घणसंकडाइं डज्झंतु-सूडिज्जंतु य रुक्खा, भिज्जंतु जंतभंडाइयस्स उवहिस्स कारणाए बहुविहस्स य अट्ठाए उच्छू दुज्जंतु, पीलिज्जंतु य तिला, पयावेह य इट्टकाउ मम घरट्ठयाए, खेत्ताइं कसह कसावेह य, लहुं गाम-आगर-णगर-खेड-कब्बडे णिवेसेह, अडवीदेसेसु विउलसीमे पुप्फाणि य फलाणि य कंदमूलाइं काल-पत्ताइं गिण्हेह, करेह संचयं परिजणट्ठयाए साली वीही जवा य लुच्चंतु मलिज्जंतु उप्पणिज्जंतु य लहुं य पविसंतु य कोट्ठागारं।

५६—अन्य प्राणियों को सन्ताप—पीडा प्रदान करने में प्रवृत्त, अविचारपूर्वक भाषण करने वाले लोग किसी के पूछने पर और (कभी-कभी) विना पूछे ही सहसा (अपनी पटुता प्रकट करने के लिए) दूसरों को इस प्रकार का उपदेश देते हैं कि—ऊंटों को, बैलों को और गवयों-रोझों को दमो—इनका दमन करो। वय:प्राप्त—परिणत आयु वाले इन अश्वों को, हाथियों को, भेड़-बकरियों को या मुर्गों को खरीदो खरीदवाओ, इन्हें बेच दो, पकाने योग्य वस्तुओं को पकाओ स्वजन को दे दो, पेय—मदिरा आदि पीने योग्य पदार्थों का पान करो। दासी, दास—नौकर, भृतक—भोजन देकर रक्खे जाने वाले सेवक, भागीदार, शिष्य, कर्मकर—कर्म करनेवाले-नियत समय तक आज्ञा पालने वाले, किंकर—क्या करूं ? इस प्रकार पूछ कर कार्य करने वाले, ये सब प्रकार के कर्मचारी तथा ये स्वजन और परिजन क्यों—कैसे (निकम्मे-निठल्ले) बैठे हुए हैं ! ये भरण-पोषण करने योग्य हैं अर्थात् इनका वेतन आदि चुका देना चाहिए। ये आपका काम करें। ये सघन वन, खेत, विना जोती हुई भूमि, वल्लर—विशिष्ट प्रकार के खेत, जो उगे हुए घास-फूस से भरे हैं, इन्हें जला डालो, घास कटवाओ या उखड़वा डालो, यन्त्रों—घानी गाड़ी आदि भांड—कुन्डे आदि उपकरणों के लिए और नाना प्रकार के प्रयोजनों के लिए वृक्षों को कटवाओ, इक्षु-ईख—गन्नों को कटवाओ, तिलों को पेलो—इनका तेल निकालो, मेरा घर बनाने के लिए ईंटों को पकाओ, खेतों को जोतो अथवा जुतवाओ, जल्दी-से ग्राम, आकर (खानों वाली वस्ती) नगर, खेड़ा और कर्वट-कुनगर आदि को वसाओ। अटवी—प्रदेश में विस्तृत सीमा वाले गाँव आदि वसाओ। पुष्पों और फलों को तथा प्राप्त-काल अर्थात् जिनको तोड़ने या ग्रहण करने का समय हो चुका है, ऐसे कन्दों और मूलों को ग्रहण करो। अपने परिजनों के लिए इनका संचय करो। शाली—धान, व्रीहि—अनाज आदि और जौ को काट लो। इन्हें मलो अर्थात् मसल कर दाने अलग कर लो। पवन से साफ करो—दानों को भूसे से पृथक् करो और शीघ्र कोठार में भर लो—डाल लो।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ में अनेकानेक सावद्य कार्यों के आदेश और उपदेश का उल्लेख किया गया है और यह प्रतिपादन किया गया है कि विवेकविहीन जन किसी के पूछने पर अथवा न पूछने पर भी, अपने स्वार्थ के लिए अथवा विना स्वार्थ भी केवल अपनी चतुरता, व्यवहारकुशलता और प्रौढता प्रकट करने के लिए दूसरों को ऐसा आदेश-उपदेश दिया करते हैं, जिससे अनेक प्राणियों को पीडा उपजे, परिताप पहुँचे, उनकी हिंसा हो, विविध प्रकार का आरम्भ-समारम्भ हो।

अनेक लोग इस प्रकार के वचन-प्रयोग में कोई दोष ही नहीं समझते। अतएव वे निश्शंक होकर ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं। ऐसे अज्ञ प्राणियों को वास्तविकता समझाने के लिए सूत्रकार ने इतने विस्तार से इन अलीक वचनों का उल्लेख किया और आगे भी करेंगे।

यहाँ ध्यान में रखना चाहिए कि सूत्र में निर्दिष्ट वचनों के अतिरिक्त भी इसी प्रकार के अन्य वचन, जो पापकार्य के आदेश, उपदेश के रूप में हों अथवा परपीडाकारी हों, वे सभी मृषावाद में गर्भित हैं। ऐसे कार्य इतने अधिक और विविध हैं कि सभी का मूल पाठ में संग्रह नहीं किया जा सकता। इन निर्दिष्ट कार्यों को उपलक्षण—दिशादर्शकमात्र समझना चाहिए। इनको भलीभांति समझ कर अपने विवेक की कसौटी पर कसकर और सद्बुद्धि की तराजू पर तोल कर ऐसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए जो स्व-पर के लिए हितकारक हो, जिससे किसी को आघात-संताप उत्पन्न न हो और जो हिंसा-कार्य में प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में सहायक न हो।

सर्वविरति के आराधक साधु-साध्वी तो ऐसे वचनों से पूर्ण रूप से बचते ही हैं, किन्तु देशविरति के आराधक श्रावकों एवं श्राविकाओं को भी ऐसे निरर्थक वाद से सदैव बचने की सावधानी रखनी चाहिए। आगे भी ऐसे ही त्याज्य वचनों का उल्लेख किया जा रहा है।

युद्धादि के उपदेश-आदेश—

५७—अप्पमहउक्कोसगा य हम्मंतु पोयसत्था, सेण्णा णिज्जाउ, जाउ डमरं, घोरा वट्टंतु य संगामा पवहंतु य सगडवाहणाइं, उवणयणं चोलगं विवाहो जण्णो अमुगम्मि य होउ दिवसेसु करणेसु मुहुत्तेसु णक्खत्तेसु तिहिसु य, अज्ज होउ ण्हवणं मुइयं बहुखज्जपिज्जकलियं कोउगं विण्हावणगं, संतिकम्माणि कुणह ससि-रवि-गहोवराग-विसमेसु सज्जणपरियणस्स य णियगस्स य जीवियस्स परिरक्खणट्ठयाए पडिसीसगाइं य देह, दह य सीसोवहारे विविहोसहिमज्जमंस-भक्खण्ण-पाण-मल्लाणुलेवणपईव-जलि-उज्जलसुगंधि-धूवावगार-पुप्फ-फल-समिद्धे पायच्छित्ते करेह, पाणाइवायकरणेणं बहुविहेणं विवरीउप्पायदुस्सुमिण-पावसउण-असोमग्गहचरिय-अमंगल-णिमित्त-पडिघायहेउं, वित्तिच्छेयं करेह, मा देह किंचि दाणं, सुट्ठु हओ सुट्ठु हओ सुट्ठु छिण्णो भिण्णोत्ति उवदिसंता एवंविहं करेंति अलियं मणेण वायाए कम्मुणा य अकुसला अणज्जा अलियाणा अलियधम्म-णिरया अलियासु कहासु अभिरमंता तुट्ठा अलियं करेत्तु होइ य बहुप्पयारं।

५७—छोटे, मध्यम और बड़े नौकादल या नौकाव्यापारियों या नौकायात्रियों के समूह को नष्ट कर दो, सेना (युद्धादि के लिए) प्रयाण करे, संग्रामभूमि में जाए, घोर युद्ध प्रारंभ हो, गाड़ी और नौका आदि वाहन चलें, उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कार, चोलक—शिशु का मुण्डनसंस्कार, विवाहसंस्कार, यज्ञ—ये सब कार्य अमुक दिनों में, वालव आदि करणों में, अमृतसिद्धि आदि मुहूर्तों में, अश्विनी

पुष्य आदि नक्षत्रों में और नन्दा आदि तिथियों में होने चाहिए। आज स्नपन-सौभाग्य के लिए स्नान करना चाहिए अथवा सौभाग्य एवं समृद्धि के लिए प्रमोद-स्नान कराना चाहिए—आज प्रमोदपूर्वक बहुत विपुल मात्रा में खाद्य पदार्थों एवं मदिरा आदि पेय पदार्थों के भोज के साथ सौभाग्यवृद्धि अथवा पुत्रादि की प्राप्ति के लिए वधू आदि को स्नान कराओ तथा (डोरा बांधना आदि) कौतुक करो। सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण और अशुभ स्वप्न के फल को निवारण करने के लिए विविध मंत्रादि से संस्कारित जल से स्नान और शान्तिकर्म करो। अपने कुटुम्बीजनों की अथवा अपने जीवन की रक्षा के लिए कृत्रिम—आटे आदि से बनाये हुए प्रतिशीर्षक (सिर) चण्डी आदि देवियों की भेंट चढ़ाओ। अनेक प्रकार की ओषधियों, मद्य, मांस, मिष्ठान्न, अन्न, पान, पुष्पमाला, चन्दन-लेपन, उबटन, दीपक, सुगन्धित धूप, पुष्पों तथा फलों से परिपूर्ण विधिपूर्वक बकरा आदि पशुओं के सिरों की बलि दो। विविध प्रकार की हिंसा करके अशुभ-सूचक उत्पात, प्रकृतिविकार, दुःस्वप्न, अपशकुन, क्रूरग्रहों के प्रकोप, अमंगल सूचक अंगस्फुरण—भुजा आदि अवयवों का फड़कना, आदि के फल को नष्ट करने के लिए प्रायश्चित्त करो। अमुक की आजीविका नष्ट—समाप्त कर दो। किसी को कुछ भी दान मत दो। वह मारा गया, यह अच्छा हुआ। उसे काट डाला गया, यह ठीक हुआ। उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले गये, यह अच्छा हुआ।

इस प्रकार किसी के न पूछने पर भी आदेश-उपदेश अथवा कथन करते हुए, मन-वचन-काय से मिथ्या आचरण करने वाले अनार्य, अकुशल, मिथ्यामतों का अनुसरण करने वाले मिथ्या भाषण करते हैं। ऐसे मिथ्याधर्म में निरत लोग मिथ्या कथाओं में रमण करते हुए, नाना प्रकार से असत्य का सेवन करके सन्तोष का अनुभव करते हैं।

विवेचन—कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य एवं हित और अहित के विवेक से रहित होने के कारण अकुशल, पापमय क्रियाओं का आदेश-उपदेश करने के कारण अनार्य एवं मिथ्याशास्त्रों के अनुसार चलने वाले, उन पर आस्था रखने वाले मृषावादी लोग असत्य भाषण करने में आनन्द अनुभव करते हैं, असत्य को प्रोत्साहन देते हैं और ऐसा करके दूसरों को भ्रान्ति में डालने के साथ-साथ अपनी आत्मा को अधोगति का पात्र बनाते हैं।

पूर्ववर्णित पापमय उपदेश के समान प्रस्तुत पाठ में भी कई ऐसे कर्मों का उल्लेख किया गया है जो लोक में प्रचलित हैं और जिनमें हिंसा होती है। उदाहरणार्थ—युद्ध सम्बन्धी आदेश-उपदेश स्पष्ट ही हिंसामय है। नौकादल को डुबा देना—नष्ट करना, सेना को सुसज्जित करना, उसे युद्ध के मैदान में भेजना आदि। इसी प्रकार देवी-देवताओं के आगे बकरा आदि की बलि देना भी एकान्त हिंसामय कुकृत्य है। कई अज्ञान ऐसा मानते हैं कि जीवित बकरे या भैंसे की बलि चढ़ाने में पाप है पर आटे के पिण्ड से उसीकी आकृति बनाकर बलि देने में कोई बाधा नहीं है। किन्तु यह क्रिया भी घोर हिंसा का कारण होती है। कृत्रिम बकरे में बकरे का संकल्प होता है, अतएव उसका वध बकरे के वध के समान ही पापोत्पादक है। जैनागमों में प्रसिद्ध कालू कसाई का उदाहरण भी यही सिद्ध करता है, जो अपने शरीर के मैल से भैंसे बनाकर—मैल के पिण्डों में भैंसों का संकल्प करके उनका उपमर्दन करता था। परिणाम स्वरूप उसे नरक का अतिथि बनना पड़ा था।

प्रस्तुत पाठ से यह भी प्रतीत होता है कि आजकल की भांति प्राचीन काल में भी अनेक प्रकार की अन्धश्रद्धा—लोकमूढता प्रचलित थी। ऐसी अनेक अन्धश्रद्धाओं का उल्लेख यहाँ किया गया है।

शान्तिकर्म, होम, स्नान, यज्ञ आदि का उल्लेख यह प्रमाणित करता है कि आरंभ-समारंभ—हिंसा को उत्तेजन देने वाला प्रत्येक वचन, भले ही वह तथ्य हो या अतथ्य, मृषावाद में ही परिगणित है। अतएव सत्यवादी सत्पुरुष को अपने सत्य की प्रतिज्ञा का पालन करने के लिए हिंसाजनक अथवा हिंसाविधायक वचनों का भी परित्याग करना चाहिए। ऐसा करने पर ही उसके सत्यभाषण का संकल्प टिक सकता है—उसका निरतिचाररूपेण परिपालन हो सकता है।

मृषावाद का भयानक फल—

५८—तस्स य अलियस्स फलविवागं अयाणमाणा वड्ढेंति महब्भयं अविस्सामवेयणं दीहकालं बहुदुक्खसंकडं णरयतिरियजोणिं, तेण य अलिएण समणुबद्धा आइद्धा पुणब्भवंधयारे भमंति भीमे दुग्गइवसहिमुवगया। ते य दीसंति इह दुग्गया दुरंता परवस्सा अत्थभोगपरिवज्जिया असुहिया फुडियच्छवि-बीभच्छ-विवण्णा, खरफरुसविरत्तज्झामज्झुसिरा, णिच्छाया, लल्लविफलवाया, असक्कय-मसक्कया अगंधा अचेयणा दुभगा अकंता काकस्सरा हीणभिण्णघोसा विहिंसा जडबहिरंधया[1] य मम्मणा अकंतविकयकरणा, णीया णीयजणणिसेविणो लोयगरहणिज्जा भिच्चा असरिसजणस्स पेस्सा दुम्मेहा लोय-वेय-अज्झप्पसमयसुइवज्जिया, णरा धम्मबुद्धिवियला।

अलिएण य तेणं पडज्झमाणा असंतएण य अवमाणणपिट्ठिमंसाहिक्खेव-पिसुण-भेयण-गुरुबंधव-सयण-मित्तवक्खारणाइयाइं अब्भक्खाणाइं बहुविहाइं पावेंति अमणोरमाइं हिययमणदूमगाइं जावज्जीवं दुरुद्धराइं अणिट्ठ-खरफरुसवयण-तज्जण-णिब्भच्छणदीणवयणविमला कुभोयणा कुवाससा कुवसहीसु किलिस्संता णेव सुहं णेव णिव्वुइं उवलभंति अच्चंत-विउलदुक्खसयसंपलित्ता[2]।

५८—पूर्वोक्त मिथ्याभाषण के फल-विपाक से अनजान वे मृषावादी जन नरक और तिर्यञ्च योनि की वृद्धि करते हैं, जो अत्यन्त भयंकर हैं, जिनमें विश्रामरहित—निरन्तर—लगातार वेदना भुगतनी पड़ती है और जो दीर्घकाल तक बहुत दुःखों से परिपूर्ण हैं। (नरक—तिर्यंच योनियों में लम्बे समय तक घोर दुःखों का अनुभव करके शेष रहे कर्मों को भोगने के लिए) वे मृषावाद में निरत—लीन नर भयंकर पुनर्भव के अन्धकार में भटकते हैं। उस पुनर्भव में भी दुर्गति प्राप्त करते हैं, जिसका अन्त बड़ी कठिनाई से होता है। वे मृषावादी मनुष्य पुनर्भव (इस भव) में भी पराधीन होकर जीवन यापन करते हैं। वे अर्थ और भोगों से परिवर्जित होते हैं अर्थात् उन्हें न तो भोगोपभोग का साधन अर्थ (धन) प्राप्त होता है और न वे मनोज्ञ भोगोपभोग ही प्राप्त कर सकते हैं। वे (सदा) दुःखी रहते हैं। उनकी चमड़ी बिवाई, दाद, खुजली आदि से फटी रहती है, वे भयानक दिखाई देते हैं और विवर्ण—कुरूप होते हैं। कठोर स्पर्श वाले, रतिविहीन—बेचैन, मलीन एवं सारहीन शरीर वाले होते हैं। शोभाकान्ति से रहित होते हैं। वे अस्पष्ट और विफल वाणी वाले होते हैं अर्थात् न तो स्पष्ट उच्चारण कर सकते हैं और न उनकी वाणी सफल होती है। वे संस्काररहित (गंवार) और सत्कार से रहित होते हैं—उनका कहीं सन्मान नहीं होता। वे दुर्गन्ध से व्याप्त, विशिष्ट चेतना से विहीन, अभागे, अकान्त—

---

१. जडबहिरमूया—पाठ भी मिलता है।

२. संपउत्ता—पाठ भी है।

अनिच्छनीय—अकमनीय, काक के समान अनिष्ट स्वर वाले, धीमी और फटी हुई आवाज वाले, विहिंस्य—दूसरों के द्वारा विशेष रूप से सताये जाने वाले, जड़, वधिर, अंधे, गूंगे और अस्पष्ट उच्चारण करने वाले—तोतली बोली बोलने वाले, अमनोज्ञ तथा विकृत इन्द्रियों वाले, जाति, कुल, गोत्र तथा कार्यों से नीच होते हैं। उन्हें नीच लोगों का सेवक—दास बनना पड़ता है। वे लोक में गर्हा के पात्र होते हैं—सर्वत्र निन्दा एवं धिक्कार प्राप्त करते हैं। वे भृत्य—चाकर होते हैं और असदृश—असमान—विरुद्ध आचार-विचार वाले लोगों के आज्ञापालक या द्वेषपात्र होते हैं। वे दुर्बुद्धि होते हैं अतः लौकिक शास्त्र—महाभारत रामायण आदि, वेद—ऋग्वेद आदि, आध्यात्मिक शास्त्र—कर्मग्रन्थ तथा समय—आगमों या सिद्धान्तों के श्रवण एवं ज्ञान से रहित होते हैं। वे धर्मबुद्धि से रहित होते हैं।

उस अशुभ या अनुपशान्त असत्य की अग्नि से जलते हुए वे मृषावादी अपमान, पीठ पीछे होने वाली निन्दा, आक्षेप—दोषारोपण, चुगली, परस्पर की फूट अथवा प्रेमसम्बन्धों का भंग आदि की स्थिति प्राप्त करते हैं। गुरुजनों, बन्धु-बान्धवों, स्वजनों तथा मित्रजनों के तीक्ष्ण वचनों से अनादर पाते हैं। अमनोरम, हृदय और मन को सन्ताप देने वाले तथा जीवनपर्यन्त कठिनाई से मिटने वाले—जिनका प्रतीकार सम्पूर्ण जीवन में भी कठिनाई से हो सके या न हो सके ऐसे अनेक प्रकार के मिथ्या आरोपों को वे प्राप्त करते हैं। अनिष्ट-अप्रिय, तीक्ष्ण, कठोर और मर्मवेधी वचनों से तर्जना, झिड़कियों और धिक्कार—तिरस्कार के कारण दीन मुख एवं खिन्न चित्त वाले होते हैं। वे खराब भोजन वाले और मैले—कुचेले तथा फटे वस्त्रों वाले होते हैं, अर्थात् मृषावाद के परिणामस्वरूप उन्हें न अच्छा भोजन प्राप्त होता है, न पहनने—ओढने के लिए अच्छे वस्त्र ही नसीब होते हैं। उन्हें निकृष्ट वस्ती में क्लेश पाते हुए अत्यन्त एवं विपुल दुःखों की अग्नि में जलना पड़ता है। उन्हें न तो शारीरिक सुख प्राप्त होता है और न मानसिक शान्ति ही मिलती है।

विवेचन—यहाँ मृषावाद के दुष्फल का लोमहर्षक चित्र उपस्थित किया गया है। प्रारम्भ में कहा गया है कि मृषावाद के फल को नहीं जानने वाले अज्ञान जन मिथ्या भाषण करते हैं। वास्तव में जिनको असत्यभाषण के यहाँ प्ररूपित फल का वास्तविक ज्ञान नहीं है अथवा जो जान कर भी उस पर पूर्ण प्रतीति नहीं करते, वे भी अनजान की श्रेणी में ही परिगणित होते हैं।

हिंसा का फल-विपाक बतलाते हुए शास्त्रकार ने नरक और तिर्यंच गति में प्राप्त होने वाले दुःखों का विस्तार से निरूपण किया है। मृषावाद का फल ही दीर्घकाल तक नरक और तिर्यंच गतियों में रह कर अनेकानेक भयानक दुःखों को भोगना बतलाया गया है। अतः यहाँ भी पूर्ववर्णित दुःखों को समझ लेना चाहिए।

असत्यभाषण को साधारण जन सामान्य या हल्का दोष मानते हैं और साधारण-सी स्वार्थसिद्धि के लिए, दूसरों को धोखा देने के लिए, क्रोध से प्रेरित होकर, लोभ के वशीभूत होकर, भय के कारण अथवा हास्य-विनोद में लीन होकर असत्य भाषण करते हैं। उन्हें इसके दुष्परिणाम की चिन्ता नहीं होती। शास्त्रकार ने यहाँ बतलाया है कि मृषावाद का फल इतना गुरुतर एवं भयंकर होता है कि नरकगति और तिर्यंचगति के भयानक कष्टों को दीर्घ काल पर्यन्त भोगने के पश्चात् भी उनसे पिण्ड नहीं छूटता। उसका फल जो शेष रह जाता है उसके प्रभाव से मृषावादी जब मनुष्यगति में उत्पन्न होता है तब भी वह अत्यन्त दुरवस्था का भागी

होता है। दीनता, दरिद्रता उसका पीछा नहीं छोड़ती। सुख-साधन उसे प्राप्त नहीं होते। उनका शरीर कुरूप, फटी चमड़ी वाला, दाद, खाज, फोड़ों-फुन्सियों से व्याप्त रहता है। उनके शरीर से दुर्गन्ध फूटती है। उन्हें देखते ही दूसरों को ग्लानि होती है।

मृषावादी की वोली अस्पष्ट होती है। वे सही उच्चारण नहीं कर पाते। उनमें से कई तो गूंगे ही होते हैं। उनका भाषण अप्रिय, अनिष्ट और अरुचिकर होता है।

उनका न कहीं सत्कार-सन्मान होता है, न कोई आदर करता है। काक सरीखा अप्रीतिजनक उनका स्वर सुन कर लोग घृणा करते हैं। वे सर्वत्र ताड़ना-तर्जना के भागी होते हैं। मनुष्यभव पाकर भी वे अत्यन्त अधम अवस्था में रहते हैं। जो उनसे भी अधम हैं, उन्हें उनकी दासता करनी पड़ती है। रहने के लिए खराव वस्ती, खाने के लिए खराव भोजन और पहनने के लिए गंदे एवं फटे-पुराने कपड़े मिलते हैं।

तात्पर्य यह कि मृषावाद का फल-विपाक अतीव कष्टप्रद होता है और अनेक भवों में उसे भुगतना पड़ता है। मृषावादी नरक-तिर्यंच गतियों की दारुण वेदनाओं को भोगने के पश्चात् जव मानव योनि में आता है, तव भी वह सर्व प्रकार से दुःखी ही रहता है। शारीरिक और मानसिक क्लेश उसे निरन्तर अशान्त एवं आकुल-व्याकुल वनाये रखते हैं। उस पर अनेक प्रकार के सच्चे-झूठे दोषारोपण किए जाते हैं, जिनके कारण वह घोर सन्ताप की ज्वालाओं में निरन्तर जलता रहता है।

इस प्रकार का मृषावाद का कटुक फल-विपाक जान कर विवेकवान् पुरुषों को असत्य से विरत होना चाहिए।

फल-विपाक की भयंकरता—

५९ (क)—एसो सो अलियवयणस्स फलविवाओ इहलोइओ परलोइओ अप्पसुहो वहुदुक्खो महब्भओ वहुरयप्पगाढो दारुणो कक्कसो असाओ वास-सहस्सेहिं मुच्चइ, ण अवेयइत्ता अत्थि हु मोक्खोत्ति।

एवमाहंसु णायकुलणंदणो महप्पा जिणो उ वीरवरणामधेज्जो कहेसि य अलियवयणस्स फलविवागं।

५९ (क)—मृषावाद का यह (पूर्वोक्त) इस लोक और परलोक सम्वन्धी फल विपाक है। इस फल-विपाक में सुख का अभाव है और दुःखों की ही वहुलता है। यह अत्यन्त भयानक है और प्रगाढ कर्म-रज के वन्ध का कारण है। यह दारुण है, कर्कश है और असातारूप है। सहस्रों वर्षों में इससे छुटकारा मिलता है। फल को भोगे विना इस पाप से मुक्ति नहीं मिलती—इसका फल भोगना ही पड़ता है।

ज्ञातकुलनन्दन, महान् आत्मा वीरवर महावीर नामक जिनेश्वर देव ने मृषावाद का यह फल प्रतिपादित किया है।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ में मृषावाद के कटुक फलविपाक का उपसंहार करते हुए तीन वातों का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है :—

१. असत्य भाषण का जो पहले और यहाँ फल निरूपित किया गया है, वह सूत्रकार ने स्वकीय मनीषा से नहीं निरूपित किया है किन्तु ज्ञातकुलनन्दन भगवान् महावीर जिन के द्वारा प्ररूपित है। यह लिख कर शास्त्रकार ने इस समग्र कथन की प्रामाणिकता प्रकट की है। भगवान् के लिए 'जिन' विशेषण का प्रयोग किया गया है। जिन का अर्थ है—वीतराग—राग-द्वेष आदि विकारों के विजेता। जिसने पूर्ण वीतरागता—जिनत्व-प्राप्त कर लिया है, वे अवश्य ही सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होते हैं। इस प्रकार वीतराग और सर्वज्ञ की वाणी एकान्ततः सत्य ही होती है, उसमें असत्य की आशंका हो ही नहीं सकती। क्योंकि कषाय और अज्ञान ही मिथ्याभाषण के कारण होते हैं—या तो वास्तविक ज्ञान न होने से असत्य भाषण होता है, अथवा किसी कषाय से प्रेरित होकर मनुष्य असत्य भाषण करता है। जिसमें सर्वज्ञता होने से अज्ञान नहीं है और वीतरागता होने से कषाय का लेश भी नहीं है, उनके वचनों में असत्य की संभावना भी नहीं की जा सकती। आगम में इसीलिए कहा है—

तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं।

अर्थात् जिनेन्द्रों ने जो कहा है वही सत्य है और उस कथन में शंका के लिए कुछ भी स्थान नहीं है।

इस प्रकार यहाँ प्रतिपादित मृषावाद के फलविपाक को पूर्णरूपेण वास्तविक समझना चाहिए।

२—सूत्रकार ने दूसरा तथ्य यह प्रकट किया है कि मृषावाद के फल को सहस्रों वर्षों तक भोगना पड़ता है। यहाँ मूल पाठ में **'वाससहस्सेहिं'** पद का प्रयोग किया गया है। यह पद यहाँ दीर्घ काल का वाचक समझना चाहिए। जैसे **'मुहुत्तं'** शब्द स्तोक काल का भी वाचक होता है, वैसे ही 'वाससहस्सेहिं' पद लम्बे समय का वाचक है। अथवा 'सहस्र' शब्द में बहुवचन का प्रयोग करके सूत्रकार ने दीर्घकालिक फलभोग का अभिप्राय प्रकट किया है।

३—तीसरा तथ्य यहाँ फल की अवश्यमेव उपभोग्यता कही है। असत्य भाषण का दारुण दुःखमय फल भोगे विना जीव को उससे छुटकारा नहीं मिलता। क्योंकि वह विपाक **'बहुरयप्पगाढो'** होता है, अर्थात् अलीक भाषण से जिन कर्मों का बंध होता है, वे बहुत गाढे चिकने होते हैं, अतएव विपाकोदय से भोगने पड़ते हैं।

यों तो कोई भी बद्ध कर्म भोगे विना नहीं निर्जीर्ण होता—छूटता। विपाक द्वारा अथवा प्रदेशों द्वारा उसे भोगना ही पड़ता है। परन्तु कुछ कर्म ऐसे होते हैं जो केवल प्रदेशों से उदय में आकर ही निर्जीर्ण हो जाते हैं, उनके विपाक-फल का अनुभव नहीं होता। किन्तु गाढ रूप में बद्ध कर्म विपाक द्वारा ही भोगने पड़ते हैं। असत्य भाषण एक घोर पाप है और जब वह तीव्रभाव से किया जाता है तो गाढ कर्मबंध का कारण होता है। उसे भोगना ही पड़ता है।

उपसंहार—

५९ (ख)—एयं तं बिईयं पि अलियवयणं लहुसग-लहु-चवल-भणियं भयंकरं दुहकरं अयसकरं वेरकरगं अरइ-रइ-राग-दोस-मणसंकिलेस-वियरणं अलिय-णियडि-साइजोगबहुलं णीयजणणिसेवियं णिस्संसं अप्पच्चयकारगं परम-साहुगरहणिज्जं परपीलाकारगं परमकण्हलेस्ससहियं दुग्गइ-विणिवाय-वड्ढणं पुणब्भवकरं चिरपरिचियमणुगयं दुरंतं।

॥ बिईयं अहम्मदारं समत्तं ॥

५९(ख)—यह दूसरा अधर्मद्वार—मृषावाद है। छोटे—तुच्छ और चंचल प्रकृति के लोग इसका प्रयोग करते—बोलते हैं अर्थात् महान् एवं गम्भीर स्वभाव वाले मृषावाद का सेवन नहीं करते। यह मृषावाद भयंकर है, दुःखकर है, अपयशकर है, वैरकर—वैर का कारण—जनक है। अरति, रति, राग-द्वेष एवं मानसिक संक्लेश को उत्पन्न करने वाला है। यह झूठ, निष्फल कपट और अविश्वास की बहुलता वाला है। नीच जन इसका सेवन करते हैं। यह नृशंस—निर्दय एवं निर्घृण है। अविश्वास-कारक है—मृषावादी के कथन पर कोई विश्वास नहीं करता। परम साधुजनों—श्रेष्ठ सत्पुरुषों द्वारा निन्दनीय है। दूसरों को पीड़ा उत्पन्न करने वाला और परम कृष्णलेश्या से संयुक्त है। दुर्गति—अधोगति में निपात का कारण है, अर्थात् असत्य भाषण से अधःपतन होता है, पुनः पुनः जन्म-मरण का कारण है, अर्थात् भव-भवान्तर का परिवर्तन करने वाला है। चिरकाल से परिचित है—अनादि काल से लोग इसका सेवन कर रहे हैं, अतएव अनुगत है—उनके साथ चिपटा है। इसका अन्त कठिनता से होता है अथवा इसका परिणाम दुःखमय ही होता है।

॥ द्वितीय अधर्मद्वार समाप्त ॥

तृतीय अध्ययन : अदत्तादान

दूसरे मृषावाद—आस्रवद्वार के निरूपण के पश्चात् अब तीसरे अदत्तादान-आस्रव का निरूपण किया जाता है, क्योंकि मृषावाद और अदत्तादान में घनिष्ठ सम्बन्ध है। अदत्तादान करने वाला प्राय: असत्य भाषण करता है। सर्वप्रथम अदत्तादान के स्वरूप का निरूपण प्रस्तुत है:—

अदत्त का परिचय—

६०—जंबू ! तइयं च अदिण्णादाणं हर-दह-मरणभय-कलुस-तासण-परसंतिग-अभेज्ज-लोभ-मूलं कालविसमसंसियं अहोऽच्छिण्ण-तण्हपत्थाण-पत्थोइमइयं अकित्तिकरणं अणज्जं छिद्दमंतर-विहुर-वसण-मग्गण-उस्सवमत्त-प्पमत्त पसुत्त-वंचणक्खिवण-घायणपरं अणिहुयपरिणामं तक्कर-जणबहुमयं अकलुणं रायपुरिस-रक्खियं सया साहु-गरहणिज्जं पियजण-मित्तजण-भेय-विप्पिइकारगं रागदोसबहुलं पुणो य उप्पूरसमरसंगामडमर-कलिकलहवेहकरणं दुग्गइविणिवायवड्ढणं-भवपुणब्भवकरं चिरपरिचिय-मणुगयं दुरंतं। तइयं अहम्मदारं।

६०—श्रीसुधर्मा स्वामी ने अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहा—हे जम्बू ! तीसरा अधर्मद्वार अदत्तादान—अदत्त—विना दी गई किसी दूसरे की वस्तु को आदान—ग्रहण करना, है। यह अदत्ता-दान (परकीय पदार्थ का) हरण रूप है। हृदय को जलाने वाला है। मरण और भय रूप अथवा मरण-भय रूप है। पापमय होने से कलुषित—मलीन है। परकीय धनादि में रौद्रध्यानस्वरूप मूर्च्छा—लोभ ही इसका मूल है। विषमकाल—आधी रात्रि आदि और विषमस्थान—पर्वत, सघन वन आदि स्थानों पर आश्रित है अर्थात् चोरी करने वाले विषम काल और विषम देश की तलाश में रहते हैं। यह अदत्तादान निरन्तर तृष्णाग्रस्त जीवों को अधोगति की ओर ले जाने वाली बुद्धि वाला है अर्थात् अदत्तादान करने वाले की बुद्धि ऐसी कलुषित हो जाती है कि वह अधोगति में ले जाती है। अदत्ता-दान अपयश का कारण है, अनार्य पुरुषों द्वारा आचरित है, आर्य—श्रेष्ठ मनुष्य कभी अदत्तादान नहीं करते। यह छिद्र—प्रवेशद्वार, अन्तर—अवसर, विधुर—अपाय एवं व्यसन—राजा आदि द्वारा उत्पन्न की जाने वाली विपत्ति का मार्गण करने वाला—उसका पात्र है। उत्सवों के अवसर पर मदिरा आदि के नशे में बेभान, असावधान तथा सोये हुए मनुष्यों को ठगने वाला, चित्त में व्याकुलता उत्पन्न करने और घात करने में तत्पर है तथा अशान्त परिणाम वाले चोरों द्वारा बहुमत—अत्यन्त मान्य है। यह करुणाहीन कृत्य—निर्दयता से परिपूर्ण कार्य है, राजपुरुषों—चौकीदार, कोतवाल, पुलिस आदि द्वारा इसे रोका जाता है। सदैव साधुजनों—सत्पुरुषों द्वारा निन्दित है। प्रियजनों तथा मित्रजनों में (परस्पर) फूट और अप्रीति उत्पन्न करने वाला है। राग और द्वेष की बहुलता वाला है। यह बहुतायत से मनुष्यों को मारने वाले संग्रामों, स्वचक्र—परचक्र सम्बन्धी डमरों—विप्लवों, लड़ाई—झगड़ों, तकरारों एवं पश्चात्ताप का कारण है। दुर्गति—पतन में वृद्धि करने वाला, भव-पुनर्भव—वारंवार जन्म-मरण कराने वाला, चिरकाल—सदाकाल से परिचित, आत्मा के साथ लगा हुआ—जीवों का पीछा करने वाला और परिणाम में—अन्त में दु:खदायी है। यह तीसरा अधर्मद्वार—अदत्तादान ऐसा है।

विवेचन—जो वस्तु वास्तव में अपनी नहीं है—परायी है, उसे उसके स्वामी की स्वीकृति या अनुमति के विना ग्रहण कर लेना—अपने अधिकार में ले लेना अदत्तादान कहलाता है। हिंसा और मृषावाद के पश्चात् यह तीसरा अधर्मद्वार—पाप है।

शास्त्र में चार प्रकार के अदत्त कहे गए हैं—(१) स्वामी द्वारा अदत्त (२) जीव द्वारा अदत्त (३) गुरु द्वारा अदत्त और (४) तीर्थंकर द्वारा अदत्त। इन चारों में से प्रत्येक के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा चार-चार भेद होते हैं। अतएव सव मिल कर अदत्त के १६ भेद हैं।

महाव्रती साधु और साध्वी सभी प्रकार के अदत्त का पूर्ण रूप से—तीन करण और तीन योग से त्याग किए हुए होते हैं। वे तृण जैसी तुच्छातितुच्छ, जिसका कुछ भी मूल्य या महत्त्व नहीं, ऐसी वस्तु भी अनुमति विना ग्रहण नहीं करते हैं। गृहस्थों में श्रावक और श्राविकाएँ स्थूल अदत्तादान के त्यागी होते हैं। जिस वस्तु को ग्रहण करना लोक में चोरी कहा जाता है और जिसके लिए शासन की ओर से दण्डविधान है, ऐसी वस्तु के अदत्त ग्रहण को स्थूल अदत्तादान कहा जाता है। प्रस्तुत सूत्र में सामान्य अदत्तादान का स्वरूप प्रदर्शित किया है।

अदत्तादान करने वाले व्यक्ति प्रायः विषम काल और विषम देश का सहारा लेते हैं। रात्रि में जब लोग निद्राधीन हो जाते हैं तब अनुकूल अवसर समझ कर चोर अपने काम में प्रवृत्त होते हैं और चोरी करने के पश्चात् गुफा, वीहड़ जंगल, पहाड़ आदि विषम स्थानों में छिप जाते हैं, जिससे उनका पता न लग सके।

धनादि की तीव्र तृष्णा, जो कभी शान्त नहीं होती, ऐसी कलुषित बुद्धि उत्पन्न कर देती है, जिससे मनुष्य चौर्य-कर्म में प्रवृत्त होकर नरकादि अधम गति का पात्र वनता है।

अदत्तादान को अकीर्त्तिकर वतलाया गया है। यह सर्वानुभवसिद्ध है। चोर की ऐसी अपकीर्त्ति होती है कि उसे कहीं भी प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं होती। उस पर कोई विश्वास नहीं करता।

चोरी अनार्य कर्म है। आर्य—श्रेष्ठ जन तीव्रतर अभाव से ग्रस्त होकर और अनेकविध कठिनाइयाँ झेलकर, घोर कष्टों को सहन कर, यहाँ तक कि प्राणत्याग का अवसर आ जाने पर भी चौर्य कर्म में प्रवृत्त नहीं होते। किन्तु आधुनिक काल में चोरी के कुछ नये रूप आविष्कृत हो गए हैं और कई लोग यहाँ तक कहते सुने जाते हैं कि 'सरकार की चोरी, चोरी नहीं है।' ऐसा कह या समझकर जो लोग कर-चोरी आदि करते हैं, वे जाति या कुल आदि की अपेक्षा से भले आर्य हों परन्तु कर्म से अनार्य हैं। प्रस्तुत पाठ में चोरी को स्पष्ट रूप में अनार्य कर्म कहा है। इसी कारण साधुजनों—सत्पुरुषों द्वारा यह गर्हित—निन्दित है।

अदत्तादान के कारण प्रियजनों एवं मित्रों में भी भेद—फूट उत्पन्न हो जाता है। मित्र, शत्रु वन जाते हैं। प्रेमी भी विरोधी हो जाते हैं। इसकी वदौलत भयंकर नरसंहारकारी संग्राम होते हैं, लड़ाई-झगड़ा होता है, रार-तकरार होती है, मार-पीट होती है।

स्तेयकर्म में लिप्त मनुष्य वर्त्तमान जीवन को ही अनेक दुःखों से परिपूर्ण नहीं वनाता, अपितु भावी जीवन को भी विविध वेदनाओं से परिपूर्ण वना लेता है एवं जन्म-मरण रूप संसार की वृद्धि करता है।

अदत्तादान का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए शास्त्रकार ने और भी अनेक विशेषणों का प्रयोग किया है, जिनको सरलता से समझा जा सकता है।

अदत्तादान के तीस नाम—

६१—तस्स य णामाणि गोण्णाणि होंति तीसं, तं जहा—१ चोरिक्कं २ परहडं ३ अदत्तं ४ कूरिकडं ५ परलाभो ६ असंजमो ७ परधणम्मि गेही ८ लोलिक्कं ९ तक्करत्तणं त्ति य १० अवहारो ११ हत्थलहुत्तणं १२ पावकम्मकरणं १३ तेणिक्कं १४ हरणविप्पणासो १५ आदियणा १६ लुंपणा धणाणं १७ अप्पच्चओ १८ अवीलो १९ अक्खेवो २० खेवो २१ विक्खेवो २२ कूडया २३ कुलमसी य २४ कंखा २५ लालप्पणपत्थणा य २६ आससणाय वसणं २७ इच्छामुच्छा य २८ तण्हागेही २९ णियडिकम्मं ३० अप्परच्छंति वि य। तस्स एयाणि एवमाईणि णामधेज्जाणि होंति तीसं अदिण्णादाणस्स पावकलिकलुस-कम्मबहुलस्स अणेगाइं।

६१—पूर्वोक्त स्वरूप वाले अदत्तादान के गुणनिष्पन्न—यथार्थ तीस नाम हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. चोरिक्क—चौरिक्य—परकीय वस्तु चुरा लेना।
२. परहड—परहृत—दूसरे से हरण कर लेना।
३. अदत्त—अदत्त—स्वामी के द्वारा दिए विना लेना।
४. कूरिकडं—क्रूरिकृतम्—क्रूर लोगों द्वारा किया जाने वाला कर्म।
५. परलाभ—दूसरे के श्रम से उपार्जित वस्तु आदि लेना।
६. असंजम—चोरी करने से असंयम होता है—संयम का विनाश हो जाता है, अतः यह असंयम है।
७. परधणंमि गेही—परधने गृद्धि—दूसरे के धन में आसक्ति—लोभ-लालच होने पर चोरी की जाती है, अतएव इसे परधनगृद्धि कहा है।
८. लोलिक्क—लौल्य—परकीय वस्तु संबंधी लोलुपता।
९. तक्करत्तण—तस्करत्व—तस्कर—चोर का काम।
१०. अवहार—अपहार—स्वामी इच्छा विना लेना।
११. हत्थलहुत्तण—हस्तलघुत्व—चोरी करने के कारण जिसका हाथ कुत्सित है उसका कर्म अथवा हाथ की चालाकी।
१२. पावकम्मकरण—पापकर्मकरण—चोरी पाप कर्म है, उसे करना पापकर्म का आचरण करना है।
१३. तेणिक्क—स्तेनिका—चोर—स्तेन का कार्य।
१४. हरणविप्पणास—हरणविप्रणाश—परायी वस्तु को हरण करके उसे नष्ट करना।
१५. आदियणा—आदान—परधन को ले लेना।
१६. धणाणं लुंपना—धनलुम्पता—दूसरे के धन को लुप्त करना।
१७. अप्पच्चअ—अप्रत्यय—अविश्वास का कारण।
१८. ओवील—अवपीड—दूसरे को पीडा उपजाना, जिसकी चोरी की जाती है, उसे पीडा अवश्य होती है।

१९. अक्खेव—आक्षेप—परकीय द्रव्य को अलग रखना या उसके स्वामी पर अथवा द्रव्य पर झपटना।[1]

२०. खेव—क्षेप—किसी की वस्तु छीन लेना।[2]

२१. विक्खेव—विक्षेप—परकीय वस्तु लेकर इधर-उधर कर देना, फेंक देना अथवा नष्ट कर देना।[3]

२२. कूडया—कूटता—तराजू, तोल, माप आदि में बेईमानी करना, लेने के लिए बड़े और देने के लिए छोटे बांट आदि का प्रयोग करना।

२३. कुलमसी—कुलमषि—कुल को मलीन—कलंकित करने वाली।

२४. कंखा—कांक्षा—तीव्र इच्छा होने पर चोरी की जाती है अतएव चोरी का मूल कारण होने से यह कांक्षा कहलाती है।

२५. लालप्पणपत्थणा—लालपन-प्रार्थना—निन्दित लाभ की अभिलाषा करने से यह लालपन-प्रार्थना है।

२६. वसण—व्यसन—विपत्तियों का कारण।

२७. इच्छा-मुच्छा—इच्छामूर्च्छा—परकीय धन में या वस्तु में इच्छा एवं आसक्ति होने के कारण इसे इच्छा-मूर्छा कहा गया है।

२८. तण्हा-गेही—तृष्णा-गृद्धि—प्राप्त द्रव्य का मोह और अप्राप्त की आकांक्षा।

२९. नियडिकम्म—निकृतिकर्म—कपटपूर्वक अदत्तादान किया जाता है, अतः यह निकृतिकर्म है।

३०. अपरच्छंति—अपराक्ष—दूसरों की नजर बचाकर यह कार्य किया जाता है, अतएव यह अपराक्ष है।

इस प्रकार पापकर्म और कलह से मलीन कार्यों की बहुलता वाले इस अदत्तादान आस्रव के ये और इस प्रकार के अन्य अनेक नाम हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में अदत्तादान नामक तीसरे आस्रव के तीस नामों का उल्लेख किया गया है।

किसी की कोई वस्तु असावधानी से कहीं गिर गई हो, भूल से रह गई हो, जानबूझ कर रक्खी हो, उसे उसके स्वामी की आज्ञा, अनुमति या इच्छा के बिना ग्रहण कर लेना चोरी कहलाती है।

पहले कहा जा चुका है कि तिनका, मिट्टी, रेत आदि वस्तुएँ, जो सभी जनों के उपयोग के लिए मुक्त हैं, जिनके ग्रहण करने का सरकार की ओर से निषेध नहीं है, जिसका कोई स्वामीविशेष नहीं है या जिसके स्वामी ने अपनी वस्तु सर्वसाधारण के उपयोग के लिए मुक्त कर रक्खी है, उसको ग्रहण करना व्यवहार की दृष्टि से चोरी नहीं है। स्थूल अदत्तादान का त्यागी गृहस्थ यदि उसे ग्रहण कर लेता है तो उसके व्रत में बाधा नहीं आती। लोकव्यवहार में वह चोरी कहलाती भी नहीं है। परन्तु तीन करण और तीन योग से अदत्तादान के त्यागी साधुजन ऐसी वस्तु को भी ग्रहण नहीं कर सकते। आवश्यकता होने पर वे शक्रेन्द्र की अनुमति लेकर ही ग्रहण करते हैं।

---

१. प्रश्नव्याकरणसूत्र (सन्मतिज्ञान पीठ) पृ. २४३

२. ,, ,, ,,

३. ,, ,, ,,

अदत्तादान के तीस नाम जो बतलाए गए हैं, उनमें पुनरुक्ति नहीं है। वास्तव में वे उसके विविध प्रकारों—नाना रूपों को सूचित करते हैं। इन नामों से चौर्यकर्म की व्यापकता का परिबोध होता है। अतएव ये नाम महत्त्वपूर्ण हैं और जो अदत्तादान से बचना चाहते हैं, उन्हें इन नामों के अर्थ पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए और उससे अपने-आपको बचाना चाहिए।

शास्त्रकार ने सूत्र के अन्त में यह स्पष्ट निर्देश किया है कि अदत्तादान के यह तीस ही नाम हैं, ऐसा नहीं समझना चाहिए। ये नाम उपलक्षण हैं। इनके अनुरूप अन्य अनेक नाम भी हो सकते हैं। अन्य आगमों में अनेक प्रकार के स्तेनों-चोरों का उल्लेख मिलता है। यथा—

तवतेणे वयतेणे रूवतेणे य जे नरे।
आयारभावतेणे य, कुव्वइ देव किव्विसं ॥ —दशवैकालिक, ५-४६

अर्थात् जो साधु तपःस्तेन, व्रतस्तेन, रूपस्तेन अथवा आचारभाव का स्तेन—चोर होता है, वह तप और व्रत के प्रभाव से यदि देवगति पाता है तो वहाँ भी वह किल्विष देव होता है—निम्न कोटि—हीन जाति—अछूत—सरीखा होता है।

इसी शास्त्र में आगे कहा गया है कि उसे यह पता नहीं होता कि किस प्रकार का दुराचरण करने के कारण उसे किल्विष देव के रूप में उत्पन्न होना पड़ा है! वह उस हीन देवपर्याय से जब विलग होता है तो उसे गूंगे बकरा जैसे पर्याय में जन्म लेना पड़ता है और फिर नरक तथा तिर्यंच योनि के दुःखों का पात्र बनना पड़ता है।

चौर्यकर्म के विविध प्रकार—

६२—ते पुण करेंति चोरियं तक्करा परदव्वहरा छेया, कयकरणलद्ध-लक्खा साहसिया लहुस्सगा अइमहिच्छलोभगत्था दद्दरओवीलका य गेहिया अहिमरा अणभंजगा भग्गसंधिया रायदुट्ठकारी य विसयणिच्छूढ-लोकवज्झा उद्दोहग-गामघायग-पुरघायग पंथघायग-आलीवग-तित्थभेया लहुंहत्थ-संपउत्ता जूइकरा खंडरक्ख-त्थीचोर-पुरिसचोर-संधिच्छेया य, गंथीभेयग-परधण-हरण-लोमावहारा अक्खेवी हडकारगा णिम्मद्दगगूढचोरग-गोचोरग-अस्सचोरग-दासीचोरा य एकचोरा ओकड्ढग-संपदायग-उच्छिपग-सत्थघायग-बिलचोरीकारगा[1] य णिग्गाहविप्पलुंपगा बहुविहतेणिक्कहरणबुद्धी एए अण्णे य एवमाई परस्स दव्वाहि जे अविरया।

६२—उस (पूर्वोक्त) चोरी को वे चोर—लोग करते हैं जो परकीय द्रव्य को हरण करने वाले हैं, हरण करने में कुशल हैं, अनेकों बार चोरी कर चुके हैं और अवसर को जानने वाले हैं, साहसी हैं—परिणाम की अवगणना करके भी चोरी करने में प्रवृत्त हो जाते हैं, जो तुच्छ हृदय वाले, अत्यन्त महती इच्छा—लालसा वाले एवं लोभ से ग्रस्त हैं, जो वचनों के आडम्बर से अपनी असलियत को छिपाने वाले हैं या दूसरों को लज्जित करने वाले हैं, जो दूसरों के धनादि में गृद्ध—आसक्त हैं, जो सामने से सीधा प्रहार करने वाले हैं—सामने आए हुए को मारने वाले हैं, जो लिए हुए ऋण को नहीं चुकाने वाले हैं, जो की हुई सन्धि अथवा प्रतिज्ञा या वायदे को भंग करने वाले हैं, जो राजकोष आदि को लूट कर या अन्य प्रकार से राजा—राज्यशासन का अनिष्ट करने वाले हैं, देशनिर्वासन

---

१. 'विल कोली कारगा'—पाठ भेद।

दिए जाने के कारण जो जनता द्वारा वहिष्कृत हैं, जो घातक हैं या उपद्रव (दंगा आदि) करने वाले हैं, ग्रामघातक, नगरघातक, मार्ग में पथिकों को लूटने वाले या मार डालने वाले हैं, आग लगाने वाले और तीर्थ में भेद करने वाले हैं,[1] जो (जादूगरों की तरह) हाथ की चालाकी वाले हैं—जेब या गांठ काट लेने में कुशल हैं, जो जुआरी हैं, खण्डरक्ष—चुंगी लेने वाले या कोतवाल हैं, स्त्रीचोर हैं—जो स्त्री को या स्त्री की वस्तु को चुराते हैं अथवा स्त्री का वेष धारण करके चोरी करते हैं, जो पुरुष की वस्तु को अथवा (आधुनिक डकैतों की भांति फिरौती लेने आदि के उद्देश्य से) पुरुष का अपहरण करते हैं, जो खात खोदने वाले हैं, गांठ काटने वाले हैं, जो परकीय धन का हरण करने वाले हैं, (जो निर्दयता या भय के कारण अथवा आतंक फैलाने के लिए) मारने वाले हैं, जो वशीकरण आदि का प्रयोग करके धनादि का अपहरण करने वाले हैं, सदा दूसरों के उपमर्दक, गुप्तचोर, गो-चोर—गाय चुराने वाले, अश्व-चोर एवं दासी को चुराने वाले हैं, अकेले चोरी करने वाले, घर में से द्रव्य निकाल लेने वाले, चोरों को बुलाकर दूसरे के घर में चोरी करवाने वाले, चोरों की सहायता करने वाले चोरों को भोजनादि देने वाले, उच्छिपक—छिप कर चोरी करने वाले, सार्थ—समूह को लूटने वाले, दूसरों को धोखा देने के लिए बनावटी आवाज में बोलने वाले, राजा द्वारा निगृहीत—दंडित एवं छलपूर्वक राजाज्ञा का उल्लंघन करने वाले, अनेकानेक प्रकार से चोरी करके परकीय द्रव्य हरण करने की बुद्धि वाले, ये लोग और इसी कोटि के अन्य-अन्य लोग, जो दूसरे के द्रव्य को ग्रहण करने की-इच्छा से निवृत्त (विरत) नहीं हैं अर्थात् अदत्तादान के त्यागी नहीं है—जिनमें परधन के प्रति लालसा विद्यमान हैं, वे चौर्य कर्म में प्रवृत्त होते हैं।

विवेचन— चोरी के नामों का उल्लेख करके सूत्रकार ने उसके व्यापक स्वरूप का प्रतिपादन किया था। तत्पश्चात् यहाँ यह निरूपण किया गया है कि चोरी करने वाले लोग किस श्रेणी के होते हैं ? किन-किन तरीकों से वे चोरी करते हैं ? कोई छिप कर चोरी करते हैं तो कोई सामने से प्रहार करके, आक्रमण करके करते हैं, कोई वशीकरण मंत्र आदि का प्रयोग करके दूसरों को लूटते हैं, कोई धनादि का, कोई गाय-भैंस-बैल-ऊंट-अश्व आदि पशुओं का हरण करते हैं, यहाँ तक कि नारियों और पुरुषों का भी अपहरण करते हैं। कोई राहगीरों को लूटते हैं तो कोई राज्य के खजाने को—आधुनिक काल में बैंक आदि को भी शस्त्रों के बल पर लूट लेते हैं।

तात्पर्य यह है कि शास्त्रोक्त चोरी-लूट-अपहरण के प्राचीन काल में प्रचलित प्रकार अद्यतन काल में भी प्रचलित हैं। यह प्रकार लोकप्रसिद्ध हैं अतएव इनकी व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है। मूल पाठ और उसके अर्थ से ही पाठक सूत्र के अभिप्राय को भलीभांति समझ सकते हैं।

धन के लिए राजाओं का आक्रमण—

६३—विउलबलपरिग्गहा य बहवे रायाणो परधणम्मि गिद्धा सए व दव्वे असंतुट्ठा परविसए अहिहणंति ते लुद्धा परधणस्स कज्जे चउरंगविभत्त-बलसमग्गा णिच्छियवरजोहजुद्धसद्धिय-अहमहमिइ-दप्पिएहिं सेण्णेहिं संपरिवुडा पउम-सगड-सूइ-चक्क-सागर-गरुलवूहाइएहिं अणिएहिं उत्थरंता अभिभूय हरंति परधणाइं।

---

1. 'तित्थभेया' का मुनिश्री हेमचन्द्रजी म. ने 'तीर्थयात्रियों को लूटने-मारने वाले' ऐसा भी अर्थ किया है।
—सम्पादक

६३—इनके अतिरिक्त विपुल बल—सेना और परिग्रह—धनादि सम्पत्ति या परिवार वाले राजा लोग भी, जो पराये धन में गृद्ध अर्थात् आसक्त हैं और अपने द्रव्य से जिन्हें सन्तोष नहीं है, दूसरे (राजाओं के) देश-प्रदेश पर आक्रमण करते हैं। वे लोभी राजा दूसरे के धनादि को हथियाने के उद्देश्य से रथसेना, गजसेना, अश्वसेना और पैदलसेना, इस प्रकार चतुरंगिणी सेना के साथ (अभियान करते हैं।) वे दृढ़ निश्चय वाले, श्रेष्ठ योद्धाओं के साथ युद्ध करने में विश्वास रखने वाले, 'मैं पहले जूझूंगा, इस प्रकार के दर्प से परिपूर्ण सैनिकों से संपरिवृत—घिरे हुए होते हैं। वे नाना प्रकार के व्यूहों (मोर्चों) की रचना करते हैं, जैसे कमलपत्र के आकार का पद्मपत्र व्यूह, बैलगाड़ी के आकार का शकटव्यूह, सूई के आकार का शूचीव्यूह, चक्र के आकार का चक्रव्यूह, समुद्र के आकार का सागर-व्यूह और गरुड़ के आकार का गरुड़व्यूह। इस तरह नाना प्रकार की व्यूहरचना वाली सेना द्वारा दूसरे—विरोधी राजा की सेना को आक्रान्त करते हैं, अर्थात् अपनी विशाल सेना से विपक्ष की सेना को घेर लेते हैं—उस पर छा जाते हैं और उसे पराजित करके दूसरे की धन-सम्पत्ति को हरण कर लेते हैं—लूट लेते हैं।

विवेचन—प्राप्त धन-सम्पत्ति तथा भोगोपभोग के अन्य साधनों में सन्तोष न होना और परकीय वस्तुओं में आसक्ति होना अदत्तादान के आचरण का मूल कारण है। असन्तोष और तृष्णा की अग्नि जिस के हृदय में प्रज्वलित है, वह विपुल सामग्री, ऐश्वर्य एवं धनादि के विद्यमान होने पर भी शान्ति का अनुभव नहीं कर पाता। जैसे बाहर की आग ईंधन से शान्त नहीं होती, अपितु बढ़ती ही जाती है, उसी प्रकार असन्तोष एवं तृष्णा की आन्तरिक अग्नि भी प्राप्ति से शान्त नहीं होती, वह अधिकाधिक वृद्धिगत ही होती जाती है। शास्त्रकार का यह कथन अनुभवसिद्ध है कि—

जहा लाहो तहा लोहो,
लाहा लोहो पवड्ढइ।

ज्यों-ज्यों लाभ होता जाता है, त्यों-त्यों लोभ बढ़ता जाता है। तथ्य यह है कि लाभ लोभ की वृद्धि का कारण है।

ईंधन जब अग्नि की वृद्धि का कारण है तो उसे आग में झोंकने से आग शान्त कैसे हो सकती है! इसी प्रकार जब लाभ लोभ की वृद्धि का कारण है तो लाभ से लोभ कैसे उपशान्त हो सकता है? भला राजाओं को किस वस्तु का अभाव हो सकता है! फिर भी वे परकीय धन में गृद्धि के कारण अपनी सबल सेना को युद्ध में झोंक देते हैं। उन्हें यह विवेक नहीं होता कि मात्र अपनी प्रगाढ़ आसक्ति की पूर्ति के लिए वे कितने योद्धाओं का संहार कर रहे हैं और कितने उनके आश्रित जनों को भयानक संकट में डाल रहे हैं। वे यह भी नहीं समझ पाते कि परकीय धन-सम्पदा को लूट लेने के पश्चात् भी आसक्ति की आग बुझने वाली नहीं है। उनके विवेक-नेत्र बन्द हो जाते हैं। लोभ उन्हें अन्धा बना देता हैं।

प्रस्तुत पाठ का आशय यही है कि अदत्तादान का मूल अपनी वस्तु में सन्तुष्ट न होना और परकीय पदार्थों में आसक्ति—गृद्धि होना है। अतएव जो अदत्तादान के पाप से बचना चाहते हैं और अपने जीवन में सुख-शान्ति चाहते हैं, उन्हें प्राप्त सामग्री में सन्तुष्ट रहना चाहिए और परायी वस्तु की आकांक्षा से दूर रहना चाहिए।

युद्ध के लिए शस्त्र-सज्जा—

६४—अवरे रणसीसलद्धलक्खा संगामंसि अइवयंति सण्णद्धबद्धपरियर-उप्पीलिय-चिंधपट्ट-गहियाउह-पहरणा माढिवर-वम्मगुंडिया, आविद्धजालिया कवयकंकडइया उरसिरमुह-बद्ध-कंठतोणमाइयवरफलगर चियपहकर-सरहसखरचावकरकरंछिय-सुणिसिय - सरवरिसचडकरगनुयंत - घणचंड वेगधाराणिवायमग्गे अणेगधणुमंडलग्गसंधित-उच्छलियसत्तिकणग-वामकरगहिय-खेडगणिम्मल-णिक्किट्ठ-खग्गपहरंत-कोंत-तोमर-चक्क-गया-परसु-मूसल-लंगल-सूल-लउल-भिंडमालसब्बल-पट्टिस-चम्मेट्ठ-दुघण - मोट्ठिय-मोग्गर- वरफलिह- जंत - पत्थर-दुहण- तोण- कुवेणी - पीढकलिएईलीपहरण- मिलिमिलिमिलंत-खिप्पंत-विज्जुज्जल-विरचिय-समप्पहणभतले फुडपहरणे महारणसंखभेरिवरतूर-पउर-पडुपडहाहयणिणाय-गंभीरणंदिय पक्खुभिय-विउलघोसे हय-गय-रह-जोह-तुरिय-पसरिय-रउद्धततमंधकार-बहुले कायर-णर-णयण-हिययवाउलकरे।

६४—दूसरे—कोई-कोई नृपतिगण युद्धभूमि में अग्रिम पंक्ति में लड़कर विजय प्राप्त करने वाले, कमर कसे हुए, कवच—वख्तर धारण किये हुए और विशेष प्रकार के चिह्नपट्ट—परिचयसूचक बिल्ले मस्तक पर बाँधे हुए, अस्त्र-शस्त्रों को धारण किए हुए, प्रतिपक्ष के प्रहार से बचने के लिए ढाल से और उत्तम कवच से शरीर को वेष्टित किए हुए, लोहे की जाली पहने हुए, कवच पर लोहे के कांटे लगाए हुए, वक्षस्थल के साथ ऊर्ध्वमुखी बाणों की तूणीर—बाणों की थैली कंठ में बाँधे हुए, हाथों में पाश—शस्त्र और ढाल लिए हुए, सैन्यदल की रणोचित रचना किए हुए, कठोर धनुष को हाथों में पकड़े हुए, हर्पयुक्त, हाथों से (बाणों को) खींच कर की जाने वाली प्रचण्ड वेग से बरसती हुई मूसलधार वर्षा के गिरने से जहाँ मार्ग अवरुद्ध हो गया है, ऐसे युद्ध में अनेक धनुषों, दुधारी तलवारों, फेंकने के लिए निकाले गए त्रिशूलों, बाणों, बाएँ हाथों में पकड़ी हुई ढालों, म्यान से निकाली हुई चमकती तलवारों, प्रहार करते हुए भालों, तोमर नामक शस्त्रों, चक्रों, गदाओं, कुल्हाड़ियों, मूसलों, हलों, शूलों, लाठियों, भिंडमालों, शब्बलों—लोहे के बल्लमों, पट्टिस नामक शस्त्रों, पत्थरों—गिलोलों, द्रुघणों—विशेष प्रकार के भालों, मौष्टिकों—मुट्ठी में आ सकने वाले एक प्रकार के शस्त्रों, मुद्गरों, प्रबल आगलों, गोफणों, द्रुहणों (कर्करों) बाणों के तूणीरों, कुवेणियों—नालदार बाणों एवं आसन नामक शस्त्रों से सज्जित तथा दुधारी तलवारों और चमचमाते शस्त्रों को आकाश में फेंकने से आकाशतल बिजली के समान उज्ज्वल प्रभा वाला हो जाता है। उस संग्राम में प्रकट—स्पष्ट शस्त्र-प्रहार होता है। महायुद्ध में बजाये जाने वाले शंखों, भेरियों, उत्तम वाद्यों, अत्यन्त स्पष्ट ध्वनि वाले ढोलों के बजने के गंभीर आघोप से वीर पुरुप हर्पित होते हैं और कायर पुरुषों को क्षोभ—घबराहट होती है। वे (भय से पीडित होकर) कांपने लगते हैं। इस कारण युद्धभूमि में हो-हल्ला होता है। घोड़े, हाथी, रथ और पैदल सेनाओं के शीघ्रतापूर्वक चलने से चारों ओर फैली—उड़ती धूल के कारण वहाँ सघन अंधकार व्याप्त रहता है। वह युद्ध कायर नरों के नेत्रों एवं हृदयों को आकुल-व्याकुल बना देता है।

युद्ध-स्थल की वीभत्सता—

६५—विलुलियउक्कड-वर-मउड-तिरीड-कुंडलोडुदामाडोविया पागड-पडाग-उसियज्झय-वेजयंतिचामरचलंत-छत्तंधयारगंभीरे हयहेसिय-हत्थिगुलुगुलाइय-रहघणघणाइय-पाइक्कहरहराइय-अप्फो-

डिय-सीहणाया, छेलिय-विघुट्टुक्कट्ठकंठकयसद्दभीमगज्जिए, सयराह-हसंत-रुसंत-कलकलरवे आसूणिय-वयणरुद्दे भीमदसणाधरोट्ठगाढदट्ठे सप्पहारणुज्जयकरे अमरिसवसतिव्वरत्तणिद्दारितच्छे वेरदिट्ठि-कुद्ध-चिट्ठिय-तिवलि-कुडिलभिउडि-कयणिलाडे वहपरिणय-णरसहस्स-विक्कमवियंभियबले । वग्गंत-तुरगरह-पहाविय-समरभडा आवडियछेयलाघव-पहारसाहियासमूसविय-बाहु-जुयलमुक्कट्टहासपुक्कंतबोल-बहुले । फलफलगावरणगहिय-गयवरपत्थित-दरियभडखल- परोप्परपलग्ग- जुद्धगव्विय-विउसियवरासि-रोस-तुरियअभिमुह-पहरितछिण्णकरिकर-विभंगियकरे अवइद्धणिसुद्धभिण्णफालियपगलियरुहिर-कय-भूमि-कद्दम-चिलिचिल्लपहे कुच्छिदालिय-गलंतरुलितणिभेलितंत-फुरुफुरंत-अविगल-मम्माहय-विकय-गाढदिण्णपहारमुच्छित-रुलंतविब्भलविलावकलुणे हयजोह-भमंत-तुरग-उद्दाममत्तकुंजर-परिसंकियजण-णिव्वुक्कच्छिण्णधय - भग्गरहवरणट्ठसिरकरिकलेवराकिण्ण - पतित - पहरण - विकिण्णाभरण - भूमिभागे णच्चंतकबंधपउरभयंकर-वायस-परिलेंत-गिद्धमंडल-भमंतच्छायंधकार-गंभीरे । वसुवसुहविकंपियव्व-पच्चक्खपिउवणं परमरुद्दबीहणगं दुप्पवेसतरगं अहिवयंति संगामसंकडं परधणं महंता ।

६५—ढीला होने के कारण चंचल एवं उन्नत उत्तम मुकुटों, तिरीटों—तीन शिखरों वाले मुकुटों—ताजों, कुण्डलों तथा नक्षत्र नामक आभूषणों की उस युद्ध में जगमगाहट होती है । स्पष्ट दिखाई देने वाली पताकाओं, ऊपर फहराती हुई ध्वजाओं, विजय को सूचित करने वाली वैजयन्ती पताकाओं तथा चंचल—हिलते-डुलते चामरों और छत्रों के कारण होने वाले अन्धकार के कारण वह गंभीर प्रतीत होता है । अश्वों की हिनहिनाहट से, हाथियों की चिंघाड़ से, रथों की घनघनाहट से, पैदल सैनिकों की हर-हराहट से, तालियों की गड़गड़ाहट से, सिंहनाद की ध्वनियों से, सीटी बजाने की सी आवाजों से, जोर-जोर की चिल्लाहट से, जोर की किलकारियों से और एक साथ उत्पन्न होने वाली हजारों कंठों की ध्वनि से वहाँ भयंकर गर्जनाएँ होती हैं । उसमें एक साथ हँसने, रोने और कराहने के कारण कलकल ध्वनि होती रहती है । मुँह फुलाकर आंसू बहाते हुए बोलने के कारण वह रौद्र होता है । उस युद्ध में भयानक दांतों से होठों को जोर से काटने वाले योद्धाओं के हाथ अचूक प्रहार करने के लिए उद्यत-तत्पर रहते हैं । क्रोध की (तीव्रता के कारण) योद्धाओं के नेत्र रक्तवर्ण और तरेरते हुए होते हैं । वैरमय दृष्टि के कारण क्रोधपरिपूर्ण चेष्टाओं से उनकी भौंहें तनी रहती हैं और इस कारण उनके ललाट पर तीन सल पड़े हुए होते हैं । उस युद्ध में, मार-काट करते हुए हजारों योद्धाओं के पराक्रम को देख कर सैनिकों के पौरुष-पराक्रम की वृद्धि हो जाती है । हिनहिनाते हुए अश्वों और रथों द्वारा इधर-उधर भागते हुए युद्धवीरों—समरभटों तथा शस्त्र चलाने में कुशल और सधे हुए हाथों वाले सैनिक हर्ष-विभोर होकर, दोनों भुजाएँ ऊपर उठाकर, खिलखिलाकर—ठहाका मार कर हँस रहे होते हैं । किलकारियां मारते हैं । चमकती हुई ढालें एवं कवच धारण किए हुए, मन्दोन्मत्त हाथियों पर आरूढ प्रस्थान करते हुए योद्धा, शत्रुयोद्धाओं के साथ परस्पर जूझते हैं तथा युद्धकला में कुशलता के कारण अहंकारी योद्धा अपनी-अपनी तलवारें म्यानों में से निकाल कर, फुर्त्ती के साथ रोषपूर्वक परस्पर—एक दूसरे पर प्रहार करते हैं । हाथियों की सूंडें काट रहे होते हैं, जिससे उनके भी हाथ कट जाते हैं । ऐसे भयावह युद्ध में मुद्गर आदि द्वारा मारे गए, काटे गए या फाड़े गए हाथी आदि पशुओं और मनुष्यों कें युद्धभूमि में बहते हुए रुधिर के कीचड़ से मार्ग लथपथ हो रहे होते हैं । कूंख के फट जाने से भूमि पर बिखरी हुई एवं बाहर निकलती हुई आंतों से रक्त प्रवाहित होता रहता है । तथा तड़फड़ाते हुए, विकल, मर्माहत, बुरी तरह से कटे हुए, प्रगाढ प्रहार से बेहोश हुए,

इधर-उधर लुढकते हुए विह्वल मनुष्यों के विलाप के कारण वह युद्ध बड़ा ही करुणाजनक होता है। उस युद्ध में मारे गए योद्धाओं के इधर-उधर भटकते घोड़े, मदोन्मत्त हाथी और भयभीत मनुष्य, मूल से कटी हुई ध्वजाओं वाले टूटे-फूटे रथ, मस्तक कटे हुए हाथियों के धड़—कलेवर, विनष्ट हुए शस्त्रास्त्र और बिखरे हुए आभूषण—अलंकार इधर-उधर पड़े होते हैं। नाचते हुए बहुसंख्यक कलेवरों—धड़ों पर काक और गीध मँडराते रहते हैं। इन काकों और गिद्धों के झुंड के झुंड घूमते हैं तब उनकी छाया के अन्धकार के कारण वह युद्ध गंभीर बन जाता है। ऐसे (भयावह—घोरातिघोर) संग्राम में (नृपतिगण) स्वयं प्रवेश करते हैं—केवल सेना को ही युद्ध में नहीं झोंकते। देव (देवलोक) और पृथ्वी को विकसित करते हुए, परकीय धन की कामना करने वाले वे राजा साक्षात् श्मशान समान, अतीव रौद्र होने के कारण भयानक और जिसमें प्रवेश करना अत्यन्त कठिन है, ऐसे संग्राम रूप संकट में चल कर अथवा आगे होकर प्रवेश करते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ में संग्राम की भयानकता का स्पष्ट चित्र उपस्थित किया गया है। पर-धन के इच्छुक राजा लोग किस प्रकार नर-संहार के लिए तत्पर हो जाते हैं! यह वर्णन अत्यन्त सजीव है। इसके स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है।

वनवासी चोर—

६६—अवरे पाइक्कचोरसंघा सेणावइ-चोरवंद-पागड्डिका य अडवी-देसदुग्गवासी कालहरित-रत्तपीतसुक्किल-अणेगसयचिंध-पट्टबद्धा परविसए अभिहणंति लुद्धा धणस्स कज्जे।

६६—इनके (पूर्वसूत्र में उल्लिखित राजाओं के) अतिरिक्त पैदल चल कर चोरी करने वाले चोरों के समूह होते हैं। कई ऐसे (चोर) सेनापति भी होते हैं जो चोरों को प्रोत्साहित करते हैं। चोरों के यह समूह दुर्गम अटवी-प्रदेश में रहते हैं। उनके काले, हरे, लाल, पीले और श्वेत रंग के सैकड़ों चिह्न होते हैं, जिन्हें वे अपने मस्तक पर लगाते हैं। पराये धन के लोभी वे चोर-समुदाय दूसरे प्रदेश में जाकर धन का अपहरण करते हैं और मनुष्यों का घात करते हैं।

विवेचन—ज्ञातासूत्र आदि कथात्मक आगमों में ऐसे अनेक चोरों और सेनापतियों का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है, जो विषम दुर्गम अटवी में निवास करते और लूटपाट करते थे। पाँच-पाँच सौ सशस्त्र चोर उनके दल में थे जो मरने-मारने को सदा उद्यत रहते थे। उनका सैन्यबल इतना सबल होता था कि राजकीय सेना को भी पछाड़ देता था। ऐसे ही चोरों एवं चोर-सेनापतियों का यहाँ उल्लेख किया गया है।

समुद्री डाके—

६७—रयणागरसागरं उम्मीसहस्समाला-उलाउल-वितोयपोत-कलकलेंत-कलियं पायालसहस्स[1]-वायवसवेगसलिल-उद्धम्ममाणदगरयरयंधकारं वरफेणपउर-धवल-पुलंपुल-समुट्ठियट्टहासं मारुय-विच्छुभमाणपाणियं जल-मालुप्पीलहुलियं अवि य समंतओ खुभिय-लुलिय-खोखुब्भमाण-पक्खलिय-चलिय-विउलजलचक्कवाल-महाणईवेगतुरियआपूरमाणगंभीर-विउल-आवत्त-चवल-भममाणगुप्पमाणुच्छलंत पच्चोणियत्त-पाणिय-पधावियखर-फरुस-पयंडवाउलियसलिल-फुट्टंत वीइकल्लोलसंकुलं महा-

---

१. "पायालकलससहस्स"—पाठ पूज्य श्री घासीलालजी म. वाली प्रति में है।

मगर-मच्छ-कच्छभोहार-गाह-तिमि-सुंसुमार-सावय-समाहय-समुद्धायमाणक-पूरघोर-पउरं कायरजण-हियय-कंपणं घोरमारसंतं महब्भयं भयंकरं पइभयं उत्तासणगं अणोरपारं आगासं चेव णिरवलंबं। उप्पायणपवण-धणिय-णोल्लिय उवरुवरितरंगदरिय-अइवेग-वेग-चक्खुपहमुच्छरंतं कत्थइ-गंभीर-विउल-गज्जिय-गुंजिय-णिग्घायगरुयणिवडिय-सुदीहणीहारि-दूरसुच्चंत-गंभीर-धुगुधुगंतसद्दं पडिपहरुंभंत-जक्ख-रक्खस-कुहंड-पिसायरुसिय-तज्जाय-उवसग्ग-सहस्ससंकुलं बहुप्पाइयभूयं विरइयबलिहोम-धूव-उवयारदिण्ण-रुहिरच्चणाकरणपयत-जोगपययचरियं परियंत-जुगंत-कालकप्पोवमं दुरंतं महाणई-णईवई-महाभीमदरिसणिज्जं दुरणुच्चरं विसमप्पवेसं दुक्खुत्तारं दुरासयं लवण-सलिलपुण्णं असियसिय-समूसियगेहि हत्थंतरकेहिं वाहणेहिं अइवइत्ता समुद्दमज्झे हणंति, गंतूण जणस्स पोए परदव्वहरा णरा।

६७—(इन चोरों के सिवाय कुछ अन्य प्रकार के लुटेरे भी होते हैं जो धन के लालच में फँस कर समुद्र में डाकेजनी या लूटमार करते हैं। उनका दिग्दर्शन यहाँ कराया जाता है।) वे लुटेरे रत्नों के आकर—खान समुद्र में चढ़ाई करते हैं। वह समुद्र कैसा होता है? समुद्र सहस्रों तरंग-मालाओं से व्याप्त होता है। पेय जल के अभाव में जहाज के आकुल-व्याकुल मनुष्यों की कल-कल ध्वनि से युक्त होता है। सहस्रों पाताल-कलशों की वायु के क्षुब्ध धोने से तेजी से ऊपर उछलते हुए जलकणों की रज से अन्धकारमय बना होता है। निरन्तर प्रचुर मात्रा में उठने वाले श्वेतवर्ण के फेन ही मानों उस समुद्र का अट्टहास है। वहाँ पवन के प्रबल थपेड़ों से जल क्षुब्ध हो रहा होता है। जल की तरंग-मालाएँ तीव्र वेग के साथ तरंगित होती हैं। चारों ओर तूफानी हवाएँ उसे क्षोभित कर रही होती हैं। जो तट के साथ टकराते हुए जल-समूह से तथा मगर-मच्छ आदि जलीय जन्तुओं के कारण अत्यन्त चंचल हो रहा होता है। बीच-बीच में उभरे हुए—ऊपर उठे हुए पर्वतों के साथ टकराने वाले एवं बहते हुए अथाह जल-समूह से युक्त है, गंगा आदि महानदियों के वेग से जो शीघ्र ही लबालब भर जाने वाला है, जिसके गंभीर एवं अथाह भंवरों में जलजन्तु अथवा जलसमूह चपलतापूर्वक भ्रमण करते, व्याकुल होते, ऊपर-नीचे उछलते हैं, जो वेगवान् अत्यन्त प्रचण्ड, क्षुब्ध हुए जल में से उठने वाली लहरों से व्याप्त है, महाकाय मगर-मच्छों, कच्छपों, ओहम् नामक जल-जन्तुओं, घडियालों, बड़ी मछलियों, सुंसुमारों एवं श्वापद नामक जलीय जीवों के परस्पर टकराने से तथा एक दूसरे को निगल जाने के लिए दौड़ने से वह समुद्र अत्यन्त घोर—भयावह होता है, जिसे देखते ही कायर जनों का हृदय काँप उठता है, जो अतीव भयानक और प्रतिक्षण भय उत्पन्न करने वाला है, अतिशय उद्वेग का जनक है, जिसका ओर-छोर—आर-पार कहीं दिखाई नहीं देता, जो आकाश के सदृश निरा-लम्बन-आलंबनहीन है अर्थात् जिस समुद्र में कोई सहारा नहीं है, उत्पात से उत्पन्न होने वाले पवन से प्रेरित और ऊपराऊपरी—एक के बाद दूसरी गर्व से इठलाती हुई लहरों के वेग से जो नेत्रपथ—नजर को आच्छादित कर देता है।

उस समुद्र में कहीं-कहीं गंभीर मेघगर्जना के समान गूंजती हुई, व्यन्तर देवकृत घोर ध्वनि के सदृश तथा उस ध्वनि से उत्पन्न होकर दूर-दूर तक सुनाई देने वाली प्रतिध्वनि के समान गंभीर और धुक्-धुक् करती ध्वनि सुनाई पड़ती है। जो प्रतिपथ-प्रत्येक राह में रुकावट डालने वाले यक्ष, राक्षस, कूष्माण्ड एवं पिशाच जाति के कुपित व्यन्तर देवों के द्वारा उत्पन्न किए जाने वाले हजारों उत्पातों-उपद्रवों से परिपूर्ण है। जो बलि, होम और धूप देकर की जाने वाली देवता की पूजा और रुधिर देकर की जाने वाली अर्चना में प्रयत्नशील एवं सामुद्रिक व्यापार में निरत नौका-वणिकों—

जहाजी व्यापारियों द्वारा सेवित है, जो कलिकाल—अन्तिम युग के अन्त अर्थात् प्रलयकाल के कल्प के समान है, जिसका पार पाना कठिन है, जो गंगा आदि महानदियों का अधिपति—नदीपति होने के कारण अत्यन्त भयानक है, जिसके सेवन में बहुत ही कठिनाइयाँ होती हैं या जिसमें यात्रा करना अनेक संकटों से परिपूर्ण है, जिसमें प्रवेश पाना भी कठिन है, जिसे पार करना—किनारे पहुँचना भी कठिन है, यहाँ तक कि जिसका आश्रय लेना भी दुःखमय है और जो खारे पानी से परिपूर्ण होता है।

ऐसे समुद्र में परकीय द्रव्य के अपहारक-डाकू ऊँचे किए हुए काले और श्वेत झंडों वाले, अति-वेगपूर्वक चलने वाले, पतवारों से सज्जित जहाजों द्वारा आक्रमण करके समुद्र के मध्य में जाकर सामुद्रिक व्यापारियों के जहाजों को नष्ट कर देते हैं।

विवेचन—इस पाठ में समुद्र का वर्णन काव्यात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया है। कभी-कभी सागर शान्त-प्रशान्त दृष्टिगोचर होता है किन्तु किस क्षण वह भयंकर रूप धारण कर लेगा, यह निश्चय करना कठिन है। आधुनिक काल में जब मौसम, आँधी-तूफान आदि को पहले ही सूचित कर देने वाले अनेकविध यन्त्र आविष्कृत हो चुके हैं, और जलयान भी अत्यधिक क्षमता वाले निर्मित हो चुके हैं, तब भी अनेकों यान डूबते रहते हैं। तब प्राचीन काल में उत्पातसूचक यन्त्रों के अभाव में और यानों की भी इतनी क्षमता के अभाव में समुद्रयात्रा कितनी संकटपरिपूर्ण होती होगी, यह कल्पना करना कठिन नहीं है। यही कारण है कि समुद्रयात्रा प्रारम्भ करने के पूर्व शुभ दिन, तिथि, नक्षत्र आदि देखने के साथ अनेकानेक देवी-देवताओं की पूजा-अर्चा की जाती थी, क्योंकि यह माना जाता था कि यात्रा में व्यन्तर देव भी विविध प्रकार के विघ्न उपस्थित करते हैं।

धन के लोभ से प्रेरित होकर वणिक्-जन फिर भी समुद्रयात्रा करते थे और एक देश का माल दूसरे देश में ले जाकर बेचते थे।

प्रस्तुत पाठ से स्पष्ट है कि समुद्रयात्रा में प्राकृतिक अथवा दैविक प्रकोप के अतिरिक्त भी एक भारी भय रहता था। वह भय मानवीय अर्थात् समुद्री लुटेरों का था। ये लुटेरे अपने प्राणों को संकट में डालकर केवल लूटमार के लिए ही भयंकर सागर में प्रवेश करते थे। वे नौकावणिकों को लूटते थे और कभी-कभी उनके प्राणों का भी अपहरण करते थे। इस पाठ में यही तथ्य प्ररूपित है।

ग्रामादि लूटने वाले—

६८—णिरणुकंपा णिरवयक्खा गामागर-णगर-खेड-कब्बड-मडंब-दोणमुह-पट्टणासम-णिगम-जणवए य धणसमिद्धे हणंति थिरहियय-छिण्ण-लज्जा-बंदिग्गह-गोग्गहे य गिण्हंति दारुणमई णिक्किवा[1] णियं हणंति छिंदंति गेहसंधि णिक्खित्ताणि य हरंति धणधण्णदव्वजायाणि जणवय-कुलाणं णिग्घिणमई परस्स दव्वाहि जे अविरया।

६८—जिनका हृदय अनुकम्पा—दया से शून्य है, जो परलोक की परवाह नहीं करते, ऐसे लोग धन से समृद्ध ग्रामों, आकरों, नगरों, खेटों, कर्वटों, मडम्बों, पत्तनों, द्रोणमुखों, आश्रमों, निगमों एवं देशों को नष्ट कर देते—उजाड़ देते हैं। और वे कठोर हृदय वाले या स्थिरहित—निहित स्वार्थ

---

1. पाठान्तर—णिक्किया।

वाले, निर्लज्ज लोग मानवों को वन्दी बनाकर अथवा गायों आदि को ग्रहण करके ले जाते हैं। दारुण मति वाले, कृपाहीन—निर्दय या निकम्मे अपने-आत्मीय जनों का भी घात करते हैं। वे गृहों की सन्धि को छेदते हैं अर्थात् सेंध लगाते हैं।

जो परकीय द्रव्यों से विरत—विमुख-निवृत्त नहीं है ऐसे निर्दय बुद्धि वाले (वे चोर) लोगों के घरों में रक्खे हुए धन, धान्य एवं अन्य प्रकार के द्रव्य के समूहों को हर लेते हैं।

विवेचन—प्रकृत पाठ में यह प्रदर्शित किया गया है कि पराये धन को लूटने वाले अथवा सेंध आदि लगा कर चोरी करने वाले लोग वही होते हैं, जो निर्दय—अनुकम्पाहीन होते हैं और जिन्हें अदत्तादान के परिणामस्वरूप परलोक में होने वाली दुर्दशाओं की परवाह नहीं है। दयावान् और परलोक से डरने वाले विवेकी जन इस इह-परलोक-दुःखप्रद कुकृत्य में प्रवृत्त नहीं होते।

प्राचीन काल में भी जन-वस्तियों की अनेक श्रेणियां उनकी हैसियत अथवा विशिष्टताओं के आधार पर निर्धारित की जाती थीं। उनमें से कई नामों का प्रस्तुत पाठ में उल्लेख हुआ है, जिनका आशय इस प्रकार है—

ग्राम—गांव-वह छोटी वस्ती जहाँ किसानों की वहुलता हो।
आकर—जहाँ सुवर्ण, रजत तांवे आदि की खानें हों।
नगर—नकर-कर अर्थात् चुंगी जहाँ न लगती हो, ऐसी वस्ती।
खेड—खेट-धूल के प्राकार से वेष्टित स्थान-वस्ती।
कव्वड—कर्वट-जहाँ थोड़े मनुष्य रहते हों—कुनगर।
मडम्ब—जिसके आसपास कोई गांव-वस्ती न हो।
द्रोणमुख—जहाँ जलमार्ग से और स्थलमार्ग से जाया जा सके ऐसी वस्ती।
पत्तन—पाटन-जहाँ जलमार्ग से अथवा स्थलमार्ग से जाया जाए। किसी-किसी ने पत्तन का अर्थ रत्नभूमि भी किया है।
आश्रम—जहाँ तापसजनों का निवास हो।
निगम—जहाँ वणिक्जन-व्यापारी वहुतायत से निवास करते हों।
जनपद—देश-प्रदेश-अंचल।

६९—तहेव केई अदिण्णादाणं गवेसमाणा कालाकालेसु संचरंता चियकापज्जलिय-सरस-दर-दड्ढ-कड्ढियकलेवरे रुहिरलित्तवयण-अक्खय-खाइयपीय-डाइणिभमंत-भयंकरं जंबुयक्खिक्खियंते घूयकयघोर-सद्दे वेयालुट्ठिय-णिसुद्ध-कहकहिय-पहसिय-बीहणग-णिरभिरामे अइदुब्भिगंध-बीभच्छदरिसणिज्जे सुसाण-वण-सुण्णघर-लेण-अंतरावण-गिरिकंदर-विसमसावय-समाकुलासु वसहीसु किलिस्संता सीयातव-सोसिय-सरीरा दड्ढच्छवी णिरयतिरिय-भवसंकड-दुक्ख-संभारवेयणिज्जाणि पावकम्माणि संचिणंता, दुल्लह-भक्खण्ण-पाणभोयणा पिवासिया झुंझिया किलंता मंस-कुणिमकंदमूल-जं किंचिकयाहारा उव्विग्गा उप्पुया असरणा अडवीवासं उवेंति वालसय-संकणिज्जं।

६९—इसी प्रकार कितने ही (चोर) अदत्तादान की गवेषणा—खोज करते हुए काल और अकाल अर्थात् समय और कुसमय—अर्धरात्रि आदि विषम काल, में इधर-उधर भटकते हुए ऐसे श्मशान

में फिरते हैं जहाँ चिताओं में जलती हुई, रुधिर आदि से युक्त, अधजली एवं खींच ली गई लाशें पड़ी हैं, रक्त से लथपथ मृत शरीरों को पूरा खा लेने और रुधिर पी लेने के पश्चात् इधर-उधर फिरती हुई डाकिनों के कारण जो अत्यन्त भयावह जान पड़ता है, जहाँ जम्बुक—गीदड़ खीं-खीं ध्वनि कर रहे हैं, उल्लुओं की डरावनी आवाज आ रही है, भयोत्पादक एवं विद्रूप पिशाचों द्वारा ठहाका मार कर हँसने—अट्टहास करने से जो अतिशय भयावना एवं अरमणीय हो रहा है और जो तीव्र दुर्गन्ध से व्याप्त एवं घिनौना होने के कारण देखने में भीषण जान पड़ता है।

ऐसे श्मशान-स्थानों के अतिरिक्त वनों में, सूने घरों में, लयनों-शिलामय गृहों में, मार्ग में, बनी हुई दुकानों, पर्वतों की गुफाओं, विषम—ऊबड़-खाबड़ स्थानों और सिंह बाघ आदि हिंस्र प्राणियों से व्याप्त स्थानों में (राजदण्ड से बचने के उद्देश्य से) क्लेश भोगते हुए इधर-उधर मारे-मारे फिरते हैं। उनके शरीर की चमड़ी शीत और उष्ण से शुष्क हो जाती है, सर्दी-गर्मी की तीव्रता को सहन करने के कारण उनकी चमड़ी जल जाती है या चेहरे की कान्ति मंद पड़ जाती है। वे नरकभव में और तिर्यंच भव रूपी गहन वन में होने वाले निरन्तर दुःखों की अधिकता द्वारा भोगने योग्य पापकर्मों का संचय करते हैं, अर्थात् अदत्तादान का पाप इतना तीव्र होता है कि नरक की एवं तिर्यंच गति की तीव्र वेदनाओं को निरन्तर भोगे बिना उससे छुटकारा नहीं मिलता। ऐसे घोर पापकर्मों का वे संचय करते हैं। (जंगल में कभी यहां और कभी कहीं भटकते-छिपते रहने के कारण) उन्हें खाने योग्य अन्न और जल भी दुर्लभ होता है। कभी प्यास से पीड़ित रहते हैं, कभी—भूखे रहते हैं, थके रहते हैं और कभी-कभी मांस, शव-मुर्दा, कभी कन्दमूल आदि जो कुछ भी मिल जाता है, उसी को खा लेते हैं—उसी को गनीमत समझते हैं। वे निरन्तर उद्विग्न—चिन्तित—घबराए हुए रहते हैं, सदैव उत्कंठित रहते हैं। उनका कोई शरण—रक्षक नहीं होता। इस प्रकार वे अटवीवास करते हैं—जंगल में रहते हैं, जिसमें सैकड़ों सर्पों (अजगरों, भेड़ियों, सिंह, व्याघ्र) आदि का भय बना रहता है अर्थात् जो विषैले और हिंसक जन्तुओं के कारण सदा शंकनीय बना रहता है।

७०—अयसकरा तक्करा भयंकरा कास हरामोत्ति अज्ज दव्वं इह सामत्थं करेंति गुज्झं। बहुयस्स जणस्स कज्जकरणेसु विग्घकरा मत्तपमत्तपसुत्त-वीसत्थ-छिद्दघाई वसणब्भुदएसु हरणबुद्धी विगव्व रुहिरमहिया परेंति णरवइ-मज्जायमइक्कंता सज्जणजणदुगंछिया सकम्मेहिं पावकम्मकारी असुभपरिणया य दुक्खभागी णिच्चाविलदुहमणिव्वुइमणा इहलोए चेव किलिस्संता परदव्वहरा णरा वसणसयसमावण्णा।

७०—वे अकीर्त्तिकर अर्थात् अपयशजनक काम करने वाले और भयंकर—दूसरों के लिए भय उत्पन्न करने वाले तस्कर ऐसी गुप्त मंत्रणा—विचारणा करते रहते हैं कि आज किसके द्रव्य का अपहरण करें; वे बहुत—से मनुष्यों के कार्य करने में विघ्नकारी होते हैं। वे मत्त—नशा के कारण बेभान, प्रमत्त—बेसुध सोए हुए और विश्वास रखने वाले लोगों का अवसर देखकर घात कर देते हैं। व्यसन—संकट—विपत्ति और अभ्युदय—हर्ष आदि के प्रसंगों में चोरी करने की बुद्धि वाले होते हैं। वृक—भेड़ियों की तरह रुधिर-पिपासु होकर इधर-उधर भटकते रहते हैं। वे राजाओं—राज्यशासन की मर्यादाओं का अतिक्रमण करने वाले, सज्जन पुरुषों द्वारा निन्दित एवं पापकर्म करने वाले (चोर) अपनी ही करतूतों के कारण अशुभ परिणाम वाले और दुःख के भागी होते हैं। सैदव मलिन, दुःखमय

अशान्तियुक्त चित्त वाले ये परकीय द्रव्य को हरण करने वाले इसी भव में सैकड़ों कष्टों से घिर कर क्लेश पाते हैं ।

चोर को बन्दीगृह में होने वाले दुःख—

७१—तहेव केइ परस्स दव्वं गवेसमाणा गहिया य हया य बद्धरुद्धा य तुरियं अइधाडिया पुरवरं समप्पिया चोरग्गह-चारभडचाडुकराण तेहि य कप्पडप्पहार-णिद्दयआरक्खिय-खरफरुसवयण-तज्जण-गलच्छल्लुच्छल्लणाहि विमणा चारगवसहि पवेसिया णिरयवसहिसरिसं। तत्थवि गोमियप्पहार-दूमणणिब्भच्छण-कडुयवयणभेसणगभयाभिभूया अक्खित्तणियंसणा मलिणदंडिखंडणिवसणा उक्कोडालंचपासमग्गणपरायणेहि दुक्खसमुदीरणेहि गोम्मियभडेहि विविहेहि बंधणेहि ।

७१—इसी प्रकार परकीय धन द्रव्य की खोज में फिरते हुए कई चोर (आरक्षकों—पुलिस के द्वारा) पकड़े जाते हैं और उन्हें मारा-पीटा जाता है, वन्धनों से बाँधा जाता है और कारागार में कैद किया जाता है । उन्हें वेग के साथ—जल्दी-जल्दी खूब घुमाया—चलाया जाता है । बड़े नगरों में पहुँचा कर उन्हें पुलिस आदि अधिकारियों को सौंप दिया जाता है । तत्पश्चात् चोरों को पकड़ने वाले, चौकीदार, सिपाही—गुप्तचर चाटुकार—उन्हें कारागार में ठूंस देते हैं । कपड़े के चाबुकों के प्रहारों से, कठोर-हृदय सिपाहियों के तीक्ष्ण एवं कठोर वचनों की डाट-डपट से तथा गर्दन पकड़ कर धक्के देने से उनका चित्त खेदखिन्न होता है । उन चोरों को नारकावास सरीखे कारागार में जवर्दस्ती घुसेड़ दिया जाता है । (किन्तु कारागार में भी उन्हें चैन कहाँ ?) वहाँ भी वे कारागार के अधिकारियों द्वारा विविध प्रकार के प्रहारों, अनेक प्रकार की यातनाओं, तर्जनाओं, कटुवचनों एवं भयोत्पादक वचनों से भयभीत होकर दुखी वने रहते हैं । उनके पहनने—ओढ़ने के वस्त्र छीन लिये जाते हैं । वहाँ उनको मैले—कुचैले फटे वस्त्र पहनने को मिलते हैं । वार-वार उन कैदियों (चोरों) से लांच—रिश्वत माँगने में तत्पर कारागार के रक्षकों—भटों द्वारा अनेक प्रकार के वन्धनों में वे वांध दिये जाते हैं ।

विवेचन—चौर्यरूप पापकर्म करने वालों की कैसी दुरवस्था होती है, इस विषय में शास्त्रकार ने यहाँ भी प्रकाश डाला है । मूल पाठ अपने आप में स्पष्ट है । उस पर विवेचन की आवश्यकता नहीं है । अदत्तादान करने वालों की इस प्रकार की दुर्दशा लोक में प्रत्यक्ष देखी जाती है ।

७२—किं ते ? हडि-णिगड-वालरज्जुय-कुदंडग-वरत्त-लोहसंकल-हत्थंदुय-वज्झपट्ट-दामक-णिक्कोडणेहि अण्णेहि य एवमाइएहि गोम्मिगभंडोवगरणेहि दुक्खसमुदीरणेहि[1] संकोडणमोडणाहि बज्झंति मंदपुण्णा । संपुड-कवाड-लोहपंजर-भूमिघर-णिरोह-कूव-चारग-कीलग-जुय-चक्कविततबंधण-खंभालण-उद्धचलण-बंधणविहम्मणाहि य विहेडयंता अवकोडगगाढ-उर-सिरबद्ध-उद्धपूरिय[2] फुरंत-उर-कडगमोडणा-मेडणाहि बद्धा य णीससंता सीसावेढ-उरुयावल-चप्पडग-संधिबंधण-तत्तसलाग-सूइया-कोडणाणि तच्छणविमाणणाणि य खारकडुय-तित्त-णावणजायणा-कारणसयाणि बहुयाणि पावियंता

---

१. "दुक्खसमयमुदीरणेहिं"—पाठ भी है ।

२. यहाँ "असुभपरिणया य"—पाठ श्री ज्ञानविमल सूरि की वृत्ति वाली प्रति में है ।

उरक्खोडो-दिण्ण-गाढपेल्लण-अट्ठिगसंभग्गसपंसुलिगा गलकालकलोहदंड-उर-उदर-वत्थि-परिपीलिया मत्थंत-हिययसंचुण्णियंगमंगा आणत्तीकिंकरेहिं ।

केई अविराहिय-वेरिएहिं जमपुरिस-सण्णिहेहिं पहया ते तत्थ मंदपुण्णा चडवेला-वज्झपट्ट-पाराइ-छिव-कस-लत्तवरत्त-णेत्तप्पहारसयतालि-यंगमंगा किवणा लंबंतचम्मवणवेयणविमुहियमणा घणकोट्टिम-णियलजुयलसंकोडियमोडिया य कीरंति णिरुच्चारा असंचरणा, एया अण्णा य एवमाईओ वेयणाओ पावा पावेंति ।

७२—प्रश्न किया गया है कि चोरों को जिन विविध वन्धनों से बांधा जाता है, वे वन्धन कौन-से हैं ?

उत्तर है—हडि-खोड़ा या काष्ठमय वेड़ी, जिसमें चोर का एक पाँव फंसा दिया जाता है, लोहमय वेड़ी, वालों से वनी हुई रस्सी, जिसके किनारे पर रस्सी का फंदा बांधा जाता है, ऐसा एक विशेप प्रकार का काष्ठ, चर्मनिर्मित मोटे रस्से, लोहे की सांकल, हथकड़ी, चमड़े का पट्टा, पैर बांधने की रस्सी तथा निष्कोडन—एक विशेप प्रकार का वन्धन, इन सव तथा इसी प्रकार के अन्य-अन्य दुःखों को समुत्पन्न करने वाले कारागार—कर्मचारियों के साधनों द्वारा (पापी चोरों को बांध कर पीड़ा पहुँचाई जाती है ।) इतना ही नहीं, उन पापी चोर कैदियों के शरीर को सिकोड़ कर और मोड़ कर जकड़ दिया जाता है । कैद की कोठरी (काल-कोठड़ी) में डाल कर किवाड़ वंद कर देना, लोहे के पींजरे में डाल देना, भूमिगृह—भोंयरे—तलघर में वंद कर देना, कूप में उतारना, वंदीघर के सींखचों से वांध देना, अंगों में कीलें ठोक देना, (वैलों के कंधों पर रक्खा जाने वाला) जूवा उनके कंधे पर रख देना अर्थात् वैलों के स्थान पर उन्हें गाड़ी में जोत देना, गाड़ी के पहिये के साथ वांध देना, वाहों जांघों और सिर को कस कर वांध देना, खंभे से चिपटा देना, पैरों को ऊपर और मस्तक को नीचे की ओर करके वांधना, इत्यादि वे वन्धन हैं जिन से वांधकर अधर्मी जेल - अधिकारियों द्वारा चोर वांधे जाते हैं—पीड़ित किये जाते हैं ।

उन अदत्तादान करने वालों की गर्दन नीची करके, छाती और सिर कस कर वांध दिया जाता है तव वे निश्वास छोड़ते हैं अथवा कस कर वांधे जाने के कारण उनका श्वास रुक जाता है अथवा उनकी आंखें ऊपर को आ जाती हैं । उनकी छाती धक् धक् करती रहती है । उनके अंग मोड़े जाते हैं, वे वारंवार उल्टे किये जाते हैं । वे अशुभ विचारों में डूवे रहते हैं और टंडी श्वासें छोड़ते हैं ।

कारागार के अधिकारियों की आज्ञा का पालन करने वाले कर्मचारी चमड़े की रस्सी से उनके मस्तक (कस कर) वांध देते हैं, दोनों जंघाओं को चीर देते हैं या मोड़ देते हैं । घुटने, कोहनी, कलाई आदि जोड़ों को काष्ठमय यन्त्र से वांधा जाता है । तपाई हुई लोहे की सलाइयाँ एवं सूइयाँ शरीर में चुभोई जाती हैं । वसूले से लकड़ी की भाँति उनका शरीर छीला जाता है । मर्मस्थलों को पीड़ित किया जाता है । लवण आदि क्षार पदार्थ, नीम आदि कटुक पदार्थ और लाल मिर्च आदि तीखे पदार्थ उनके कोमल अंगों पर छिड़के जाते हैं । इस प्रकार पीड़ा पहुँचाने के सैकड़ों कारणों—उपायों द्वारा वहुत-सी यातनाएँ वे प्राप्त करते हैं ।

(इतने से ही गनीमत कहाँ ?) छाती पर काष्ठ रखकर जोर से दवाने अथवा मारने से उनकी हड्डियाँ भग्न हो जाती हैं—पसली-पसली ढीली पड़ जाती है । मछली पकड़ने के कांटे के

समान घातक काले लोहे के नोकदार डंडे छाती, पेट, गुदा और पीठ में भोंक देने से वे अत्यन्त पीड़ा अनुभव करते हैं। ऐसी-ऐसी यातनाएँ पहुँचाने के कारण अदत्तादान करने वालों का हृदय मथ दिया जाता है और उनके अंग-प्रत्यंग चूर-चूर हो जाते हैं।

कोई-कोई अपराध किये विना ही वैरी बने हुए पुलिस—सिपाही या कारागार के कर्मचारी यमदूतों के समान मार-पीट करते हैं। इस प्रकार वे अभागे—मन्दपुण्य चोर वहाँ—कारागार में थप्पड़ों, मुक्कों, चर्मपट्टों, लोहे के कुशों, लोहमय तीक्ष्ण शस्त्रों, चाबुकों, लातों, मोटे रस्सों और वेतों के सैकड़ों प्रहारों से अंग-अंग को ताड़ना देकर पीड़ित किये जाते हैं। लटकती हुई चमड़ी पर हुए घावों की वेदना से उन वेचारे चोरों का मन उदास हो जाता है—मूढ बन जाता है। लोहे के घनों से कूट-कूट कर बनायी हुई दोनों वेड़ियों को पहनाये रखने के कारण उनके अंग सिकुड़ जाते हैं, मुड़ जाते हैं और शिथिल पड़ जाते हैं। यहाँ तक कि उनका मल-मूत्रत्याग भी रोक दिया जाता है, अथवा उन्हें निरुच्चार कर दिया जाता है अर्थात् उनका वोलना वंद कर दिया जाता है। वे इधर-उधर संचरण नहीं कर पाते—उनका चलना-फिरना रोक दिया जाता है। ये और इसी प्रकार की अन्यान्य वेदनाएँ वे अदत्तादान का पाप करने वाले पापी प्राप्त करते हैं।

विवेचन—सूत्र का भाव स्पष्ट है।

चोर को दिया जाने वाला दण्ड—

७३—अदंतिंदिया वसट्टा बहुमोहमोहिया परधणम्मि लुद्धा फासिंदिय-विसय-तिव्वगिद्धा इत्थि-गयरूवसद्दरसगंधइट्ठरइमहियभोगतण्हाइया य धणतोसगा गहिया य जे णरगणा, पुणरवि ते कम्म-दुव्वियद्धा उवणीया रायकिंकराण तेसिं वहसत्थगपाढयाणं विलउलीकारगाणं लंचसयगेण्हगाणं कूडक-वडमाया-णियडि-आयरणपणिहिवंचणविसारयाणं वहुविहअलियसयजंपगाणं परलोय-परम्मुहाणं णिरय-गइगामियाणं तेहिं आणत्त-जीयदंडा तुरियं उग्घाडिया पुरवरे सिंघाडग-तिय-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापहपहेसु वेत-दंड-लउड-कट्ठलेट्ठु-पत्थर-पणालिपणोल्लिमुट्ठि-लया-पायपण्हि-जाणु-कोप्पर-पहार-संभग्ग-महियगत्ता।

७३—जिन्होंने अपनी इन्द्रियों का दमन नहीं किया है—जो अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण नहीं रख सके हैं बल्कि स्वयं इन्द्रियों के दास वन गए हैं, वशीभूत हो रहे हैं, जो तीव्र आसक्ति के कारण मूढ—हिताहित के विवेक से रहित वन गए हैं, परकीय धन में लुब्ध हैं, जो स्पर्शनेन्द्रिय के विषय में तीव्र रूप से गृद्ध—आसक्त हैं, स्त्री सम्बन्धी रूप, शब्द, रस और गंध में इष्ट रति तथा इष्ट भोग की तृष्णा से व्याकुल बने हुए हैं, जो केवल धन की प्राप्ति में ही सन्तोष मानते हैं, ऐसे मनुष्यगण—चोर—राजकीय पुरुषों द्वारा पकड़ लिये जाते हैं, फिर भी (पहले कभी ऐसी यातनाएँ भोग लेने पर भी) वे पापकर्म के परिणाम को नहीं समझते। वे राजपुरुष अर्थात् आरक्षक—पुलिस के सिपाही – वधशास्त्र के पाठक होते हैं अर्थात् वध की विधियों को गहराई से समझते हैं। अन्याययुक्त कर्म करने वाले या चोरों को गिरफ्तार करने में चतुर होते हैं। वे तत्काल समझ जाते हैं कि यह चोर अथवा लम्पट है। वे सैकड़ों अथवा सैकड़ों वार लांच—रिश्वत लेते हैं। झूठ, कपट, माया, निकृति करके वेषपरिवर्त्तन आदि करके चोर को पकड़ने तथा उससे अपराध स्वीकार कराने में अत्यन्त कुशल होते हैं—गुप्तचरी के काम में अति चतुर होते हैं। वे नरकगतिगामी, परलोक से विमुख एवं अनेक प्रकार से सैकड़ों असत्य भाषण करने वाले, ऐसे राजकिंकरों—सरकारी कर्मचारियों के समक्ष उपस्थित कर दिये जाते

हैं ।

उन राजकीय पुरुषों द्वारा जिनको प्राणदण्ड की सजा दी गई है, उन चोरों को पुरवर—नगर में शृंगाटक, त्रिक, चतुष्क, चत्वर, चतुर्मुख, महापथ और पथ आदि स्थानों में जनसाधारण के सामने—प्रकट रूप में लाया जाता है । तत्पश्चात् बेंतों से, डंडों से, लाठियों से, लकड़ियों से, ढेलों से, पत्थरों से, लम्बे लट्ठों से, पणोलि—एक विशेष प्रकार की लाठी से, मुक्कों से, लताओं से, लातों से, घुटनों से, कोहनियों से उनके अंग-अंग भंग कर दिए जाते हैं, उनके शरीर को मथ दिया जाता है ।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ में भी चोरों की यातनाओं का प्रतिपादन किया गया है । साथ ही यह उल्लेख भी कर दिया गया है कि आखिर मनुष्य चौर्य जैसे पाप कर्म में, जिसके फलस्वरूप ऐसी-ऐसी भयानक एवं घोरतर यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं, क्यों प्रवृत्त होता है ?

इस पाप-प्रवृत्ति का प्रथम मूल कारण अपनी इन्द्रियों को वश में न रखना है । जो मनुष्य इन्द्रियों को अपनी दासी बना कर नहीं रखता और स्वयं को उनका दास बना लेता है, वही ऐसे पाप-कर्म में प्रवृत्त होता है । अतएव चोरी से बचने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य अपनी इन्द्रियों पर संयम रक्खे और उन्हें स्वच्छन्द न होने दे ।

दूसरा कारण है—परधन का लोभ, जिसे 'परधणम्मि लुद्धा' विशेषण द्वारा उल्लिखित किया गया है । इसका उल्लेख पूर्व में भी किया जा चुका है ।

अदत्तादान के इस प्रकरण में स्पर्शनेन्द्रिय में आसक्ति—स्त्रियों के प्रति उत्पन्न हुए अनुराग का भी कथन किया गया है । इसका कारण यही जान पड़ता है कि परस्त्री का सेवन अब्रह्मचर्य के साथ अदत्तादान का भी पाप है, क्योंकि परस्त्री अदत्त होती है । आचार्य अभयदेवसूरि ने इस विषय में कोई उल्लेख नहीं किया है ।

मूल पाठ में कतिपय स्थलों का नामोल्लेख हुआ है । उनका अर्थ इस प्रकार है—

शृंगाटक—सिंघाड़े के आकार का तिकोना मार्ग ।

त्रिक—जहाँ तीन रास्ते मिलते हों ।

चतुष्क—चौक, जहाँ चार मार्ग मिलते हैं ।

चत्वर—जहाँ चार से अधिक मार्ग मिलते हैं ।

चतुर्मुख—चारों दिशाओं में चार द्वार वाली इमारत, जैसे बंगला, देव मन्दिर या कोई अन्य स्थान ।

महापथ—चौड़ी सड़क, राजमार्ग ।

पथ—साधारण रास्ता ।

७४—अट्ठारसकम्मकारणा जाइयंगमंगा कलुणा सुक्कोट्ठकंठ-गलग-तालु-जीहा जायंता पाणीयं विगय-जीवियासा तण्हाइया वरागा तं वि य ण लभंति वज्झपुरिसेहिं घाडियंता । तत्थ य खर-फरुस-पडहघट्टिय-कूडग्गहगाढरुट्ठणिसट्ठपरामुट्ठा वज्झयरकुडिजुयणियत्था सुरत्तकणवीर-गहियविमुकुल-कंठे-गुण-वज्झदूयआविद्धमल्लदामा, मरणभयुप्पण्णसेय-आयतणेहुत्तुपियकिलिण्णगत्ता चुण्णगुंडियसरीर-रयरेणुभरियकेसा कुसुंभगोकिण्णमुद्धया छिण्ण-जीवियासा घुण्णंता वज्झयाणभीया[1] तिलं तिलं चेव छिज्जमाणा सरीरविक्किकत्तलोहिओलित्ता कागणिमंसाणि-खावियंता पावा खरफरुसएहिं तालिज्जमाण-

---

१. 'वज्झपाणिप्पंया'—पाठ भी है ।

देहा वातिग-णरणारीसंपरिवुडा पेच्छिज्जंता य णगरजणेण वज्झणेवत्थिया पणेज्जंति णयरमज्झेण किवणकलुणा अत्ताणा असरणा अणाहा अबंधवा बंधुविप्पहीणा विपिक्खिता दिसोदिसिं मरणभयु-व्विग्गा आघायणपडिदुवार-संपाविया अधण्णा सूलग्गविलग्गभिण्णदेहा ।

७४—अठारह प्रकार के चोरों एवं चोरी के प्रकारों के कारण उनके अंग-अंग पीडित कर दिये जाते हैं, उनकी दशा अत्यन्त करुणाजनक होती है । उनके ओष्ठ, कण्ठ, गला, तालु और जीभ सूख जाती है, जीवन की आशा उनकी नष्ट हो जाती है । वे बेचारे प्यास से पीडित होकर पानी मांगते हैं पर वह भी उन्हें नसीब नहीं होता । वहाँ कारागार में वध के लिए नियुक्त पुरुष उन्हें धकेल कर या घसीट कर ले जाते हैं । अत्यन्त कर्कश पटह—ढोल बजाते हुए, राजकर्मचारियों द्वारा धकियाए जाते हुए तथा तीव्र क्रोध से भरे हुए राजपुरुषों के द्वारा फांसी या शूली पर चढ़ाने के लिए दृढतापूर्वक पकड़े हुए वे अत्यन्त ही अपमानित होते हैं । उन्हें प्राणदण्डप्राप्त मनुष्य के योग्य दो वस्त्र पहनाए जाते हैं । एकदम लाल कनेर की माला उनके गले में पहनायी जाती है, जो वध्यदूत—सी प्रतीत होती है अर्थात् यह सूचित करती है कि इस पुरुष को शीघ्र ही मृत्युदण्ड दिया जाने वाला है । मरण की भीति के कारण उनके शरीर से पसीना छूटता है, उस पसीने की चिकनाई से उनके सारे अंग भीग जाते हैं—समग्र शरीर चिकना-चिकना हो जाता है । कोयले आदि के दुर्वर्ण चूर्ण से उनका शरीर पोत दिया जाता है । हवा से उड़ कर चिपटी हुई धूलि से उनके केश रूखे एवं धूल-भरे हो जाते हैं । उनके मस्तक के केशों को कुसुंभी—लाल रंग से रंग दिया जाता है । उनकी जीवन—जिन्दा रहने—की आशा छिन्न—नष्ट हो जाती है । अतीव भयभीत होने के कारण वे डगमगाते हुए चलते हैं—दिमाग में चक्कर आने लगते हैं और वे वधकों—जल्लादों से भयभीत बने रहते हैं । उनके शरीर के तिल-तिल जितने—छोटे-छोटे टुकड़े कर दिये जाते हैं । उन्हीं के शरीर में से काटे हुए और रुधिर से लिप्त मांस के छोटे-छोटे टुकड़े उन्हें खिलाए जाते हैं । कठोर एवं कर्कश स्पर्श वाले पत्थर आदि से उन्हें पीटा जाता है । इस भयावह दृश्य को देखने के लिए उत्कंठित, पागलों जैसी नर-नारियों की भीड़ से वे घिर जाते हैं । नागरिक जन उन्हें (इस अवस्था में) देखते हैं । मृत्युदण्डप्राप्त कैदी की पोशाक उन्हें पहनाई जाती है और नगर के बीचों-बीच हो कर ले जाया जाता है । उस समय वे चोर दीन-हीन—अत्यन्त दयनीय दिखाई देते हैं । त्राणरहित, अशरण, अनाथ, बन्धु-बान्धवविहीन, भाई-बंदों द्वारा परित्यक्त वे इधर-उधर—विभिन्न दिशाओं में नजर डालते हैं (कि कोई सहायक—संरक्षक दीख जाए) और (सामने उपस्थित) मौत के भय से अत्यन्त घबराए हुए होते हैं । तत्पश्चात् उन्हें आघातन—वधस्थल पर पहुँचा दिया जाता है और उन अभागों को शूली पर चढ़ा दिया जाता है, जिससे उनका शरीर चिर जाता है ।

विवेचन—प्राचीन काल में चोरी करना कितना गुरुतर अपराध गिना जाता था और चोरी करने वालों को कैसा भीषण दण्ड दिया जाता था, यह तथ्य इस वर्णन से स्पष्ट हो जाता है । आधुनिक काल में भी चोरों को भयंकर से भयंकर यातनाएँ भुगतनी पड़ती हैं ।

कल्पना कीजिए उस बीभत्स दृश्य की जब वध्य का वेष धारण किए चोर नगर के बीच फिराया जा रहा हो ! उसके शरीर पर प्रहार पर प्रहार हो रहे हों, अंग काटे जा रहे हों और उसी का मांस उसी को खिलाया जा रहा हो, नर-नारियों के झुण्ड के झुण्ड उस दृश्य को देखने के लिए उमड़े हुए हों ! उस समय अभागे चोर की मनोभावनाएँ किस प्रकार की होती होंगी ! मरण सामने

देख कर उसे कैसा अनुभव होता होगा ! काश, वह इस दुर्दशा की पहले ही कल्पना कर लेता और चोरी के पापकर्म में प्रवृत्ति न करता । ऐसी अवस्था में कोई उसे त्राण या शरण नहीं देता, यहाँ तक कि उसके भाई-बंद भी उसका परित्याग कर देते हैं ।

प्रस्तुत पाठ में अठारह प्रकार के चोरों या चौर्यप्रकारों का उल्लेख किया गया है । वे *अठारह प्रकार ये हैं—*

भलनं कुशलं तर्जा, राजभागोऽवलोकनम् ।
आमर्गदर्शनं शय्या, पदभंगस्तथैव च ।। १ ।।
विश्राम: पादपतनमासनं गोपनं तथा ।
खण्ड स्यखादनं चैव, तथाऽन्यन्माहराजिकम् ।। २ ।।
पद्याग्न्युदकरज्जूनां प्रदानं ज्ञानपूवकम् ।
एता प्रसूतयो ज्ञेया अष्टादश मनोषिभि: ।। ३ ।।

१—डरते क्यों हो ? मैं सब सँभाल लूँगा, तुम्हारा वाल वांका नहीं होने दूँगा, इस प्रकार कह कर चोर को प्रोत्साहन देना 'भलन' कहलाता है ।

२. चोर के मिलने पर उससे कुशल-क्षेम पूछना ।
३. चोर को चोरी के लिए हाथ आदि से संकेत करना ।
४. राजकीय कर—टैक्स को छिपाना—नहीं देना ।
५. चोर के लिए संधि आदि देखना अथवा चोरी करते देख कर मौन रह जाना ।
६. चोरों की खोज करने वालों को गलत—विपरीत मार्ग दिखाना ।
७. *चोरों को सोने के लिए शय्या देना ।*
८. चोरों के पद-चिह्नों को मिटाना ।
९. चोर को घर में छिपाना या विश्राम देना ।
१०. चोर को नमस्कारादि करना—उसे सन्मान देना ।
११. चोर को बैठने के लिए आसन देना ।
१२. चोर को छिपाना—छिपा कर रखना ।
१३. चोर को पकवान आदि खिलाना ।
१४. चोर को गुप्त रूप से आवश्यक वस्तुएँ भेजना ।
१५. थकावट दूर करने के लिए चोर को गर्म पानी, तैल आदि देना ।
१६. भोजन पकाने आदि के लिए चोर को अग्नि देना ।
१७. चोर को पीने के लिए ठंडा पानी देना ।
१८. चोर को चोरी करने के लिए अथवा चोरी करके लाये पशु को बांधने के लिए रस्सी-रस्सा देना ।

ये अठारह चोरी की प्रसूति—कारण हैं । चोर को चोर जान कर ही ऐसे कार्य चौर्यकारण होते हैं ।

इससे स्पष्ट है कि केवल साक्षात् चोरी करने वाला ही चोर नहीं है, किन्तु चोरी में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सहायता देना, सलाह देना, उत्तेजना देना, चोर का आदर-सत्कार आदि भी चोरी के ही अन्तर्गत है । कहा है—

चौरश्चौरार्पको मंत्री, भेदज्ञः काणकक्रयी ।
अन्नदः स्थानदश्चैव, चोरः सप्तविधः स्मृतः ।।

अर्थात्—(१) स्वयं चोरी करने वाला (२) चोरी करवाने वाला (३) चोरी करने की सलाह देने वाला (४) भेद वतलाने वाला—कैसे, कव और किस विधि से चोरी करना, इत्यादि वताने वाला (५) चोरी का माल (कम कीमत में) खरीदने वाला (६) चोर को खाने की सामग्री देने वाला—जंगल आदि गुप्त स्थानों में रसद पहुँचाने वाला (७) चोर को छिपने के लिए स्थान देने वाला, ये सात प्रकार के चोर कहे गए हैं ।

चोरों को दी जाती हुई भीषण यातनाएँ—

७५—ते य तत्थ कीरंति परिकप्पियंगमंगा उल्लंविज्जंति रुक्खसालासु केइ कलुणाइं विलवमाणा, अवरे चउरंगधणियवद्धा पव्वयकडगा पमुच्चंते दूरपातवहुविसमपत्थरसहा अण्णे, य गय-चलण-मलणयणिम्मद्दिया कीरंति पावकारी अट्ठारसखंडिया य कीरंति मुंडपरसूहिं, केइ उक्कत्तकण्णोट्ठणासा उप्पाडियणयण-दसण-वसणा जिब्भिदियछिया छिण्ण-कण्णसिरा पणिज्जंते छिज्जंते य असिणा णिव्विसया छिण्णहत्थपाया पमुच्चंते य जावज्जीववंधणा य कीरंति, केइ परदव्वहरणलुद्धा कारग्गलणियल-जुयलरुद्धा चारगाएहतसारा सयणविप्पमुक्का मित्तजणणिरक्खिया णिरासा बहुजण-धिक्कार-सद्द-लज्जाविया अलज्जा अणुबद्धखुहा पारद्धा सी-उण्ह-तण्ह-वेयण-दुग्घट्टघट्टिया विवण्णमुह-विच्छविया विहलमइल-दुब्बला किलंता कासंता वाहिया य आमाभिभूयगत्ता परूढ-णह-केस-मंसु-रोमा छगमुत्तम्मि णियगम्मि खुत्ता । तत्थेव मया अकामगा वंधिऊण पाएसु कड्डिया खाइयाए छूढा, तत्थ य वग-सुणग-सियाल-कोल-मज्जार-वंडसं-दंसगतुंड-पक्खिगण-विविह-मुहसयल-विलुत्तगत्ता कय-विहंगा, केइ किमिणा य कुहियदेहा अणिट्ठवयणेहिं सप्पमाणा सुट्ठु कयं जं मउत्ति पावो तुट्ठेणं जणेण हम्ममाणा लज्जावणगा य होंति सयणस्स वि य दीहकालं ।

७५—वहाँ वध्यभूमि में उनके(किन्हीं-किन्हीं चोरों के)अंग-प्रत्यंग काट डाले जाते हैं—टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाते हैं । उनको वृक्ष की शाखाओं पर टांग दिया जाता है । उनके चार अंगों—दोनों हाथों और दोनों पैरों को कस कर बांध दिया जाता है । किन्हीं को पर्वत की चोटी से नीचे गिरा दिया जाता है—फैंक दिया जाता है । वहुत ऊँचाई से गिराये जाने के कारण उन्हें विषम—नुकीले पत्थरों की चोट सहन करनी पड़ती है । किसी-किसी का हाथी के पैर के नीचे कुचल कर कचूमर वना दिया जाता है । उन अदत्तादान का पाप करने वालों को कुंठित धार वाले—भोंथरे कुल्हाड़ों आदि से अठारह स्थानों में खंडित किया जाता है । कइयों के कान, आंख और नाक काट दिये जाते हैं तथा नेत्र, दांत और वृषण—अंडकोश उखाड़ लिये जाते हैं । जीभ खींच कर वाहर निकाल ली जाती है, कान काट लिये जाते हैं या शिराएँ काट दी जाती हैं । फिर उन्हें वधभूमि में ले जाया जाता है और वहाँ तलवार से काट दिया जाता है । (किन्हीं-किन्हीं) चोरों को हाथ और पैर काट कर निर्वासित कर दिया जाता है—देशनिकाला दे दिया जाता है । कई चोरों को आजीवन-मृत्युपर्यन्त कारागार में रक्खा जाता है । परकीय द्रव्य का अपहरण करने में लुब्ध कई चोरों को कारागार में सांकल बांध कर एवं दोनों पैरों में वेड़ियाँ डाल कर बन्द कर दिया जाता है । कारागार में बन्दी वना कर उनका धन छीन लिया जाता है ।

वे चोर स्वजनों द्वारा त्याग दिये जाते हैं—राजकोप के भय से कोई स्वजन उनसे संबंध नहीं रखता, मित्रजन उनकी रक्षा नहीं करते। सभी के द्वारा वे तिरस्कृत होते हैं। अतएव वे सभी की ओर से निराश हो जाते हैं। बहुत-से लोग 'धिक्कार है तुम्हें' इस प्रकार कहते हैं तो वे लज्जित होते हैं अथवा अपनी काली करतूत के कारण अपने परिवार को लज्जित करते हैं। उन लज्जाहीन मनुष्यों को निरन्तर भूखा मरना पड़ता है। चोरी के वे अपराधी सर्दी, गर्मी और प्यास की पीड़ा से कराहते-चिल्लाते रहते हैं। उनका मुख—चेहरा विवर्ण—सहमा हुआ और कान्तिहीन हो जाता है। वे सदा विह्वल या विफल, मलिन और दुर्बल बने रहते हैं। थके-हारे या मुर्झाए रहते हैं, कोई-कोई खांसते रहते हैं और अनेक रोगों से ग्रस्त रहते हैं। अथवा भोजन भलीभांति न पचने के कारण उनका शरीर पीडित रहता है। उनके नख, केश और दाढी-मूंछों के बाल तथा रोम बढ़ जाते हैं। वे कारागार में अपने ही मल-मूत्र में लिप्त रहते है (क्योंकि मल-मूल त्यागने के लिए उन्हें अन्यत्र नहीं जाने दिया जाता।)

जब इस प्रकार की दुस्सह वेदनाएँ भोगते-भोगते वे, मरने की इच्छा न होने पर भी, मर जाते हैं (तब भी उनकी दुर्दशा का अन्त नहीं होता)। उनके शव के पैरों में रस्सी बांध कर कारागार से बाहर निकाला जाता है और किसी खाई-गड्ढे में फेंक दिया जाता है। तत्पश्चात् भेड़िया, कुत्ते, सियार, शूकर तथा संडासी के समान मुख वाले अन्य पक्षी अपने मुखों से उनके शव को नोच-चींथ डालते हैं। कई शवों को पक्षी—गीध आदि खा जाते है। कई चोरों के मृत कलेवर में कीड़े पड़ जाते हैं, उनके शरीर सड़-गल जाते हैं। (इस प्रकार मृत्यु के पश्चात् भी उनकी ऐसी दुर्गति होती है। फिर भी उसका अन्त नहीं आता)। उसके बाद भो अनिष्ट वचनों से उनकी निन्दा की जाती है—उन्हें धिक्कारा जाता है कि—अच्छा हुआ जो पापी मर गया अथवा मारा गया। उसकी मृत्यु से सन्तुष्ट हुए लोग उसकी निन्दा करते हैं। इस प्रकार वे पापी चोर अपनी मौत के पश्चात् भी दीर्घकाल तक अपने स्वजनों को लज्जित करते रहते हैं।

विवेचन—उल्लिखित पाठ में भी चोरों को दी जाने वाली भीषण, दुस्सह या असह्य यातनाओं का विवरण दिया गया है। साथ ही बतलाया गया है कि अनेक प्रकार के चोर ऐसे भी होते हैं, जिन्हें प्राणदण्ड—वध के बदले आजोवन कारागार का दण्ड दिया जाता है। मगर यह दण्ड उन्हें प्राणदण्ड से भी अधिक भारी पड़ता है। कारागार में उन्हें भूख, प्यास आदि, सर्दी-गर्मी आदि तथा वध-बन्ध आदि के घोर कष्ट तो सहन करने ही पड़ते हैं, परन्तु कभी-कभी तो उन्हें मल-मूत्र त्यागने के लिए भी अन्यत्र नहीं जाने दिया जाता और वे जिस स्थान में रहते हैं, वहीं उन्हें मल-मूत्र त्यागने को विवश होना पड़ता है और उनका शरीर अपने ही त्यागे हुए मल-मूल से लिप्त हो जाता है; अदत्तादान-कर्त्ताओं की यह दशा कितनी दयनीय होती है!

ऐसी अवस्था में आजीवन रहना कितनी बड़ी विडम्बना है, यह कल्पना करना भी कठिन है।

जब वे चोर ऊपर मूल पाठ में बतलाई गई यातनाओं को अधिक सहन करने में असमर्थ हो कर अकालमृत्यु या यथाकालमृत्यु के शिकार हो जाते हैं तो उनके शव की भी विडम्बना होती है। शव के हाथों-पैरों में रस्सी बांध कर उसे घसीटा जाता है और किसी खड्डे या खाई में फेंक दिया जाता है। गीध और सियार उसे नोंच-नोंच कर खाते हैं, वह सड़ता-गलता रहता है, उसमें असंख्य कीड़े बिलबिलाते हैं। इधर यह दुर्दशा होती है और उधर लोग उसकी मौत का समाचार पाकर उसे

कोसते हैं। कहते हैं—भला हुआ जो पापी मर गया ! इस प्रकार का जनवाद सुन कर उस चोर के आत्मीय जनों को लज्जित होना पड़ता है। वे दूसरों के सामने अपना शिर ऊँचा नहीं कर पाते। इस प्रकार चोर स्वयं तो यातनाएँ भुगतता ही है, अपने पारिवारिक जनों को भी लज्जित करता है।

फिर भी क्या चोरी के पाप से होने वाली विडम्बनाओं का अन्त आ जाता है ? नहीं। आगे पढिए।

पाप और दुर्गति की परम्परा—

७६—मया संता पुणो परलोग-समावण्णा णरए गच्छंति णिरभिरामे अंगार-पलित्तककप्प-अच्चत्थ-सोयवेयण-अस्साउदिण्ण-सययदुक्ख-सय-समभिद्दुए, तओ वि उव्वट्टिया समाणा पुणो वि पवज्जंति तिरियजोणिं तहिं पि णिरयोवमं अणुहवंति वेयणं, ते अणंतकालेण जइ णाम कहिं वि मणुयभावं लभंति णेगेहिं णिरयगइ-गमण-तिरिय-भव-सयसहस्स-परियट्टेहिं।

तत्थ वि य भवंतऽणारिया णीय-कुल-समुप्पण्णा आरियजणे वि लोगवज्झा तिरिक्खभूया य अकुसला कामभोगतिसिया जहिं णिबंधंति णिरयवत्तणिभवप्पवंचकरण-पणोल्लि पुणो वि संसारावत्तणेम-मूले धम्मसुइ-विवज्जिया अणज्जा कूरा मिच्छत्तसुइपवण्णा य होंति एगंत-दंड-रुइणो वेढेंता कोसिकारकीडोव्व अप्पगं अट्ठकम्मतंतु-घणबंधणेणं।

७६—(चोर अपने दुःखमय जीवन का अन्त होने पर) परलोक को प्राप्त होकर नरक में उत्पन्न होते हैं। नरक निरभिराम है—वहाँ कोई भी अच्छाई नहीं है और आग से जलते हुए घर के समान (अतीव उष्ण वेदना वाला या) अत्यन्त शीत वेदना वाला होता है। (तीव्र) असातावेदनीय कर्म की उदीरणा के कारण सैकड़ों दुःखों से व्याप्त है। (लम्बी आयु पूरी करने के पश्चात्) नरक से उद्वर्त्तन करके—उबर कर—निकल कर फिर तिर्यंचयोनि में जन्म लेते हैं। वहाँ भी वे नरक जैसी असातावेदना को अनुभव करते हैं। उस तिर्यंचयोनि में अनन्त काल भटकते हैं। किसी प्रकार, अनेकों वार नरकगति और लाखों वार तिर्यंचगति में जन्म-मरण करते-करते यदि मनुष्यभव पा लेते हैं तो वहाँ भी नीच कुल में उत्पन्न होते हैं और अनार्य होते हैं। कदाचित् आर्यकुल में जन्म मिल गया तो वहाँ भी लोकबाह्य-बहिष्कृत होते हैं। पशुओं जैसा जीवन यापन करते हैं, कुशलता से रहित होते हैं अर्थात् विवेकविहीन होते हैं, अत्यधिक कामभोगों की तृष्णा वाले और अनेकों वार नरक-भवों में (पहले) उत्पन्न होने के कु-संस्कारों के कारण नरकगति में उत्पन्न होने योग्य पापकर्म करने की प्रवृत्ति वाले होते हैं। अतएव संसार-चक्र में परिभ्रमण कराने वाले अशुभ कर्मों का बन्ध करते हैं। वे धर्मशास्त्र के श्रवण से वंचित रहते हैं—पापकर्मों में प्रवृत्त रहने के कारण धर्मशास्त्र को श्रवण करने की रुचि ही उनके हृदय में उत्पन्न नहीं होती। वे अनार्य—शिष्टजनोचित आचार-विचार से रहित, क्रूर-नृशंस-निर्दय मिथ्यात्व के पोषक शास्त्रों को अंगीकार करते हैं। एकान्ततः हिंसा में ही उनकी रुचि होती है। इस प्रकार रेशम के कीड़े के समान वे अष्ट कर्म रूपी तन्तुओं से अपनी आत्मा को प्रगाढ बन्धनों से जकड़ लेते हैं।

विवेचन—अदत्तादान-पाप के फलस्वरूप जीव की उसी भव संबंधी व्यथाओं का विस्तार-पूर्वक वर्णन करने के पश्चात् शास्त्रकार ने परभव संबंधी दशाओं का दिग्दर्शन यहाँ कराया है। चोरी के फल भोगने के लिए चोर को नरक में उत्पन्न होना पड़ता है। क्योंकि नारक जीव नरक से

छुटकारा पाकर पुनः अनन्तर भव में नरक में उत्पन्न नहीं होता, अतः चोर का जीव किसी तिर्यंच की पर्याय में जन्म लेता है। वहाँ भी उसे नरक जैसे कष्ट भोगने पड़ते हैं। तिर्यंचगति से मर कर जीव पुनः तिर्यंच हो सकता है, अतएव वह वार-वार तिर्यंचों में और वीच-वीच में नरकगति में जन्म लेता और मरता रहता है। यों जन्म-मरण करते-करते अनन्त काल तक व्यतीत हो जाता है।

तत्पश्चात् कभी किसी पुण्य-प्रभाव से मनुष्यगति प्राप्त करता है तो नीच कुल में जन्म लेता है और पशुओं सरीखा जीवन व्यतीत करता है। उसकी रुचि पापकर्मों में ही रहती है। वार-वार नरकभव में उत्पन्न होने के कारण उसकी मति ही ऐसी हो जाती है कि अनायास ही वह पापों में प्रवृत्त होता है।

नरकगति और तिर्यंचगति में होने वाले दुःखों का प्रथम आस्रवद्वार में विस्तारपूर्वक वर्णन किया जा चुका है, अतएव वहीं से समझ लेना चाहिए।

पापी जीव अपनी आत्मा को किस प्रकार कर्मों से वेष्टित कर लेता है, इसके लिए मूल पाठ में 'कोसिकारकीडोव्व' अर्थात् कोशिकारकीट—रेशमी कीड़े की वहुत सुन्दर उपमा दी गई है। यह कीड़ा अपनी ही लार से अपने आपको वेष्टित करने वाले कोश का निर्माण करता है। उसके मुख से निकली लार तन्तुओं का रूप धारण कर लेती है और उसी के शरीर पर लिपट कर उसे घेर लेती है। इस प्रकार वह कीड़ा अपने लिए आप ही वन्धन तैयार करता है। इसी प्रकार पापी जीव स्वयं अपने किये कर्मों द्वारा वद्ध होता है।

संसार-सागर—

७७—एवं णरग-तिरिय-णर-अमर-गमण-पेरंतचक्कवालं जम्मजरामरणकरणगंभीरदुक्खपक्खुभियपउरसलिलं संजोगवियोगवीची-चिंतापसंग-पसरिय-वह-वंध-महल्ल-विपुलकल्लोलं कलुण-विलविय-लोभ-कलकलित-वोलवहुलं अवमाणणफेणं तिव्वखिसणपुलंपुलप्पभूय-रोग-वेयण-पराभव-विणिवायफरुस-घरिसण-समावडिय-कठिणकम्मपत्थर-तरंग-रंगंत-णिच्च-मच्चु-भयतोयपट्ठं कसायपायालसंकुलं भव-सयसहस्सजलसंचयं अणंतं उव्वेयणयं अणोरपारं महब्भयं भयंकरं पइभयं अपरिमिय-महिच्छ-कलुस-मइ-वाउवेगउद्धम्ममाणं आसापिवासपायाल-काम-रइ-रागदोस-वंधण-वहुविहसंकप्प-विउलदगरयरयंधकारं मोहमहावत्त-भोगभममाणगुप्पमाणुच्छलंत-वहुगब्भवासपच्चोणियत्तपाणियं पहाविय-वसणसमावण्ण रुण्ण-चंडमारुयसमाहया मणुण्णवीची-वाकुलियभग्गफुट्टंतणिट्ठकल्लोल-संकुलजलं पमायवहुचंडदुट्ठसावयसमाहयउद्धायमाणगपूरघोरविद्धंसणत्थवहुलं अण्णाणभमंत-मच्छपरिहत्थं अणिहुतिंदिय-महामगरतुरिय-चरिय- खोखुब्भमाण-संतावणिचयचलंत-चवल- चंचल-अत्ताण-असरण-पुव्वकय-कम्मसंचयोदिण्ण-वज्जवेइज्जमाण-दुहसय-विवागघुण्णंतजल-समूहं।

इड्ढि-रस-साय-गारवोहार-गहिय- कम्मपडिवद्ध-सत्तकड्ढिज्जमाण- णिरयतलहुत्त-सण्णविसण्ण-वहुलं अरइ-रइ-भय-विसाय-सोगमिच्छत्तसेलसंकडं अणाइसंताण-कम्मवंधण-किलेसचिक्खिल्लसुदुत्तारं अमर-णर-तिरिय-णिरयगइ-गमण-कुडिलपरियत्त-विपुलवेलं हिंसा-लिय-अदत्तादाण-मेहुणपरिग्गहारंभ-करण-कारावणा-णुमोयण-अट्ठविह-अणिट्ठकम्मपिंडिय-गुरुभारक्कंतदुग्गजलोघ-दूरपणोलिज्जमाण-उम्मुग्ग-णिमग्ग-दुल्लभतलं सारीरमणोमयाणि दुक्खाणि उप्पियंता सायस्सायपरितावणमयं उव्वुड्डणिव्वुड्डुयं

करेंता चउरंतमहंत-मणवयग्गं रुद्दं संसारसागरं अट्ठियं अणालंबण-मपइठाण-मप्पमेयं चुलसीइ-जोणि-सयसहस्सगुविलं अणालोकमंधयारं अणंतकालं णिच्चं उत्तत्थसुण्णभयसण्णसंपउत्ता वसंति, उव्विग्ग-वासवसहिं।

जहिं आउयं णिबंधंति पावकम्मकारी, बंधव-जण-सयण-मित्तपरिवज्जिया अणिट्ठा भवंति अणाइज्जदुव्विणीया कुठाणा-सण-कुसेज्ज-कुभोयणा असुइणो कुसंघयण-कुप्पमाण-कुसंठिया, कुरूवा बहु-कोह-माण-माया-लोहा बहुमोहा धम्मसण्ण-सम्मत्त-परिब्भट्ठा दारिद्दोवद्दवाभिभूया णिच्चं परकम्म-कारिणो जीवणत्थरहिया किविणा परपिंडतक्कगा दुक्खलद्धाहारा अरस-विरस-तुच्छ-कय-कुच्छिपूरा परस्स पेच्छंता रिद्धि-सक्कार-भोयणविसेस-समुदयविहिं णिंदंता अप्पगं कयंतं च परिवयंता इह य पुरेकडाइं कम्माइं पावगाइं विमणसो सोएण डज्झमाणा परिभूया होंति, सत्तपरिवज्जिया य छोभा सिप्प-कला-समय-सत्थ-परिवज्जिया जहाजायपसुभूया अवियत्ता णिच्च-णीय-कम्मोवजीविणो लोय-कुच्छ-णिज्जा मोघमणोरहा णिरासबहुला।

७७—(बन्धनों से जकड़ा वह जीव अनन्त काल तक संसार-सागर में ही परिभ्रमण करता रहता है। संसार-सागर का स्वरूप कैसा है, यह एक सांगोपांग रूपक द्वारा शास्त्रकार निरूपित करते हैं—)

नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव गति में गमनागमन करना संसार-सागर की बाह्य परिधि है। जन्म, जरा और मरण के कारण होने वाला गंभीर दुःख ही संसार-सागर का अत्यन्त क्षुब्ध जल है। संसार-सागर में संयोग और वियोग रूपी लहरें उठती रहती हैं। सतत—निरन्तर चिन्ता ही उसका प्रसार—फैलाव—विस्तार है। वध और बन्धन ही उसमें लम्बी-लम्बी, ऊंची एवं विस्तीर्ण तरंगें हैं। उसमें करुणाजनक विलाप तथा लोभ की कलकलाहट की ध्वनि की प्रचूरता है। उसमें अपमान रूपी फेन होते हैं—अवमानना या तिरस्कार के फेन व्याप्त रहते हैं। तीव्र निन्दा, पुनः पुनः उत्पन्न होने वाले रोग, वेदना, तिरस्कार, पराभव, अधःपतन, कठोर झिड़कियाँ जिनके कारण प्राप्त होती हैं, ऐसे कठोर ज्ञानावरणीय आदि कर्मों रूपी पाषाणों से उठी हुई तरंगों के समान चंचल है। सदैव बना रहने वाला मृत्यु का भय उस संसार-समुद्र के जल का तल है। वह संसार-सागर कषायरूपी पाताल-कलशों से व्याप्त है। लाखों भवों की परम्परा ही उसकी विशाल जलराशि है। वह अनन्त है—उसका कहीं ओर-छोर दृष्टिगोचर नहीं होता। वह उद्वेग उत्पन्न करने वाला और तटरहित होने से अपार है। दुस्तर होने के कारण महान् भय रूप है। भय उत्पन्न करने वाला है। उसमें प्रत्येक प्राणी को एक दूसरे के द्वारा उत्पन्न होने वाला भय बना रहता है। जिनकी कहीं कोई सीमा—अन्त नहीं, ऐसी विपुल कामनाओं और कलुषित बुद्धि रूपी पवन आंधी के प्रचण्ड वेग के कारण उत्पन्न तथा आशा (अप्राप्त पदार्थ को प्राप्त करने की अभिलाषा) और पिपासा (प्राप्त भोगो-पभोगों को भोगने की लोलुपता) रूप पाताल, समुद्रतल से कामरति—शब्दादि विषयों सम्बन्धी अनुराग और द्वेष के बन्धन के कारण उत्पन्न विविध प्रकार के संकल्परूपी जल-कणों की प्रचुरता से वह अन्धकारमय हो रहा है। संसार-सागर के जल में प्राणी मोहरूपी भंवरों (आवर्त्तों) में भोगरूपी गोलाकार चक्कर लगा रहे हैं, व्याकुल होकर उछल रहे हैं तथा बहुत-से बीच के हिस्से में फैलने के

कारण ऊपर उछल कर नीचे गिर रहे हैं। इस संसार-सागर में इधर-उधर दौड़धाम करते हुए, व्यसनों से ग्रस्त प्राणियों के रुदनरूपी प्रचण्ड पवन से परस्पर टकराती हुई अमनोज्ञ लहरों से व्याकुल तथा तरंगों से फूटता हुआ एवं चंचल कल्लोलों से व्याप्त जल है। वह प्रमाद रूपी अत्यन्त प्रचण्ड एवं दुष्ट श्वापदों—हिंसक जन्तुओं द्वारा सताये गये एवं इधर-उधर घूमते हुए प्राणियों के समूह का विध्वंस करने वाले घोर अनर्थों से परिपूर्ण है। उसमें अज्ञान रूपी भयंकर मच्छ घूमते रहते हैं। अनुपशान्त इन्द्रियों वाले जीवरूप महामगरों की नयी-नयी उत्पन्न होने वाली चेष्टाओं से वह अत्यन्त क्षुब्ध हो रहा है। उसमें सन्तापों का समूह—नाना प्रकार के सन्ताप विद्यमान हैं, ऐसा प्राणियों के द्वारा पूर्वसंचित एवं पापकर्मों के उदय से प्राप्त होने वाला तथा भोगा जाने वाला फल रूपी घूमता हुआ—चक्कर खाता हुआ जल-समूह है जो विजली के समान अत्यन्त चंचल—चलायमान बना रहता है। वह त्राण एवं शरण से रहित है—दुःखी होते हुए प्रणियों को जैसे समुद्र में कोई त्राण—शरण नहीं होता, इसी प्रकार संसार में अपने पापकर्मों का फल भोगने से कोई बचा नहीं सकता।

संसार-सागर में ऋद्धिगौरव, रसगौरव और सातागौरव रूपी अपहार—जलचर जन्तुविशेष—द्वारा पकड़े हुए एवं कर्मबन्ध से जकड़े हुए प्राणी जब नरकरूप पाताल-तल के सम्मुख पहुँचते हैं तो सन्न—खेदखिन्न और विषण्ण—विषादयुक्त होते हैं, ऐसे प्राणियों की बहुलता वाला है। वह अरति, रति, भय, दीनता, शोक तथा मिथ्यात्व रूपी पर्वतों से व्याप्त है। अनादि सन्तान—परम्परा वाले कर्मबन्धन एवं राग-द्वेष आदि क्लेश रूप कीचड़ के कारण उस संसार-सागर को पार करना अत्यन्त कठिन है। जैसे समुद्र में ज्वार आते हैं, उसी प्रकार संसार-समुद्र में देवगति, मनुष्यगति, तिर्यञ्चगति और नरकगति में गमनागमन रूप कुटिल परिवर्त्तनों से युक्त विस्तीर्ण वेला—ज्वार—आते रहते हैं। हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह रूप आरंभ के करने, कराने और अनुमोदने से संचित ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों के गुरुतर भार से दबे हुए तथा व्यसन रूपी जलप्रवाह द्वारा दूर फेंके गये प्राणियों के लिए इस संसार-सागर का तल पाना अत्यन्त कठिन है। इसमें प्राणी शारीरिक और मानसिक दुःखों का अनुभव करते रहते हैं। संसार संबंधी सुख-दुःख से उत्पन्न होने वाले परिताप के कारण वे कभी ऊपर उठने और कभी डूबने का प्रयत्न करते रहते हैं, अर्थात् आन्तरिक सन्ताप से प्रेरित होकर प्राणी ऊपर-नीचे आने-जाने की चेष्टाओं में संलग्न रहते हैं। यह संसार-सागर चार दिशा रूप चार गतियों के कारण विशाल है। अर्थात् समुद्र चारों दिशाओं में विस्तृत होता है और संसार चार गतियों के कारण विशाल है। यह अन्तहीन और विस्तृत है। जो जीव संयम में स्थित नहीं—असंयमी हैं, उनके लिए यहाँ कोई आलम्बन नहीं है, कोई आधार नहीं है—सुरक्षा के लिए कोई साधन नहीं है। यह अप्रमेय है—छद्मस्थ जीवों के ज्ञान से अगोचर है या इसकी कहीं अन्तिम सीमा नहीं है—उसे मापा नहीं जा सकता। चौरासी लाख जीवयोनियों से व्याप्त—भरपूर है। यहाँ अज्ञानान्धकार छाया रहता है और यह अनन्तकाल तक स्थायी है। संसार-सागर उद्वेगप्राप्त—घबराये हुए—दुःखी प्राणियों का निवास-स्थान है। इस संसार में पापकर्मकारी प्राणी जहाँ-जिस ग्राम, कुल आदि की आयु बांधते हैं वहीं पर वे बन्धु-बान्धवों, स्वजनों और मित्रजनों से परिवर्जित होते हैं, अर्थात् उनका कोई सहायक, आत्मीय या प्रेमी नहीं होता। वे सभी के लिए अनिष्ट होते हैं। उनके वचनों को कोई ग्राह्य—आदेय नहीं मानता और वे दुर्विनीत—कदाचारी होते हैं। उन्हें रहने को खराब स्थान, बैठने को खराब आसन, सोने को खराब शय्या और खाने को खराब भोजन मिलता है। वे अशुचि—अपवित्र या गंदे रहते हैं अथवा अश्रुति—शास्त्रज्ञान से विहीन होते हैं। उनका संहनन (हाड़ों की बनावट) खराब होता है, शरीर प्रमाणोपेत नहीं होता—शरीर का कोई भाग उचित से

अधिक छोटा अथवा बड़ा होता है। उनके शरीर की आकृति बेडौल होती है। वे कुरूप होते हैं। उनमें क्रोध, मान, माया और लोभ तीव्र होता है—तीव्रकषायी होते हैं और मोह—आसक्ति की तीव्रता होती है—अत्यन्त आसक्ति वाले होते हैं अथवा घोर अज्ञानी होते हैं। उनमें धर्मसंज्ञा—धार्मिक समझ-बूझ नहीं होती। वे सम्यग्दर्शन से रहित होते हैं। उन्हें दरिद्रता का कष्ट सदा सताता रहता है। वे सदा परकर्मकारी—दूसरों के अधीन रह कर काम करते हैं—नौकर-चाकर रह कर जिंदगी बिताते हैं। कृपण-रंक-दीन-दरिद्र रहते हैं। दूसरों के द्वारा दिये जाने वाले पिण्ड—आहार की ताक में रहते हैं। कठिनाई से दुःखपूर्वक आहार पाते हैं, अर्थात् सरलता से अपना पेट भी नहीं भर पाते। किसी प्रकार रूखे-सूखे, नीरस एवं निस्सार भोजन से पेट भरते हैं। दूसरों का वैभव, सत्कार-सम्मान, भोजन, वस्त्र आदि समुदय-अभ्युदय देखकर वे अपनी निन्दा करते हैं– अपने दुर्भाग्य को कोसते रहते हैं। अपनी तकदीर को रोते हैं। इस भव में या पूर्वभव में किये पाप-कर्मों की निन्दा करते हैं। उदास मन रह कर शोक की आग में जलते हुए लज्जित-तिरस्कृत होते हैं। साथ ही वे सत्त्वहीन, क्षोभग्रस्त तथा चित्रकला आदि शिल्प के ज्ञान से रहित, विद्याओं से शून्य एवं सिद्धान्त-शास्त्र के ज्ञान से शून्य होते हैं। यथाजात अज्ञान पशु के समान जड़ बुद्धि वाले, अविश्वसनीय या अप्रतीति उत्पन्न करने वाले होते हैं। सदा नीच कृत्य करके अपनी आजीविका चलाते हैं—पेट भरते हैं। लोकनिन्दित, असफल मनोरथ वाले, निराशा से ग्रस्त होते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ में संसार-महासमुद्र का प्ररूपण किया गया है। संसार का अर्थ है—संसरण—गमनागमन करना। देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरकगति में जन्म-मरण करना ही संसार कहलाता है। इन चार गतियों में परिभ्रमण करने के कारण इसे चातुर्गतिक भी कहते हैं। इन चार गतियों में नरकगति एकान्ततः दुःखों और भीषण यातनाओं से परिपूर्ण है। तिर्यंचगति में भी दुःखों की ही बहुलता है। मनुष्य और देवगति भी दुःखों से अछूती नहीं है। इनके सम्बन्ध में प्रथम आस्रवद्वार में विस्तार से कहा जा चुका है।

यहाँ बतलाया गया है कि संसार सागर है। चार गतियाँ इसकी चारों ओर की बाह्य परिधि—घेरा हैं। समुद्र में विशाल सलिल-राशि होती है तो इसमें जन्म—जरा—मरण एवं भयंकर दुःख रूपी जल है। सागर का जल जैसे क्षुब्ध हो जाता है, उसी प्रकार संसार में यह जल भी क्षुब्ध रहता है। जैसे सागर में आकाश को स्पर्श करती लहरें उठती रहती हैं, उसी प्रकार संसार में इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग से उत्पन्न होने वाली बड़ी-बड़ी चिन्ताएँ एवं वध-बंधादि की यातनाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। ये ही इस सागर की लहरें हैं। जैसे समुद्र में जगह-जगह पहाड़—चट्टानें होती हैं, उसी प्रकार यहाँ ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि आठ कर्म रूपी पर्वत हैं। इनके टकराव से भीषण लहरें पैदा होती हैं। मृत्यु-भय इस समुद्र की सतह है। क्रोधादि चार कषाय ही संसार-सागर के पाताल-कलश हैं। निरन्तर चालू रहने वाले भव-भवान्तर ही इस समुद्र का असीम जल है। इस जल से यह सदा परिपूर्ण रहता है। अनन्त—असीम तृष्णा, विविध प्रकार के मंसूबे, कामनाएँ, आशाएँ तथा मलीन मनोभावनाएँ ही यहाँ प्रचण्ड वायु-वेग है, जिसके कारण संसार सदा क्षोभमय बना रहता है। काम-राग, लालसा, राग, द्वेष एवं अनेकविध संकल्प रूपी सलिल की प्रचुरता के कारण यहाँ अन्धकार छाया रहता है। जैसे समुद्र में भयानक आवर्त्त होते हैं तो यहाँ तीव्र मोह के आवर्त्त विद्यमान हैं। समुद्र में भयावह जन्तु निवास करते हैं तो यहाँ संसार में प्रमाद रूपी जन्तु विद्यमान हैं। अज्ञान एवं असंयत इन्द्रियाँ यहाँ विशाल मगर-मच्छ हैं, जिनके कारण निरन्तर क्षोभ

उत्पन्न होता रहता है। समुद्र में वडवानल होता है तो इस संसार में शोक-सन्ताप का वडवानल है। समुद्र में पड़ा हुआ जीव अशरण, अनाथ, निराधार एवं त्राणहीन वन जाता है, इसी प्रकार संसार में जव जीव अपने कृत कर्मों के दुर्विपाक का वेदन करता हुआ दुःखी होता है तो कोई भी उसके लिए शरण नहीं होता, कोई उसे दुःख से वचा नहीं सकता, कोई उसके लिए आधार अथवा आलम्वन नहीं वन सकता।

ऋद्धिगौरव—ऋद्धि का अभिमान, रस गौरव—सरस भोजनादि के लाभ का अभिमान, सातागौरव—प्राप्त सुख-सुविधा का अहंकार रूप अपहार नामक समुद्री जन्तु इस संसार-सागर में रहते हैं जो जीवों को खींच कर पाताल-तल की ओर घसीट ले जाते हैं। हिंसा आदि पापों के आचरण से होने वाले कर्म-वन्धन के गुरुतर भार से संसारी प्राणी संसार-समुद्र में डूवते और उतराते रहते हैं।

इस संसार को अनादि और अनन्त कहा गया है। यह कथन समग्र जीवों की अपेक्षा समझना चाहिए, एक जीव की अपेक्षा से नहीं। कोई-कोई जीव अपने कर्मों का अन्त करके संसार-सागर से पार उतर जाते हैं। तथापि अनन्तानन्त जीवों ने भूतकाल में संसार में परिभ्रमण किया है, वर्त्तमान में कर रहे हैं और भविष्यत् काल में सदा करते ही रहेंगे। अतएव यह अनादि और अनन्त है।

कर्मवन्ध को अनादि कहने का आशय भी सन्तति की अपेक्षा से ही है। कोई भी एक कर्म ऐसा नहीं है जो जीव के साथ अनादि काल से वँधा हो। प्रत्येक कर्म की स्थिति मर्यादित है और अपनी स्थिति पूर्ण होने पर वह जीव से पृथक् हो ही जाता है। किन्तु प्रतिसमय नवीन-नवीन कर्मों का वन्ध होता रहता है और इस प्रकार कर्मों का प्रवाह अनादिकालिक है।

संसार-सागर के रूपक का यह सार अंश है। शास्त्रकार ने स्वयं ही विस्तृत रूप से इसका उल्लेख किया है। यद्यपि भाषा जटिल है तथापि आशय सुगम—सुवोध है। उसका आशय सरलता से समझा जा सकता है।

मूल पाठ में चौरासी लाख जीवयोनियों का उल्लेख किया गया है। जीवों की उत्पत्ति का स्थान योनि कहलाता है। ये चौरासी लाख हैं—

पृथ्वीकाय की ७ लाख, अप्काय की ७ लाख, तेजस्काय की ७ लाख, वायुकाय की ७ लाख, प्रत्येक-वनस्पतिकाय की १० लाख, साधारण-वनस्पतिकाय की १४ लाख, द्वीन्द्रिय की दो लाख, त्रीन्द्रिय की दो लाख, चतुरिन्द्रिय की दो लाख, नारकों की चार लाख, देवों की चार लाख, पंचेन्द्रिय तिर्यंचों की चार लाख और मनुष्य की चौदह लाख। इनमें कुछ योनियाँ शुभ और कुछ अशुभ हैं।[1]

---

१. सीयादी जोणीओ, चउरासीई अ सयसहस्सेहिं।
अमुहाओ य सुहाओ, तत्थ सुहाओ इमा जाण॥ १॥
असंखाऊ मणुस्सा, राईसरसंखमादियाऊणं।
तित्थयरणामगोयं, सव्वसुहं होइ णायव्वं॥ २॥
तत्थ वि य जाइसंपणाइ, सेसाओ होंति असुहाओ।
देवेसु किव्विसाई, सेसाओ हुंति असुहाओ॥ ३॥ [शेष अगले पृष्ठ पर]

योनियों का स्वरूप विस्तारपूर्वक जानने के लिए तथा उनके अन्य प्रकार से भेद समझने के लिए प्रज्ञापनासूत्र का नौवाँ पद देखना चाहिए।

भोगे विना छुटकारा नहीं—

७८—आसापास-पडिबद्धपाणा अत्थोपायाण-काम-सोक्खे य लोयसारे होंति अपच्चंतगा य सुट्ठु वि य उज्जमंता तद्दिवसुज्जुत्त-कम्मकय-दुक्खसंठवियसित्थपिंडसंचयपरा पक्खीणदव्वसारा णिच्चं अधुव-धण-धण्णकोस-परिभोगविवज्जिया रहिय-कामभोग-परिभोग-सव्वसोक्खा परसिरिभोगोवभोग-णिस्साणमग्गणपरायणा वरागा अकामियाए विणेंति दुक्खं। णेव सुहं णेव णिव्वुइं उवलभंति अच्चंत-विउल-दुक्खसय-संपलित्ता परस्स दव्वेहिं जे अविरया।

एसो सो अदिण्णादाणस्स फलविवागो, इहलोइओ परलोइओ अप्पसुहो बहुदुक्खो महब्भओ बहुरयप्पगाढो दारुणो कक्कसो असाओ वाससहस्सेहिं मुच्चइ, ण य अवेयइत्ता अत्थि उ मोक्खोत्ति।

७८—अदत्तादान का पाप करने वालों के प्राण भवान्तर में भी अनेक प्रकार की आशाओं—कामनाओं—तृष्णाओं के पाश में बँधे रहते हैं। लोक में सारभूत अनुभव किये जाने वाले अथवा माने जाने वाले अर्थोपार्जन एवं कामभोगों सम्बन्धी सुख के लिए अनुकूल या प्रबल प्रयत्न करने पर भी उन्हें सफलता प्राप्त नहीं होती—असफलता एवं निराशा ही हाथ लगती है। उन्हें प्रतिदिन उद्यम करने पर भी—कड़ा श्रम करने पर भी बड़ी कठिनाई से सिक्थपिण्ड—इधर-उधर बिखरा—फेंका भोजन ही नसीब होता है—थोड़े-से दाने ही मिलते हैं। वे प्रक्षीणद्रव्यसार होते हैं अर्थात् कदाचित् कोई उत्तम द्रव्य मिल जाए तो वह भी नष्ट हो जाता है या उनके इकट्ठे किए हुए दाने भी क्षीण हो जाते हैं। अस्थिर धन, धान्य और कोश के परिभोग से वे सदैव वंचित रहते हैं। काम—शब्द और रूप तथा भोग—गन्ध, स्पर्श और रस के भोगोपभोग के सेवन से—उनसे प्राप्त होने वाले समस्त सुख से भी वंचित रहते हैं। परायी लक्ष्मी के भोगोपभोग को अपने अधीन बनाने के प्रयास में तत्पर रहते हुए भी वे बेचारे—दरिद्र न चाहते हुए भी केवल दुःख के ही भागी होते हैं। उन्हें न तो सुख नसीब होता है, न शान्ति—मानसिक स्वस्थता या सन्तुष्टि। इस प्रकार जो पराये

पंचिंदियतिरिएसु, हय-गय रयणा हवंति उ सुहाओ।
सेसाओ असुहाओ, सुहवण्णेगेंदियादीया ॥ ४ ॥
देविंद-चक्कवट्टित्तणाइं, मोत्तुं च तित्थयरभावं।
अणगारभाविया वि य, सेसाओ अणंतसो पत्ता ॥ ५ ॥

अर्थात्—शीत आदि चौरासी लाख योनियों में कतिपय शुभ और शेष अशुभ योनियाँ होती हैं। शुभ योनियाँ इस प्रकार हैं—असंख्य वर्ष की आयु वाले मनुष्य (युगलिया), संख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्यों में राजा-ईश्वर आदि, तीर्थंकरनामकर्म के बन्धक सर्वोत्तम शुभ योनि वाले हैं। संख्यात वर्ष की आयु वालों में भी उच्चकुलसम्पन्न शुभ योनि वाले हैं, अन्य सब अशुभ योनि वाले हैं। देवों में किल्विष जाति वालों की अशुभ और शेष शुभ हैं। पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में हस्तिरत्न और अश्वरत्न शुभ हैं, शेष अशुभ हैं। एकेन्द्रियादि में शुभ वर्णादि वाले शुभयोनिक और शेष अशुभयोनिक हैं। देवेन्द्र, चक्रवर्त्ती, तीर्थंकर और भावितात्मा अनगारों को छोड़ कर शेष जीवों ने अनन्त-अनन्त बार योनियाँ प्राप्त की हैं।

—प्रश्नव्या. सैलाना.

द्रव्यों से—पदार्थों से विरत नहीं हुए हैं अर्थात् जिन्होंने अदत्तादान का परित्याग नहीं किया है, वे अत्यन्त एवं विपुल सैकड़ों दुःखों की आग में जलते रहते हैं ।

अदत्तादान का यह फलविपाक है, अर्थात् अदत्तादान रूप पापकृत्य के सेवन से बँधे कर्मों का उदय में आया विपाक—परिणाम है । यह इहलोक में भी और परलोक—आगामी भवों में भी होता है । यह सुख से रहित है और दुःखों की बहुलता—प्रचुरता वाला है । अत्यन्त भयानक है । अतीव प्रगाढ कर्मरूपी रज वाला है । बड़ा ही दारुण है, कर्कश—कठोर है, असातामय है और हजारों वर्षों में इससे पिण्ड छूटता है, किन्तु इसे भोगे विना छुटकारा नहीं मिलता ।

विवेचन—मूल पाठ का आशय स्पष्ट है । मूल में अदत्तादान के फलविपाक को 'अप्पसुहो' कहा गया है । यही पाठ हिंसा आदि के फलविपाक के विषय में भी प्रयुक्त हुआ है । 'अल्प' शब्द के दो अर्थ घटित होते हैं—अभाव और थोड़ा । यहाँ दोनों अर्थ घटित होते हैं, अर्थात् अदत्तादान का फल सुख से रहित है, जैसा कि पूर्व के विस्तृत वर्णन से स्पष्ट है । जब 'अल्प' का अर्थ 'थोड़ा' स्वीकार किया जाता है तो उसका आशय समझना चाहिए—लेशमात्र, नाममात्र, पहाड़ बराबर दुःखों की तुलना में राई भर ।

यहाँ अर्थ और कामभोग को लोक में 'सार' कहा गया है, सो सामान्य सांसरिक प्राणियों की दृष्टि से ही समझना चाहिए । पारमार्थिक दृष्टि से तो अर्थ अनर्थों का मूल है और कामभोग आशीविष सर्प के सदृश हैं ।

उपसंहार—

७९—एवमाहंसु णायकुल-णंदणो महप्पा जिणो उ वीरवर-णामधेज्जो कहेसी य अदिण्णादाणस्स फलविवागं । एयं तं तइयं पि अदिण्णादाणं हर-दह-मरण-भय-कलुस-तासण-परसंतिकभेज्ज-लोहमूलं एवं जाव चिरपरिगय-मणुगयं दुरंतं ।

॥ तइयं अहम्मदारं समत्तं ॥ त्तिबेमि ॥

७९—ज्ञातकुलनन्दन, महान्-आत्मा वीरवर (महावीर) नामक जिनेश्वर भगवान् ने इस प्रकार कहा है । अदत्तादान के इस तीसरे (आस्रव-द्वार के) फलविपाक को भी उन्हीं तीर्थंकर देव ने प्रतिपादित किया है ।

यह अदत्तादान, परधन-अपहरण, दहन, मृत्यु, भय, मलिनता, त्रास, रौद्रध्यान एवं लोभ का मूल है । इस प्रकार यह यावत् चिर काल से (प्राणियों के साथ) लगा हुआ है । इसका अन्त कठिनाई से होता है ।

॥ तृतीय अधर्म-द्वार समाप्त ॥

चतुर्थ अध्ययन : अब्रह्म

श्रीसुधर्मा स्वामी अपने प्रधान अन्तेवासी जम्बू स्वामी के समक्ष चौथे आस्रव अब्रह्मचर्य की प्ररूपणा करते हुए उन्हें सम्वोधित करके कहते हैं—

८०—जंबू ! अबंभं च चउत्थं सदेवमणुयासुरस्स लोयस्स पत्थणिज्जं पंकपणयपासजालभूयं थी-पुरिस-णपुंसग-वेयचिंधं तव-संजम-बंभचेरविग्घं भेयाययण-वहुपमायमूलं कायर-कापुरिससेवियं सुयणजणवज्जणिज्जं उड्ढ-णरय-तिरिय-तिल्लोकपइट्ठाणं जरा-मरण-रोग-सोगवहुलं वध-वंधविघाय-दुव्विघायं दंसणचरित्तमोहस्स हेउभूयं चिरपरिगय-मणुगयरं दुरंतं चउत्थं अहम्मदारं ॥१॥

८०—हे जम्वू ! चौथा आस्रवद्वार अब्रह्मचर्य है। यह अब्रह्मचर्य देवों, मानवों और असुरों सहित समस्त लोक अर्थात् संसार के प्राणियों द्वारा प्रार्थनीय है—संसार के समग्र प्राणी इसकी कामना या अभिलाषा करते हैं। यह प्राणियों को फँसाने वाले कीचड़ के समान है। इसके सम्पर्क से जीव उसी प्रकार फिसल जाते हैं जैसे काई के संसर्ग से। संसार के प्राणियों को वांधने के लिए पाश के समान है और फँसाने के लिए जाल के सदृश है। स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद इसका चिह्न है। यह अब्रह्मचर्य तपश्चर्या, संयम और ब्रह्मचर्य के लिए विघ्नस्वरूप—विघातक है। सदाचार—सम्यक्चारित्र के विनाशक प्रमाद का मूल है। कायरों—सत्त्वहीन प्राणियों और कापुरुषों—निन्दित—निम्नवर्ग के पुरुषों (जीवों) द्वारा इसका सेवन किया जाता है। यह सुजनों—पाप से विरत साधक पुरुषों द्वारा वर्जनीय—त्याज्य है। ऊर्ध्वलोक—देवलोक, नरकलोक—अधोलोक एवं तिर्यक्लोक—मध्यलोक में, इस प्रकार तीनों लोकों में इसकी अवस्थिति है—प्रसार है। जरा—बुढापा, मरण—मृत्यु, रोग और शोक की वहुलता वाला है, अर्थात् इसके फलस्वरूप जीवों को जरा, मरण, रोग और शोक का पात्र वनना पड़ता है। वध—मारने-पीटने, वन्ध—वन्धन में डालने और विघात—प्राणहीन कर देने पर भी इसका विघात—अन्त नहीं होता। यह दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का मूल कारण है। चिरकाल—अनादिकाल से परिचित है और सदा से अनुगत है—प्राणियों के पीछे पड़ा हुआ है। यह दुरन्त है, अर्थात् कठिनाई से—तीव्र मनोवल, दृढ संकल्प, उग्र तपस्या आदि साधना से ही इसका अन्त आता है अथवा इसका अन्त अर्थात् फल अत्यन्त दुःखप्रद होता है।

ऐसा यह अधर्मद्वार है।

विवेचन—अदत्तादान नामक तीसरे आस्रवद्वार का विस्तृत विवेचन करने के पश्चात् यहाँ क्रमप्राप्त अब्रह्मचर्य का निरूपण प्रारम्भ किया जा रहा है। यों तो सभी आस्रवद्वार आत्मा को पतित करने वाले और अनेकानेक अनर्थों के मूल कारण हैं, जैसा कि पूर्व में प्रतिपादित किया किया जा चुका है और आगे भी प्रतिपादन किया जाएगा। किन्तु अब्रह्मचर्य का इसमें अनेक दृष्टियों से विशिष्ट स्थान है।

अब्रह्मचर्य इतना व्यापक है कि देवों, दानवों, मनुष्यों एवं तिर्यंचों में इसका एकच्छत्र साम्राज्य है। यहाँ तक कि जीवों में सब से हीन संज्ञा वाले एकेन्द्रिय जीव भी इसके घेरे से वाहर

नहीं है। हरि, हर, ब्रह्मा आदि से लेकर कोई भी शूरवीर पुरुष ऐसा नहीं है जो कामवासना—अब्रह्मचर्य के अधीन न हो। यदि किसी पर इसका वश नहीं चल पाता तो वह केवल वीतराग—जिन ही हैं, अर्थात् जिसने राग का समूल उन्मूलन कर दिया है, जो वासना से सर्वथा रहित हो गया है वही पुरुषपुंगव अब्रह्मचर्य के फंदे से बच सका है।[1]

इस कथन का आशय यह नहीं है कि अब्रह्मचर्य के पाश से बचना और ब्रह्मचर्य की आराधना करना असंभव है। जैसा कि ऊपर कहा गया है—जिन—वीतराग पुरुष इस दुर्जय विकार पर अवश्य विजय प्राप्त करते हैं। यदि अब्रह्मचर्य का त्याग असंभव होता तो सर्वज्ञ—वीतराग महापुरुष इसके त्याग का उपदेश ही क्यों देते! जहाँ पुराणों आदि साहित्य में ब्रह्मचर्य का पालन करने को उद्यत हुए किन्तु निमित्त मिलने पर रागोद्रेक से प्रेरित होकर अनेक साधकों के उससे भ्रष्ट हो जाने के उदाहरण विद्यमान हैं, वहीं ऐसे-ऐसे जितेन्द्रिय, दृढमानस तपस्वियों के भी उदाहरण हैं, जिन्हें डिगाने के लिए देवांगनाओं ने कोई कसर नहीं रक्खी, अपनी मोहक हाव-भाव—विलासमय चेष्टाओं से सभी उपाय किये, किन्तु वे जितेन्द्रिय महामानव रंचमात्र भी नहीं डिगे। उन्होंने नारी को रक्त—मांस—अशुचि का ही पिण्ड समझा और अपने आत्मबल द्वारा ब्रह्मचर्य की पूर्ण रूप से रक्षा की। यही कारण है कि प्रस्तुत पाठ में उसे 'दुरंतं' तो कहा है किन्तु 'अनंतं' नहीं कहा, अर्थात् यह नहीं कहा कि उसका अन्त नहीं हो सकता। हाँ, अब्रह्मचर्य पर पूर्ण विजय पाने के लिए तप और संयम में दृढता होना चाहिए, साधक को सतत—निरन्तर सावधान रहना चाहिए।

अब्रह्म के गुण-निष्पन्न नाम—

८१—तस्स य णामाणि गोण्णाणि इमाणि होंति तीसं, तं जहा—१ अबंभं २ मेहुणं ३ चरंतं ४ संसग्गि ५ सेवणाहिगारो ६ संकप्पो ७ बाहणा पयाणं ८ दप्पो ९ मोहो १० मणसंखोभो ११ अणिग्गहो १२ वुग्गहो १३ विघाओ १४ विभंगो १५ विब्भमो १६ अहम्मो १७ असीलया १८ गामधम्मतित्ती १९ रई २० रागचिंता २१ कामभोगमारो २२ वेरं २३ रहस्सं २४ गुज्झं २५ बहुमाणो २६ बंभचेरविग्घो २७ वावत्ती २८ विराहणा २९ पसंगो ३० कामगुणोत्ति वि य तस्स एयाणि एवमाईणि णामधेज्जाणि होंति तीसं।

८१—उस पूर्व प्ररूपित अब्रह्मचर्य के गुणनिष्पन्न अर्थात् सार्थक तीस नाम हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. अब्रह्म—अकुशल अनुष्ठान, अशुभ आचरण।
२. मैथुन—मिथुन अर्थात् नर-नारी के संयोग से होने वाला कृत्य।
३. चरंत—समग्र संसार में व्याप्त।
४. संसर्गि—स्त्री और पुरुष (आदि) के संसर्ग से उत्पन्न होने वाला।
५. सेवनाधिकार—चोरी आदि अन्यान्य पापकर्मों का प्रेरक।

---

१. हरि-हर-हिरण्यगर्भप्रमुखे भुवने न कोऽप्यसौ शूरः।
कुसुमविशिखस्य विशिखान् अस्खलयद् यो जिनादन्यः।
—प्र. व्या., आगरा-संस्करण

६. संकल्पी—मानसिक संकल्प से उत्पन्न होने वाला ।
७. बाधना पदानाम्—पद अर्थात् संयम-स्थानों को बाधित करने वाला, अथवा 'बाधना प्रजानाम्'-प्रजा अर्थात् सर्वसाधारण को पीडित-दु:खी करने वाला ।
८. दर्प—शरीर और इन्द्रियों के दर्प—अधिक पुष्ट होने—से उत्पन्न होने वाला ।
९. मूढता-अज्ञानता-अविवेक—हिताहित के विवेक को नष्ट करने वाला या विवेक को भुला देने वाला अथवा मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाला ।
१०. मन:संक्षोभ—मानसिक क्षोभ से उत्पन्न होने वाला या मन में क्षोभ-उद्वेग उत्पन्न करने वाला—मन को चलायमान बना देने वाला ।
११. अनिग्रह—विषयों में प्रवृत्त होते हुए मन का निग्रह न करना अथवा मनोनिग्रह न करने से उत्पन्न होने वाला ।
१२. विग्रह—लड़ाई-झगड़ा-क्लेश उत्पन्न करने वाला अथवा विपरीत ग्रह-आग्रह-अभिनिवेश से उत्पन्न होने वाला ।
१३. विघात—आत्मा के गुणों का घातक ।
१४. विभंग—संयम आदि सद्‌गुणों को भंग करने वाला ।
१५. विभ्रम—भ्रम का उत्पादक अर्थात् अहित में हित की बुद्धि उत्पन्न करने वाला ।
१६. अधर्म—अधर्म-पाप-का कारण ।
१७. अशीलता—शील का घातक, सदाचरण का विरोधी ।
१८. ग्रामधर्मतप्ति—इन्द्रियों के विषय शब्दादि काम-भोगों की गवेषणा का कारण ।
१९. रति—रतिक्रीडा करना—सम्भोग करना ।
२०. रागचिन्ता—नर-नारी के शृङ्गार, हाव-भाव, विलास आदि के चिन्तन से उत्पन्न होने वाला ।
२१. कामभोगमार—काम-भोगों में होने वाली अत्यन्त आसक्ति से होने वाली मृत्यु का कारण ।
२२. वैर—वैर-विरोध का हेतु ।
२३. रहस्यम्—एकान्त में किया जाने वाला कृत्य ।
२४. गुह्य—लुक-छिपकर किया जाने वाला या छिपाने योग्य कर्म ।
२५. बहुमान—संसारी जीवों द्वारा बहुत मान्य ।
२६. ब्रह्मचर्यविघ्न—ब्रह्मचर्यपालन में विघ्नकारी ।
२७. व्यापत्ति—आत्मा के स्वाभाविक गुणों का विनाशक ।
२८. विराधना—सम्यक्चारित्र की विराधना करने वाला ।
२९. प्रसंग—आसक्ति का कारण ।
३०. कामगुण—कामवासना का कार्य ।

विवेचन—अब्रह्मचर्य के ये तीस गुणनिष्पन्न नाम हैं । इन नामों पर गम्भीरता से विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जाएगा कि इनमें अब्रह्मचर्य के कारणों का, उसके कारण होने वाली हानियों का तथा उसके स्वरूप का स्पष्ट दिग्दर्शन कराया गया है ।

अब्रह्मचर्यसेवन का मूल मन में उत्पन्न होने वाला एक विशेष प्रकार का विकार है । अतएव

इसे 'मनोज' भी कहते हैं। उत्पन्न होते ही मन को मथ डालता है, इस कारण इसका एक नाम 'मन्मथ' भी है। मन में उद्भूत होने वाला यह विकार शुद्ध आत्मस्वरूप की उपलब्धि में बाधक तो है ही, उसके लिए की जाने वाली साधना-आराधना का भी विघातक है। यह चारित्र को पनपने नहीं देता। संयम में विघ्न उपस्थित करता है। प्रथम तो सम्यक्चारित्र को उत्पन्न ही नहीं होने देता, फिर उत्पन्न हुआ चारित्र भी इसके कारण नष्ट हो जाता है।

इसकी उत्पत्ति के कारणों की समीक्षा करते हुए शास्त्रकार ने स्पष्ट किया है कि इसका जन्म दर्प से होता है। इसका आशय यह है कि जब इन्द्रियाँ बलवान् बन जाती हैं और शरीर पुष्ट होता है तो कामवासना को उत्पन्न होने का अवसर मिलता है। यही कारण है कि पूर्ण ब्रह्मचर्य की आराधना करने वाले साधक विविध प्रकार की तपश्चर्या करके अपनी इन्द्रियों को नियंत्रित रखते हैं और अपने शरीर को भी बलिष्ठ नहीं बनाते। इसके लिए जिह्वेन्द्रिय पर काबू रखना और पौष्टिक आहार का वर्जन करना अनिवार्य है।

तीस नामों में एक नाम 'संसर्गी' भी आया है। इससे ध्वनित है कि अब्रह्मचर्य के पाप से बचने के लिए साधक को विरोधी वेद वाले के संसर्ग से दूर रहना चाहिए। नर के साथ नारी का और नारी के साथ नर का अमर्याद संसर्ग कामवासना को उत्पन्न करता है।

अब्रह्मचर्य को मोह, विग्रह, विघात, विभ्रम, व्यापत्ति, बाधनापद आदि जो नाम दिये गए हैं उनसे ज्ञात होता है कि यह विकार मन में विपरीत भावनाएँ उत्पन्न करता है। काम के वशीभूत हुआ प्राणी मूढ बन जाता है। वह हित-अहित को, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को या श्रेयस्-अश्रेयस् को यथार्थ रूप में समझ नहीं पाता। हित को अहित और अहित को हित मान बैठता है। उसका विवेक नष्ट हो जाता है। उसके विचार विपरीत दिशा पकड़ लेते हैं। उसके शील-सदाचार-संयम का विनाश हो जाता है।

'विग्रहिक' और 'वैर' नामों से स्पष्ट है कि अब्रह्मचर्य लड़ाई-झगड़ा, युद्ध, कलह आदि का कारण है। प्राचीनकाल में कामवासना के कारण अनेकानेक युद्ध हुए हैं, जिनमें हजारों-लाखों मनुष्यों का रक्त बहा है। शास्त्रकार स्वयं आगे ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। आधुनिक काल में भी अब्रह्मसेवन की बदौलत अनेक प्रकार के लड़ाई-झगड़े होते ही रहते हैं। हत्याएँ भी होती रहती हैं।

इस प्रकार उल्लिखित तीस नाम जहाँ अब्रह्मचर्य के विविध रूपों को प्रकट करते हैं, वहीं उससे होने वाले भीषण अनर्थों को भी सूचित करते हैं।

अब्रह्मसेवी देवादि—

८२—तं च पुण णिसेवंति सुरगणा सअच्छरा मोहमोहियमई असुर-भुयग-गरुल-विज्जु-जलण-दीव-उदहि-दिसि-पवण-थणिया, अणवण्णिय-पणवण्णिय-इसिवाइय-भूयवाइय-कंदिय-महाकंदिय-कहंड-पयंगदेवा, पिसाय-भूय-जक्ख-रक्खस-किण्णर-किंपुरिस-महोरग-गंधव्वा, तिरिय-जोइस-विमाणवासि-मणुयगणा, जलयर-थलयर-खहयरा, मोहपडिबद्धचित्ता अवितण्हा कामभोगतिसिया, तण्हाए बलवईए महईए समभिभूया गढिया य अइमुच्छिया य अबंभे उस्सण्णा तामसेण भावेण अणुम्मुक्का दंसण-चरित्तमोहस्स पंजरं पिव करेंति अण्णोण्णं सेवमाणा।

८२—उस अब्रह्म नामक पापास्रव को अप्सराओं (देवांगनाओं) के साथ सुरगण (वैमानिक देव) सेवन करते हैं। कौन-से देव सेवन करते हैं? जिनकी मति मोह के उदय से मोहित—मूढ बन गई है तथा असुरकुमार, भुजग-नागकुमार, गरुडकुमार (सुपर्णकुमार) विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिशाकुमार, पवनकुमार तथा स्तनितकुमार, ये दश प्रकार के भवनवासी देव (अब्रह्म का सेवन करते हैं।)

अणपन्निक, पणपण्णिक, ऋषिवादिक, भूतवादिक, क्रन्दित, महाक्रन्दित, कूष्माण्ड और पतंग देव। (ये सब व्यन्तर देवों के प्रकार हैं—व्यन्तर जाति के देवों में अन्तर्गत हैं।)

पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, महोरग और गन्धर्व (ये आठ प्रकार के व्यन्तर देव हैं।)

इनके अतिरिक्त तिर्छे—मध्य लोक में विमानों में निवास करने वाले ज्योतिष्क देव, मनुष्यगण, तथा जलचर, स्थलचर एवं खेचर-आकाश में उड़ने वाले पक्षी (ये पंचेन्द्रिय तिर्यंचजातीय जीव) अब्रह्म का सेवन करते हैं।)

जिनका चित्त मोह से ग्रस्त (प्रतिबद्ध) हो गया है, जिनकी प्राप्त कामभोग संबंधी तृष्णा का अन्त नहीं हुआ है, जो अप्राप्त कामभोगों के लिए तृष्णातुर हैं, जो महती—तीव्र एवं बलवती तृष्णा से बुरी तरह अभिभूत हैं—जिनके मानस को प्रबल काम-लालसा ने पराजित कर दिया है, जो विषयों में गृद्ध—अत्यन्त आसक्त एवं अतीव मूर्छित हैं—कामवासना की तीव्रता के कारण जिन्हें उससे होने वाले दुष्परिणामों का भान नहीं है, जो अब्रह्म के कीचड़ में फँसे हुए हैं और जो तामसभाव—अज्ञान रूप-जड़ता से मुक्त नहीं हुए हैं, ऐसे (देव, मनुष्य और तिर्यञ्च) अन्योन्य-परस्पर नर-नारी के रूप में अब्रह्म (मैथुन) का सेवन करते हुए अपनी आत्मा को दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्म के पींजरे में डालते हैं, अर्थात् वे अपने आप को मोहनीय कर्म के बन्धन से ग्रस्त करते हैं।

विवेचन—उल्लिखित मूल पाठ में अब्रह्म-कामसेवन करने वाले सांसारिक प्राणियों का कथन किया गया है। वैमानिक, ज्योतिष्क, भवनवासी और व्यन्तर, ये चारों निकायों के देवगण, मनुष्यवर्ग तथा जलचर, स्थलचर और नभश्चर—ये तिर्यञ्च कामवासना के चंगुल में फँसे हुए हैं। देवों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

प्रस्तुत पाठ में अब्रह्मचर्यसेवियों में सर्वप्रथम देवों का उल्लेख किया गया है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि देवों में कामवासना अन्य गति के जीवों की अपेक्षा अधिक होती है। वे अनेक प्रकार से विषय-सेवन करते हैं।[१] इसे जानने के लिए स्थानांग सूत्र देखना चाहिए। अधिक विषय सेवन का कारण उनका सुखमय जीवन है। विक्रियाशक्ति भी उसमें सहायक होती है।

यहां यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वैमानिक देवों के दो प्रकार हैं—कल्पोपपन्न और कल्पातीत। बारह देवलोकों तक के देव कल्पोपपन्न और ग्रैवेयकविमानों तथा अनुत्तरविमानों के देव

---

१. (क) कायप्रवीचारा आ ऐशानात्

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः परेऽप्रवीचाराः।

—तत्त्वार्थसूत्र चतुर्थ अ., सूत्र ८, ९, १०

(ख) स्थानांगसूत्र, स्था. ३ उ. ३

कल्पातीत होते हैं, अर्थात् उनमें इन्द्र, सामानिक आदि का स्वामी-सेवकभाव नहीं होता। अब्रह्म का सेवन कल्पोपपन्न वैमानिक देवों तक सीमित है, कल्पातीत वैमानिक देव अप्रवीचार-मैथुनसेवन से रहित होते हैं। यही तथ्य प्रदर्शित करने के लिए मूलपाठ में **'मोह-मोहियमई'** विशेषण का प्रयोग किया गया है। यद्यपि कल्पातीत देवों में भी मोह की विद्यमानता है तथापि उसकी मन्दता के कारण वे मैथुनप्रवृत्ति से विरत होते हैं।

वैमानिक देव ऊर्ध्वलोक में निवास करते हैं। ज्योतिष्क देवों का निवास इस पृथ्वी के समतल भाग से ७६० योजन से ९०० योजन तक के अन्तराल में है। ये सूर्य, चन्द्र आदि के भेद से मूलतः पांच प्रकार के हैं। भवनवासी देवों के असुरकुमार, नागकुमार आदि दस प्रकार हैं। इस रत्नप्रभा पृथ्वी का पिण्ड एक लाख अस्सी हजार योजन है। इसमें से एक हजार योजन ऊपरी और एक हजार योजन नीचे के भाग को छोड़ कर एक लाख अठहत्तर योजन में भवनवासी देवों का निवास है। व्यन्तर देव विविध प्रदेशों में रहते हैं, इस कारण इन की संज्ञा व्यन्तर है। रत्नप्रभा पृथ्वी के प्रथम भाग एक हजार योजन में से एक-एक सौ योजन ऊपर और नीचे छोड़ कर बीच के ८०० योजन में, तिर्यग्भाग में व्यन्तरों के असंख्यात नगर हैं।

उल्लिखित विवरण से स्पष्ट है कि देव, मनुष्य और तिर्यंच इस अब्रह्म नामक आस्रवद्वार के चंगुल में फँसे हैं।

चक्रवर्ती के विशिष्ट भोग—

८३—भुज्जो य असुर-सुर-तिरिय-मणुयभोगरइविहरसंपउत्ता य चक्कवट्टी सुरणरवइसक्कया सुरवरुव्व देवलोए।

चक्रवर्ती का राज्य विस्तार—

८४—भरह-णग-णगर-णिगम-जणवय-पुरवर-दोणमुह-खेड-कब्बड-मडंब-संवाह-पट्टणसहस्स-मंडियं थिमियमेयणियं एगच्छत्तं ससागरं भुंजिऊण वसुहं।

चक्रवर्ती नरेन्द्र के विशेषण—

८५—णरसीहा णरवई णरिंदा णरवसहा मरुयवसहकप्पा अब्भहियं रायतेयलच्छीए दिप्पमाणा सोमा रायवंसतिलगा।

चक्रवर्ती के शुभ लक्षण—

रवि-ससि-संख-वरचक्क-सोत्थिय-पडाग-जव-मच्छ-कुम्म-रहवर-भग-भवण-विमाण-तुरय-तोरण-गोपुर-मणिरयण-णंदियावत्त-मुसल-णंगल-सुरइयवरकप्परुक्ख-मिगवइ-भद्दासण - सुरुचिथूभ - वरमउड-सरिय-कुंडल-कुंजर-वरवसह-दीव-मंदर-गरुलज्झय-इंदकेउ-दप्पण-अट्ठावय - चाव - बाण-णक्खत्त-मेह - मेहल-वीणा-जुग-छत्त-दाम-दामिणि-कमंडलु-कमल-घंटा-वरपोय-सूइ-सागर-कुमुदागर-मगर-हार-गागर-णेउर-णग-णगर-वइर-किण्णर-मयूर-वररायहंस-सारस-चकोर-चक्कवाग-मिहुण-चामर-खेडग-पव्वीसग - विपंचि-वरतालियंट-सिरियाभिसेय-मेइणि-खग्गं-कुस-विमल-कलस-भिंगार-वद्धमाणग - पसत्थउत्तमवि - भत्तवरपुरिसलक्खणधरा।

चक्रवर्ती की ऋद्धि—

बत्तीसं वररायसहस्साणुजायमग्गा चउसट्ठिसहस्सपवरजुवतीणणयणकंता रत्ताभा पउमपम्ह कोरंट-गदामचंपकसुतवियवरकणकणिहसवण्णा सुवण्णा[1] सुजायसव्वंगसुंदरंगा महग्घवरपट्टणुग्गयविचित्त-रागएणिपेणिणिम्मिय-दुगुल्लवरचीणपट्टकोसेज्ज-सोणिसुत्तगविभूसियंगा वरसुरभि-गंधवरचुण्णवासवर-कुसुमभरियसिरया कप्पियछेयायरियसुकयरइतमालकडगंगयतुडियपवरभूसणपिणद्धदेहा एकावलिकंठसुर-इयवच्छा पालंब-पलंबमाणसुकयपडउत्तरिज्जमुद्दियापिंगलंगुलिया उज्जल-णेवत्थरइयचेल्लगविरायमाणा तेएण दिवाकरोव्व दित्ता सारयणवत्थणियमहुरगंभीरणिद्धघोसा उप्पण्णसमत्त-रयण-चक्करयणप्पहाणा णवणिहिवइणो समिद्धकोसा चाउरंता चाउराहिं सेणाहिं समणुजाइज्जमाणमग्गा तुरयवई गयवई रहवई णरवई विपुलकुलवीसुयजसा सारयससिसकलसोमवयणा सूरा तिलोक्कणिग्गयपभावलद्धसद्दा समत्तभरहाहिवा णरिंदा ससेल-वण-काणणं च हिमवंतसागरंतं धीरा भुत्तूण भरहवासं जियसत्तू पवररायसीहा पुव्वकडतवप्पभावा णिविट्ठसंचियसुहा, अणेगवाससयमायुवंतो भज्जाहि य जणवयप्प-हाणाहिं लालियंता अतुल-सद्द-फरिस-रस-रूव-गंधे य अणुभवेत्ता ते वि उवणमंति मरणधम्मं अवितत्ता कामाणं।

८३, ८४, ८५—पुनः असुरों, सुरों, तिर्यंचों और मनुष्यों सम्बन्धी भोगों में रतिपूर्वक विहार—विविध प्रकार की कामक्रीडाओं में प्रवृत्त, सुरेन्द्रों और नरेन्द्रों द्वारा सत्कृत—सम्मानित, देवलोक में देवेन्द्र सरीखे, भरत क्षेत्र में सहस्रों पर्वतों, नगरों, निगमों—व्यापारियों वाली वस्तियों, जनपदों—प्रदेशों, पुरवरों—राजधानी आदि विशिष्ट नगरों, द्रोणमुखों—जहाँ जलमार्ग और स्थलमार्ग—दोनों से जाया जा सके ऐसे स्थानों, खेटों—धूल के प्राकार वाली वस्तियों, कर्वटों—कस्बों—जिन के आस-पास दूर तक कोई वस्ती न हो ऐसे स्थानों, संवाहों—छावनियों, पत्तनों—व्यापार-प्रधान नगरियों से सुशोभित, सुरक्षित होने के कारण निश्चिन्त—स्थिर लोगों के निवास वाली, एकच्छत्र—एक के आधिपत्य वाली एवं समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का उपभोग करके चक्रवर्त्ती—जो मनुष्यों में सिंह के समान शूरवीर होते हैं, जो नरपति हैं, नरेन्द्र हैं—मनुष्यों में सर्वाधिक ऐश्वर्यशाली हैं, जो नर-वृषभ हैं—स्वीकार किये उत्तरदायित्व को निभाने में समर्थ हैं, जो मरुभूमि के वृषभ के समान सामर्थ्यवान् हैं, अत्यधिक राज-तेज रूपी लक्ष्मी—वैभव से देदीप्यमान हैं—जिनमें असाधारण राजसी तेज देदीप्यमान हो रहा है, जो सौम्य—शान्त एवं नीरोग हैं, राजवंशों में तिलक के समान—श्रेष्ठ हैं, जो सूर्य, चन्द्रमा, शंख, चक्र, स्वस्तिक, पताका, यव, मत्स्य, कच्छप—कछुवा, उत्तम रथ, भग—योनि, भवन, विमान, अश्व, तोरण, नगरद्वार, मणि (चन्द्रकान्त आदि), रत्न, नंद्यावर्त्त—नौ कोणों वाला स्वस्तिक, मूसल, हल, सुन्दर कल्पवृक्ष, सिंह, भद्रासन, सुरुचि—एक विशिष्ट आभूषण, स्तूप, सुन्दर मुकुट, मुक्तावली हार, कुंडल, हाथी, उत्तम बैल, द्वीप, मेरुपर्वत या घर, गरुड़, ध्वजा, इन्द्रकेतु—इन्द्रमहोत्सव में गाड़ा जाने वाला स्तम्भ, दर्पण, अष्टापद—वह फलक या पट जिस पर चौपड़ आदि खेली जाती है या कैलाश पर्वत, धनुष, बाण, नक्षत्र, मेघ, मेखला—करधनी, वीणा, गाड़ी का जूआ, छत्र, दाम—माला, दामिनी—पैरों तक लटकती माला, कमण्डलु, कमल, घंटा, उत्तम पोत—जहाज, सुई, सागर, कुमुदवन अथवा कुमुदों से व्याप्त तालाब, मगर, हार, गागर—जलघट या एक

१. 'सुवण्णा' शब्द ज्ञानविमलसूरि वाली प्रति में ही है।

प्रकार का आभूषण, नूपुर—पाजेब, पर्वत, नगर, वज्र, किन्नर—देवविशेष या वाद्यविशेप, मयूर, उत्तम राजहंस, सारस, चकोर, चक्रवाक-युगल, चंवर, ढाल, पव्वीसक—एक प्रकार का वाजा, विपंची—सात तारों वाली वीणा, श्रेष्ठ पंखा, लक्ष्मी का अभिषेक, पृथ्वी, तलवार, अंकुश, निर्मल कलश, भृंगार—झारी और वर्धमानक—सिकोरा अथवा प्याला, (चक्रवर्त्ती इन सव) श्रेष्ठ पुरुषों के मांगलिक एवं विभिन्न लक्षणों को धारण करने वाले होते हैं।

बत्तीस हजार श्रेष्ठ मुकुटवद्ध राजा मार्ग में उनके (चक्रवर्त्ती के) पीछे-पीछे चलते हैं। वे चौसठ हजार श्रेष्ठ युवतियों (महारानियों) के नेत्रों के कान्त—प्रिय होते हैं। उनके शरीर की कान्ति रक्तवर्ण होती है। वे कमल के गर्भ—मध्यभाग, चम्पा के फूलों, कोरंट की माला और तप्त सुवर्ण की कसौटी पर खींची हुई रेखा के समान गौर वर्ण वाले होते हैं। उनके सभी अंगोपांग अत्यन्त सुन्दर और सुडौल होते हैं। वड़े-वड़े पत्तनों में वने हुए विविध रंगों के हिरनी तथा खास जाति की हिरनी के चर्म के समान कोमल एवं वहुमूल्य वल्कल से या हिरनी के चर्म से वने वस्त्रों से तथा चीनी वस्त्रों, रेशमी वस्त्रों से तथा कटिसूत्र—करधनी से उनका शरीर सुशोभित होता है। उनके मस्तिष्क उत्तम सुगन्ध से सुन्दर चूर्ण (पाउडर) के गंध से और उत्तम कुसुमों से युक्त होते हैं। कुशल कलाचार्यों—शिल्पियों द्वारा निपुणतापूर्वक वनाई हुई सुखकर—आराम देने वाली माला, कड़े, अंगद—वाजूवंद, तुटिक—अनन्त तथा अन्य उत्तम आभूपणों को वे शरीर पर धारण किए रहते हैं। एकावली हार से उनका कण्ठ सुशोभित रहता है। वे लम्वी लटकती धोती एवं उत्तरीय वस्त्र—दुपट्टा पहनते हैं। उनकी उंगलियाँ अंगूठियों से पीली रहती हैं। अपने उज्ज्वल एवं सुखप्रद वेष—पोशाक से अत्यन्त शोभायमान होते हैं। अपनी तेजस्विता से वे सूर्य के समान दमकते हैं। उनका आघोष (आवाज) शरद् ऋतु के नये मेघ की ध्वनि के समान मधुर गम्भीर एवं स्निग्ध होता है। उनके यहाँ चौदह रत्न—जिनमें चक्ररत्न प्रधान है—उत्पन्न हो जाते हैं और वे नौ निधियों के अधिपति होते हैं। उनका कोश—कोशागार—खजाना—खूब भरपूर (समृद्ध) होता है। उनके राज्य की सीमा चातुरन्त होती है, अर्थात् तीन दिशाओं में समुद्र पर्यन्त और एक दिशा में हिमवान् पर्वत पर्यन्त होती है। चतुरंगिणी सेना—गजसेना, अश्वसेना, रथसेना एवं पदाति-सेना—उनके मार्ग का अनुगमन करती है—उनके पीछे-पीछे चलती है। वे अश्वों के अधिपति, हाथियों के अधिपति, रथों के अधिपति एवं नरों—मनुष्यों के अधिपति होते हैं। वे वड़े ऊंचे कुलों वाले तथा विश्रुत—दूर-दूर तक फैले यश वाले होते हैं। उनका मुख शरद्-ऋतु के पूर्ण चन्द्रमा के समान होता है। शूरवीर होते हैं। उनका प्रभाव तीनों लोकों में फैला होता है एवं सर्वत्र उनकी जय-जयकार होती है। वे सम्पूर्ण—छह खण्ड वाले भरत क्षेत्र के अधिपति, धीर, समस्त शत्रुओं के विजेता, वड़े-वड़े राजाओं में सिंह के समान, पूर्वकाल में किए तप के प्रभाव से सम्पन्न, संचित पुष्ट सुख को भोगने वाले, अनेक वर्पशत अर्थात् सैकड़ों वर्षों के आयुष्य वाले एवं नरों में इन्द्र—चक्रवर्त्ती होते हैं। पर्वतों, वनों और काननों सहित उत्तर दिशा में हिमवान् नामक वर्षधर पर्वत और शेष तीन दिशाओं में लवणसमुद्र पर्यन्त समग्र भरत क्षेत्र का भोग करके अर्थात् समस्त भारतवर्ष के स्वामित्व—राज्यशासन का उपभोग करके, (विभिन्न) जनपदों में प्रधान—उत्तम भार्याओं के साथ भोग-विलास करते हुए तथा अनुपम—जिनकी तुलना नहीं की जा सकती ऐसे शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध सम्वन्धी काम-भोगों का अनुभव—भोगोपभोग करते हैं। फिर भी वे काम-भोगों से तृप्त हुए विना ही मरणधर्म को—मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।

विवेचन—उल्लिखित पाठ में शास्त्रकार ने यह प्रदर्शित किया है कि कामभोगों से जीव की

कदापि तृप्ति होना सम्भव नहीं है। कामभोगों की लालसा अग्नि के समान है। ज्यों-ज्यों ईंधन डाला जाता है, त्यों-त्यों अग्नि अधिकाधिक प्रज्वलित ही होती जाती है। ईंधन से उसकी उपशान्ति होना असम्भव है। अतएव ईंधन डाल कर अग्नि को शान्त करने-बुझाने का प्रयास करना वज्रमूर्खता है। काम-भोगों के सम्बन्ध में भी यही तथ्य लागू होता है। भोजन करके भूख शान्त की जा सकती है, जल-पान करके तृषा को उपशान्त किया जा सकता है, किन्तु कामभोगों के सेवन से काम-वासना तृप्त नहीं की जा सकती। जो काम-वासना की वृद्धि करने वाला है, उससे उसकी शान्ति होना असम्भव है। ज्यों-ज्यों कामभोगों का सेवन किया जाता है, त्यों-त्यों उसकी अभिवृद्धि ही होती है। यथार्थ ही कहा गया है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥

जैसे आग में घी डालने से आग अधिक प्रज्वलित होती है—शान्त नहीं होती, उसी प्रकार कामभोग से कामवासना कदापि शान्त नहीं हो सकती।

अग्नि को बुझाने का उपाय उसमें नये सिरे से ईंधन न डालना है। इसी प्रकार कामवासना का उन्मूलन करने के लिए कामभोग से विरत होना है। महान् विवेकशाली जन कामवासना के चंगुल से बचने के लिए इसी उपाय का अवलम्बन करते हैं। उन्होंने भूतकाल में यही उपाय किया है और भविष्य में भी करेंगे, क्योंकि इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय है ही नहीं।

कामभोग भोगतृष्णा की अभिवृद्धि के साधन हैं और उनके भोगने से तृप्ति होना सम्भव नहीं है, इसी तथ्य को अत्यन्त सुन्दर रूप से समझाने के लिए शास्त्रकार ने चक्रवर्त्ती के विपुल वैभव का विशद वर्णन किया है।

चक्रवर्त्ती के भोगों की महिमा का बखान करना शास्त्रकार का उद्देश्य नहीं है। उसकी शारीरिक सम्पत्ति का वर्णन करना भी उनका अभीष्ट नहीं है। उनका लक्ष्य यह है कि मानव जाति में सर्वोत्तम वैभवशाली, सर्वश्रेष्ठ शारीरिक बल का स्वामी, अतुल पराक्रम का धनी एवं अनुपम काम-भोगों का दीर्घ काल तक उपभोक्ता चक्रवर्त्ती होता है। उसके भोगोपभोगों की तुलना में शेष मानवों के उत्तमोत्तम कामभोग धूल हैं, निकृष्ट हैं, किसी गणना में नहीं है। षट्खण्ड भारतवर्ष की सर्व श्रेष्ठ चौसठ हजार स्त्रियाँ उसकी पत्नियाँ होती हैं। वह उन पत्नियों के नयनों के लिए अभिराम होता है, अर्थात् समस्त पत्नियाँ उसे हृदय से प्रेम करती हैं। उनके साथ अनेक शताब्दियों तक निश्चिन्त होकर भोग भोगने पर भी उसकी वासना तृप्त नहीं होती और अन्तिम क्षण तक—मरण सन्निकट आने तक भी वह अतृप्त—असन्तुष्ट ही रहता है और अतृप्ति के साथ ही अपनी जीवन-लीला समाप्त करता है।

जब चक्रवर्त्ती के जैसे विपुलतम भोगों से भी संसारी जीव की तृप्ति न हुई तो सामान्य जनों के भोगोपभोगों से किस प्रकार तृप्ति हो सकती है! इसी तथ्य को प्रकाशित करना प्रस्तुत सूत्र का एक मात्र लक्ष्य है। इसी प्रयोजन को पुष्ट करने के लिए चक्रवर्त्ती की विभूति का वर्णन किया गया है।

चक्रवर्त्ती सम्पूर्ण भरतखण्ड के एकच्छत्र साम्राज्य का स्वामी होता है। बत्तीस हजार मुकुट-

वद्ध राजा उनके समक्ष नतमस्तक होकर उसके आदेश को अंगीकार करते हैं। सोलह हजार म्लेच्छ राजा भी उसके सेवक होते हैं।

सोलह हजार देव भी चक्रवर्ती के प्रकृष्ट पुण्य से प्रेरित होकर उसके आज्ञाकारी होते हैं। इनमें से चौदह हजार देव चौदह रत्नों की रक्षा करते हैं और दो हजार उनके दोनों ओर खड़े रहते हैं।

चक्रवर्ती की सेना वहुत विराट् होती है। उसमें चौरासी लाख हाथी, चौरासी लाख घोड़े, चौरासी लाख रथ और ९६०००००००० पैदल सैनिक होते हैं।

उसके साम्राज्य में ७२००० बड़े-बड़े नगर, ३२००० जनपद, ९६०००००० ग्राम, ९९००० द्रोणमुख, ४८००० पट्टन, २४००० मडंव, २०००० आकर, १६००० खेट, १४००० संवाह आदि सम्मिलित होते हैं।

चक्रवर्ती की नौ निधियां—उनकी असाधारण सम्पत्ति नौ निधि और चौदह रत्न विशेषतः उल्लेखनीय हैं। निधि का अर्थ निधान या भंडार है। चक्रवर्ती की यह नौ निधियां सदैव समृद्ध रहती हैं। इनका परिचय इस प्रकार है—

१. नैसर्पनिधि—नवीन ग्रामों का निर्माण करना, पुरानों का जीर्णोद्धार करना और सेना के लिए मार्ग, शिविर, पुल आदि का निर्माण इस निधि से होता है।

२. पाण्डुकनिधि—धान्य एवं वीजों की उत्पत्ति, नाप, तौल के साधन, वस्तुनिष्पादन की सामग्री प्रस्तुत करना आदि इसका काम है।

३. पिंगलनिधि—स्त्रियों, पुरुषों, हस्तियों एवं अश्वों आदि के आभूषणों की व्यवस्था करना।

४. सर्वरत्ननिधि—सात एकेन्द्रिय और सात पंचेन्द्रिय श्रेष्ठरत्नों की उत्पत्ति इस निधि से होती है।

५. महापद्मनिधि—रंगीन और श्वेत, सब तरह के वस्त्रों की उत्पत्ति और निष्पत्ति का कारण यह निधि है।

६. कालनिधि—अतीत और अनागत के तीन-तीन वर्षों के शुभाशुभ का ज्ञान, सौ प्रकार के शिल्प, प्रजा के लिए हितकर सुरक्षा, कृषि और वाणिज्य कर्म कालनिधि से प्राप्त होते हैं।

७. महाकालनिधि—लोहे, सोने, चांदी आदि के आकर, मणि, मुक्ता, स्फटिक और प्रवाल की उत्पत्ति इससे होती है।

८. माणवकनिधि—योद्धाओं, कवचों और आयुधों की उत्पत्ति, सर्व प्रकार की युद्धनीति एवं दण्डनीति की व्यवस्था इस निधि से होती है।

९. शंखमहानिधि—नृत्यविधि, नाटकविधि, चार प्रकार के काव्यों एवं सभी प्रकार के वाद्यों की प्राप्ति का कारण।

इन नौ निधियों के अधिष्ठाता नौ देव होते हैं। यहाँ निधि और उसके अधिष्ठाता देव में अभेद-विवक्षा है। अतएव जिस निधि से जिस वस्तु की प्राप्ति कही गई है, वह उस निधि के अधिष्ठायक देव से समझना चाहिए।

इन नौ महानिधियों में चक्रवर्त्ती के लिए उपयोगी सभी वस्तुओं का समावेश हो जाता है। इन पर निधियों के नाम वाले देव निवास करते हैं। इनका क्रय-विक्रय नहीं हो सकता। सदा देवों का ही आधिपत्य होता है।[1]

चौदह रत्न—उल्लिखित नौ निधियों में से 'सर्वरत्ननिधि' से चक्रवर्त्ती को चौदह रत्नों की प्राप्ति होती है। यहाँ 'रत्न' शब्द का अर्थ हीरा, पन्ना आदि पाषाण नहीं समझना चाहिए। वस्तुतः जिस जाति में जो वस्तु श्रेष्ठ होती है, उसे 'रत्न' शब्द से अभिहित किया जाता है। जो नरों में उत्तम हो वह 'नररत्न' कहा जाता है। रमणियों में श्रेष्ठ को 'रमणीरत्न' कहते हैं। इसी प्रकार समस्त सेनापतियों में जो उत्तम हो वह सेनापतिरत्न, समस्त अश्वों में श्रेष्ठ को अश्वरत्न आदि। इसी प्रकार चौदह रत्नों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। चौदह रत्नों के नाम निम्नलिखित हैं—

(१) सेनापति (२) गाथापति (३) पुरोहित (४) अश्व (५) वढई (६) हाथी (७) स्त्री (८) चक्र (९) छत्र (१०) चर्म (११) मणि (१२) काकिणी (१३) खड्ग और (१४) दण्ड। इनका परिचय अन्यत्र देख लेना चाहिए।[2] विस्तारभय से यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है।

ऐसी भोग-सामग्री के अधिपति भी कामभोगों से अतृप्त रहकर ही मरण-शरण होते हैं।

बलदेव और वासुदेव के भोग—

८९—भुज्जो भुज्जो बलदेव-वासुदेवा य पवरपुरिसा महाबलपरक्कमा महाधणुवियट्टगा महासत्तसागरा दुद्धरा धणुद्धरा णरवसहा रामकेसवा भायरो सपरिसा वसुदेवसमुद्दविजयमाइयदसाराणं पज्जुण्ण-पईव-संब-अणिरुद्ध-णिसह-उम्मुय-सारण-गय-सुमुह-दुम्मुहाईण जायवाणं अद्धुट्ठाण वि कुमारकोडीणं हिययदइया देवीए रोहिणीए देवीए देवकीए य आणंद-हिययभावणंदणकरा सोलसरायवर-सहस्साणुजायमग्गा सोलसदेवीसहस्सवरणयणहिययदइया णाणामणिकणगरयणमोत्तियपवालधणधण्णसंचयरिद्धिसमिद्धकोसा हयगयरहसहस्ससामी गामा-गर-णगर-खेड-कव्वड-मडंब-दोणमुह-पट्टणासम-संवाह-सहस्सथिमिय- णिव्वुयपमुइयजण- विविहसास- णिप्फज्जमाणमेइणिसरसरिय- तलाग- सेलकाणण-आरामुज्जाणमणाभिरामपरिमंडियस्स दाहिणड्ढवेयड्ढगिरिविभत्तस्स लवण-जलहि-परिगयस्स छव्विह-कालगुणकामजुत्तस्स अद्धभरहस्स सामिगा धीरकित्तिपुरिसा ओहबला अइबला अणिहया अपराजियसत्तु-मद्दणरिपुसहस्समाणमहणा।

साणुक्कोसा अमच्छरी अचवला अचंडा मियमंजुलपलावा हसियगंभीरमहुरभणिया अब्भुवगयवच्छला सरण्णा लक्खणवंजणगुणोववेया माणुम्माणपमाणपडिपुण्णसुजायसव्वंगसुंदरंगा ससिसोमागारकंतपियदंसणा अमरिसणा पयंडडंडप्पयारगंभीरदरिसणिज्जा तालद्धउव्विद्धगरुलकेऊ बलवगगज्जंतदरियदप्पियमुट्ठियचाणूरमूरगा रिट्ठवसहघाइणो केसरिमुहविप्फाडगा दरियणागदप्पमहणा जमलज्जुणभंजगा महासउणिपूयणारिवू कंसमउडमोडगा जरासंधमाणमहणा।

---

१. स्थानाङ्ग, स्थान ९, पृ. ६६६-६६८ (आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर)

२. प्रश्नव्याकरण, विवेचन ३५६ पृ. (आगरा संस्करण, श्री हेमचन्द्रजी म.)

तेहिं य अविरलसमसहियचंदमंडलसमप्पभेहिं सुरमिरीयिकचयं विणिम्मुयंतेहिं सपडिदंडेहिं, आयवत्तेहिं धरिज्जंतेहिं विरायंता। ताहि य पवरगिरिकुहरविहरणसमुद्धियाहिं णिरुवहयचमरपच्छिम-सरीरसंजायाहिं अमइलसेयकमलविमुकुलज्जलिय-रययगिरिसिहर-विमलससिकिरण-सरिसकलहोय-णिम्मलाहिं पवणाहयचवलचलियसललियपणच्चियवीइपसरियखीरोदगपवरसागरुप्पूरचंचलाहिं माणस-सरपसरपरिचियावासविसदवेसाहिं कणगगिरिसिहरसंसिताहिं उवायप्पायचवलजयिणसिग्घवेगाहिं हंस-वधूयाहिं चेव कलिया णाणामणिकणगमहरिहतवणिज्जुज्जलविचित्तडंडाहिं सललियाहिं णरवइसिरि-समुदयप्पगासणकरिहिं वरपट्टणुग्गयाहिं समिद्धरायकुलसेवियाहिं कालागुरुपवरकुंदरुक्कतुरुक्कधूववसवा-सविसदगंधुद्धुयाभिरामाहिं चिल्लिगाहिं उभओपासं वि चामराहिं उक्खिप्पमाणाहिं सुहसीययवाय-वीइयंगा।

अजिया अजियरहा हलमूसलकणगपाणी संखचक्कगयसत्तिणंदगधरा पवरुज्जलसुकयविमल-कोथूभतिरीडधारी कुंडलउज्जोवियाणणा पुंडरीयणयणा एगावलीकंठरइयवच्छा सिरिवच्छसुलंछणा वरजसा सव्वोउय-सुरभिकुसुमसुरइयपलंबसोहंतवियसंतचित्तवणमालरइयवच्छा अट्ठसयविभत्तलक्खण-पसत्थसुंदरविराइयंगमंगा मत्तगयवरिंदललियविक्कमविलसियगई कडिसुत्तगणीलपीयकोसिज्जवाससा पवरदित्ततेया सारयणवत्थणियमहुरगंभीरणिद्धघोसा णरसीहा सीहविक्कमगई अत्थमियपवररायसीहा सोमा वारवइपुण्णचंदा पुव्वकयतवप्पभावा णिविट्ठसंचियसुहा अणेगवाससयमाउवंता भज्जाहि य जणवयप्पहाणाहिं लालियंता अउल-सद्दफरिसरसरूवगंधे अणुहवित्ता ते वि उवणमंति मरणधम्मं अवितत्ता कामाणं।

८६—और फिर (बलदेव तथा वासुदेव जैसे विशिष्ट ऐश्वर्यशाली एवं उत्तमोत्तम काम-भोगों के उपभोक्ता भी जीवन के अन्त तक भोग भोगने पर भी तृप्त नहीं हो पाते, वे) बलदेव और वासुदेव पुरुषों में अत्यन्त श्रेष्ठ होते हैं, महान् बलशाली और महान् पराक्रमी होते हैं। बड़े-बड़े (सारंग आदि) धनुषों को चढ़ाने वाले, महान् सत्त्व के सागर, शत्रुओं द्वारा अपराजेय, धनुषधारी, मनुष्यों में धोरी वृषभ के समान—स्वीकृत उत्तरदायित्व-भार का सफलतापूर्वक निर्वाह करने वाले, राम—बलराम और केशव—श्रीकृष्ण-दोनों भाई-भाई अथवा भाइयों सहित, एवं विशाल परिवार समेत होते हैं। वे वसुदेव तथा समुद्रविजय आदि दशार्ह—माननीय पुरुषों के तथा प्रद्युम्न, प्रतिव, शम्ब, अनिरुद्ध, निषध, उल्मुक, सारण, गज, सुमुख, दुर्मुख आदि यादवों और साढ़े तीन करोड़ कुमारों के हृदयों को दयित—प्रिय होते हैं। वे देवी—महारानी रोहिणी के तथा महारानी देवकी के हृदय में आनन्द उत्पन्न करने वाले—उनके अन्तस् में प्रीतिभाव के जनक होते हैं। सोलह हजार मुकुट-बद्ध राजा उनके मार्ग का अनुगमन करते हैं—उनके पीछे-पीछे चलते हैं। वे सोलह हजार सुनयना महारानियों के हृदय के वल्लभ होते हैं। उनके भाण्डार विविध प्रकार की मणियों, स्वर्ण, रत्न, मोती, मूंगा, धन और धान्य के संचय रूप ऋद्धि से सदा भरपूर रहते हैं। वे सहस्रों हाथियों, घोड़ों एवं रथों के अधिपति होते हैं। सहस्रों ग्रामों, आकरों, नगरों, खेटों, कर्वटों, मडम्बों, द्रोणमुखों, पट्टनों, आश्रमों, संवाहों—सुरक्षा के लिए निर्मित किलों में स्वस्थ, स्थिर, शान्त और प्रमुदित जन निवास करते हैं, जहां विविध प्रकार के धान्य उपजाने वाली भूमि होती है, जहाँ बड़े-बड़े सरोवर हैं, नदियाँ हैं, छोटे-छोटे तालाब हैं, पर्वत हैं, वन हैं, आराम—दम्पतियों के क्रीडा करने योग्य बगीचे हैं, उद्यान हैं, (ऐसे ग्राम-नगर आदि के वे

स्वामी होते हैं।) वे अर्धभरत क्षेत्र के अधिपति होते हैं, क्योंकि भरतक्षेत्र का दक्षिण दिशा की ओर का आधा भाग वैताढ्य नामक पर्वत के कारण विभक्त हो जाता है और वह तीन तरफ लवणसमुद्र से घिरा है। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण षट्खण्ड भरत क्षेत्र को दो भागों में विभक्त करने वाला वैताढ्य पर्वत पूर्व-पश्चिम दिशा में लम्बा आ जाने से तीन खण्ड दक्षिण दिशा में रहते हैं। उन तीनों खण्डों के शासक वासुदेव—अर्धचक्रवर्त्ती होते हैं। वह अर्धभरत (बलदेव-वासुदेव के समय में) छहों प्रकार के कालों अर्थात् ऋतुओं में होने वाले अत्यन्त सुख से युक्त होता है।

बलदेव और वासुदेव धैर्यवान् और कीर्त्तिमान् होते हैं—उनका धीरज अक्षय होता है और दूर-दूर तक यश फैला होता है। वे ओघबली होते हैं—उनका बल प्रवाह रूप से निरन्तर कायम रहता है। अतिबल—साधारण मनुष्यों की अपेक्षा अत्यधिक बल वाले होते हैं। उन्हें कोई आहत—पीड़ित नहीं कर सकता। वे कभी शत्रुओं द्वारा पराजित नहीं होते अपितु सहस्रों शत्रुओं का मान-मर्दन करने वाले भी होते हैं। वे दयालु, मत्सरता से रहित—गुणग्राही, चपलता से रहित, बिना कारण कोप न करने वाले, परिमित और मंजु भाषण करने वाले, मुस्कान के साथ गंभीर और मधुर वाणी का प्रयोग वाले, अभ्युपगत—समक्ष आए व्यक्ति के प्रति वत्सलता (प्रीति) रखने वाले तथा शरणागत की रक्षा करने वाले होते हैं। उनका समस्त शरीर लक्षणों से—सामुद्रिक शास्त्र में प्रतिपादित उत्तम चिह्नों से, व्यंजनों, से—तिल मसा आदि से तथा गुणों से या लक्षणों और व्यंजनों के गुणों से सम्पन्न होता है। मान और उन्मान से प्रमाणोपेत तथा इन्द्रियों एवं अवयवों से प्रतिपूर्ण होने के कारण उनके शरीर के सभी अंगोपांग सुडौल-सुन्दर होते हैं। उनकी आकृति चन्द्रमा के समान सौम्य होती है और वे देखने में अत्यन्त प्रिय एवं मनोहर होते हैं। वे अपराध को सहन नहीं करते अथवा अपने कर्त्तव्य-पालन में प्रमाद नहीं करते। प्रचण्ड—उग्र दंड का विधान करने वाले अथवा प्रचण्ड सेना के विस्तार वाले एवं देखने में गंभीर मुद्रा वाले होते हैं। बलदेव की ऊँची ध्वजा ताड़ वृक्ष के चिह्न से और वासुदेव की ध्वजा गरुड़ के चिह्न से अंकित होती है। गर्जते हुए अभिमानियों में भी अभिमानी मौष्टिक और चाणूर नामक पहलवानों के दर्प को (उन्होंने) चूर-चूर कर दिया था। रिष्ट नामक सांड का घात करने वाले, केसरी सिंह के मुख को फाड़ने वाले, अभिमानी (कालीय) नाग के अभिमान का मथन करने वाले, (विक्रिया से बने हुए वृक्ष के रूप में) यमल अर्जुन को नष्ट करने वाले, महाशकुनि और पूतना नामक विद्याधरियों के शत्रु, कंस के मुकुट को मोड़ देने वाले अर्थात् कंस को पकड़, कर और नीचे पटक कर उसके मुकट को भंग कर देने वाले और जरासंध (जैसे प्रतापशाली राजा) का मान-मर्दन करने वाले थे। वे सघन, एक-सरीखी एवं ऊँची शालाकाओं—ताडियों से निर्मित तथा चन्द्रमण्डल के समान प्रभा—कान्ति वाले, सूर्य की किरणों के समान, (चारों ओर फैली हुई) किरणों रूपी कवच को बिखेरने, अनेक प्रतिदंडों से युक्त छत्रों को धारण करने से अतीव शोभायमान थे। उनके दोनों पार्श्वभागों (बगलों) में ढोले जाते हुए चामरों से सुखद एवं शीतल पवन किया जाता है। उन चामरों की विशेषता इस प्रकार है—श्रेष्ठ पर्वतों की गुफाओं—पार्वत्य प्रदेशों में विचरण करने वाली चमरी गायों से प्राप्त किये जाने वाले, नीरोग चमरी गायों के पृष्ठभाग—पूछ में उत्पन्न हुए, अम्लान—ताजा श्वेत कमल, उज्ज्वल-स्वच्छ रजतगिरि के शिखर एवं निर्मल चन्द्रमा की किरणों के सदृश वर्ण वाले तथा चांदी के समान निर्मल होते हैं। पवन से प्रताडित, चपलता से चलने वाले, लीलापूर्वक नाचते हुए एवं लहरों के प्रसार तथा सुन्दर क्षीर-सागर के सलिलप्रवाह के समान चंचल होते हैं। साथ ही वे मान-सरोवर के विस्तार में परिचित आवास वाली, श्वेत वर्ण वाली, स्वर्णगिरि पर स्थित तथा ऊपर-नीचे गमन करने में अन्य चंचल वस्तुओं को मात कर देने वाले वेग से युक्त हंसनियों के समान होते हैं।

विविध प्रकार की मणियों के तथा पीतवर्ण तपनीय स्वर्ण के बने विचित्र दंडों वाले होते हैं। वे लालित्य से युक्त और नरपतियों की लक्ष्मी के अभ्युदय को प्रकाशित करते हैं। वे बड़े-बड़े पत्तनों—नगरों में निर्मित होते हैं और समृद्धिशाली राजकुलों में उनका उपयोग किया जाता है। वे चामर, काले अगर, उत्तम कुंदरुक्क—चीड़ की लकड़ी एवं तुरुष्क—लोभान की धूप के कारण उत्पन्न होने वाली सुगंध के समूह से सुगंधित होते हैं। (ऐसे चामर बलदेव और वासुदेव के दोनों पसवाड़ों की ओर ढोले जाते हैं, जिनसे सुखप्रद तथा शीतल पवन का प्रसार होता है।)

(वे बलदेव और वासुदेव) अपराजेय होते हैं—किसी के द्वारा जीते नहीं जा सकते। उनके रथ अपराजित होते हैं। बलदेव हाथों में हल, मूसल और बाण धारण करते हैं और वासुदेव पाञ्चजन्य शंख, सुदर्शन चक्र, कौमुदी गदा, शक्ति (शस्त्र—विशेष) और नन्दक नामक खड्ग धारण करते हैं। अतीव उज्ज्वल एवं सुनिर्मित कौस्तुभ मणि और मुकुट को धारण करते हैं। कुंडलों (की दीप्ति) से उनका मुखमण्डल प्रकाशित होता रहता है। उनके नेत्र पुण्डरीक—श्वेत कमल के समान विकसित होते हैं। उनके कण्ठ और वक्षस्थल पर एकावली—एक लड़ वाला हार शोभित रहता है। उनके वक्षस्थल में श्रीवत्स का सुन्दर चिह्न बना होता है। वे उत्तम यशस्वी होते हैं। सर्व ऋतुओं के सौरभमय सुमनों से ग्रथित लम्बी शोभायुक्त एवं विकसित वनमाला से उनका वक्षस्थल शोभायमान रहता है। उनके अंग उपांग एक सौ आठ मांगलिक तथा सुन्दर लक्षणों—चिह्नों से सुशोभित होते हैं। उनकी गति—चाल मदोन्मत्त उत्तम गजराज की गति के समान ललित और विलासमय होती है। उनकी कमर कटिसूत्र—करधनी से शोभित होती है और वे नीले तथा पीले वस्त्रों को धारण करते हैं, अर्थात् बलदेव नीले वर्ण के और वासुदेव पीत वर्ण के कौशेय—रेशमी वस्त्र पहनते हैं। वे प्रखर तथा देदीप्यमान तेज से विराजमान होते हैं। उनका घोष (आवाज) शरत्काल के नवीन मेघ की गर्जना के समान मधुर, गंभीर और स्निग्ध होता है। वे नरों में सिंह के समान (प्रचण्ड पराक्रम के धनी) होते हैं। उनकी गति सिंह के समान पराक्रमपूर्ण होती है। वे बड़े-बड़े राज-सिंहों के (तेज को) अस्त—समाप्त कर देने वाले अथवा युद्ध में उनकी जीवनलीला को समाप्त कर देते है। फिर (भी प्रकृति से) सौम्य-शान्त-सात्विक होते हैं। वे द्वारवती—द्वारका नगरी के पूर्ण चन्द्रमा थे। वे पूर्वजन्म में किये तपश्चरण के प्रभाव वाले होते हैं। वे पूर्वसंचित इन्द्रियसुखों के उपभोक्ता और अनेक सौ वर्षों—सैकड़ों वर्षों—की आयु वाले होते हैं।

ऐसे बलदेव और वासुदेव विविध देशों की उत्तम पत्नियों के साथ भोग-विलास करते हैं, अनुपम शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्धरूप इन्द्रियविषयों का अनुभव—भोगोपभोग करते हैं। परन्तु वे भी कामभोगों से तृप्त हुए बिना ही कालधर्म (मृत्यु) को प्राप्त होते हैं।

विवेचन—षट्खण्डाधिपति चक्रवर्ती महाराजाओं की ऋद्धि, भोगोपभोग, शरीरिक सम्पत्ति आदि का विशद वर्णन करने के पश्चात् यहाँ बलभद्र और नारायण की ऋद्धि आदि का परिचय दिया गया है।

बलभद्र और नारायण प्रत्येक उत्सर्पिणी और प्रत्येक अवसर्पिणी काल में होते हैं, जैसे चक्रवर्ती होते हैं। नारायण अर्थात् वासुदेव चक्रवर्ती की अपेक्षा आधी ऋद्धि, शरीरसम्पत्ति, बल-वाहन आदि विभूति आदि के धनी होते हैं। बलभद्र उनके ज्येष्ठ भ्राता होते हैं।

प्रस्तुत सूत्र का मूल आशय सभी कालों में होने वाले सभी बलभद्रों और नारायणों के भोगों एवं व्यक्तित्व का वर्णन करना और यह प्रदर्शित करना है कि संसारी जीव उत्कृष्ट से उत्कृष्ट भोग-

भोग कर भी, अन्त तक भी तृप्ति नहीं पाता है। जीवन की अन्तिम वेला तक भी वह अतृप्त रह कर मरण को प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार सामान्य रूप से सभी वलभद्रों और नारायणों से संबंध रखने वाले प्रस्तुत वर्णन में वर्त्तमान अवसर्पिणी काल में हुए नवम वलभद्र (वलराम) और नवम नारायण (श्रीकृष्ण) का उल्लेख भी आ गया है। इसकी चर्चा करते हुए टीकाकार श्री अभयदेवसूरि ने समाधान किया[1] है कि—**'राम केशव'** का अर्थ इस प्रकार करना चाहिए—जिन वलभद्रों और नारायणों में वलराम एवं श्रीकृष्ण जैसे हुए हैं। यद्यपि इस अवसर्पिणी काल में नौ वलभद्र, और नौ नारायण हुए हैं किन्तु उनमें वलराम और श्रीकृष्ण लोक में अत्यन्त विख्यात हैं। उनकी इस ख्याति के कारण ही उनके नामों आदि का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है।

सभी वलभद्र और नारायण, जैसा कि पूर्व में कहा गया है, चक्रवर्त्ती से आधी ऋद्धि आदि से सम्पन्न होते हैं। सभी पुरुषों में प्रवर—सर्वश्रेष्ठ, महान् वल और पराक्रम के धनी, असाधारण धनुर्धारी, महान् सत्त्वशाली, अपराजेय और अपने-अपने काल में अद्वितीय पुरुप होते हैं।

प्रस्तुत में वलराम और श्रीकृष्ण से सम्वद्ध कथन भी नामादि के भेद से सभी के साथ लागू होता है।

जैनागमों के अनुसार संक्षेप में उसका उल्लेख कर देना आवश्यक है, जो इस प्रकार है—

प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल में ६३ शालाकापुरुप-श्लाध्य—प्रशंसनीय असाधारण पुरुष होते हैं। इन श्लाघ्य पुरुषों में चौवीस तीर्थंकरों का स्थान सर्वोपरि होता है। वे सर्वोत्कृष्ट पुण्य के स्वामी होते हैं। चक्रवर्त्ती आदि नरेन्द्र और सुरेन्द्र भी उनके चरणों में नतमस्तक होते हैं, अपने आपको उनका किंकर मान कर धन्यता अनुभव करते हैं।

तीर्थंकरों के पश्चात् दूसरा स्थान चक्रवर्त्तियों का है। ये वारह होते हैं। इनकी विभूति आदि का विस्तृत वर्णन पूर्व सूत्र में किया गया है।

तीसरे स्थान पर वासुदेव और वलदेव हैं। इनकी समस्त विभूति चक्रवर्ती नरेश से आधी होती है। यथा—चक्रवर्त्ती छह खण्डों के अधिपति सम्राट् होते हैं तो वासुदेव तीन खंडों के स्वामी होते हैं। चक्रवर्त्ती की अधीनता में वत्तीस हजार नृपति होते हैं तो वासुदेव के अधीन सोलह हजार राजा होते हैं। चक्रवर्त्ती चौसठ हजार कामिनियों के नयनकान्त होते हैं तो वासुदेव वत्तीस हजार रमणियों के प्रिय होते हैं। इसी प्रकार अन्य विषयों में भी जान लेना चाहिए।

बलदेव-वासुदेव के समकालीन प्रति वासुदेव भी नौ होते हैं, जो वासुदेव के द्वारा मारे जाते हैं।

वलराम और श्रीकृष्ण नामक जो अन्तिम वलभद्र और नारायण हुए हैं, उनसे सम्वद्ध कथन का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

ये दोनों प्रशस्त पुरुष यादवकुल के भूषण थे। इस कुल में दश दशार थे, जिनके नाम हैं—(१) समुद्रविजय (२) अक्षोभ्य (४) स्तिमित (४) सागर (५) हिमवान् (६) अचल (७) धरण (८) पूरण (९) अभिचन्द्र और (१०) वसुदेव।

---

१. अभयदेववृत्ति पृ. ७३, आगमोदयसमिति संस्करण।

इस परिवार में ५६ करोड़ यादव थे। उनमें साढे तीन करोड़ प्रद्युम्न आदि कुमार थे। वलराम की माता का नाम रोहिणी और श्रीकृष्ण की माता का नाम देवकी था। इनके शस्त्रों तथा वस्त्रों के वर्ण आदि का वर्णन मूल पाठ में ही प्राय: आ चुका है।

मुष्टिक नामक मल्ल का हनन वलदेव ने और चाणूर मल्ल का वध श्रीकृष्ण ने किया था। रिष्ट नामक सांड को मारना, कालिय नाग को नाथना, यमलार्जुन का हनन करना, महाशकुनी एवं पूतना नामक विद्याधरियों का अन्त करना, कंस-वध और जरासन्ध के मान का मर्दन करना आदि घटनाओं का उल्लेख वलराम-श्रीकृष्ण से सम्वन्धित है, तथापि तात्पर्य यह जानना चाहिए कि ऐसों-ऐसों के दमन करने का सामर्थ्य वलदेवों और वासुदेवों में होता है। ऐसे असाधारण वल, प्रताप और पराक्रम के स्वामी भी भोगोपभोगों से तृप्त नहीं हो पाते। अतृप्त रह कर ही मरण को प्राप्त होते हैं।

माण्डलिक राजाओं के भोग—

८७—भुज्जो मंडलिय-णरवरिंदा सवला सअंतेउरा सपरिसा सपुरोहियामच्च-दंडणायग-सेणावइ-मंतणीइ-कुसला णाणामणिरयणविपुल-धणधण्णसंचयणिही-समिद्धकोसा रज्जसिरिं विउल-मणुहवित्ता विक्कोसंता वलेण मत्ता ते वि उवणमंति मरणधम्मं अवितत्ता कामाणं।

८७—और (वलदेव और वासुदेव के अतिरिक्त) माण्डलिक राजा भी होते हैं। वे भी सवल —वलवान् अथवा सैन्यसम्पन्न होते हैं। उनका अन्त:पुर—रनवास (विशाल) होता है। वे सपरिषद् —परिवार या परिषदों से युक्त होते हैं। शान्तिकर्म करने वाले पुरोहितों से, अमात्यों – मंत्रियों से, दंडाधिकारियों—दंडनायकों से, सेनापतियों से जो गुप्त मंत्रणा करने एवं नीति में निपुण होते हैं, इन सब से सहित होते हैं। उनके भण्डार अनेक प्रकार की मणियों से, रत्नों से, विपुल धन और धान्य से समृद्ध होते हैं। वे अपनी विपुल राज्य-लक्ष्मी का अनुभव करके अर्थात् भोगोपभोग करके, अपने शत्रुओं का पराभव करके—उन पर आक्रोश करते हुए अथवा अक्षय भण्डार के स्वामी होकर (अपने) वल में उन्मत्त रहते हैं—अपनी शक्ति के दर्प में चूर—वेभान वन जाते हैं। ऐसे माण्डलिक राजा भी कामभोगों से तृप्त नहीं हुए। वे भी अतृप्त रह कर ही कालधर्म—मृत्यु को प्राप्त हो गए।

विवेचन—किसी वड़े साम्राज्य के अन्तर्गत एक प्रदेश का अधिपति माण्डलिक राजा कहलाता है। माण्डलिक राजा के लिए प्रयुक्त विशेषण सुगमता से समझे जा सकते हैं।

अकर्मभूमिज मनुष्यों के भोग

८८—भुज्जो उत्तरकुरु-देवकुरु-वणविवर-पायचारिणो णरगणा भोगुत्तमा भोगलक्खणधरा भोगसस्सिरीया पसत्थसोमपडिपुण्णरूवदरिसणिज्जा सुजायसव्वंगसुंदरंगा रत्तुप्पलपत्तकंतकरचरण-कोमलतला सुपइट्ठियकुम्मचारुचलणा अणुपुव्वसुसंहयंगुलीया उण्णयतणुतंवणिद्धणक्खा संठियसुसिलिट्ठ-गूढगुंफा एणीकुरुविंदवत्तवट्टाणुपुव्विजंघा समुग्गणिसग्गगूढजाणू वरवारणमत्ततुल्लविक्कम-विलासिय-गई वरतुरगसुजायगुज्झदेसा आइण्णहयव्वणिरुवलेवा पमुइयवरतुरगसीहअइरेगवट्टियकडी गंगा-वत्तदाहिणावत्ततरंगभंगुर-रविकिरण-वोहिय-विकोसायंतपम्हगंभीरवियडणाभी साहतसोणंदमुसल-दप्पणणिगरियवरकणगच्छरुसरिसवरवइरवलियमज्झा उज्जुगसमसहियजच्चतणुकसिणणिद्ध-आइज्जल-

डहसूमालमउयरोमराई झसविहगसुजायपीणकुच्छी झसोयरा पम्हविगडणाभी संणयपासा संगयपासा सुंदरपासा सुजायपासा मियमाइयपीणरइयपासा अकरंडुयकणगरुयगणिम्मलसुजायणिरुवहयदेहधारी कणगसिलातलपसत्थसमतलउवइयविच्छिण्णपिहुलवच्छा जुयसण्णिभपीणरइयपीवरपउट्ठसंठियसुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठसुणिचियघणथिरसुबद्धसंधी पुरवरफलिहवट्टियभुया ।

भुयईसरविउलभोगआयाणफलिउच्छूढदीहबाहू रत्ततलोवतियमउयमंसलसुजाय-लक्खणपसत्थ-अच्छिद्दजालपाणी पीवरसुजायकोमलवरंगुली तंबतलिणसुइरुइलणिद्धणखा णिद्धपाणिलेहा चंदपाणिलेहा सूरपाणिलेहा संखपाणिलेहा चक्कपाणिलेहा दिसासोवत्थियपाणिलेहा रविससिसंखवरचक्कदिसासोवत्थियविभत्तसुविरइयपाणिलेहा वरमहिसवराहसीहसद्दूलरिसहणागवरपडिपुण्णविउलखंधा चउरंगुलसुप्पमाणकंबुवरसरिसग्गीवा अवट्ठियसुविभत्तचित्तमंसू उवचियमंसलपसत्थसद्दूलविउलहणुया ओयवियसिलप्पवालबिंबफलसण्णिभाधरोट्ठा पंडुरससिसकलविमलसंखगोखीरफेणकुंदगरयमुणालिया-धवलदंतसेढी अखंडदंता अप्फुडियदंता अविरलदंता सुणिद्धदंता सुजायदंता एगदंतसेढिव्व अणेगदंता हुयवहणिद्धंतधोयतत्ततवणिज्जरत्ततला तालुजीहा गरुलायतउज्जुतुंगणासा अवदालियपोंडरीयणयणा कोकासियधवलपत्तलच्छा आणामियचावरुइलकिण्हब्भराजि-संठियसंगयायसुजायभुमगा अल्लीणपमाण-जुत्तसवणा सुसवणा पीणमंसलकवोलदेसभागा अचिरुग्गयबालचंदसंठियमहाणिलाडा उडुवइरिव-पडिपुण्णसोमवयणा छत्तागारुत्तमंगदेसा घणणिचियसुबद्धलक्खणुण्णयकूडागारणिभपिंडियग्गसिरा हुयवहणिद्धंतधोयतत्ततवणिज्जरत्तकेसंतकेसभूमी सामलीपोंडघणणिचियछोडियमिउविसतपसत्थसुहुम-लक्खणसुगंधिसुंदरभुयमोयगभिंगणीलकज्जलपहट्ठभमरगणणिद्धणिगुरुंबणिचियकुंचियपयाहिणावत्तमुद्ध-सिरया सुजायसुविभत्तसंगयंगा ।

८८—इसी प्रकार देवकुरु और उत्तरकुरु क्षेत्रों के वनों में और गुफाओं में पैदल विचरण करने वाले अर्थात् रथ, शकट आदि यानों और हाथी, घोड़ा आदि वाहनों का उपयोग न करके सदा पैदल चलने वाले नर-गण हैं अर्थात् यौगलिक-युगल मनुष्य होते हैं। वे उत्तम भोगों-भोगसाधनों से सम्पन्न होते हैं। प्रशस्त लक्षणों-स्वस्तिक आदि के धारक होते हैं। भोग-लक्ष्मी से युक्त होते हैं। वे प्रशस्त मंगलमय सौम्य एवं रूपसम्पन्न होने के कारण दर्शनीय होते हैं। उत्तमता से बने सभी अवयवों के कारण सर्वांग सुन्दर शरीर के धारक होते हैं। उनकी हथेलियाँ और पैरों के तलभाग—तलुवे लाल कमल के पत्तों की भांति लालिमायुक्त और कोमल होते हैं। उनके पैर कछुए के समान सुप्रतिष्ठित—सुन्दराकृति वाले होते हैं। उनकी अंगुलियाँ अनुक्रम से बड़ी-छोटी, सुसंहत-सघन-छिद्र-रहित होती हैं। उनके नख उन्नत—उभरे हुए, पतले, रक्तवर्ण और चिकने—चमकदार होते हैं। उनके पैरों के गुल्फ—टखने सुस्थित, सुघड़ और मांसल होने के कारण दिखाई नहीं देते हैं। उनकी जंघाएँ हिरणी की जंघा, कुरुविन्द नामक तृण और वृत्त—सूत कातने की तकली के समान क्रमशः वर्तुल एवं स्थूल होती हैं। उनके घुटने डिब्बे एवं उसके ढक्कन की संधि के समान गूढ होते हैं, (वे स्वभावतः मांसल—पुष्ट होने से दिखाई नहीं देते।) उनकी गति—चाल मदोन्मत्त उत्तम हस्ती के समान विक्रम और विकास से युक्त होती है, अर्थात् वे मदोन्मत्त हाथी के समान मस्त एवं धीर गति से चलते हैं। उनका गुह्यदेश—गुप्तांग—जननेन्द्रिय उत्तम जाति के घोड़े के गुप्तांग के समान सुनिर्मित एवं गुप्त होता है। जैसे उत्तम जाति के अश्व का गुदाभाग मल से

लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार उन यौगलिक पुरुषों का गुदाभाग भी मल के लेप से रहित होता है। उनका कटिभाग—कमर का भाग हृष्ट-पुष्ट एवं श्रेष्ठ और सिंह की कमर से भी अधिक गोलाकार होता है। उनकी नाभि गंगा नदी के आवर्त्त—भंवर तथा दक्षिणावर्त्त तरंगों के समूह के समान चक्कर-दार तथा सूर्य की किरणों से विकसित कमल की तरह गंभीर और विकट—विशाल होती है। उनके शरीर का मध्यभाग समेटी हुई त्रिकाष्ठिका—तिपाई, मूसल, दर्पण—दण्डयुक्त कांच और शुद्ध किए हुए उत्तम स्वर्ण से निर्मित खड्ग की मूठ एवं श्रेष्ठ वज्र के समान कृश—पतला होता है। उनकी रोम-राजि सीधी, समान, परस्पर सटी हुई, स्वभावतः वारीक, कृष्णवर्ण, चिकनी, प्रशस्त—सौभाग्यशाली पुरुषों के योग्य सुकुमार और सुकोमल होती है। वे मत्स्य और विहग—पक्षी के समान उत्तम रचना—वनावट से युक्त कुक्षि वाले होने से झपोदर—मत्स्य जैसे पेट वाले होते हैं। उनकी नाभि कमल के समान गंभीर होती है। पार्श्वभाग नीचे की ओर झुके हुए होते हैं, अतएव संगत, सुन्दर और सुजात—अपने योग्य गुणों से सम्पन्न होते हैं। वे पार्श्व प्रमाणोपेत एवं परिपुष्ट होते हैं। वे ऐसे देह के धारक होते हैं, जिसकी पीठ और वगल की हड्डियाँ मांसयुक्त होती हैं तथा जो स्वर्ण के आभूपण के समान निर्मल कान्तियुक्त, सुन्दर वनावट वाली और निरुपहत—रोगादि के उपद्रव से रहित होती है। उनके वक्षस्थल सोने की शिला के तल के समान प्रशस्त, समतल, उपचित—पुष्ट और विशाल होते हैं। उनकी कलाइयाँ गाड़ी के जुए के समान पुष्ट, मोटी एवं रमणीय होती हैं। तथा अस्थिसन्धियाँ अत्यन्त सुडौल, सुगठित, सुन्दर, मांसल और नसों से दृढ वनी होती हैं। उनकी भुजाएँ नगर के द्वार की आगेल के समान लम्वी और गोलाकार होती हैं। उनके वाहु भुजगेश्वर—शेपनाग के विशाल शरीर के समान और अपने स्थान से पृथक् की हुई आगल के समान लम्वे होते हैं। उनके हाथ लाल-लाल हथेलियों वाले, परिपुष्ट, कोमल, मांसल, सुन्दर वनावट वाले, शुभ लक्षणों से युक्त और निश्छिद्र—छेद रहित अर्थात् आपस में सटी हुई उंगलियों वाले होते हैं। उनके हाथों की उंगलियाँ पुष्ट, सुरचित, कोमल और श्रेष्ठ होती हैं। उनके नख ताम्रवर्ण—तांवे जैसे वर्ण के—लालिमा लिये, पतले, स्वच्छ, रुचिर—सुन्दर, चिकने होते हैं। चिकनी तथा चन्द्रमा की तरह अथवा चन्द्र से अंकित, सूर्य के समान (चमकदार) या सूर्य से अंकित, शंख के समान या शंख के चिह्न से अंकित, चक्र के समान या चक्र के चिह्न से अंकित, दक्षिणावर्त्त स्वस्तिक के चिह्न से अंकित, सूर्य, चन्द्रमा, शंख, उत्तम चक्र, दक्षिणावर्त्त स्वस्तिक आदि शुभ चिह्नों से सुविरचित हस्त-रेखाओं वाले होते हैं। उनके कंधे उत्तम महिप, शूकर, सिंह, व्याघ्र, सांड, और गजराज के कंधे के समान परिपूर्ण—पुष्ट होते हैं। उनकी ग्रीवा चार अंगुल परिमित एवं शंख जैसी होती है। उनकी दाढी-मूछें अवस्थित—न घटने वाली और न वढ़ने वाली होती हैं—सदा एक सरीखी रहती हैं तथा सुविभक्त—अलग-अलग एवं सुशोभन होती हैं। वे पुष्ट, मांसयुक्त, सुन्दर तथा व्याघ्र के समान विस्तीर्ण हनु—ठुड्डी वाले होते हैं। उनके अधरोष्ठ संशुद्ध मूंगे और विम्वफल के सदृश लालिमायुक्त होते हैं। उनके दांतों की पंक्ति चन्द्रमा के टुकड़े, निर्मल शंख, गाय के दूध के फेन, कुन्दपुष्प, जलकण तथा कमल की नाल के समान धवल-श्वेत होती है। उनके दांत अखण्ड होते हैं, टूटे नहीं होते, अविरल—एक दूसरे से सटे हुए होते हैं, अतीव स्निग्ध—चिकने होते हैं और सुजात—सुरचित होते हैं। वे एक दन्तपंक्ति के समान अनेक—वत्तीस दांतों वाले होते हैं, अर्थात् उनके दांतों की कतार इस प्रकार परस्पर सटी होती है कि वे अलग-अलग नहीं जान पड़ते। उनका तालु और जिह्वा अग्नि में तपाये हुए और फिर धोये हुए स्वच्छ स्वर्ण के सदृश लाल तल वाली होती है। उनकी नासिका गरुड़ के समान लम्वी, सीधी और ऊँची होती है। उनके नेत्र विकसित पुण्डरीक—

श्वेत कमल के समान विकसित (प्रमुदित) एवं धवल होते हैं। उनकी भ्रू—भौंहें किंचित् नीचे झुकाए धनुष के समान मनोरम, कृष्ण अभ्रराजि—मेघों की रेखा के समान काली, उचित मात्रा में लम्बी एवं सुन्दर होती हैं। कान आलीन—किंचित् शरीर से चिपके हुए-से और उचित प्रमाण वाले होते हैं। अतएव उनके कान सुन्दर होते हैं या सुनने की शक्ति से युक्त होते हैं। उनके कपोलभाग—गाल तथा उनके आसपास के भाग परिपुष्ट तथा मांसल होते हैं। उनका ललाट अचिर उद्गत—जिसे उगे अधिक समय नहीं हुआ, ऐसे बाल—चन्द्रमा के आकार का तथा विशाल होता है। उनका मुखमण्डल पूर्ण चन्द्र के सदृश सौम्य होता है। मस्तक छत्र के आकार का उभरा हुआ होता है। उनके सिर का अग्रभाग मुद्गर के समान सुदृढ नसों से आबद्ध, प्रशस्त लक्षणों-चिह्नों से सुशोभित, उन्नत—उभरा हुआ, शिखरयुक्त भवन के समान और गोलाकार पिण्ड जैसा होता है। उनके मस्तक की चमड़ी—टांट—अग्नि में तपाये और फिर धोये हुए सोने के समान लालिमायुक्त एवं केशों वाली होती है। उनके मस्तक के केश शाल्मली (सेमल) वृक्ष के फल के समान सघन, छांटे हुए—मानो घिसे हुए, बारीक, सुस्पष्ट, मांगलिक, स्निग्ध, उत्तम लक्षणों से युक्त, सुवासित, सुन्दर, भुजमोचक रत्न जैसे काले वर्ण वाले, नीलमणि और काजल के सदृश तथा हर्षित भ्रमरों के झुंड की तरह काली कान्ति वाले, गुच्छ रूप, कुंचित—घुंघराले, दक्षिणावर्त्त—दाहिनी ओर मुड़े हुए होते हैं। उनके अंग सुडौल, सुविभक्त—यथास्थान और सुन्दर होते हैं।

वे यौगलिक उत्तम लक्षणों, तिल आदि व्यंजनों तथा गुणों से (अथवा लक्षणों और व्यंजनों के गुणों से) सम्पन्न होते हैं। वे प्रशस्त—शुभ—मांगलिक बत्तीस लक्षणों के धारक होते हैं। वे हंस के, क्रौंच पक्षी के, दुन्दुभि के एवं सिंह के समान स्वर—आवाज वाले होते हैं। उनका स्वर ओघ होता है—अविच्छिन्न और अत्रुटित होता है। उनकी ध्वनि मेघ की गर्जना जैसी होती है, अतएव कानों को प्रिय लगती है। उनका स्वर और निर्घोष—दोनों ही सुन्दर होते हैं। वे वज्रऋषभनाराचसंहनन और सम-चतुरस्रसंस्थान के धारक होते हैं। उनके अंग-प्रत्यंग कान्ति से देदीप्यमान रहते हैं। उनके शरीर की त्वचा प्रशस्त होती है। वे नीरोग होते हैं और कंक नामक पक्षी के समान अल्प आहार करते हैं। उनकी आहार को परिणत करने—पचाने की शक्ति कबूतर जैसी होती है। उनका मल-द्वार पक्षी जैसा होता है, जिसके कारण मल-त्याग के पश्चात् वह मल-लिप्त नहीं होता। उनकी पीठ, पार्श्वभाग और जंघाएँ सुन्दर, सुपरिमित होती हैं। पद्म—कमल और उत्पल—नील कमल की सुगन्ध के सदृश मनोहर गन्ध से उनका श्वास एवं मुख सुगन्धित रहता है। उनके शरीर की वायु का वेग सदा अनुकूल रहता है। वे गौर-वर्ण, स्निग्ध तथा श्याम होते हैं (या उनके सिर पर चिकने और काले बाल होते हैं।) उनका उदर शरीर के अनुरूप उन्नत होता है। वे अमृत के समान रस वाले फलों का आहार करते हैं। उनके शरीर की ऊँचाई तीन गव्यूति की और आयु तीन पल्योपम की होती है। पूरी तीन पल्योपम की आयु को भोग कर वे अकर्मभूमि—भोगभूमि के मनुष्य (अन्त तक) कामभोगों से अतृप्त रहकर ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

विवेचन—उल्लिखित सूत्रों में यद्यपि देवकुरु और उत्तरकुरु नामक अकर्मभूमि—भोगभूमि के नाम का उल्लेख किया गया है, तथापि वहाँ के मनुष्यों के वर्णन में जो कहा गया है, वह प्रायः सभी अकर्मभूमिज मनुष्यों के लिए समझ लेना चाहिए।

देवकुरु और उत्तरकुरु क्षेत्र महाविदेह क्षेत्र के अन्तर्गत हैं। इन दो क्षेत्र—विभागों—के अतिरिक्त शेष समग्र महाविदेह कर्मभूमि है।

देवकुरु और उत्तरकुरु का नामोल्लेख करने का कारण यह है कि वह उत्तम अकर्मभूमि है और सदा काल अकर्मभूमि ही रहती है।

अकर्मभूमि के तीस क्षेत्र हैं। भरत और ऐरवत क्षेत्र में कभी अकर्मभूमि और कभी कर्मभूमि की स्थिति होती है।

तात्पर्य यह है कि जम्बूद्वीप में भरत, ऐरवत और (देवकुरु—उत्तरकुरु के सिवाय) महाविदेह, ये तीन कर्मभूमि—क्षेत्र हैं। इनसे दुगुने अर्थात् छह धातकीखण्ड में और छह पुष्करार्ध में हैं। इस प्रकार पन्द्रह कर्मभूमिक्षेत्र हैं।

कर्मभूमिज मनुष्य असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प, कला आदि कर्मों से अपना जीवनयापन करते हैं। अतएव ये क्षेत्र कर्मभूमि-क्षेत्र कहलाते हैं।

जैसा कि उल्लेख किया गया है, महाविदेह क्षेत्र के अन्तर्गत उत्तर दिशा में स्थित उत्तरकुरु और दक्षिण में स्थित देवकुरु तथा हरिवर्ष, रम्यक्वर्ष, हैमवत और हैरण्यवत, ये छह क्षेत्र अकर्म-भूमि के हैं। बारह क्षेत्र धातकीखण्ड के और बारह पुष्करार्ध के मिल कर अकर्मभूमि के कुल तीस क्षेत्र हैं।

अकर्मभूमि के मनुष्य युगलिक कहलाते हैं, क्योंकि वे पुत्र और पुत्री के रूप में—युगल के रूप में ही उत्पन्न होते हैं। वे पुत्र और पुत्री ही आगे चल कर पति-पत्नी बन जाते हैं और एक युगल को जन्म देते हैं। अधिक सन्तान उत्पन्न नहीं होती।

इन युगलों का जीवन-निर्वाह वृक्षों से होता है। वृक्षों से ही उनकी समग्र आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है। अतएव उन वृक्षों को 'कल्पवृक्ष' कहा जाता है। ये मनुष्य अत्यन्त सात्त्विक प्रकृति के, मंद कषायों वाले और भोगसामग्री के संग्रह से सर्वथा रहित होते हैं। पूर्ण रूप से प्रकृति पर निर्भर होते हैं। वे असि, मसि, कृषि आदि पूर्वोक्त कोई कर्म नहीं करते। कल्पवृक्षों से प्राप्त सामग्री में ही सन्तुष्ट रहते हैं। उनकी इच्छा सीमित होती है। फलाहारी होने से सदा नीरोग रहते हैं। अश्व आदि होने पर भी उन पर सवारी नहीं करते। पैदल विचरण करते हैं। गाय-भैंस आदि पशु होने पर भी ये मनुष्य उनके दूध का सेवन नहीं करते। पूर्ण वनस्पतिभोजी होते हैं।

वनस्पतिभोजी एवं पूर्ण रूप से प्राकृतिक जीवन व्यतीत करने के कारण उनकी शारीरिक दशा कितनी स्पृहणीय होती है, यह तथ्य मूल पाठ में वर्णित उनकी शरीरसम्पत्ति से कल्पना में आ सकता है। वे वज्रऋषभनाराचसंहनन से सम्पन्न होते हैं अर्थात् उनकी अस्थिरचना श्रेष्ठतम होती है और शरीर की आकृति अत्यन्त सुडौल—समचतुरस्रसंस्थान वाली होती है। यही कारण है कि उनके शरीर की अवगाहना तीन गाऊ की और उम्र तीन पल्योपम जितने लम्बे समय की होती है।

विशेष वर्णन सूत्रकार ने स्वयं किया है। किन्तु इस सब विस्तृत वर्णन का उद्देश्य यही प्रदर्शित करना है कि तीन पल्योपम जितने दीर्घकाल तक और जीवन की अन्तिम घड़ी तक यौवन-अवस्था में रहकर इच्छानुकूल एवं श्रेष्ठ से श्रेष्ठ भोगों को भोग कर भी मनुष्य तृप्त नहीं हो पाता। उसकी अतृप्ति बनी ही रहती है और वे आखिर अतृप्त रहकर ही मरण-शरण होते हैं।

युगलों को बत्तीस प्रशस्त लक्षणों का धारक कहा गया है। वे बत्तीस लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) छत्र (२) कमल (३) धनुष (४) उत्तम रथ (५) वज्र (६) कूर्म (७) अंकुश (८) वापी

(६) स्वस्तिक (१०) तोरण (११) सर (१२) सिंह (१३) वृक्ष (१४) चक्र (१५) शंख (१६) गज—हाथी (१७) सागर (१८) प्रासाद (१९) मत्स्य (२०) यव (२१) स्तम्भ (२२) स्तूप (२३) कमण्डलु (२४) पर्वत (२५) चामर (२६) दर्पण (२७) वृषभ (२८) पताका (२९) लक्ष्मी (३०) माला (३१) मयूर और (३२) पुष्प ।[1]

अकर्मभूमिज नारियों की शरीर-सम्पदा—

८९—पमया वि य तेसिं होंति सोम्मा सुजायसव्वंगसुंदरीओ पहाणमहिलागुणेहिं जुत्ता अइकंतविसप्पमाणमउयसुकुमालकुम्मसंठियसिलिट्ठचलणा उज्जुमउयपीवरसुसाहयंगुलीओ अब्भुण्णयरइयतलिणतंबसुइणिद्धणखा रोमरहियवट्टसंठियअजहण्णपसत्थलक्खणअकोप्पजंघजुयला सुणिम्मियसुणिगूढजाणू मंसलपसत्थसुबद्धसंधी कयलीखंभाइरेकसंठियणिव्वणसुकुमालमउयकोमलअविरलसमसहियसुजायवट्टपीवरणिरंतरोरू अट्ठावयवीइपट्ठसंठियपसत्थविच्छिण्णपिहुलसोणी वयणायामप्पमाणदुगुणियविसालमंसलसुबद्धजहणवरधारिणीओ वज्जविराइयपसत्थलक्खणणिरोदरीओ तिवलिवलियतणुणमियमज्झियाओ उज्जुयसमसहियजच्चतणुकसिणणिद्ध-आइज्जलडहसुकुमालमउयसुविभत्तरोमराईओ गंगावत्तगपदाहिणावत्ततरंगभंगरविकिरणतरुणबोहियअकोसायंत पउमगंभीरवियडणाभी अणुब्भडपसत्थसुजायपीणकुच्छी सण्णयपासा सुजायपासा संगयपासा मियमाइयपीणरइयपासा अकरंडुयकणगरुयगणिम्मलसुजायणिरुवहयगायलट्ठी कंचणकलसपमाणसमसहियलट्ठचुचुयआमेलगजमलजुयलवट्टियपयोहराओ भुयंगअणुपुव्वतणुयगोपुच्छवट्टसमसहियणमियआइज्जलडहबाहा तंबणहा मंसलग्गहत्था कोमलपीवरवरंगुलिया णिद्धपाणिलेहा ससिसूरसंखचक्कवरसोत्थियविभत्तसुविरइयपाणिलेहा ।

पीणुण्णयकक्खवत्थीप्पएसपडिपुण्णगलकवोला चउरंगुलसुप्पमाणकंबुवरसरिसगीवा मंसलसंठियपसत्थहणुया दालिमपुप्फप्पगासपीवरपलंबकुंचियवराधरा सुंदरोत्तरोट्ठा दधिदगरयकुंदचंदवासंतिमउलअच्छिद्दविमलदसणा रत्तुप्पलपउमपत्तसुकुमालतालुजीहा कणवीरमउलअकुडिलअब्भुण्णयउज्जुतुंगणासा सारयणवकमलकुमुयकुवलयदलणिगरसरिसलक्खणपसत्थअजिम्हकंतणयणा आणामियचावरुइलकिण्हब्भराइसंगयसुजायतणुकसिणद्धभुमगा अल्लीणपमाणजुत्तसवणा सुस्सवणा पीणमट्ठगंडलेहा चउरंगुलविसालसमणिडाला कोमुइरयणियरविमलपडिपुण्णसोमवयणा छत्तुण्णयउत्तमंगा अकविलसुसिणिद्धदीहसिरया ।

छत्त-ज्झय-जूव-थूभ-दामिणि-कमंडलु-कलस-वावि-सोत्थिय-पडाग-जव-मच्छ-कुम्भ-रहवर-मकरज्झय-अंक- थाल- अंकुस-अट्ठावय- सुपइट्ठअमरसिरियाभिसेय- तोरण- मेइणि- उदहिवर- पवरभवण-गिरिवर-वरायंस-सुललियगय-उसभ-सीह-चामर-पसत्थबत्तीसलक्खणधरीओ हंससरिसगईओ कोइलमहुरगिराओ कंता सव्वस्स अणुमयाओ ववगयवलिपलितवंग-दुव्वण्ण-वाहि-दोहग्ग-सोयमुक्काओ

१. प्र. व्या. सैलाना-संस्करण पृ. २२५

उच्चत्तेण य णराण थोवूणमूसियाओ सिंगारागारचारुवेसाओ सुंदरथणजहणवयणकरचरणणयणा लावण्णरूवजोव्वणगुणोववेया णंदणवणविवरचारिणीओ अच्छराओव्व उत्तरकुरुमाणुसच्छराओ अच्छेर-गपेच्छणिज्जियाओ तिण्णि य पलिओवमाइं परमाउं पालइत्ता ताओ वि उवणमंति मरणधम्मं अवितित्ता कामाणं।

८६—उन (युगलिकों) की स्त्रियाँ भी सौम्य अर्थात् शान्त एवं सात्त्विक स्वभाव वाली होती हैं। उत्तम सर्वांगों से सुन्दर होती हैं। महिलाओं के सब प्रधान—श्रेष्ठ गुणों से युक्त होती हैं। उनके चरण—पैर अत्यन्त रमणीय, शरीर के अनुपात में उचित प्रमाण वाले अथवा चलते समय भी अतिकोमल, कच्छप के समान—उभरे हुए और मनोज्ञ होते हैं। उनकी उंगलियाँ सीधी, कोमल, पुष्ट और निश्छिद्र—एक दूसरे से सटी हुई होती हैं। उनके नाखून उन्नत, प्रसन्नताजनक, पतले, निर्मल और चमकदार होते हैं। उनकी दोनों जंघाएँ रोमों से रहित, गोलाकार श्रेष्ठ मांगलिक लक्षणों से सम्पन्न और रमणीय होती हैं। उनके घुटने सुन्दर रूप से निर्मित तथा मांसयुक्त होने के कारण निगूढ होते हैं। उनकी सन्धियाँ मांसल, प्रशस्त तथा नसों से सुवद्ध होती हैं। उनकी ऊपरी जंघाएँ—सांथल कदली-स्तम्भ से भी अधिक सुन्दर आकार की, घाव आदि से रहित, सुकुमार, कोमल, अन्तररहित, समान प्रमाण वाली, सुन्दर लक्षणों से युक्त, सुजात, गोलाकार और पुष्ट होती हैं। उनकी श्रोणि—कटि अष्टापद—द्यूतविशेष खेलने के लहरदार पट्ट के समान आकार वाली, श्रेष्ठ और विस्तीर्ण होती है। वे मुख की लम्वाई के प्रमाण से अर्थात् वारह अंगुल से दुगुने अर्थात् चौवीस अंगुल विशाल, मांसल—पुष्ट, गढे हुए श्रेष्ठ जघन—कटिप्रदेश से नीचे के भाग—को धारण करने वाली होती हैं। उनका उदर वज्र के समान (मध्य में पतला) शोभायमान, शुभ लक्षणों से सम्पन्न एवं कृश होता है। उनके शरीर का मध्यभाग त्रिवलि—तीन रेखाओं से युक्त, कृश और नमित—झुका हुआ होता है। उनकी रोमराजि सीधी, एक-सी, परस्पर मिली हुई, स्वाभाविक, वारीक, काली, मुलायम, प्रशस्त, ललित, सुकुमार, कोमल और सुविभक्त—यथास्थानवर्त्ती होती है। उनकी नाभि गंगा नदी के भंवरों के समान, दक्षिणावर्त्त चक्कर वाली तरंगमाला जैसी, सूर्य की किरणों से ताजा खिले हुए और नहीं कुम्हलाए हुए कमल के समान गंभीर एवं विशाल होती है। उनकी कुक्षि अनुद्भट—नहीं उभरी हुई, प्रशस्त, सुन्दर और पुष्ट होती है। उनका पार्श्वभाग सन्नत—उचित प्रमाण में नीचे झुका, सुगठित और संगत होता है तथा प्रमाणोपेत, उचित मात्रा में रचित, पुष्ट और रतिद—प्रसन्नताप्रद होता है। उनकी गात्रयष्टि—देह पीठ की उभरी हुई अस्थि से रहित, शुद्ध स्वर्ण से निर्मित रुचक नामक आभूषण के समान निर्मल या स्वर्ण की कान्ति के समान सुगठित तथा नीरोग होती है। उनके दोनों पयोधर—स्तन स्वर्ण के दो कलशों के सदृश, प्रमाणयुक्त, उन्नत—उभरे हुए, कठोर तथा मनोहर चूची (स्तनाग्रभाग) वाले तथा गोलाकार होते हैं। उनकी भुजाएँ सर्प की आकृति सरीखी क्रमशः पतली, गाय की पूँछ के समान गोलाकार, एक-सी, शिथिलता से रहित, सुनमित, सुभग एवं ललित होती हैं। उनके नाखून ताम्रवर्ण—लालिमायुक्त होते हैं। उनके अग्रहस्त—कलाई या हथेली मांसल—पुष्ट होती है। उनकी अंगुलियाँ कोमल और पुष्ट होती हैं। उनकी हस्तरेखाएँ स्निग्ध—चिकनी होती हैं तथा चन्द्रमा, सूर्य, शंख, चक्र एवं स्वस्तिक के चिह्नों से अंकित एवं सुनिर्मित होती हैं। उनकी कांख और मलोत्सर्गस्थान पुष्ट तथा उन्नत होते हैं एवं कपोल परिपूर्ण तथा गोलाकार होते हैं। उनकी ग्रीवा चार अंगुल प्रमाण वाली एवं उत्तम शंख जैसी होती है। उनकी ठुड्डी मांस से पुष्ट, सुस्थिर तथा प्रशस्त होती है। उनके अधरोष्ठ—नीचे के होठ अनार के खिले फूल जैसे लाल, कान्तिमय, पुष्ट, कुछ

लम्बे, कुंचित—सिकुड़े हुए और उत्तम होते हैं। उनके उत्तरोष्ठ—ऊपर वाले होठ भी सुन्दर होते हैं। उनके दांत दही, पत्ते पर पड़ी बूंद, कुन्द के फूल, चन्द्रमा एवं चमेली की कली के समान श्वेत वर्ण, अन्तररहित—एक दूसरे से सटे हुए और उज्ज्वल होते हैं। वे रक्तोत्पल के समान लाल तथा कमलपत्र के सदृश कोमल तालु और जिह्वा वाली होती हैं। उनकी नासिका कनेर की कली के समान, वक्रता से रहित, आगे से ऊपर उठी, सीधी और ऊँची होती है। उनके नेत्र शरद्‌ऋतु के सूर्य-विकासी नवीन कमल, चन्द्रविकासी कुमुद तथा कुवलय—नील कमल के पत्तों के समूह के समान, शुभ लक्षणों से प्रशस्त, कुटिलता (तिर्छेपन) से रहित और कमनीय होते हैं। उनकी भौंहें किंचित् नमाये हुए धनुष के समान मनोहर, कृष्णवर्ण अभ्रराजि—मेघमाला के समान सुन्दर, पतली, काली और चिकनी होती हैं। उनके कान सटे हुए और समुचित प्रमाण से युक्त होते हैं। उनके कानों की श्रवणशक्ति अच्छी होती है। उनकी कपोलरेखा पुष्ट, साफ और चिकनी होती है। उनका ललाट चार अंगुल विस्तीर्ण और सम होता है। उनका मुख चन्द्रिकायुक्त निर्मल एवं परिपूर्ण चन्द्रमा के समान गोलाकार एवं सौम्य होता है। उनका मस्तक छत्र के सदृश उन्नत—उभरा हुआ होता है। उनके मस्तक के केश काले, चिकने और लम्बे-लम्बे होते हैं। वे निम्नलिखित उत्तम बत्तीस लक्षणों से सम्पन्न होती हैं—

(१) छत्र (२) ध्वजा (३) यज्ञस्तम्भ (४) स्तूप (५) दामिनी—माला (६) कमण्डलु (७) कलश (८) वापी (९) स्वस्तिक (१०) पताका (११) यव (१२) मत्स्य (१३) कच्छप (१४) प्रधान रथ (१५) मकरध्वज (कामदेव) (१६) वज्र (१७) थाल (१८) अंकुश (१९) अष्टापद—जुआ खेलने का पट्ट या वस्त्र (२०) स्थापनिका—ठवणी या ऊँचे पेंदे वाला प्याला (२१) देव (२२) लक्ष्मी का अभिषेक (२३) तोरण (२४) पृथ्वी (२५) समुद्र (२६) श्रेष्ठ भवन (२७) श्रेष्ठ पर्वत (२८) उत्तम दर्पण (२९) क्रीड़ा करता हुआ हाथी (३०) वृषभ (३१) सिंह और (३२) चमर।

उनकी चाल हंस जैसी और वाणी कोकिला के स्वर की तरह मधुर होती है। वे कमनीय कान्ति से युक्त और सभी को प्रिय लगती हैं। उनके शरीर पर न झुर्रियाँ पड़ती हैं, न उनके बाल सफेद होते हैं, न उनमें अंगहीनता होती है, न कुरूपता होती है। वे व्याधि, दुर्भाग्य—सुहाग-हीनता एवं शोक-चिन्ता से (आजीवन) मुक्त रहती हैं। ऊँचाई में पुरुषों से कुछ कम ऊँची होती हैं। शृंगार के आगार के समान और सुन्दर वेश-भूषा से सुशोभित होती हैं। उनके स्तन, जघन, मुख—चेहरा, हाथ, पाँव और नेत्र—सभी कुछ अत्यन्त सुन्दर होते हैं। लावण्य—सौन्दर्य, रूप और यौवन के गुणों से सम्पन्न होती हैं। वे नन्दन वन में विहार करने वाली अप्सराओं सरीखी उत्तरकुरु क्षेत्र की मानवी अप्सराएँ होती हैं। वे आश्चर्यपूर्वक दर्शनीय होती हैं, अर्थात् उन्हें देखकर उनके अद्‌भुत सौन्दर्य पर आश्चर्य होता है कि मानवी में भी इतना अपार सौन्दर्य संभव है! वे तीन पल्योपम की उत्कृष्ट—अधिक से अधिक मनुष्यायु को भोग कर भी—तीन पल्योपम जितने दीर्घ काल तक इष्ट एवं उत्कृष्ट मानवीय भोगोपभोगों का उपभोग करके भी कामभोगों से तृप्त नहीं हो पाती और अतृप्त रह कर ही कालधर्म—मृत्यु को प्राप्त होती हैं।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ में भोगभूमि की महिलाओं का विस्तृत वर्णन किया गया है। इस वर्णन में उनके शरीर का आ-नख-शिख वर्णन समाविष्ट हो गया है। उनके पैरों, अंगुलियों, नाखूनों जंघाओं, घुटनों आदि से लेकर मस्तक के केशों तक का पृथक्-पृथक् वर्णन है, जो विविध उपमाओं से अलंकृत है। इस शारीरिक सौन्दर्य के निरूपण के साथ ही उनकी हंस-सदृश गति और कोकिला-

सदृशी मधुर वाणी का भी कथन किया गया है। यह भी प्रतिपादन किया गया है कि वे सदा रोग और शोक से मुक्त, सदा सुहाग से सम्पन्न और सुखमय जीवन यापन करती हैं।

यह सब उनके वाह्य सौन्दर्य का प्रदर्शक है। उनकी आन्तरिक प्रकृति के विषय में यहाँ कोई उल्लेख नहीं है। इसका कारण यह है कि इससे पूर्व भोगभूमिज पुरुषों के वर्णन में जो प्रतिपादन किया जा चुका है, वह यहाँ भी समझ लेना है। तात्पर्य यह है कि वहाँ के मानव-पुरुष जैसे अल्पकषाय एवं सात्त्विक स्वभाव वाले होते हैं वैसे ही वहाँ की महिलाएँ भी होती हैं। जैसे पुरुष पूर्णतया निसर्ग-जीवी होते हैं वैसे ही नारियाँ भी सर्वथा निसर्ग—निर्भर होती हैं। प्रकृतिजीवी होने के कारण उनका समग्र शरीर सुन्दर होता है, नीरोग रहता है और अन्त तक उन्हें वार्धक्य की विडम्बना नहीं भुगतनी पड़ती। उन्हें सौन्दर्यवर्धन के लिए आधुनिक काल में प्रचलित अंजन, मंजन, पाउडर, नख-पालिस आदि वस्तुओं का उपयोग नहीं करना पड़ता और न ऐसी वस्तुओं का अस्तित्व वहाँ होता है। अभिप्राय यह है कि अकर्मभूमि की महिलाएँ तीन पल्योपम तक जीवित रहती हैं। यह जीवनमर्यादा मनुष्यों के लिए अधिकतम है। इससे अधिक काल का आयुष्य मनुष्य का असम्भव है। इतने लम्बे समय तक उनका यौवन अक्षुण्ण रहता है। उन्हें बुढापा आता नहीं। जीवन-पर्यन्त वे आनन्द, भोग-विलास में मग्न रहती हैं। फिर भी अन्त में भोगों से अतृप्त रह कर ही मरण को प्राप्त होती हैं। इसका कारण पूर्व में ही लिखा जा चुका है कि जैसे ईंधन से आग की भूख नहीं मिटती, उसी प्रकार भोगोपभोगों को भोगने से भोगतृष्णा शान्त नहीं होती—प्रत्युत अधिकाधिक वृद्धिगत ही होती जाती है। अतएव भोगतृष्णा को शान्त करने के लिए भोग-विरति की शरण लेना ही एक मात्र सदुपाय है।

परस्त्री में लुब्ध जीवों की दुर्दशा—

९०—मेहुणसण्णासंपगिद्धा य मोहभरिया सत्थेहिं हणंति एक्कमेक्कं।

विसयविसउदीरएसु अवरे परदारेहिं हम्मंति विसुणिया धणणासं सयणविप्पणासं य पाउणंति।

परस्स दाराओ जे अविरया मेहुणसण्णासंपगिद्धा य मोहभरिया अस्सा हत्थी गवा य महिसा मिगा य मारेंति एक्कमेक्कं।

मणुयगणा वाणरा य पक्खी य विरुज्झंति, मित्ताणि खिप्पं हवंति सत्तू।

समए धम्मे गणे य भिंदंति पारदारी।

धम्मगुणरया य बंभयारी खणेण उल्लोट्टए चरित्ताओ।

जसमंतो सुव्वया य पावेंति अयसकित्ति।

रोगत्ता वाहिया पवड्ढेंति रोगवाही।

दुवे य लोया दुआराहगा हवंति-इहलोए चेव परलोए परस्स दाराओ जे अविरया।

तहेव केइ परस्स दारं गवेसमाणा गहिया य हया य बद्धरुद्धा य एवं जाव गच्छंति विउलमोहा-भिभूयसण्णा।

९०—जो मनुष्य मैथुनसंज्ञा में अर्थात् मैथुन सेवन की वासना में अत्यन्त आसक्त हैं और मोहभृत अर्थात् मूढता अथवा कामवासना से भरे हुए हैं, वे आपस में एक दूसरे का शस्त्रों से घात करते हैं।

कोई-कोई विषयरूपी विष की उदीरणा करने वाली—बढ़ाने वाली परकीय स्त्रियों में प्रवृत्त होकर अथवा विषय-विष के वशीभूत होकर परस्त्रियों में प्रवृत्त होकर दूसरों के द्वारा मारे जाते हैं। जब उनकी परस्त्रीलम्पटता प्रकट हो जाती है तब (राजा या राज्य-शासन द्वारा) धन का विनाश और स्वजनों—आत्मीय जनों का सर्वथा नाश प्राप्त करते हैं, अर्थात् उनकी सम्पत्ति और कुटुम्ब का नाश हो जाता है।

जो परस्त्रियों से विरत नहीं हैं और मैथुनसवन की वासना में अतीव आसक्त हैं और मूढता या मोह से भरपूर हैं, ऐसे घोड़े, हाथी, बैल, भैंसे और मृग—वन्य पशु परस्पर लड़ कर एक-दूसरे को मार डालते हैं।

मनुष्यगण, बन्दर और पक्षीगण भी मैथुनसंज्ञा के कारण परस्पर विरोधी बन जाते हैं।

मित्र शीघ्र ही शत्रु बन जाते हैं।

परस्त्रीगामी पुरुष समय-सिद्धान्तों या शपथों को, अहिंसा, सत्य आदि धर्मों को तथा गण—समान आचार-विचार वाले समूह को या समाज की मर्यादाओं को भंग कर देते हैं, अर्थात् धार्मिक एवं सामाजिक मर्यादाओं का लोप कर देते हैं। यहाँ तक कि धर्म और संयमादि गुणों में निरत ब्रह्मचारी पुरुष भी मैथुनसंज्ञा के वशीभूत होकर क्षण भर में चारित्र—संयम से भ्रष्ट हो जाते हैं।

बड़े-बड़े यशस्वी और व्रतों का समीचीन रूप से पालन करने वाले भी अपयश और अपकीर्त्ति के भागी बन जाते हैं।

ज्वर आदि रोगों से ग्रस्त तथा कोढ आदि व्याधियों से पीडित प्राणी मैथुनसंज्ञा की तीव्रता की बदौलत रोग और व्याधि की अधिक वृद्धि कर लेते हैं, अर्थात् मैथुन—सेवन की अधिकता रोगों को और व्याधियों को बढ़ावा देती है।

जो मनुष्य परस्त्री से विरत नहीं हैं, वे दोनों लोकों में, इहलोक और परलोक में दुराराधक होते हैं, अर्थात् इहलोक में और परलोक में भी आराधना करना उनके लिए कठिन है।

इसी प्रकार परस्त्री की फिराक—तलाश-खोज में रहने वाले कोई-कोई मनुष्य जब पकड़े जाते हैं तो पीटे जाते हैं, बन्धनबद्ध किए जाते हैं और कारागार में बंद कर दिए जाते हैं।

इस प्रकार जिनकी बुद्धि तीव्र मोह या मोहनीय कर्म के उदय से नष्ट हो जाती है, वे यावत्[1] अधोगति को प्राप्त होते हैं।

विवेचन—मूल पाठ में सामान्यतया मैथुनसंज्ञा से उत्पन्न होने वाले अनेक अनर्थों का उल्लेख किया गया है और विशेष रूप से परस्त्रीगमन के दुष्परिणाम प्रकट किए गए हैं।

मानव के मन में जब तीव्र मैथुनसंज्ञा—कामवासना उभरती है तब उसकी मति विपरीत हो जाती है और उसका विवेक—कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यबोध विलीन हो जाता है। वह अपने हिताहित का, भविष्य में होने वाले भयानक परिणामों का सम्यक् विचार करने में असमर्थ बन जाता है। इसी कारण उसे विषयान्ध कहा जाता है। उस समय वह अपने यश, कुल, शील आदि का तनिक भी विचार नहीं कर सकता। कहा है—

---

१. 'यावत्' शब्द से यहाँ तृतीय आस्रवद्वार का 'गहिया य हया य बद्ध रुद्धा य' यहाँ से आगे 'निरये गच्छति निरभिरामे' यहाँ तक का पाठ समझ लेना चाहिए। —अभय. टीका पृ. ८६.

धर्मं शीलं कुलाचारं, शौर्य स्नेहञ्च मानवाः ।
तावदेव ह्यपेक्षन्ते, यावन्न स्त्रीवशो भवेत् ॥

अर्थात् मनुष्य अपने धर्म की, अपने शील की, शौर्य और स्नेह की तभी तक परवाह करते हैं, जब तक वे स्त्री के वशीभूत नहीं होते ।

सूत्र में 'विषयविसस्स उदीरएसु' कह कर स्त्रियों को विषय रूपी विष की उदीरणा या उद्रेक करने वाली कहा गया है । यही कथन पुरुषवर्ग पर भी समान रूप से लागू होता है, अर्थात् पुरुष, स्त्रीजनों में विषय-विष का उद्रेक करने वाले होते हैं । इस कथन का अभिप्राय यह है कि जैसे स्त्री के दर्शन, सान्निध्य, संस्पर्श आदि से पुरुष में काम-वासना का उद्रेक होता है, उसी प्रकार पुरुष के दर्शन, सान्निध्य आदि से स्त्रियों में वासना की उदीरणा होती है । स्त्री और पुरुष दोनों ही एक-दूसरे की वासनावृद्धि में बाह्य निमित्तकारण होते हैं । उपादानकारण पुरुष की या स्त्री की आत्मा स्वयं ही है । अन्तरंग निमित्तकारण वेदमोहनीय आदि का उदय है तथा बहिरंग निमित्तकारण स्त्री-पुरुष के शरीर आदि हैं । बाह्य निमित्त मिलने पर वेद-मोहनीय की उदीरणा होती है । मैथुन-संज्ञा की उत्पत्ति के कारण बतलाते हुए कहा गया है—

पणीदरसभोयणेण य तस्सुवजोगे कुसीलसेवाए ।
वेदस्सुदीरणाए, मेहुणसण्णा हवदि एवं ॥

अर्थात् इन्द्रियों को उत्तेजित करने वाले गरिष्ठ रसीले भोजन से, पहले सेवन किये गए विषय-सेवन का स्मरण करने से, कुशील के सेवन से और वेद-मोहनीयकर्म की उदीरणा से मैथुनसंज्ञा उत्पन्न होती है ।

इसी कारण मैथुनसंज्ञा के उद्रेक से बचने के लिए ब्रह्मचर्य की नौ बाडों का विधान किया है ।

सूत्र में 'गण' शब्द का प्रयोग 'समाज' के अर्थ में किया गया है । मानवों का वह समूह गण कहलाता है जिनका आचार-विचार और रहन-सहन समान होता है । परस्त्रीलम्पट पुरुष समाज की उपयोगी और लाभकारी मर्यादाओं को भंग कर देता है । वह शास्त्राज्ञा की परवाह नहीं करता, धर्म का विचार नहीं करता तथा शील और सदाचार को एक किनारे रख देता है । ऐसा करके वह सामाजिक शान्ति को ही भंग नहीं करता, किन्तु अपने जीवन को भी दुःखमय बना लेता है । वह नाना व्याधियों से ग्रस्त हो जाता है, अपयश का पात्र बनता है, निन्दनीय होता है और परलोक में भव-भवान्तर तक घोर यातनाओं का पात्र बनता है । चोरी के फल-विपाक के समान अब्रह्म का फलविपाक भी यहाँ जान लेना चाहिए ।

अब्रह्मचर्य का दुष्परिणाम—

९१—मेहुणमूलं य सुव्वए तत्थ तत्थ वत्तपुव्वा संगामा जणक्खयकरा सीयाए, दोवईए कए, रुप्पिणीए, पउमावईए, ताराए, कंचणाए, रत्तसुभद्दाए, अहिल्लियाए, सुवण्णगुलियाए, किण्णरीए,

सुरूवविज्जुमईए, रोहिणीए[1] य, अण्णेसु य एवमाइएसु बहवे महिलाकएसु सुव्वंति अइक्कंता संगामा गामधम्ममूला अबंभसेविणो[2]।

इहलोए ताव णट्ठा[3], परलोए वि य णट्ठा महया मोहतिमिसंधयारे घोरे तसथावरसुहुमबायरेसु पज्जत्तमपज्जत्त-साहारणसरीरपत्तेयसरीरेसु य अंडय-पोयय-जराउय-रसय-संसेइम-सम्मुच्छिम-उब्भिय-उववाइएसु य णरय-तिरिय-देव-माणुसेसु जरामरणरोगसोगबहुले पलिओवमसागरोवमाइं अणाईयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंत-संसार-कंतारं अणुपरियट्टंति जीवा मोहवससण्णिविट्ठा।

९१—सीता के लिए, द्रौपदी के लिए, रुक्मिणी के लिए, पद्मावती के लिए, तारा के लिए, काञ्चना के लिए, रक्तसुभद्रा के लिए, अहिल्या के लिए, स्वर्णगुटिका के लिए, किन्नरी के लिए, सुरूपविद्युन्मती के लिए और रोहिणी के लिए पूर्वकाल में मनुष्यों का संहार करने वाले विभिन्न ग्रन्थों में वर्णित जो संग्राम हुए सुने जाते हैं, उनका मूल कारण मैथुन ही था—मैथुन सम्वन्धी वासना के कारण ये सव महायुद्ध हुए हैं। इनके अतिरिक्त महिलाओं के निमित्त से अन्य संग्राम भी हुए हैं, जो अब्रह्ममूलक थे।

अब्रह्म का सेवन करने वाले इस लोक में तो नष्ट होते ही हैं, वे परलोक में भी नष्ट होते हैं।

मोहवशीभूत प्राणी पर्याप्त और अपर्याप्त, साधारण और प्रत्येकशरीरी जीवों में, अण्डज (अंडे से उत्पन्न होने वाले), पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदिम, उद्‌भिज्ज और औपपातिक जीवों में, इस प्रकार नरक, तिर्यंच, देव और मनुष्यगति के जीवों में, अर्थात् जरा, मरण, रोग और शोक की वहुलता वाले, महामोहरूपी अंधकार से व्याप्त एवं घोर-दारुण परलोक में अनेक पल्योपमों एवं सागरोपमों जितने सुदीर्घ काल पर्यन्त नष्ट-विनष्ट होते रहते हैं—वर्वाद होते रहते हैं—दारुण दशा भोगते हैं तथा अनादि और अनन्त, दीर्घ मार्ग वाले और चार गति वाले संसार रूपी अटवी में वार-वार परिभ्रमण करते रहते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में प्राचीनकाल में स्त्रियों के निमित्त हुए संग्रामों का उल्लेख करते हुए सीता, द्रौपदी आदि के नामों का निर्देश किया गया है। किन्तु इनके अतिरिक्त भी सैकड़ों अन्य उदाहरण इतिहास में विद्यमान हैं। परस्त्रीलम्पटता के कारण आए दिन होने वाली हत्याओं के समाचार आज भी वृत्तपत्रों में अनायास ही पढ़ने को मिलते रहते हैं।

परस्त्रीगमन वास्तव में अत्यन्त अनर्थकारी पाप है। इसके कारण परस्त्रीगामी की आत्मा कलुषित होती है और उसका वर्त्तमान भव ही नहीं, भविष्य भी अतिशय दुःख पूर्ण वन जाता है। साथ ही अन्य निरपराध सहस्रों ही नहीं, लाखों और कभी-कभी करोड़ों मनुष्यों को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ता है। रुधिर की नदियाँ वहती हैं। देश को भारी क्षति सहनी पड़ती है। अतएव यह पाप वड़ा ही दारुण है। सूत्र में निर्दिष्ट नामों से संवद्ध कथाएँ परिशिष्ट में देखिये।

---

१. "रोहिणीए" पाठ ज्ञानविमलसूरि वाली प्रति में नहीं है, परन्तु टीका में उसका चरित दिया है। लगता है कि भूल से छूट गया है।

२. यहाँ "अवंभसेविणो"—पाठ श्री ज्ञानविमलसूरि वाली प्रति में अधिक है।

३. "ताव णट्ठा" के स्थान पर 'णट्ठकित्ती' पाठ भी है।

सूत्र में उल्लिखित संसारी जीवों के कतिपय भेद-प्रभेदों का अर्थ इस प्रकार है—

जन्म-मरण के चक्र में फँसे हुए जीव संसारी कहलाते हैं। जिन्हें मुक्ति प्राप्त नहीं हुई है वे जीव सदैव जन्म-मरण करते रहते हैं। ऐसे अनन्तानन्त जीव हैं। वे मुख्यत: दो भागों में विभक्त किये गये हैं—त्रस और स्थावर। केवल एक स्पर्शेन्द्रिय जिन्हें प्राप्त है ऐसे पृथ्वीकायिक, अप्कायिक आदि जीव स्थावर कहे जाते हैं और द्वीन्द्रियों से लेकर पंचेन्द्रियों तक के प्राणी त्रस हैं। इन संसारी जीवों का जन्म तीन प्रकार का है—गर्भ, उपपात और सम्मूर्च्छन। गर्भ से अर्थात् माता-पिता के रज और वीर्य के संयोग से जन्म लेने वाले प्राणी गर्भज कहलाते हैं।

गर्भज जीवों के तीन प्रकार हैं—जरायुज, अण्डज और पोतज। गर्भ को लपेटने वाली थैली—पतली झिल्ली जरायु कहलाती है और जरायु से लिपटे हुए जो मनुष्य, पशु आदि जन्म लेते हैं, वे जरायुज कहे जाते हैं। पक्षी और सर्पादि जो प्राणी अंडे द्वारा जन्म लेते हैं, उन्हें अण्डज कहते हैं। जो जरायु आदि के आवरण से रहित है, वह पोत कहलाता है। उससे जन्म लेने वाले पोतज प्राणी कहलाते हैं। ये पोतज प्राणी गर्भ से बाहर आते ही चलने-फिरने लगते हैं। हाथी, हिरण आदि इस वर्ग के प्राणी हैं।

देवों और नारक जीवों के जन्म के स्थान उपपात कहलाते हैं। उन स्थानों में उत्पन्न होने के कारण उन्हें औपपातिक कहते हैं।

गर्भज और औपपातिक जीवों के अतिरिक्त शेष जीव सम्मूर्च्छिम कहलाते हैं। इधर-उधर के पुद्गलों के मिलने से गर्भ के विना ही उनका जन्म हो जाता है। बिच्छू, मेंढक, कीड़े-मकोड़े आदि प्राणी इसी कोटि में परिगणित हैं। एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक के सभी जीव सम्मूर्च्छिम होते हैं। मनुष्यों के मल-मूत्र आदि में उत्पन्न होने वाले मानवरूप जीवाणु भी सम्मूर्च्छिम होते हैं।

सम्मूर्च्छिम जन्म से उत्पन्न होने वाले जीव कोई स्वेदज, कोई रसज और कोई उद्भिज्ज होते हैं। स्वेद अर्थात् पसीने से उत्पन्न होने वाले जूं आदि स्वेदज हैं। दूध, दही आदि रसों में उत्पन्न हो जाने वाले रसज और पृथ्वी को फोड़ कर उत्पन्न होने वाले उद्भिज्ज कहलाते हैं।

पर्याप्ति का शब्दार्थ है पूर्णता। जीव जब नया जन्म धारण करता है तो उसे नये सिरे से शरीर, इन्द्रिय आदि के निर्माण की शक्ति—क्षमता प्राप्त करनी पड़ती है। इस शक्ति की पूर्णता को जैन परिभाषा के अनुसार पर्याप्ति कहते हैं। इसे प्राप्त करने में अन्तर्मुहूर्त्त (४८ मिनट के अन्दर-अन्दर) का समय लगता है। जिस जीव की यह शक्ति पूर्णता पर पहुँच गई हो, वह पर्याप्त और जिसकी पूर्णता पर न पहुँच पाई हो, वह अपर्याप्त कहलाता है। ये अपर्याप्त जीव भी दो प्रकार के होते हैं। एक वे जिनकी शक्ति पूर्णता पर नहीं पहुँची किन्तु पहुँचने वाली है वे करण—अपर्याप्त कहलाते हैं। कुछ ऐसे भी जीव होते हैं जिनकी शक्ति पूर्णता को प्राप्त नहीं हुई है और होने वाली भी नहीं है। वह लब्ध्यपर्याप्त कहलाते हैं। ऐसे जीव अपने योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण किए विना ही पुन: मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।

कुल पर्याप्तियाँ छह हैं। उनमें से आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति और श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति—ये चार एकेन्द्रिय जीवों में, भाषापर्याप्ति के साथ पाँच पर्याप्तियाँ द्वीन्द्रियों से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवों में और मन सहित छहों पर्याप्तियाँ संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में होती हैं।

सूत्र में साधारण और प्रत्येकशरीरी जीवों का भी उल्लेख आया है। ये दोनों भेद वनस्पतिकायिक जीवों के हैं। जिस वनस्पति के एक शरीर के स्वामी अनन्त जीव हों, वे साधारण जीव कहलाते हैं और जिस वनस्पति के एक शरीर का स्वामी एक ही जीव हो, वह जीव प्रत्येकशरीर कहलाता है।

आशय यह है कि जो प्राणी अब्रह्म के पाप से विरत नहीं होते, उन्हें दीर्घकाल पर्यन्त जन्म-जरा-मरण की तथा अन्य अनेक प्रकार की भीषण एवं दुस्सह यातनाओं का भागी बनना पड़ता है।

९२—एसो सो अबंभस्स फलविवागो इहलोइओ परलोइओ य अप्पसुहो बहुदुक्खो महब्भओ बहुरयप्पगाढो दारुणो कक्कसो असाओ वाससहस्सेहिं मुच्चइ, ण य अवेयइत्ता अत्थि हु मोक्खोत्ति, एवमाहंसु णायकुलणंदणो महप्पा जिणो उ वीरवरणामधिज्जो कहेसी य अबंभस्स फलविवागं एयं। तं अबंभंवि चउत्थं सदेवमणुयासुरस्स लोयस्स पत्थणिज्जं एवं चिरपरिचियमणुगयं दुरंतं। त्तिबेमि।

॥ चउत्थं अहम्मदारं समत्तं ॥

९२—अब्रह्म रूप अधर्म का यह इहलोकसम्बन्धी और परलोकसम्बन्धी फल-विपाक है। यह अल्पसुख—सुख से रहित अथवा लेशमात्र सुख वाला किन्तु बहुत दुःखों वाला है। यह फल-विपाक अत्यन्त भयंकर है और अत्यधिक पाप-रज से संयुक्त है। बड़ा ही दारुण और कठोर है। असाता का जनक है—असातामय है। हजारों वर्षों में अर्थात् बहुत दीर्घकाल के पश्चात् इससे छुटकारा मिलता है, किन्तु इसे भोगे विना छुटकारा नहीं मिलता—भोगना ही पड़ता है। ऐसा ज्ञातकुल के नन्दन वीरवर—महावीर नामक महात्मा, जिनेन्द्र-तीर्थंकर ने कहा है और अब्रह्म का फल-विपाक प्रतिपादित किया है।

यह चौथा आस्रव अब्रह्म भी देवता, मनुष्य और असुर सहित समस्त लोक के प्राणियों द्वारा प्रार्थनीय—अभीप्सित है। इसी प्रकार यह चिरकाल से परिचित—अभ्यस्त, अनुगत—पीछे लगा हुआ और दुरन्त है—दुःखप्रद है अथवा बड़ी कठिनाई से इसका अन्त आता है।

विवेचन—चतुर्थ आस्रवद्वार का उपसंहार करते हुए सूत्रकार ने अब्रह्म के फल को अतिशय दुःखजनक, नाममात्र का—कल्पनामात्र जनित सुख का कारण बतलाते हुए कहा है कि यह आस्रव सभी संसारी जीवों के पीछे लगा है, चिरकाल से जुड़ा है। इसका अन्त करना कठिन है, अर्थात् इसका अन्त तो अवश्य हो सकता है किन्तु उसके लिए उत्कट संयम-साधना अनिवार्य है।

अब्रह्म के समग्र वर्णन एवं फलविपाक के कथन की प्रामाणिकता प्रदर्शित करने के लिए यह स्पष्ट कर दिया गया है कि अर्थ रूप में इसके मूल प्रवक्ता भगवान् महावीर जिनेन्द्र हैं।

□□

पञ्चम अध्ययन : परिग्रह

परिग्रह का स्वरूप

९३—जंबू ! इत्तो परिग्गहो पंचमो उ णियमा णाणामणि-कणग-रयण-महरिहपरिमलसपुत्त-दार-परिजण-दासी-दास-भयग-पेस-हय-गय-गो-महिस-उट्ट-खर-अय-गवेलग-सीया-सगड-रह-जाण-जुग्ग-संदण-सयणासण-वाहण-कुविय-धणधण्ण-पाण-भोयणाच्छायण-गंध-मल्ल-भायण-भवणविहिं चेव बहुविहीयं।

भरहं णग-णगर-णिगम-जणवय-पुरवर-दोणमुह-खेड-कब्बड-मडंब-संबाह-पट्टण-सहस्स-परिमंडियं।

थिमियमेइणीयं एगच्छत्तं ससागरं भुंजिऊण वसुहं, अपरिमियमणंत-तण्ह-मणुगय-महिच्छ-सारणिरयमूलो, लोहकलिकसायमहक्खंधो, चिंतासयणिचियविउलसालो, गारवपविरल्लियग्गविडवो, णियडि-तयापत्तपल्लवधरो पुप्फफलं जस्स कामभोगा, आयासविसूरणा कलह-पकंपियग्गसिहरो।

णरवईसंपूइओ बहुजणस्स हियय‌दइओ इमस्स मोक्खवरमोत्तिमग्गस्स फलिहभूओ।

चरिमं अहम्मदारं।

९३—श्री सुधर्मा स्वामी ने अपने प्रधान शिष्य जम्बू स्वामी से कहा—हे जम्बू ! चौथे अब्रह्म नामक आस्रवद्वार के अनन्तर यह पाँचवाँ परिग्रह (आस्रव) है। (इस परिग्रह का स्वरूप इस प्रकार है—)

अनेक मणियों, स्वर्ण, कर्केतन आदि रत्नों, बहुमूल्य सुगंधमय पदार्थ, पुत्र और पत्नी समेत परिवार, दासी-दास, भृतक—काम करने वाले नौकर-चाकर, प्रेष्य—किसी कार्य के लिए भेजने योग्य कर्मचारी, घोड़े, हाथी, गाय, भैंस, ऊंट, गधा, बकरा और गवेलक (एक विशिष्ट जाति के बकरे, भेड़ें), शिविका—पालकी, शकट-गाड़ी—छकड़ा, रथ, यान, युग्य—दो हाथ लम्बी विशेष प्रकार की सवारी, स्यन्दन—क्रीडारथ, शयन, आसन, वाहन तथा कुप्य—घर के उपयोग में आने वाला विविध प्रकार का सामान, धन, धान्य—गेहूँ, चावल आदि, पेय पदार्थ, भोजन—भोज्य वस्तु, आच्छादन—पहनने-ओढ़ने के वस्त्र, गन्ध—कपूर आदि, माला—फूलों की माला, वर्तन-भांडे तथा भवन आदि के अनेक प्रकार के विधानों को (भोग लेने पर भी)—

और हजारों पर्वतों, नगरों (कर-रहित वस्तियों), निगमों (व्यापारप्रधान मंडियों), जनपदों (देशों या प्रदेशों), महानगरों, द्रोणमुखों (जलमार्ग और स्थलमार्ग से जुड़े नगरों), खेट (चारों ओर धूल के कोट वाली वस्तियों), कर्वटों—छोटे नगरों—कस्बों, मडंबों—जिनके आसपास अढ़ाई-अढ़ाई कोस तक वस्ती न हो ऐसी वस्तियों, संवाहों तथा पत्तनों—जहाँ नाना प्रदेशों से वस्तुएँ खरीदने के लिए लोग आते हैं अथवा जहाँ रत्नों आदि का विशेष रूप से व्यापार होता हो ऐसे बड़े नगरों से सुशोभित भरतक्षेत्र—भारतवर्ष को भोग कर भी अर्थात् सम्पूर्ण भारतवर्ष का आधिपत्य भोग लेने पर भी, तथा—

जहाँ के निवासी निर्भय निवास करते हैं ऐसी सागरपर्यन्त पृथ्वी को एकच्छत्र—अखण्ड राज्य करके भोगने पर भी (परिग्रह से तृप्ति नहीं होती)।

(परिग्रह वृक्ष सरीखा है। उस का वर्णन इस प्रकार है—)

कभी और कहीं जिसका अन्त नहीं आता ऐसी अपरिमित एवं अनन्त तृष्णा रूप महती इच्छा ही अक्षय एवं अशुभ फल वाले इस वृक्ष के मूल हैं। लोभ, कलि-कलह-लड़ाई-झगड़ा और क्रोधादि कषाय इसके महास्कन्ध हैं। चिन्ता, मानसिक सन्ताप आदि की अधिकता से अथवा निरन्तर उत्पन्न होने वाली सैकड़ों चिन्ताओं से यह विस्तीर्ण शाखाओं वाला है। ऋद्धि, रस और साता रूप गौरव ही इसके विस्तीर्ण शाखाग्र—शाखाओं के अग्रभाग हैं। निकृति—दूसरों को ठगने के लिए की जाने वाली वंचना—ठगाई या कपट ही इस वृक्ष के त्वचा—छाल, पत्र और पुष्प हैं। इनको यह धारण करने वाला है। काम-भोग ही इस वृक्ष के पुष्प और फल हैं। शारीरिक श्रम, मानसिक खेद और कलह ही इसका कम्पायमान अग्रशिखर—ऊपरी भाग है।

यह परिग्रह (रूप आस्रव—अधर्म) राजा-महाराजाओं द्वारा सम्मानित है, बहुत—अधिकांश लोगों का हृदय-वल्लभ—अत्यन्त प्यारा है और मोक्ष के निर्लोभता रूप मार्ग के लिए अर्गला के समान है, अर्थात् मुक्ति का उपाय निर्लोभता—अकिंचनता-ममत्वहीनता है और परिग्रह उसका बाधक है।

यह अन्तिम अधर्मद्वार है।

विवेचन—चौथे अब्रह्म नामक आस्रवद्वार का विस्तारपूर्वक वर्णन करने के पश्चात् सूत्रकार ने परिग्रह नामक पाँचवें आस्रवद्वार का निरूपण किया है। जैनागमों में आस्रवद्वारों का सर्वत्र यही क्रम प्रचलित है। इसी क्रम का यहाँ अनुसरण किया गया है। अब्रह्म के साथ परिग्रह का सम्बन्ध बतलाते हुए श्री अभयदेवसूरि ने अपनी टीका में लिखा है—परिग्रह के होने पर ही अब्रह्म आस्रव होता है, अतएव अब्रह्म के अनन्तर परिग्रह का निरूपण किया गया है।[1]

सूत्रकार ने मूल पाठ में **'परिग्गहो पंचमो'** कहकर इसे पाँचवाँ बतलाया है। इसका तात्पर्य इतना ही है कि सूत्रक्रम की अपेक्षा से ही इसे पाँचवाँ कहा है, किसी अन्य अपेक्षा से नहीं।[2]

सूत्र का आशय सुगम है। विस्तृत विवेचन की आवश्यकता नहीं है। भावार्थ इतना ही है कि नाना प्रकार की मणियों, रत्नों, स्वर्ण आदि मूल्यवान् अचेतन वस्तुओं का, हाथी, अश्व, दास-दासियों, नौकर-चाकरों आदि का, रथ-पालकी आदि सवारियों का, नग (पर्वत) नगर आदि से युक्त समुद्रपर्यन्त सम्पूर्ण भरतक्षेत्र का, यहाँ तक कि सम्पूर्ण पृथ्वी के अखण्ड साम्राज्य का उपभोग कर लेने पर भी मनुष्य की तृष्णा शान्त नहीं होती है। 'जहा लाहो तहा लोहो' अर्थात् ज्यों-ज्यों लाभ होता जाता है, त्यों-त्यों लोभ अधिकाधिक बढ़ता जाता है। वस्तुतः लाभ लोभ का वर्धक है। अतएव परिग्रह की वृद्धि करके जो सन्तोष प्राप्त करना चाहते हैं, वे आग में घी होम कर उसे बुझाने का प्रयत्न करना चाहते हैं। यदि घृताहुति से अग्नि बुझ नहीं सकती, अधिकाधिक ही प्रज्वलित होती है तो परिग्रह की

---

१. अभय. टीका, पृ. ९१ (पूर्वार्ध)

२. अभय. टीका, पृ. ९१ (उत्तरार्ध)

वृद्धि से सन्तुष्टि प्राप्त होना भी असंभव है। लोभ को शान्त करने का एक मात्र उपाय है शौच—निर्लोभता-मुक्ति धर्म का आचरण। जो महामानव अपने मानस में सन्तोषवृत्ति को परिपुष्ट कर लेते हैं, तृष्णा-लोभ-लालसा से विरत हो जाते हैं, वे ही परिग्रह के पिशाच से मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं।

परिग्रह के गुणनिष्पन्न नाम—

९४—तस्स य णामाणि गोण्णाणि होंति तीसं, तं जहा—१ परिग्गहो २ संचयो ३ चयो ४ उवचयो ५ णिहाणं ६ संभारो ७ संकरो ८ आयरो ९ पिंडो १० दव्वसारो ११ तहा महिच्छा १२ पडिबंधो १३ लोहप्पा १४ महद्दी १५ उवकरणं १६ संरक्खणा य १७ भारो १८ संपाउप्पायओ १९ कलिकरंडो २० पवित्थरो २१ अणत्थो २२ संथवो २३ [1]अगुत्ति २४ आयासो २५ अविओगो २६ अमुत्ती २७ तण्हा २८ अणत्थओ २९ आसत्ती ३० असंतोसो त्ति वि य, तस्स एयाणि एवमाईणि णामधिज्जाणि होंति तीसं।

९४—उस परिग्रह नामक अधर्म के गुणनिष्पन्न अर्थात् उसके गुण-स्वरूप को प्रकट करने वाले तीस नाम हैं। वे नाम इस प्रकार हैं—

१. **परिग्रह**—शरीर, धन, धान्य आदि वाह्य पदार्थों को ममत्वभाव से ग्रहण करना।

२. **संचय**—किसी भी वस्तु को अधिक मात्रा में ग्रहण करना।

३. **चय**—वस्तुओं को जुटाना—एकत्र करना।

४. **उपचय**—प्राप्त पदार्थों की वृद्धि करना—वढ़ाते जाना।

५. **निधान**—धन को भूमि में गाड़ कर रखना, तिजोरी में रखना या वैंक में जमा करवा कर रखना, दवा कर रख लेना।

६. **सम्भार**—धान्य आदि वस्तुओं को अधिक मात्रा में भर कर रखना। वस्त्र आदि को पेटियों में भर कर रखना।

७. **संकर**—संकर का सामान्य अर्थ है—भेल-सेल करना। यहाँ इसका विशेप अभिप्राय है—मूल्यवान् पदार्थों में अल्पमूल्य वस्तु मिला कर रखना, जिससे कोई वहुमूल्य वस्तु को जल्दी जान न सके और ग्रहण न कर ले।

८. **आदर**—पर-पदार्थों में आदरवुद्धि रखना, शरीर, धन आदि को अत्यन्त प्रीतिभाव से संभालना-संवारना आदि।

९. **पिण्ड**—किसी पदार्थ का या विभिन्न पदार्थों का ढेर करना, उन्हें लालच से प्रेरित होकर एकत्रित करना।

१०. **द्रव्यसार**—द्रव्य अर्थात् धन को ही सारभूत समझना। धन को प्राणों से भी अधिक मानकर प्राणों को—जीवन को संकट में डाल कर भी धन के लिए यत्नशील रहना।

---

१. श्री ज्ञानविमलीय प्रति में २३ वाँ नाम 'अकित्ति' है और 'अगुत्ति' तथा 'आयासो' को एक ही गिना है।

११. **महेच्छा**—असीम इच्छा या असीम इच्छा का कारण ।

१२. **प्रतिबन्ध**—किसी पदार्थ के साथ बँध जाना, जकड़ जाना । जैसे भ्रमर सुगन्ध की लालच में कमल को भेदन करने की शक्ति होने पर भी भेद नहीं सकता, कोश में बन्द हो जाता है (और कभी-कभी मृत्यु का ग्रास बन जाता है) । इसी प्रकार स्त्री, धन आदि के मोह में जकड़ जाना, उसे छोड़ना चाह कर भी छोड़ न पाना ।

१३. **लोभात्मा**—लोभ का स्वभाव, लोभरूप मनोवृत्ति ।

१४. **महद्दिका**—(**महर्धिका**)—महती आकांक्षा अथवा याचना ।

१५. **उपकरण**—जीवनोपयोगी साधन-सामग्री । वास्तविक आवश्यकता का विचार न करके ऊलजलूल—अनापसनाप साधनसामग्री एकत्र करना ।

१६. **संरक्षणा**—प्राप्त पदार्थों का आसक्तिपूर्वक संरक्षण करना ।

१७. **भार**—परिग्रह जीवन के लिए भारभूत है, अतएव उसे भार नाम दिया गया है । परिग्रह के त्यागी महात्मा हल्के—लघुभूत होकर निश्चिन्त, निर्भय विचरते हैं ।

१८. **संपातोत्पादक**—नाना प्रकार के संकल्पों-विकल्पों का उत्पादक, अनेक अनर्थों एवं उपद्रवों का जनक ।

१९. **कलिकरण्ड**—कलह का पिटारा । परिग्रह कलह, युद्ध, वैर, विरोध, संघर्ष आदि का प्रमुख कारण है, अतएव इसे 'कलह का पिटारा' नाम दिया गया है ।

२० **प्रविस्तर**—धन-धान्य आदि का विस्तार । व्यापार-धन्धा आदि का फैलाव । यह सब परिग्रह का रूप है ।

२१. **अनर्थ**—परिग्रह नानाविध अनर्थों का प्रधान कारण है । परिग्रह-ममत्वबुद्धि से प्रेरित एवं तृष्णा और लोभ से ग्रस्त होकर मनुष्य सभी अनर्थों का पात्र बन जाता है । उसे भीषण यातनाएँ भुगतनी पड़ती हैं ।

२२. **संस्तव**—संस्तव का अर्थ है परिचय—वारंवार निकट का सम्बन्ध । संस्तव मोह को—आसक्ति को बढ़ाता है । अतएव इसे संस्तव कहा गया है ।

२३. **अगुप्ति या अकीर्त्ति**—अपनी इच्छाओं या कामनाओं का गोपन न करना, उन पर नियन्त्रण न रखकर स्वच्छन्द छोड़ देना—बढ़ने देना ।

'अगुप्ति' के स्थान पर कहीं 'अकीर्त्ति' नाम उपलब्ध होता है । परिग्रह अपकीर्त्ति—अपयश का कारण होने से उसे अकीर्त्ति भी कहते हैं ।

२४. **आयास**—आयास का अर्थ है—खेद या प्रयास । परिग्रह जुटाने के लिए मानसिक और शारीरिक खेद होता है, प्रयास करना पड़ता है । अतएव यह आयास है ।

२५. **अवियोग**—विभिन्न पदार्थों के रूप में—धन, मकान या दुकान आदि के रूप में जो परिग्रह एकत्र किया है, उसे विछुड़ने न देना । चमड़ी चली जाए पर दमड़ी न जाए, ऐसी वृत्ति ।

२६. अमुक्ति—मुक्ति अर्थात् निर्लोभता। उसका न होना अर्थात् लोभ की वृत्ति होना। यह मानसिक भाव परिग्रह है।

२७. तृष्णा—अप्राप्त पदार्थों की लालसा और प्राप्त वस्तुओं की वृद्धि की अभिलाषा तृष्णा है। तृष्णा परिग्रह का मूल है।

२८. अनर्थक—परिग्रह का एक नाम 'अनर्थ' पूर्व में कहा जा चुका है। वहाँ अनर्थ का आशय उपद्रव, झंझट या दुष्परिणाम से था। यहाँ अनर्थक का अर्थ 'निरर्थक' है। पारमार्थिक हित और सुख के लिए परिग्रह निरर्थक—निरुपयोगी है। इतना ही नहीं, वह वास्तविक हित और सुख में बाधक भी है।

२९. आसक्ति—ममता, मूर्च्छा, गृद्धि।

३०. असन्तोष—असन्तोष भी परिग्रह का एक रूप है। मन में बाह्य पदार्थों के प्रति सन्तुष्टि न होना। भले ही पदार्थ न हों परन्तु अन्तरस् में यदि असन्तोष है तो वह भी परिग्रह है।

विवेचन—'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो' इस आगमोक्ति के अनुसार यद्यपि मूर्च्छा—ममता परिग्रह है, तथापि जिनागम में सभी कथन सापेक्ष होते हैं। अतएव परिग्रह के स्वरूप का प्रतिपादन करने वाला यह कथन भाव की अपेक्षा से समझना चाहिए। ममत्वभाव परिग्रह है और ममत्वपूर्वक ग्रहण किए जाने वाले धन्य-धान्य, महल-मकान, कुटुम्ब-परिवार, यहाँ तक कि शरीर भी परिग्रह हैं। ये द्रव्यपरिग्रह हैं।

इस प्रकार परिग्रह मूलतः दो प्रकार का है—आभ्यन्तर और बाह्य। इन्हीं को भावपरिग्रह और द्रव्यपरिग्रह कहते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में परिग्रह के जो तीस नाम गिनाए गए हैं, उन पर गम्भीरता के साथ विचार करने पर यह आशय स्पष्ट हो जाता है। इन नामों में दोनों प्रकार के परिग्रहों का समावेश किया गया है। प्रारम्भ में प्रथम नाम सामान्य परिग्रह का वाचक है। उसके पश्चात् संचय, चय, उपचय, निधान, संभार, संकर आदि कतिपय नाम प्रधानतः द्रव्य अथवा बाह्य परिग्रह को सूचित करते हैं। महिच्छा, प्रतिबन्ध, लोभात्मा, अगुप्ति, तृष्णा, आसक्ति, असन्तोष आदि कतिपय नाम आभ्यन्तर—भावपरिग्रह के वाचक हैं। इस प्रकार सूत्रकार ने द्रव्यपरिग्रह और भावपरिग्रह का नामोल्लेख किए बिना ही दोनों प्रकार के परिग्रहों का इन तीस नामों में समावेश कर दिया है।

अध्ययन के प्रारम्भ में परिग्रह को वृक्ष की उपमा दी गई है। वृक्ष के छोटे-बड़े अनेक अंगोपांग—अवयव होते हैं। इसी प्रकार परिग्रह के भी अनेक अंगोपांग हैं। अनेकानेक रूप हैं। उन्हें समझाने की दृष्टि से यहाँ तीस नामों का उल्लेख किया गया है।

यहाँ यह तथ्य स्मरण रखने योग्य है कि भावपरिग्रह अर्थात् ममत्वबुद्धि एकान्त परिग्रहरूप है। द्रव्यपरिग्रह अर्थात् बाह्य पदार्थ तभी परिग्रह बनते हैं, जब उन्हें ममत्वपूर्वक ग्रहण किया जाता है।

तीस नामों में एक नाम 'अणत्थओ' अर्थात् अनर्थक भी है। इस नाम से सूचित होता है कि जीवननिर्वाह के लिए जो वस्तु अनिवार्य नहीं है, उसको ग्रहण करना भी परिग्रह ही है।

इस प्रकार ये तीस नाम परिग्रह के विराट् रूप को सूचित करते हैं। शान्ति, सन्तोष, समाधि और आनन्दमय जीवन यापन करने वालों को परिग्रह के इन रूपों को भलीभाँति समझ कर त्यागना चाहिए।

परिग्रह के पाश में देव एवं मनुष्य गण भी बंधे हैं—

९५—तं च पुण परिग्गहं ममायंति लोहघत्था भवणवर-विमाण-वासिणो परिग्गहरुई परिग्गहे विविहकरणबुद्धी देवणिकाया य असुर-भुयग-गरुल-विज्जु-जलण-दीव-उदहि-दिसि-पवण-थणिय-अणवण्णिय-पणवण्णिय-इसिवाइय-भूयवइय-कंदिय-महाकंदिय-कुहंड-पयंगदेवा पिसाय-भूय-जक्ख-रक्खस-किण्णर-किंपुरिस-महोरग-गंधव्वा य तिरियवासी। पंचविहा जोइसिया य देवा वहस्सई-चंद-सूर-सुक्क-सणिच्छरा राहु-धूमकेउ-बुहा य अंगारका य तत्ततवणिज्जकणयवण्णा जे य गहा जोइसम्मि चारं चरंति, केऊ य गइरईया अट्ठावीसइविहा य णक्खत्तदेवगणा णाणासंठाणसंठियाओ य तारगाओ ठियलेस्सा चारिणो य अविस्साम-मंडलगई उवरिचरा।

उड्ढलोयवासी दुविहा वेमाणिया य देवा सोहम्मी-साण-सणंकुमार-माहिंद-बंभलोय-लंतक-महासुक्क-सहस्सार-आणय-पाणय-आरण-अच्चुया कप्पवरविमाणवासिणो सुरगणा, गेविज्जा अणुत्तरा दुविहा कप्पाईया विमाणवासी महिड्डिया उत्तमा सुरवरा एवं च ते चउव्विहा सपरिसा वि देवा ममायंति भवण-वाहण-जाण-विमाण-सयणासणाणि य णाणाविहवत्थभूसणाए वरपहरणाणि य णाणामणिपंचवण्णदिव्वं य भायणविहिं णाणाविहकामरूवे वेउव्वियअच्छरगणसंघाते दीव-समुद्दे दिसाओ विदिसाओ चेइयाणि वणसंडे पव्वए य गामणयराणि य आरामुज्जाणकाणणाणि य कूव-सर-तलाग-वावि-दीहिय-देवकुल-सभप्पव-वसहिमाइयाइं बहुयाइं कित्तणाणि य परिगिण्हित्ता परिग्गहं विउलदव्वसारं देवावि सइंदगा ण तित्ति ण तुट्ठि उवलभंति। अच्चंत-विउललोहाभिभूयसत्ता वासहर-इक्खुगार-वट्ट-पव्वय-कुंडल-रुयग-वरमाणुसोत्तर-कालोदहि-लवण-सलिल-दहपइ-रइकर-अंजणक-सेल-दहिमुह-ओवाउप्पाय-कंचणक-चित्त-विचित्त-जमकवरिसिहरिकूडवासी।

वक्खार-अकम्मभूमिसु सुविभत्तभागदेसासु कम्मभूमिसु जे वि य णरा चाउरंतचक्कवट्टी वासुदेवा बलदेवा मंडलीया इस्सरा तलवरा सेणावई इब्भा सेट्ठी रट्ठिया पुरोहिया कुमारा दंडणायगा माडंबिया सत्थवाहा कोडुंबिया अमच्चा एए अण्णे य एवमाई परिग्गहं संचिणंति अणंत असरणं दुरंतं अधुवमणिच्चं असासयं पावकम्मणेम्मं अवकिरियव्वं विणासमूलं वहबंधपरिकिलेसबहुलं अणंतसंकिलेस-कारणं, ते तं धणकणगरयणणिचयं पिंडिया चेव लोहघत्था संसारं अइवयंति सव्वदुक्खसंणिलयणं।

९५—उस (पूर्वोक्त स्वरूप वाले) परिग्रह को लोभ से ग्रस्त—लालच के जाल में फँसे हुए, परिग्रह के प्रति रुचि रखने वाले, उत्तम भवनों में और विमानों में निवास करने वाले (भवनवासी एवं वैमानिक) ममत्वपूर्वक ग्रहण करते हैं। नाना प्रकार से परिग्रह को संचित करने की बुद्धि वाले देवों के निकाय—समूह, यथा—असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, विद्युत्कुमार, ज्वलन (अग्नि)-

कुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिक्कुमार, पवनकुमार, स्तनितकुमार (ये दस प्रकार के भवनवासी देव) तथा अणपन्निक, पणपन्निक, ऋषिवादिक, भूतवादिक, क्रन्दित, महाक्रन्दित, कूष्माण्ड और पतंग (ये व्यन्तरनिकाय के अन्तर्गत देव) और (पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, महोरग एवं गन्धर्व, ये महर्द्धिक व्यन्तर देव) तथा तिर्यक्लोक— मध्यलोक में निवास-विचरण करने वाले पाँच प्रकार के ज्योतिष्क देव, बृहस्पति, चन्द्र, सूर्य, शुक्र और शनैश्चर, राहु, केतु और बुध, अंगारक (तपाये हुए स्वर्ण जैसे वर्ण वाला—मंगल), अन्य जो भी ग्रह ज्योतिष्चक्र में संचार करते हैं, केतु, गति में प्रसन्नता अनुभव करने वाले, अट्ठाईस प्रकार के नक्षत्र देवगण, नाना प्रकार के संस्थान—आकार वाले तारागण, स्थिर लेश्या अर्थात् कान्ति वाले अर्थात् मनुष्य क्षेत्र—अढाई द्वीप से बाहर के ज्योतिष्क और मनुष्य क्षेत्र के भीतर संचार करने वाले, जो तिर्यक् लोक के ऊपरी भाग में (समतल भूमि से ७९० योजन से लगा कर ९०० योजन तक की ऊँचाई में) रहने वाले तथा अविश्रान्त—लगातार—विना रुके वर्तुलाकार गति करने वाले हैं (ये सभी देव परिग्रह को ग्रहण करते हैं)।

(इनके अतिरिक्त) ऊर्ध्वलोक में निवास करने वाले वैमानिक देव दो प्रकार के हैं—कल्पोपपन्न और कल्पातीत। सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत, ये उत्तम कल्प-विमानों में वास करने वाले—कल्पोपपन्न हैं।

(इनके ऊपर) नौ ग्रैवेयकों और पांच अनुत्तर विमानों में रहने वाले दोनों प्रकार के देव कल्पातीत हैं। ये विमानवासी (वैमानिक) देव महान् ऋद्धि के धारक, श्रेष्ठ सुरवर हैं।

ये (पूर्वोक्त) चारों प्रकारों—निकायों के, अपनी-अपनी परिषद् सहित परिग्रह को ग्रहण करते हैं—उसमें मूर्च्छाभाव रखते हैं। ये सभी देव भवन, हस्ती आदि वाहन, रथ आदि अथवा घूमने के विमान आदि यान, पुष्पक आदि विमान, शय्या, भद्रासन, सिंहासन प्रभृति आसन, विविध प्रकार के वस्त्र एवं उत्तम प्रहरण—शस्त्रास्त्रों को, अनेक प्रकार की मणियों के पंचरंगी दिव्य भाजनों—पात्रों को, विक्रियालब्धि से इच्छानुसार रूप वनाने वाली कामरूपा अप्सराओं के समूह को, द्वीपों, समुद्रों, पूर्व आदि दिशाओं, ईशान आदि विदिशाओं, चैत्यों—माणवक आदि या चैत्यस्तूपों, वनखण्डों और पर्वतों को, ग्रामों और नगरों को, आरामों, उद्यानों—वगीचों और काननों—जंगलों को, कूप, सरोवर, तालाव, वापी—वावड़ी, दीर्घिका—लम्बी वावड़ी, देवकुल—देवालय, सभा, प्रपा—प्याऊ और वस्ती को और वहुत-से कीर्त्तनीय—स्तुतियोग्य धर्मस्थानों को ममत्वपूर्वक स्वीकार करते हैं। इस प्रकार विपुल द्रव्य वाले परिग्रह को ग्रहण करके इन्द्रों सहित देवगण भी न तृप्ति को और न सन्तुष्टि को अनुभव कर पाते हैं, अर्थात् अन्तिम समय तक इन्द्रों और देवों को भी तृप्ति एवं सन्तोष नहीं होता।

ये सव देव अत्यन्त तीव्र लोभ से अभिभूत संज्ञा वाले हैं, अतः वर्षधर पर्वतों (भरतादि क्षेत्रों को विभक्त करने वाले हिमवन्त, महाहिमवन्त आदि), इषुकार (धातकीखण्ड और पुष्करवर द्वीपों को विभक्त करने वाले दक्षिण और उत्तर दिशाओं में लम्वे) पर्वत, वृत्तपर्वत (शब्दापाती आदि गोलाकार पर्वत), कुण्डल (जम्बूद्वीप से ग्यारहवें कुण्डल नामक द्वीप में मण्डलाकार) पर्वत, रुचकवर (तेरहवें रुचक नामक द्वीप में मण्डलाकार रुचकवर नामक पर्वत), मानुषोत्तर (मनुष्यक्षेत्र की सीमा निर्धारित करने वाला) पर्वत, कालोदधिसमुद्र, लवणसमुद्र, सलिला (गंगा आदि महा-नदियां), ह्रदपति (पद्म, महापद्म आदि ह्रद—सरोवर), रतिकर पर्वत (आठवें नन्दीश्वर नामक

द्वीप के कोण में स्थित झल्लरी के आकार के चार पर्वत), अंजनक पर्वत (नन्दीश्वर द्वीप के चक्रवाल में रहे हुए कृष्णवर्ण के पर्वत), दधिमुखपर्वत (अंजनक पर्वतों के पास की सोलह पुष्करिणियों में स्थित १६ पर्वत), अवपात पर्वत (वैमानिक देव मनुष्यक्षेत्र में आने के लिए जिन पर उतरते हैं), उत्पात पर्वत (भवनपति देव जिनसे ऊपर उठकर मनुष्य क्षेत्र में आते हैं—वे तिगिंछ कूट आदि), काञ्चनक (उत्तरकुरु और देवकुरु क्षेत्रों में स्थित स्वर्णमय पर्वत), चित्र-विचित्रपर्वत (निषध नामक वर्षधर पर्वत के निकट शीतोदा नदी के किनारे चित्रकूट और विचित्रकूट नामक पर्वत), यमकवर (नीलवन्त नामक वर्षधर पर्वत के समीप के शीता नदी के तट पर स्थित दो पर्वत), शिखरी (समुद्र में स्थित गोस्तूप आदि पर्वत), कूट (नन्दनवन के कूट) आदि में रहने वाले ये देव भी तृप्ति नहीं पाते। (फिर अन्य प्राणियों का तो कहना ही क्या ! वे परिग्रह से कैसे तृप्त हो सकते हैं ?)

वक्षारों (विजयों को विभक्त करने वाले चित्रकूट आदि) में तथा अकर्मभूमियों में (हैमवत आदि भोगभूमि के क्षेत्रों में) और सुविभक्त—भलीभाँति विभागवाली भरत, ऐरवत आदि पन्द्रह कर्मभूमियों में जो भी मनुष्य निवास करते हैं, जैसे—चक्रवर्त्ती, वासुदेव, बलदेव, माण्डलिक राजा (मण्डल के अधिपति महाराजा), ईश्वर—युवराज, बड़े-बड़े ऐश्वर्यशाली लोग, तलवर (मस्तक पर स्वर्णपट्ट बांधे हुए राजस्थानीय), सेनापति (सेना के नायक), इभ्य (इभ अर्थात् हाथी को ढँक देने योग्य विशाल सम्पत्ति के स्वामी), श्रेष्ठी (श्री देवता द्वारा अलंकृत चिह्न को मस्तक पर धारण करने वाले सेठ), राष्ट्रिक (राष्ट्र अर्थात् देश की उन्नति-अवनति के विचार के लिए नियुक्त अधिकारी), पुरोहित (शान्तिकर्म करने वाले), कुमार (राजपुत्र), दण्डनायक (कोतवाल स्थानीय राज्याधिकारी), माडम्बिक (मडम्ब के अधिपति—छोटे राजा), सार्थवाह (बहुतेरे छोटे व्यापारियों आदि को साथ लेकर चलने वाले बड़े व्यापारी), कौटुम्बिक (बड़े कुटुम्ब के प्रधान या गाँव के मुखिया) और अमात्य (मंत्री), ये सब और इनके अतिरिक्त अन्य मनुष्य परिग्रह का संचय करते हैं। वह परिग्रह अनन्त—अन्तहीन या परिणामशून्य है, अशरण अर्थात् दुःख से रक्षा करने में असमर्थ है, दुःखमय अन्त वाला है, अध्रुव है अर्थात् टिकाऊ नहीं है, अनित्य है, अर्थात् अस्थिर एवं प्रतिक्षण विनाशशील होने से अशाश्वत है, पापकर्मों का मूल है, ज्ञानीजनों के लिए त्याज्य है, विनाश का मूल कारण है, अन्य प्राणियों के वध और बन्धन का कारण है, अर्थात् परिग्रह के कारण अन्य जीवों को वध-बन्धन-क्लेश-परिताप उत्पन्न होता है अथवा परिग्रह स्वयं परिग्रही के लिए वध-बन्धन आदि नाना प्रकार के घोर क्लेश का कारण बन जाता है, इस प्रकार वे पूर्वोक्त देव आदि धन, कनक, रत्नों आदि का संचय करते हुए लोभ से ग्रस्त होते हैं और समस्त प्रकार के दुःखों के स्थान इस संसार में परिभ्रमण करते हैं।

विविध कलाएँ भी परिग्रह के लिये—

९६—परिग्गहस्स य अट्ठाए सिप्पसयं सिक्खए बहुजणो कलाओ य बावत्तरिं सुणिउणाओ लेहाइयाओ सउणरुयावसाणाओ गणियप्पहाणाओ, चउसट्ठिं च महिलागुणे रइजणणे, सिप्पसेवं, असि-मसि-किसि-वाणिज्जं, ववहारं अत्थसत्थईसत्थच्छरुप्पगयं, विविहाओ य जोगजुंजणाओ, अण्णेसु एवमाइएसु बहुसु कारणसएसु जावज्जीवं णडिज्जए संचिणंति मंदबुद्धी।

परिग्गहस्सेव य अट्ठाए करंति पाणाण-वहकरणं अलिय-णियडिसाइसंपओगे परदव्वाभिज्जा

सपरदारअभिगमणासेवणाए आयासविसूरणं कलहभंडणवेराणि य अवमाणणविमाणणाओ इच्छामहिच्छप्पिवाससययतिसिया तण्हगेहिलोहघत्था अत्ताणा अणिग्गहिया करेंति कोहमाणमायालोहे।

अकित्तणिज्जे परिग्गहे चेव होंति णियमा सल्ला दंडा य गारवा य कसाया सण्णा य कामगुणअण्हगा य इंदियलेस्साओ सयणसंपओगा सचित्ताचित्तमीसगाइं दव्वाइं अणंतगाइं इच्छंति परिघेत्तुं।

सदेवमणुयासुरम्मि लोए लोहपरिग्गहो जिणवरेहिं भणिओ णत्थि एरिसो पासो पडिबंधो अत्थि सव्वजीवाणं सव्वलोए।

९६— परिग्रह के लिए बहुत लोग सैकड़ों शिल्प या हुन्नर तथा उच्च श्रेणी की—निपुणता उत्पन्न करने वाले लेखन से लेकर शकुनिरुत—पक्षियों की बोली तक की, गणित की प्रधानता वाली बहत्तर कलाएँ सीखते हैं। नारियाँ रति उत्पन्न करने वाले चौसठ महिलागुणों को सीखती हैं। शिल्पपूर्वक सेवा करते हैं। कोई असि—तलवार आदि शस्त्रों को चलाने का अभ्यास करते हैं, कोई मसिकर्म—लिपि आदि लिखने की शिक्षा लेते हैं, कोई कृषि—खेती करते हैं, कोई वाणिज्य-व्यापार सीखते हैं, कोई व्यवहार अर्थात् विवाद के निपटारे की शिक्षा लेते हैं। कोई अर्थशास्त्र—राजनीति आदि की, कोई धनुर्वेद आदि शास्त्र एवं छुरी आदि शस्त्रों को पकड़ने के उपायों की, कोई अनेक प्रकार के वशीकरण आदि योगों की शिक्षा ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार के परिग्रह के सैकड़ों कारणों—उपायों में प्रवृत्ति करते हुए मनुष्य जीवनपर्यन्त नाचते रहते हैं। और जिनकी बुद्धि मन्द है—जो पारमार्थिक हिताहित का विवेक करने वाली बुद्धि की मन्दता वाले हैं, वे परिग्रह का संचय करते हैं।

परिग्रह के लिए लोग प्राणियों की हिंसा के कृत्य में प्रवृत्त होते हैं। झूठ बोलते हैं, दूसरों को ठगते हैं, निकृष्ट वस्तु को मिलावट करके उत्कृष्ट दिखलाते हैं और परकीय द्रव्य में लालच करते हैं। स्वदार-गमन में शारीरिक एवं मानसिक खेद को तथा परस्त्री की प्राप्ति न होने पर मानसिक पीड़ा को अनुभव करते हैं। कलह—वाचनिक विवाद—झगड़ा, लड़ाई तथा वैर-विरोध करते हैं, अपमान तथा यातनाएँ सहन करते हैं। इच्छाओं और चक्रवर्ती आदि के समान महेच्छाओं रूपी पिपासा से निरन्तर प्यासे बने रहते हैं। तृष्णा—अप्राप्त द्रव्य की प्राप्ति की लालसा तथा प्राप्त पदार्थों संबंधी गृद्धि—आसक्ति तथा लोभ में ग्रस्त—आसक्त रहते हैं। वे त्राणहीन एवं इन्द्रियों तथा मन के निग्रह से रहित होकर क्रोध, मान, माया और लोभ का सेवन करते हैं।

इस निन्दनीय परिग्रह में ही नियम से शल्य—मायाशल्य, मिथ्यात्वशल्य और निदानशल्य होते हैं, इसी में दण्ड—मनोदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड—अपराध होते हैं, ऋद्धि, रस तथा साता रूप तीन गौरव होते हैं, क्रोधादि कषाय होते हैं, आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रह नामक संज्ञाएँ होती हैं, कामगुण—शब्दादि इन्द्रियों के विषय तथा हिंसादि पाँच आस्रवद्वार, इन्द्रियविकार तथा कृष्ण, नील एवं कापोत नामक तीन अशुभ लेश्याएँ होती हैं। स्वजनों के साथ संयोग होते हैं और परिग्रहवान् असीम-अनन्त सचित्त, अचित्त एवं मिश्र-द्रव्यों को ग्रहण करने की इच्छा करते हैं।

देवों, मनुष्यों और असुरों सहित इस त्रस-स्थावररूप जगत् में जिनेन्द्र भगवन्तों—तीर्थकरों ने (पूर्वोक्त स्वरूप वाले) परिग्रह का प्रतिपादन किया है। (वास्तव में) परिग्रह के समान अन्य कोई पाश—फंदा, वन्धन नहीं है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में परिग्रह के लिए किए जाने वाले विविध प्रकार के कार्यों का उल्लेख किया गया है। जिन कार्यों का सूत्र में साक्षात् वर्णन है, उनके अतिरिक्त अन्य भी वहुत से कार्य हैं, जिन्हें परिग्रह की प्राप्ति, वृद्धि एवं संरक्षण के लिए किया जाता है। अनेकानेक कार्य जीवनपर्यन्त निरन्तर करते रहने पर भी प्राणियों को परिग्रह से तृप्ति नहीं होती। जो परिग्रह अधिकाधिक तृष्णा, लालसा, आसक्ति और असन्तुष्टि की वृद्धि करने वाला है, उससे तृप्ति अथवा सन्तुष्टि प्राप्त भी कैसे हो सकती है! जीवनपर्यन्त उसे वढ़ाने के लिए जुटे रहने पर भी, जीवन का अन्त आ जाता है परन्तु लालसा का अन्त नहीं आता।

तो क्या परिग्रह के पिशाच से कभी छुटकारा मिल ही नहीं सकता? ऐसा नहीं है। जिनकी विवेकवुद्धि जागृत हो जाती है, जो यथार्थ वस्तुस्वरूप को समझ जाते हैं, परिग्रह की निस्सारता का भान जिन्हें हो जाता है और जो यह निश्चय कर लेते हैं कि परिग्रह सुख का नहीं, दुःख का कारण है, इससे हित नहीं, अहित ही होता है, यह आत्मा की विशुद्धि का नहीं, मलीनता का कारण है, इससे आत्मा का उत्थान नहीं, पतन होता है, यह जीवन को भी अनेक प्रकार की यातनाओं से परिपूर्ण वना देता है, अशान्ति एवं आकुलता का जनक है, वे महान् पुरुष परिग्रह के पिशाच से अवश्य मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं।

मूलपाठ में ही कहा गया है—परिग्रह अर्थात् ममत्वभाव अनन्त है—उसका कभी और कहीं अन्त नहीं आता। वह अशरण है अर्थात् शरणदाता नहीं है। जव मनुष्य के जीवन में रोगादि उत्पन्न हो जाते हैं तो परिग्रह के द्वारा उनका निवारण नहीं हो सकता। चाहे पिता, पुत्र, पत्नी आदि सचित्त परिग्रह हो, चाहे धन-वैभव आदि अचित्त परिग्रह हो, सव एक ओर रह जाते हैं। रोगी को कोई शरण नहीं दे सकते। यहाँ नमिराज के कथानक का अनायास स्मरण हो आता है। उन्हें व्याधि उत्पन्न होने पर परिग्रह की अकिंचित्करता का भान हुआ, उनका विवेक जाग उठा और उसी समय वे भावतः परिग्रहमुक्त हो गए। अतएव शास्त्रकार ने परिग्रह को **दुरन्त** कहा है। तात्पर्य यह है कि परिग्रह का अन्त तो आ सकता है किन्तु कठिनाई से आता है।

परिग्रह का वास्तविक स्वरूप प्रकाशित करने के लिए शास्त्रकार ने उसे **'अणंतं असरणं दुरंतं'** कहने के साथ **'अधुवमणिच्चं, असासयं, पावकम्मणेमं, विणासमूलं, वहबंधपरिकिलेसवहुलं, अणंत-संकिलेसकारणं, सव्वदुक्खसंनिलयणं'** इत्यादि विशेषणों द्वारा अभिहित किया है।

अकथनीय यातनाएँ झेल कर—प्राणों को भी संकट में डालकर कदाचित् परिग्रह प्राप्त कर भी लिया तो वह सदा ठहरता नहीं, कभी भी नष्ट हो जाता है। वह अनित्य है—सदा एक-सा रहता नहीं, अचल नहीं है—अशाश्वत है, समस्त पापकर्मों का मूल कारण है, यहाँ तक कि जीवन—प्राणों के विनाश का कारण है। वहुत वार परिग्रह की वदौलत मनुष्य को प्राणों से हाथ धोना पड़ता है—चोरों-लुटेरों-डकैतों के हाथों मरना पड़ता है और पारमार्थिक हित का विनाशक तो है ही।

लोग समझते हैं कि परिग्रह सुख का कारण है किन्तु ज्ञानी जनों की दृष्टि में वह वध, वन्ध आदि नाना प्रकार के क्लेशों का कारण होता है। परिग्रही प्राणी के मन में सदैव अशान्ति, आकुलता, वेचैनी, उथल-पुथल एवं आशंकाएँ वनी रहती हैं। परिग्रह के रक्षण की घोर चिन्ता दिन-रात उन्हें वेचैन वनाए रहती है। वे स्वजनों और परिजनों से भी सदा भयभीत रहते हैं। भोजन में कोई विष

मिश्रित न कर दे, इस आशंका के कारण निश्चिन्त होकर भोजन नहीं कर सकते। सोते समय कोई मार न डाले, इस भय से आराम से सो नहीं सकते। उन्हें प्रतिक्षण आशंका रहती है। कहावत है—काया को नहीं, माया को डर रहता है। जिसका परिवार-रूप परिग्रह विशाल होता है, उन्हें भी नाना प्रकार की परेशानियाँ सताती रहती हैं। परिग्रह से उत्पन्न होने वाले विविध प्रकार के मानसिक संक्लेश अनुभवसिद्ध हैं और समग्र लोक इनका साक्षी है। अतएव शास्त्रकार ने परिग्रह को अनन्त संक्लेश का कारण कहा है।

परिग्रह केवल संक्लेश का ही कारण नहीं, वह **'सव्वदुक्खसंनिलयणं'** भी है, अर्थात् जगत् के समस्त दुःखों का घर है। एक आचार्य ने यथार्थ ही कहा है—

संयोगमूला जीवेन प्राप्ता दुःखपरम्परा।

अनादि काल से आत्मा के साथ दुःखों की जो परम्परा चली आ रही है—एक दुःख का अन्त होने से पहले ही दूसरा दुःख आ टपकता है, दुःख पर दुःख आ पड़ते हैं और भव-भवान्तर में यही दुःखों का प्रवाह प्रवहमान है, इसका मूल कारण संयोग है, अर्थात् पर-पदार्थों के साथ अपने आपको जोड़ना है। यद्यपि कोई भी पर-पदार्थ आत्मा से जुड़ता नहीं, तथापि ममताग्रस्त पुरुष अपने ममत्व के धागे से उन्हें जुड़ा हुआ मान लेता है—ममता के बन्धन से उन्हें अपने साथ बाँधता है। परिणाम यह होता है कि पदार्थ तो बँधते नहीं, प्रत्युत वह बांधने वाला स्वयं ही बँध जाता है। अतएव जो बन्धन में नहीं पड़ना चाहते, उन्हें बाह्य पदार्थों के साथ संयोग स्थापित करने की कुबुद्धि का परित्याग करना चाहिए। इसी तथ्य को प्रकट करने के लिए शास्त्रकार ने श्रमणों को **'संजोगा विप्पमुक्कस्स'** विशेषण प्रदान किया है। अर्थात् श्रमण अनगार संयोग से विप्रमुक्त—पूर्णरूप से मुक्त होते हैं।

जब श्रमण परिग्रह से पूरी तरह मुक्त होते हैं, यहाँ तक कि अपने शरीर पर भी ममत्वभाव से रहित होते हैं तो उनके उपासकों को भी यही श्रद्धा रखनी चाहिए कि परिग्रह अनर्थमूल होने से त्याज्य है। इस प्रकार की श्रद्धा यदि वास्तविक होगी तो श्रमणोपासक अपनी परिस्थिति का पर्यालोचन करके उसकी एक सीमा निर्धारित अवश्य करेगा अथवा उसे ऐसा करना चाहिए। यही एक मात्र सुख और शान्ति का उपाय है। वर्त्तमान जीवन-सम्बन्धी सुख-शान्ति और शाश्वत आत्म-हित इसी में है।

मूल पाठ में बहत्तर कलाओं और चौसठ महिलागुणों का निर्देश किया गया है। कलाओं के नाम अनेक आगमों में उल्लिखित हैं, उनके नामों में भी किंचित् भिन्नता दिखाई देती है। वस्तुतः कलाओं की कोई संख्या निर्धारित नहीं हो सकती। समय-समय पर उनकी संख्या और स्वरूप बदलता रहता है। आधुनिक काल में अनेक नवीन कलाओं का आविष्कार हुआ है। प्राचीन काल में जो कलाएँ प्रचलित थीं, उनका वर्गीकरण बहत्तर भेदों में किया गया था। उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१. लेखकला—लिखने की कला, ब्राह्मी आदि अठारह प्रकार की लिपियों को लिखने का विज्ञान।
२. गणितकला—गणना, संख्या की जोड़-बाकी आदि का ज्ञान।

३. रूपकला—वस्त्र, भित्ति, रजत-स्वर्णपट्ट आदि पर रूप (चित्र) बनाना।
४. नाट्यकला—नाचने और अभिनय करने का ज्ञान।
५. गीतकला—गायन सम्बन्धी कौशल।
६. वाद्यकला—अनेक प्रकार के वाद्य बजाने की कला।
७. स्वरगत कला—अनेक प्रकार की राग-रागिनियों में स्वर निकालने की कला।
८. पुष्करगत कला—पुष्कर नामक वाद्यविशेष का ज्ञान।
९. समतालकला—समान ताल से बजाने की कला।
१०. द्यूतकला—जुआ खेलने की कुशलता।
११. जनवादकला—जनश्रुति एवं किंवदन्तियों को जानना।
१२. पौरस्कृत्यकला—पांसे खेलने का ज्ञान।
१३. अष्टापदकला—शतरंज, चौसर आदि खेलने का ज्ञान।
१४. दकमृत्तिकाकला—जल के संयोग से मिट्टी के खिलौने आदि बनाना।
१५. अन्नविधिकला—विविध प्रकार का भोजन बनाने का ज्ञान।
१६. पानविधिकला—पेय पदार्थ तैयार करने की कुशलता।
१७. वस्त्रविधि—वस्त्रों के निर्माण की कला।
१८. शयनविधि—शयन सम्बन्धी कला।
१९. आर्याविधि—आर्या छन्द बनाने की कला।
२०. प्रहेलिका—पहेलियाँ बनाने, बूझने की कला, गूढार्थवाली कविता रचना।
२१. मागधिका—स्तुतिपाठ करने वाले चारण-भाटों सम्बन्धी कला।
२२. गाथाकला—प्राकृतादि भाषाओं में गाथाएँ रचने का ज्ञान।
२३. श्लोककला—संस्कृतादि भाषाओं में श्लोक रचना।
२४. गन्धयुक्ति—सुगंधित पदार्थ तैयार करना।
२५. मधुसिक्थ—स्त्रियों के पैरों में लगाया जाने वाला महावर बनाना।
२६. आभरणविधि—आभूषणनिर्माण की कला।
२७. तरुणीप्रतिकर्म—तरुणी स्त्रियों के अनुरंजन का कौशल।
२८. स्त्रीलक्षण—स्त्रियों के शुभाशुभ लक्षणों को जानने का कौशल।
२९. पुरुषलक्षण—पुरुषों के शुभाशुभ लक्षणों को जानने का कौशल।
३०. हयलक्षण—घोड़ों के लक्षण पहचानना।
३१. गजलक्षण—हाथी के शुभाशुभ लक्षण जानना।
३२. गोणलक्षण—बैलों के शुभाशुभ लक्षण जानना।
३३. कुक्कुटलक्षण—मुर्गों के शुभाशुभ लक्षण जानना।
३४. मेढलक्षण—मेढों के लक्षणों को पहचानना।
३५. चक्रलक्षण—चक्र आयुध के लक्षण जानना।
३६. छत्रलक्षण—छत्र के शुभाशुभ लक्षण जानना।
३७. दण्डलक्षण—दण्ड के लक्षणों का परिज्ञान।
३८. असिलक्षण—तलवार, बर्छी आदि के शुभ-अशुभ लक्षणों को जानना।

३९. मणिलक्षण—मणियों के शुभ-अशुभ लक्षणों का ज्ञान ।
४०. काकणीलक्षण—काकणी नामक रत्न के लक्षणों को जानना ।
४१. चर्मलक्षण—चमड़े की या चर्मरत्न की पहचान ।
४२. चन्द्रचर्या—चन्द्र के संचार और समकोण, वक्रकोण आदि से उदित हुए चन्द्र के निमित्त से शुभ-अशुभ को जानना ।
४३. सूर्यचर्या—सूर्यसंचारजनित उपरागों के फल को पहचानना ।
४४. राहुचर्या—राहु की गति एवं उसके द्वारा होने वाले चन्द्रग्रहणादि के फल को जानना ।
४५. ग्रहचर्या—ग्रहों के संचार के शुभाशुभ फलों का ज्ञान ।
४६. सौभाग्यकर—सौभाग्यवर्द्धक उपायों को जानना ।
४७. दौर्भाग्यकर—दुर्भाग्य बढ़ाने वाले उपायों को जानना ।
४८. विद्यागत—विविध प्रकार की विद्याओं का ज्ञान ।
४९. मंत्रगत—मंत्रों का परिज्ञान ।
५०. रहस्यगत—अनेक प्रकार के गुप्त रहस्यों को जानने की कला ।
५१. सभास—प्रत्येक वस्तु के वृत्त-स्वभाव का ज्ञान ।
५२. चारकला—गुप्तचर, जासूसी की कला ।
५३. प्रतिचारकला—ग्रह आदि के संचार का ज्ञान एवं रोगी की सेवा-शुश्रूषा का ज्ञान ।
५४. व्यूहकला—युद्ध के लिए सेना की गरुड़ आदि के आकार में रचना करना ।
५५. प्रतिव्यूह—व्यूह के सामने उसके विरोधी व्यूह की रचना करना ।
५६. स्कन्धावारमान—सेना के शिविर—पड़ाव के प्रमाण को जानना ।
५७. नगरमान—नगर की रचना सम्बन्धी कुशलता ।
५८. वास्तुमान—मकानों के मान-प्रमाण को जानना ।
५९. स्कन्धावारनिवेश—सेना को युद्ध के योग्य खड़ा करने या पड़ाव का ज्ञान ।
६०. वस्तुनिवेश—वस्तुओं को कलात्मक ढंग से रखने—सजाने का ज्ञान ।
६१. नगरनिवेश—यथोचित स्थान पर नगर बसाने का ज्ञान ।
६२. इष्वस्त्रकला—बाण चलाने—छोड़ने का कौशल ।
६३. छरुप्रवादकला—तलवार की मूठ आदि बनाना ।
६४. अश्वशिक्षा—घोड़ों को वाहनों में जोतने आदि का ज्ञान ।
६५. हस्तिशिक्षा—हाथियों के संचालन आदि की कुशलता ।
६६. धनुर्वेद—शब्दवेधी आदि धनुर्विद्या का विशिष्ट ज्ञान ।
६७. हिरण्यपाक, सुवर्णपाक, मणिपाक, धातुपाक—चाँदी आदि को गलाने, पकाने और उनकी भस्म बनाने आदि का कौशल ।
६८. बाहुयुद्ध, दण्डयुद्ध, मुष्टियुद्ध, यष्टियुद्ध, सामान्ययुद्ध, नियुद्ध, युद्धातियुद्ध आदि अनेक प्रकार के युद्धों सम्बन्धी कौशल ।
६९. सूत्रखेड, नालिकाखेड, वर्त्तखेड, चर्मखेड आदि नाना प्रकार के खेलों को जानना ।
७०. पत्रच्छेद्य, कटकच्छेद्य—पत्रों एवं काष्ठों को छेदने-भेदने की कला ।

७१. सजीव-निर्जीव—सजीव को निर्जीव और निर्जीव को सजीव जैसा दिखाना।

७२. शकुनिरुत—पक्षियों की वोली पहचानना।

चौसठ महिलागुण—(१) नृत्यकला (२) औचित्यकला (३) चित्रकला (४) वादित्र (५) मंत्र (६) तंत्र (७) ज्ञान (८) विज्ञान (९) दण्ड (१०) जलस्तम्भन (११) गीतगान (१२) तालमान (१३) मेघवृष्टि (१४) फलाकृष्टि (१५) आरामरोपण (१६) आकारगोपन (१७) धर्मविचार (१८) शकुनविचार (१९) क्रियाकल्पन (२०) संस्कृतभापण (२१) प्रसादनीति (२२) धर्मनीति (२३) वाणीवृद्धि (२४) सुवर्णसिद्धि (२५) सुरभितैल (२६) लीलासंचारण (२७) गज-तुरंगपरीक्षण (२८) स्त्री-पुरुषलक्षण (२९) स्वर्ण-रत्नभेद (३०) अष्टादशलिपि ज्ञान (३१) तत्कालबुद्धि (३२) वस्तु-सिद्धि (३३) वैद्यकक्रिया (३४) कामक्रिया (३५) घटभ्रम (३६) सार परिश्रम (३७) अंजनयोग (३८) चूर्णयोग (३९) हस्तलाघव (४०) वचनपाटव (४१) भोज्यविधि (४२) वाणिज्यविधि (४३) मुखमण्डन (४४) शालिखण्डन (४५) कथाकथन (४६) पुष्पग्रथन (४७) वक्रोक्तिजल्पन (४८) काव्य-शक्ति (४९) स्फारवेश (५०) सकलभापाविशेप (५१) अभिधानज्ञान (५२) आभरणपरिधान (५३) नृत्योपचार (५४) गृहाचार (५५) शाठ्यकरण (५६) परनिराकरण (५७) धान्यरन्धन (५८) केश-बन्धन (५९) वीणादिनाद (६०) वितण्डावाद (६१) अंकविचार (६२) लोकव्यवहार (६३) अन्त्याक्षरी और (६४) प्रश्नप्रहेलिका।

ये पुरुषों की वहत्तर और महिलाओं की चौसठ कलाएँ हैं। वहत्तर कलाओं का नामोल्लेख आगमों में मिलता है, महिलागुणों का विशेप नामोल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता। इनसे प्राचीनकालीन शिक्षापद्धति एवं जीवनपद्धति का अच्छा चित्र हमारे समक्ष उभर कर आता है। आगमों से यह भी विदित होता है कि ये कलाएँ सूत्र से, अर्थ से और प्रयोग से सिखलाई जाती थीं।

परिग्रह के लिए किये जाने वाले अन्यान्य कार्यों के विपय में अधिक उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं। मूल पाठ और अर्थ से ही उन्हें समझा जा सकता है। सारांश यह है कि परिग्रह के लिए मनुष्य आजीवन विविध कार्य करता है, उसके लिए पचता है, मगर कभी तृप्त नहीं होता और अधिकाधिक परिग्रह के लिए तरसता-तरसता ही मरण के शिकंजे में फँसता है।

परिग्रह पाप का कटुफल—

९७—परलोगम्मि य णट्ठा तमं पविट्ठा महयामोहमोहियमई तिमिसंधयारे तसथावरसुहुम-बायरेसु पज्जत्तमपज्जत्तग-साहारण-पत्तेयसरीरेसु य अण्डय-पोयय-जराउय-रसय-संसेइम-सम्मुच्छिम-उब्भिय-उववाइएसु य णरय-तिरिय-देव-मणुस्सेसु जरामरणरोगसोगबहुलेसु पलिओवमसागरोवमाइं अणाइयं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं अणुपरियट्टंति जीवा लोहवससण्णिविट्ठा। एसो सो परिग्गहस्स फलविवागो इहलोइओ परलोइओ अप्पसुहो बहुदुक्खो महब्भओ बहुरयप्पगाढो दारुणो कक्कसो असाओ वाससहस्सेहिं मुच्चइ ण अवेयइत्ता अत्थि हु मोक्खोत्ति।

एवमाहंसु णायकुलणंदणो महप्पा जिणो उ वीरवरणामधिज्जो कहेसी य परिग्गहस्स फल-विवागं।

एसो सो परिग्गहो पंचमो उ णियमा णाणामणिकणगरयण-महरिह एवं जाव इमस्स मोक्ख-वरमोत्तिमग्गस्स फलहभूओ ।

चरिमं अहम्मदारं समत्तं । त्ति बेमि ।।

९७—परिग्रह में आसक्त प्राणी परलोक में और इस लोक में (सुगति से, सन्मार्ग से और सुख-शान्ति से) नष्ट-भ्रष्ट होते हैं । अज्ञानान्धकार में प्रविष्ट होते हैं । तीव्र मोहनीयकर्म के उदय से मोहित मति वाले, लोभ के वश में पड़े हुए जीव त्रस, स्थावर, सूक्ष्म और बादर पर्यायों में तथा पर्याप्तक और अपर्याप्तक अवस्थाओं में यावत्[1] चार गति वाले संसार-कानन में परिभ्रमण करते हैं ।

परिग्रह का यह इस लोक सम्बन्धी और परलोक सम्बन्धी फल-विपाक अल्प सुख और अत्यन्त दुःख वाला है । महान्—घोर भय से परिपूर्ण है, अत्यन्त कर्म-रज से प्रगाढ है—गाढ कर्मबन्ध का कारण है, दारुण है, कठोर है और असाता का हेतु है । हजारों वर्षों में अर्थात् बहुत दीर्घ काल में इससे छुटकारा मिलता है । किन्तु इसके फल को भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलता ।

इस प्रकार ज्ञातकुलनन्दन महात्मा वीरवर (महावीर) जिनेश्वर देव ने कहा है । अनेक प्रकार की चन्द्रकान्त आदि मणियों, स्वर्ण, कर्केतन आदि रत्नों तथा बहुमूल्य अन्य द्रव्यरूप यह परिग्रह मोक्ष के मार्गरूप मुक्ति—निर्लोभता के लिए अर्गला के समान है । इसप्रकार यह अन्तिम आस्रवद्वार समाप्त हुआ ।

---

१. यावत् शब्द से गृहीत पाठ और उसके अर्थ के लिए देखिए सूत्र ९१.

आस्रवद्वार का उपसंहार

उपसंहार : गाथाओं का अर्थ

९८—एएहिं पंचहिं असंवरेहिं,[1] रयमादिणित्तु अणुसमयं।
चउविहगइपेरंतं, अणुपरियट्टंति संसारे ॥ १ ॥

९८—इन पूर्वोक्त पाँच आस्रवद्वारों के निमित्त से जीव प्रतिसमय कर्मरूपी रज का संचय करके चार गतिरूप संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं।

९९—सव्वगइपक्खंदे, काहिंति अणंतए अकयपुण्णा।
जे य ण सुणंति धम्मं, सोऊण य जे पमायंति ॥ २ ॥

९९—जो पुण्यहीन प्राणी धर्म को श्रवण नहीं करते अथवा श्रवण करके भी उसका आचरण करने में प्रमाद करते हैं, वे अनन्त काल तक चार गतियों में गमनागमन (जन्म-मरण) करते रहेंगे।

१००—अणुसिट्ठं वि बहुविहं, मिच्छदिट्ठिया जे णरा अहम्मा।
बद्धणिकाइयकम्मा, सुणंति धम्मं ण य करेंति ॥ ३ ॥

१००—जो पुरुष मिथ्यादृष्टि हैं, अधार्मिक हैं, जिन्होंने निकाचित (अत्यन्त प्रगाढ) कर्मों का बन्ध किया है, वे अनेक तरह से शिक्षा पाने पर भी, धर्म का श्रवण तो करते हैं किन्तु उसका आचरण नहीं करते।

१०१—किं सक्का काउं जे, णेच्छह ओसहं मुहा पाउं।
जिणवयणं गुणमहुरं, विरेयणं सव्वदुक्खाणं ॥ ४ ॥

१०१—जिन भगवान् के वचन समस्त दुःखों का नाश करने के लिए गुणयुक्त मधुर विरेचन-औषध हैं, किन्तु निस्वार्थ भाव से दी जाने वाली इस औषध को जो पीना ही नहीं चाहते, उनके लिए क्या किया जा सकता है!

१०२—पंचेव य उज्झिऊणं, पंचेव य रक्खिऊणं भावेणं।
कम्मरय-विप्पमुक्कं, सिद्धिवर-मणुत्तरं जंति ॥ ५ ॥

१०२—जो प्राणी पाँच (हिंसा आदि आस्रवों) को त्याग कर और पाँच (अहिंसा आदि संवरों) की भावपूर्वक रक्षा करते हैं, वे कर्म-रज से सर्वथा रहित होकर सर्वोत्तम सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त करते हैं।

॥ आस्रवद्वार नामक प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त ॥

---

१. 'आसवेहिं' पाठ भी है।

[२]

संवरद्वार

भूमिका

१०३—जंबू ! एत्तो संवरदाराइं, पंच वोच्छामि आणुपुव्वीए ।
जह भणियाणि भगवया, सव्वदुक्खविमोक्खणट्ठाए ।। १ ।।

१०३—श्री सुधर्मा स्वामी कहते हैं—हे जम्बू ! अब मैं पाँच संवरद्वारों को अनुक्रम से कहूंगा, जिस प्रकार भगवान् ने सर्वदुःखों से मुक्ति पाने के लिए कहे हैं ।। १ ।।

१०४—पढमं होइ अहिंसा, बिइयं सच्चवयणं ति पण्णत्तं ।
दत्तमणुण्णाय संवरो य, बंभचेर-मपरिग्गहत्तं च ।। २ ।।

१०४—(इन पाँच संवरद्वारों में) प्रथम अहिंसा है, दूसरा सत्यवचन है, तीसरा स्वामी की आज्ञा से दत्त (अदत्तादानविरमण) है, चौथा ब्रह्मचर्य और पंचम अपरिग्रहत्व है ।। २ ।।

१०५—तत्थ पढमं अहिंसा, तस-थावर-सव्वभूय-खेमकरी ।
तीसे सभावणाओ, किंचि वोच्छं गुणुद्देसं ।। ३ ।।

१०५—इन संवरद्वारों में प्रथम जो अहिंसा है, वह त्रस और स्थावर—समस्त जीवों का क्षेम-कुशल करने वाली है । मैं पाँच भावनाओं सहित अहिंसा के गुणों का कुछ कथन करूंगा ।। ३ ।।

विवेचन—पाँच आस्रवद्वारों के वर्णन के पश्चात् शास्त्रकार ने यहाँ पाँच संवरद्वारों के वर्णन की प्रतिज्ञा प्रकट की है ।

पहले बतलाया जा चुका है कि ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों के बन्ध का कारण आस्रव कहलाता है । आस्रव के विवक्षाभेद से अनेक आधारों से, अनेक भेद किए गए हैं । किन्तु यहाँ प्रधानता की विवक्षा करके आस्रव के पाँच भेदों का ही निरूपण किया गया और अन्यान्य भेदों का इन्हीं में समावेश कर दिया गया है । अतएव आस्रव के विरोधी संवर के भी पाँच ही भेद कहे गए हैं । तीन गुप्ति, पाँच समिति, दस धर्म, द्वादश अनुप्रेक्षा आदि संवरों को अहिंसादि संवरों एवं उनकी भावनाओं में अन्तर्गत कर लिया गया है । अतएव अन्यत्र संवर के जो भेद-प्रभेद हैं उनके साथ यहाँ उल्लिखित पाँच संख्या का कोई विरोध नहीं है ।

संवर, आस्रव का विरोधी तत्त्व है । उसका तात्पर्य यह है कि जिन अशुभ भावों से कर्मों का बंध होता है, उनसे विरोधी भाव अर्थात् आस्रव का निरोध करने वाला भाव संवर है । संवर शब्द की व्युत्पत्ति से भी यही अर्थ फलित होता है—**'संव्रियन्ते प्रतिरुध्यन्ते आगन्तुककर्माणि येन सः**

संवरः', अर्थात् जिसके द्वारा आने वाले कर्म संवृत कर दिए जाते—रोक दिए जाते हैं, वह संवर है।

सरलतापूर्वक संवर का अर्थ समझाने के लिए एक प्रसिद्ध उदाहरण की योजना की गई है। वह इस प्रकार है—एक नौका अथाह समुद्र में स्थित है। नौका में गड़बड़ होने से कुछ छिद्र हो गए और समुद्र का जल नौका में प्रवेश करने लगा। उस जल के आगमन को रोका न जाए तो जल के भार के कारण वह डूब जाएगी। मगर चतुर नाविक ने उन छिद्रों को देख कर उन्हें बंद कर दिया। नौका के डूबने की आशंका समाप्त हो गई। अब वह सकुशल किनारे लग जाएगी। इसी प्रकार इस संसार-सागर में कर्म-वर्गणा रूपी अथाह जल भरा है, अर्थात् सम्पूर्ण लोक में अनन्त-अनन्त कार्मण-वर्गणाओं के सूक्ष्म-अदृश्य पुद्गल ठसाठस भरे हैं। उसमें आत्मारूपी नौका स्थित है। हिंसा आदि आस्रवरूपी छिद्रों के द्वारा उसमें कर्मरूपी जल भर रहा है। यदि उस जल को रोका न जाए तो कर्मों के भार से वह डूब जाएगी—संसार में परिभ्रमण करेगी और नरकादि अधोगति में जाएगी। मगर विवेकरूपी नाविक कर्मागमन के कारणों को देखता है और उन्हें बंद कर देता है, अर्थात् अहिंसा आदि के आचरण से हिंसादि आस्रवों को रोक देता है। जब आस्रव रुक जाते हैं, कर्मबन्ध के कारण समाप्त हो जाते हैं तो कर्मों का नवीन बन्ध रुक जाता है और आत्मारूपी नौका सही-सलामत संसार से पार पहुंच जाती है।

यहाँ इतना और समझ लेना चाहिए कि नवीन पानी के आगमन को रोकने के साथ नौका में जो जल पहले भर चुका है, उसे उलीच कर हटा देना पड़ता है। इसी प्रकार जो कर्म पहले बँध चुके हैं, उन्हें निर्जरा द्वारा नष्ट करना आवश्यक है। किन्तु यह क्रिया संवर का नहीं, निर्जरा का विषय है। यहाँ केवल संवर का ही प्रतिपादन है, जिसका विषय नये सिरे से कर्मों के आगमन को रोक देना है।

संवर की प्ररूपणा करने की प्रतिज्ञा के साथ सूत्रकार ने प्रथम गाथा में दो महत्त्वपूर्ण बातों का भी उल्लेख किया है। **'जह भणियाणि भगवया'** अर्थात् भगवान् ने संवर का स्वरूप जैसा कहा है, वैसा ही मैं कहूँगा। इस कथन से सूत्रकार ने दो तथ्य प्रकट कर दिए हैं। प्रथम यह कि जो कथन किया जाने वाला है वह स्वमनीषिकाकल्पित नहीं है। सर्वज्ञ वीतराग देव द्वारा कथित है। इससे प्रस्तुत कथन की प्रामाणिकता द्योतित की है। साथ ही अपनी लघुता-नम्रता भी व्यक्त कर दी है।

'सव्वदुक्खविमोक्खणट्ठाए' इस पद के द्वारा अपने कथन का उद्देश्य प्रकट किया है। संसार के समस्त प्राणी दुःख से बचना चाहते हैं। जो भी कार्य किया जाता है, उसका लक्ष्य दुःख से मुक्ति पाना ही होता है। यह अलग बात है कि अधिकांश प्राणी अपने अविवेक के अतिरेक के कारण दुःख से बचने के लिए ऐसे उपाय करते हैं, जिनके कारण दुःख की अधिकाधिक वृद्धि होती है। फिर भी लक्ष्य तो दुःख से बचाव करना ही होता है।

समस्त दुःखों से छुटकारा पाने का अमोघ उपाय समस्त कर्मों से रहित शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त करना है और प्राप्त करने के लिए संवर की आराधना करना अनिवार्य है। जब तक नवीन कर्मों के आगमन को रोका न जाए तब तक कर्म-प्रवाह आत्मा में आता ही रहता है। इस तथ्य को सूचित करने के लिए शास्त्रकार ने कहा है कि संवरद्वारों का प्ररूपण करने का प्रयोजन सर्व दुःखों से विमोक्षण है, क्योंकि उन्हें यथार्थ रूप से जाने बिना उनकी साधना नहीं की जा सकती।

प्रथम गाथा में प्रयुक्त 'आणुपुव्वीए' पद से यह प्रकट किया गया है कि संवरद्वारों की प्ररूपणा अनुक्रम से की जाएगी। अनुक्रम द्वितीय गाथा में स्पष्ट कर दिया गया है। प्रथम संवरद्वार अहिंसा है, दूसरा सत्य, तीसरा दत्त (अदत्तादानत्याग), चौथा ब्रह्मचर्य और पाँचवां अपरिग्रहत्व है। इनमें अहिंसा को प्रथम स्थान दिया गया है, क्योंकि अहिंसा प्रधान और मूल व्रत है। सत्यादि चारों व्रत अहिंसा की रक्षा के लिए हैं। निर्युक्तिकार ने कहा है—

निद्दिट्ठं एत्थ वयं इक्कं चिय जिणवरेहिं सव्वेहिं।
पाणाइवायवेरमणमवसेसा तस्स रक्खट्ठा॥

अर्थात् समस्त तीर्थंकर भगवन्तों ने एक प्राणातिपातविरमणव्रत का ही कथन किया है। शेष (चार) व्रत उसी की रक्षा के लिए हैं।

असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य और परिग्रह स्वहिंसा और पर-हिंसा के भी कारण होते हैं, अतएव सभी हिंसास्वरूप हैं।

अहिंसा को **'तस-थावर-सव्वभूयखेमकरी'** कह कर उसकी असाधारण महिमा प्रकाशित की है। अहिंसा प्राणीमात्र के लिए मंगलमयी है, सब का क्षेम करने वाली है। अहिंसा पर ही जगत् टिका है।

प्रथम अध्ययन : अहिंसा

संवरद्वारों की महिमा

१०६—ताणि उ इमाणि सुव्वय ! महव्वयाइं लोयहियसव्वयाइं सुयसागर-देसियाइं तवसंजममहव्वयाइं सीलगुणवरव्वयाइं सच्चज्जवव्वयाइं णरय-तिरिय-मणुय-देवगइ-विवज्जगाइं सव्वजिणसासणगाइं कम्मरयविदारगाइं भवसयविणासगाइं दुहसयविमोयणगाइं सुहसयपवत्तणगाइं कापुरिसदुरुत्तराइं सप्पुरिसणिसेवियाइं णिव्वाणगमणसग्गप्पयाणगाइं संवरदाराइं पंच कहियाणि उ भगवया।

१०६—श्रीसुधर्मा स्वामी ने अपने अन्तेवासी जम्बू स्वामी से कहा—हे सुव्रत ! अर्थात् उत्तम व्रतों के धारक और पालक जम्बू ! जिनका पूर्व में नामनिर्देश किया जा चुका है ऐसे ये महाव्रत समस्त लोक के लिए हितकारी हैं या लोक का सर्व हित करने वाले हैं (अथवा लोक में धैर्य—आश्वासन प्रदान करने वाले हैं।) श्रुतरूपी सागर में इनका उपदेश किया गया है। ये तप और संयमरूप व्रत हैं या इनमें तप एवं संयम का व्यय—क्षय नहीं होता है। इन महाव्रतों में शील का और उत्तम गुणों का समूह सन्निहित है। सत्य और आर्जव—ऋजुता—सरलता—निष्कपटता इनमें प्रधान है। अथवा इनमें सत्य और आर्जव का व्यय नहीं होता हैं। ये महाव्रत नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति से वचाने वाले हैं—मुक्तिप्रदाता हैं। समस्त जिनों—तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट हैं—सभी ने इनका उपदेश दिया है। कर्मरूपी रज का विदारण करने वाले अर्थात् क्षय करने वाले हैं। सैकड़ों भवों—जन्ममरणों का अन्त करने वाले हैं। सैकड़ों दुःखों से वचाने वाले हैं और सैकड़ों सुखों में प्रवृत्त करने वाले हैं। ये महाव्रत कायर पुरुषों के लिए दुस्तर हैं, अर्थात् जो पुरुष भीरु हैं, जिनमें धैर्य और दृढ़ता नहीं है, वे इनका पूरी तरह निर्वाह नहीं कर सकते। सत्पुरुषों द्वारा सेवित हैं, अर्थात् धीर-वीर पुरुषों ने इनका सेवन किया है (सेवन करते हैं और करेंगे)। ये मोक्ष में जाने के मार्ग हैं, स्वर्ग में पहुँचाने वाले हैं। इस प्रकार के ये महाव्रत रूप पाँच संवरद्वार भगवान् महावीर ने कहे हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में संवरद्वारों का माहात्म्य प्रकट किया गया है, किन्तु यह माहात्म्य केवल स्तुतिरूप नहीं है। यह संवरद्वारों के स्वरूप और उनके सेवन करने के फल का वास्तविक निदर्शन कराने वाला है। सूत्र का अर्थ स्पष्ट है, तथापि किंचित् विवेचन करने से पाठकों को सुविधा होगी।

संवरद्वारों को महाव्रत कहा गया है। श्रावकों के पालन करने योग्य व्रत अणुव्रत कहलाते हैं। अणुव्रतों की अपेक्षा महान् होने से इन्हें महाव्रत कहा गया है। अणुव्रतों में हिंसादि पापों का पूर्णतया त्याग नहीं होता—एक मर्यादा रहती है किन्तु महाव्रत कृत, कारित और अनुमोदना रूप तीनों करणों से तथा मन, वचन और काय रूप तीनों योगों से पालन किए जाते हैं। इनमें हिंसा आदि का पूर्ण त्याग किया जाता है, अतएव ये महाव्रत कहलाते हैं।

संवर समस्त हितों के प्रदाता हैं और वीतरागप्ररूपित शास्त्रों में इनका उपदेश किया गया है, अतएव संशय के लिए कोई अवकाश नहीं है।

ये महाव्रत तप और संयमरूप हैं। इस विशेषण द्वारा सूचित किया गया है कि इन महाव्रतों से संवर और निर्जरा—दोनों की सिद्धि होती है, अर्थात् नवीन कर्मों का आना भी रुकता है और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा भी होती है। संयम संवर का और तप निर्जरा का कारण है। मुक्तिप्राप्ति के लिए संवर और निर्जरा दोनों अपेक्षित हैं। इसी तथ्य को स्फुट करने के लिए इन्हें **कर्म-रजविदारक** अर्थात् कर्मरूपी रज को नष्ट करने वाले हैं, ऐसा कहा गया है।

महाव्रतों को भवशतविनाशक भी कहा है, जिसका शाब्दिक अर्थ सैकड़ों भवों को नष्ट करने वाला है। किन्तु 'शत' शब्द यहाँ सौ संख्या का वाचक न होकर विपुलसंख्यक अर्थ का द्योतक समझना चाहिए अर्थात् इनकी आराधना से बहुत-से भवों—जन्ममरणों का अन्त आ जाता है।

इनकी आराधना से जीव सैकड़ों दुःखों से बच जाता है और सैकड़ों प्रकार के सुखों को प्राप्त करने में समर्थ होता है, यह स्पष्ट है।

महाव्रतरूप संवर की आराधना कायर पुरुष नहीं कर सकते, सत्पुरुष ही कर सकते हैं। जिनका मनोबल बहुत हीन दशा में है, जो इन्द्रियों के दास हैं, जो मन पर नियंत्रण नहीं रख सकते और जो धैर्यहीन हैं, महनशील नहीं हैं, वे प्रथम तो महाव्रतों को धारण ही नहीं कर सकते। कदाचित् भावनावश धारण कर लें तो उनका यथावत् निर्वाह नहीं कर पाते। थोड़े से प्रलोभन से या कष्ट आने पर भ्रष्ट हो जाते हैं अथवा साधुवेष को धारण किए हुए ही असाधुजीवन व्यतीत करते हैं। किन्तु जो सत्त्वशाली पुरुष दृढ़ मनोवृत्ति वाले, परीषह और उपसर्ग का वीरतापूर्वक सामना करने वाले एवं मन तथा इन्द्रियों को अपने विवेक के अंकुश में रखते हैं, ऐसे सत्पुरुष इन्हें अंगीकार करके निश्चल भाव से पालते हैं।

महाव्रतों या संवरों का वर्णन प्रत्येक की पाँच-पाँच भावनाओं सहित किया जाएगा। कारण यह है कि भावनाएँ एक प्रकार से व्रत का अंग हैं और उनका अनुसरण करने से व्रतों के पालन में सरलता होती है, सहायता मिलती है और व्रत में पूर्णता आ जाती है। भावनाओं की उपेक्षा करने से व्रत-पालन में बाधा आती है। अतएव व्रतधारी को व्रत की भावनाओं को भलीभाँति समझ कर उनका यथावत् पालन करना चाहिए। इस तथ्य को सूचित करने के लिए **'सभावणाओ'** पद का प्रयोग किया गया है।

अहिंसा भगवती के साठ नाम—

१०७—तत्थ पढमं अहिंसा जा सा सदेवमणुयासुरस्स लोयस्स भवइ दीवो ताणं सरणं गई पइट्ठा १ णिव्वाणं २ णिव्वुई ३ समाही ४ सत्ती ५ कित्ती ६ कंती ७ रई य ८ विरई य ९ सुयंग १० तित्ती ११ दया १२ विमुत्ती १३ खंती १४ सम्मत्ताराहणा १५ महंती १६ बोही १७ बुद्धी १८ धिई १९ समिद्धी २० रिद्धी २१ विद्धी २२ ठिई २३ पुट्ठी २४ णंदा २५ भद्दा २६ विसुद्धी २७ लद्धी २८ विसिट्ठदिट्ठी २९ कल्लाणं ३० मंगलं ३१ पमोओ ३२ विभूई ३३ रक्खा ३४ सिद्धावासो ३५ अणासवो ३६ केवलीण ठाणं ३७ सिवं ३८ समिई ३९ सीलं ४० संजमो त्ति य ४१ सीलपरिघरो

४२ संवरो य ४३ गुत्ती ४४ ववसाओ ४५ उस्सओ ४६ जण्णो ४७ आययणं ४८ जयणं ४९ अप्पमाओ ५० अस्साओ ५१ वीसाओ ५२ अभओ ५३ सव्वस्स वि अमाघाओ ५४ चोक्ख ५५ पवित्ता ५६ सूई ५७ पूया ५८ विमल ५९ पभासा य ६० णिम्मलयर त्ति एवमाईणि णिययगुणणिम्मियाइं पज्जवणामाणि होंति अहिंसाए भगवईए।

१०७—उन (पूर्वोक्त) पाँच संवरद्वारों में प्रथम संवरद्वार अहिंसा है। अहिंसा के निम्नलिखित नाम हैं—

(१) **द्वीप-त्राण-शरण-गति-प्रतिष्ठा**—यह अहिंसा देवों, मनुष्यों और असुरों सहित समग्र लोक के लिए—द्वीप अथवा दीप (दीपक) के समान है—शरणदात्री है और हेयोपादेय का ज्ञान कराने वाली है। त्राण है—विविध प्रकार के जागतिक दुःखों से पीडित जनों की रक्षा करने वाली है, उन्हें शरण देने वाली है, कल्याणकामी जनों के लिए गति—गम्य है—प्राप्त करने योग्य है तथा समस्त गुणों एवं सुखों का आधार है।

(२) **निर्वाण**—मुक्ति का कारण, शान्तिस्वरूपा है।

(३) **निर्वृत्ति**—दुर्ध्यानरहित होने से मानसिक स्वस्थतारूप है।

(४) **समाधि**—समता का कारण है।

(५) **शक्ति**—आध्यात्मिक शक्ति या शक्ति का कारण है। कहीं-कहीं **'सत्ती'** के स्थान पर **'संती'** पद मिलता है, जिसका अर्थ है—शान्ति। अहिंसा में परद्रोह की भावना का अभाव होता है, अतएव वह शान्ति भी कहलाती है।

(६) **कीर्त्ति**—कीर्त्ति का कारण है।

(७) **कान्ति**—अहिंसा के आराधक में कान्ति—तेजस्विता उत्पन्न हो जाती है, अतः वह कान्ति है।

(८) **रति**—प्राणीमात्र के प्रति प्रीति, मैत्री, अनुरक्ति—आत्मीयता को उत्पन्न करने के कारण वह रति है।

(९) **विरति**—पापों से विरक्ति।

(१०) **श्रुताङ्ग**—समीचीन श्रुतज्ञान इसका कारण है, अर्थात् सत्-शास्त्रों के अध्ययन-मनन से अहिंसा उत्पन्न होती है, इस कारण इसे श्रुतांग कहा गया है।

(११) **तृप्ति**—सन्तोषवृत्ति भी अहिंसा का एक अंग है।

(१२) **दया**—कष्ट पाते हुए, मरते हुए या दुःखित प्राणियों की करुणाप्रेरित भाव से रक्षा करना, यथाशक्ति दूसरे के दुःख का निवारण करना।

(१३) **विमुक्ति**—बन्धनों से पूरी तरह छुड़ाने वाली।

(१४) **क्षान्ति**—क्षमा, यह भी अहिंसारूप है।

(१५) **सम्यक्त्वाराधना**—सम्यक्त्व की आराधना—सेवना का कारण।

(१६) **महती**—समस्त व्रतों में महान्—प्रधान—जिनमें समस्त व्रतों का समावेश हो जाए।

(१७) **बोधि**—धर्मप्राप्ति का कारण।

(१८) **बुद्धि**—बुद्धि को सार्थकता प्रदान करने वाली।

(१९) **धृति**—चित्त की धीरता—दृढता।

(२०) समृद्धि—सब प्रकार की सम्पन्नता से युक्त—जीवन को आनन्दित करने वाली।
(२१) ऋद्धि—लक्ष्मीप्राप्ति का कारण।
(२२) वृद्धि—पुण्य-धर्म की वृद्धि का कारण।
(२३) स्थिति—मुक्ति में प्रतिष्ठित करने वाली।
(२४) पुष्टि—पुण्यवृद्धि से जीवन को पुष्ट बनाने वाली अथवा पाप का अपचय कर के पुण्य का उपचय करने वाली।
(२५) नन्दा—स्व और पर को आनन्द-प्रमोद प्रदान करने वाली।
(२६) भद्रा—स्व का और पर का भद्र—कल्याण करने वाली।
(२७) विशुद्धि—आत्मा को विशिष्ट शुद्ध बनाने वाली।
(२८) लब्धि—केवलज्ञान आदि लब्धियों का कारण।
(२९) विशिष्ट दृष्टि—विचार और आचार में अनेकान्तप्रधान दर्शन वाली।
(३०) कल्याण—कल्याण या शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य का कारण।
(३१) मंगल—पाप-विनाशिनी, सुख उत्पन्न करने वाली, भव-सागर से तारने वाली।
(३२) प्रमोद—स्व-पर को हर्ष उत्पन्न करने वाली।
(३३) विभूति—आध्यात्मिक ऐश्वर्य का कारण।
(३४) रक्षा—प्राणियों को दुःख से बचाने की प्रकृतिरूप, आत्मा को सुरक्षित बनाने वाली।
(३५) सिद्धावास—सिद्धों में निवास कराने वाली, मुक्तिधाम में पहुँचाने वाली, मोक्षहेतु।
(३६) अनास्रव—आते हुए कर्मों का निरोध करने वाली।
(३७) केवलि-स्थानम्—केवलियों के लिए स्थानरूप।
(३८) शिव—सुख स्वरूप, उपद्रवों का शमन करने वाली।
(३९) समिति—सम्यक् प्रवृत्ति।
(४०) शील—सदाचार स्वरूपा, समीचीन आचार।
(४१) संयम—मन और इन्द्रियों का निरोध तथा जीवरक्षा रूप।
(४२) शीलपरिग्रह—सदाचार अथवा ब्रह्मचर्य का घर—चारित्र का स्थान।
(४३) संवर—आस्रव का निरोध करने वाली।
(४४) गुप्ति—मन, वचन, काय की असत् प्रवृत्ति को रोकना।
(४५) व्यवसाय—विशिष्ट-उत्कृष्ट निश्चय रूप।
(४६) उच्छ्रय—प्रशस्त भावों की उन्नति—वृद्धि, समुदाय।
(४७) यज्ञ—भावदेवपूजा अथवा यत्न-जीवरक्षा में सावधानतास्वरूप।
(४८) आयतन—समस्त गुणों का स्थान।
(४९) अप्रमाद—प्रमाद—लापरवाही आदि का त्याग।
(५०) आश्वास—प्राणियों के लिए आश्वासन—तसल्ली।
(५१) विश्वास—समस्त जीवों के विश्वास का कारण।
(५२) अभय—प्राणियों को निर्भयता प्रदान करने वाली, स्वयं आराधक को भी निर्भय बनाने वाली।
(५३) सर्वस्य अमाघात—प्राणिमात्र की हिंसा का निषेध अथवा अमारी-घोषणास्वरूप।

(५४) **चोक्ष**—चोखी, शुद्ध, भली प्रतीत होने वाली।
(५५) **पवित्रा**—अत्यन्त पावन—वज्र सरीखे घोर आघात से भी त्राण करने वाली।
(५६) **शुचि**—भाव की अपेक्षा शुद्ध—हिंसा आदि मलीन भावों से रहित, निष्कलंक।
(५७) **पूता**—पूजा, विशुद्ध या भाव से देवपूजारूप।
(५८) **विमला**—स्वयं निर्मल एवं निर्मलता का कारण।
(५९) **प्रभासा**—आत्मा को दीप्ति प्रदान करने वाली, प्रकाशमय।
(६०) **निर्मलतरा**—अत्यन्त निर्मल अथवा आत्मा को अतीव निर्मल बनाने वाली।

अहिंसा भगवती के इत्यादि (पूर्वोक्त तथा इसी प्रकार के अन्य) स्वगुणनिष्पन्न—अपने गुणों से निष्पन्न हुए नाम हैं।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ में अहिंसा को भगवती कह कर उसकी असाधारण महिमा प्रकट की गई है। साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि चाहे नर हो, सुर हो अथवा असुर हो, अर्थात् मनुष्य या चारों निकायों के देवों में से कोई भी हो और उपलक्षण से इनसे भिन्न पशु-पक्षी आदि हों, सब के लिए अहिंसा ही शरणभूत है। अथाह सागर में डूबते हुए मनुष्य को जैसे द्वीप मिल जाए तो उसकी रक्षा हो जाती है, उसी प्रकार संसार-सागर में दुःख पा रहे हुए प्राणियों के लिए भगवती अहिंसा त्राणदायिनी है।

अहिंसा के साठ नामों का साक्षात् उल्लेख करने के पश्चात् शास्त्रकार ने बतलाया है कि इसके इनके अतिरिक्त अन्य नाम भी हैं और वे भी गुणनिष्पन्न ही हैं।

मूल पाठ में जिन नामों का उल्लेख किया गया है, उनसे अहिंसा के अत्यन्त व्यापक एवं विराट् स्वरूप की सहज ही कल्पना आ सकती है। जो लोग अहिंसा का अत्यन्त संकीर्ण अर्थ करते हैं, उन्हें अहिंसा के इन साठ नामों से फलित होने वाले अर्थ पर गंभीरता से विचार करना चाहिए। निर्वाण, निर्वृत्ति, समाधि, तृप्ति, क्षान्ति, बोधि, धृति, विशुद्धि आदि-आदि नाम साधक की आन्तरिक भावनाओं को प्रकट करते हैं, अर्थात् मानव की इस प्रकार की सात्त्विक भावनाएँ भी अहिंसा में गर्भित हैं। ये भगवती अहिंसा के विराट् स्वरूप की अंग हैं। रक्षा, समिति, दया, अमाघात आदि नाम पर के प्रति चरितार्थ होने वाले साधक के व्यवहार के द्योतक हैं। तात्पर्य यह कि इन नामों से प्रतीत होता है कि दुःखों से पीडित प्राणी को दुःख से बचाना भी अहिंसा है, पर-पीड़ाजनक कार्य न करते हुए यतनाचार-समिति का पालन करना भी अहिंसा का अंग है और विश्व के समग्र जीवों पर दया-करुणा करना भी अहिंसा है। कीर्त्ति, कान्ति, रति, चोक्षा, पवित्रा, शुचि, पूता आदि नाम उसकी पवित्रता के प्रकाशक हैं। नन्दा, भद्रा, कल्याण, मंगल, प्रमोदा आदि नाम प्रकट करते हैं कि अहिंसा की आराधना का फल क्या है! इसकी आराधना से आराधक की चित्तवृत्ति किस प्रकार कल्याणमयी, मंगलमयी बन जाती है।

इस प्रकार अहिंसा के उल्लिखित नामों से उसके विविध रूपों का, उसकी आराधना से आराधक के जीवन में प्रादुर्भूत होने वाली प्रशस्त वृत्तियों का एवं उसके परिणाम—फल का स्पष्ट चित्र उभर आता है। अतएव जो लोग अहिंसा का अतिसंकीर्ण अर्थ 'जीव के प्राणों का व्यपरोपण न करना' मात्र मानते हैं, उनकी मान्यता की भ्रान्तता स्पष्ट हो जाती है।

यद्यपि अहिंसा शब्द का सामान्य अर्थ हिंसा का अभाव, ऐसा होता है, किन्तु हिंसा शब्द में भी बहुत व्यापक अर्थ निहित है। अतएव उसके विरोधी 'अहिंसा' शब्द में भी व्यापक अर्थ छिपा है। प्रमाद, कषाय आदि के वशीभूत होकर किसी प्राणी के प्राणों का व्यपरोपण करना हिंसा कहा गया है।[1] यह हिंसा दो प्रकार की है—द्रव्यहिंसा और भावहिंसा। प्राणव्यपरोपण द्रव्यहिंसा है और प्राणव्यपरोपण का मानसिक विचार भावहिंसा है। हिंसा से बचने की सावधानी न रखना भी एक प्रकार की हिंसा है। इनमें से भावहिंसा एकान्त रूप से हिंसा है, किन्तु द्रव्यहिंसा तभी हिंसा होती है जब वह भावहिंसा के साथ हो। अतएव अहिंसा के आराधक को भावहिंसा से बचने के लिए निरन्तर जागृत रहना पड़ता है। यह समस्त विषय अहिंसा के नामों पर सम्यक् विचार करने से स्पष्ट हो जाता है।

अहिंसा का अन्तिम फल निर्वाण है, यह तथ्य भी प्रस्तुत पाठ से विदित हो जाता है।

अहिंसा की महिमा—

१०८—एसा सा भगवई अहिंसा जा सा भीयाण विव सरणं,
पक्खीणं विव गमणं,
तिसियाणं विव सलिलं,
खुहियाणं विव असणं,
समुद्दमज्झे व पोयवहणं,
चउप्पयाणं व आसमपयं,
दुहट्ठियाणं व ओसहिबलं,
अडवीमज्झे व सत्थगमणं,

एत्तो विसिट्ठतरिया अहिंसा जा सा पुढवी-जल-अगणि-मारुय-वणस्सइ-बीय-हरिय-जलयर-थलयर-खहयर-तस-थावर-सव्वभूय-खेमकरी।

१०८—यह अहिंसा भगवती जो है सो
(संसार के समस्त) भयभीत प्राणियों के लिए शरणभूत है,
पक्षियों के लिए आकाश में गमन करने—उड़ने के समान है,
यह अहिंसा प्यास से पीडित प्राणियों के लिए जल के समान है,
भूखों के लिए भोजन के समान है,
समुद्र के मध्य में डूबते हुए जीवों के लिए जहाज समान है,
चतुष्पद—पशुओं के लिए आश्रम-स्थान के समान है,
दुःखों से पीडित—रोगी जनों के लिए औषध-बल के समान है,
भयानक जंगल में सार्थ—संघ के साथ गमन करने के समान है।

(क्या भगवती अहिंसा वास्तव में जल, अन्न, औषध, यात्रा में सार्थ (समूह) आदि के समान

---

१. प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा। —तत्त्वार्थसूत्र अ. ७

ही है ? नहीं ।) भगवती अहिंसा इनसे भी अत्यन्त विशिष्ट है, जो पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, बीज, हरितकाय, जलचर, स्थलचर, खेचर, त्रस और स्थावर सभी जीवों का क्षेम—कुशल-मंगल करने वाली है ।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ में अहिंसा की महिमा एवं उपयोगिता का सुगम तथा भावपूर्ण चित्र उपमाओं द्वारा अभिव्यक्त किया गया है ।

जो प्राणी भय से ग्रस्त है, जिसके सिर पर चारों ओर से भय मंडरा रहा हो, उसे यदि निर्भयता का स्थान—शरण मिल जाए तो कितनी प्रसन्नता होती है ! मानो उसका प्राण-संकट टला और नया जीवन मिला । अहिंसा समस्त प्राणियों के लिए इसी प्रकार शरणप्रदा है ।

व्योमविहारी पक्षी को पृथ्वी पर अनेक संकट आने की आशंका रहती है और थोड़ी-सी भी आपत्ति की संभावना होते ही वह धरती छोड़ कर आकाश में उड़ने लगता है । आकाश उसके लिए अभय का स्थल है । अहिंसा भी अभय का स्थान है ।

प्यास से पीडित को पानी और भूखे को भोजन मिल जाए तो उसकी पीडा एवं पीडाजनित व्याकुलता मिट जाती है, उसे शान्ति प्राप्त होती है, उसी प्रकार अहिंसा परम शान्तिदायिनी है ।

जैसे जहाज समुद्र में डूबते की प्राणरक्षा का हेतु होता है, उसी प्रकार संसार-समुद्र में डूबने वाले प्राणियों की रक्षा करने वाली, उन्हें उबारने वाली अहिंसा है ।

चौपाये जैसे अपने वाड़े में पहुँच कर निर्भयता का अनुभव करते हैं—वह उनके लिए अभय का स्थान है, इसी प्रकार भगवती अहिंसा भी अभय का स्थान है—अभय प्रदान करने वाली है ।

जहाँ आवागमन बहुत ही कम होता है, ऐसी सुनसान तथा हिंस्र जन्तुओं से व्याप्त अटवी में एकाकी गमन करना संकटमय होता है । सार्थ (समूह) के साथ जाने पर भय नहीं रहता, इसी प्रकार जहाँ अहिंसा है, वहाँ भय नहीं रहता ।

इन उपमाओं के निरूपण के पश्चात् सूत्रकार ने स्पष्ट किया है कि अहिंसा आकाश, पानी, भोजन, औषध आदि के समान कही गई है किन्तु ये उपमाएँ पूर्णोपमाएँ नहीं हैं । भोजन, पानी, औषध आदि उपमाएँ न तो ऐकान्तिक हैं और न आत्यन्तिक । तात्पर्य यह है कि दुःख या भय का प्रतीकार करने वाली इन वस्तुओं से न तो सदा के लिए दुःख दूर होता है और न परिपूर्ण रूप से होता है । यही नहीं, कभी-कभी तो भोजन, औषध आदि दुःख के कारण भी बन जाते हैं । किन्तु अहिंसा में यह खतरा नहीं है । अहिंसा से प्राप्त आनन्द ऐकान्तिक है—उससे दुःख की लेशमात्र भी संभावना नहीं है । साथ ही वह आनन्द आत्यन्तिक भी है, अर्थात् अहिंसा से निर्वाण की प्राप्ति होती है, अतएव वह आनन्द सदैव स्थायी रहता है । एक बार प्राप्त होने के पश्चात् उसका विनाश नहीं होता । इस आशय को व्यक्त करने के लिए शास्त्रकार ने कहा है—**'एत्तो विसिट्ठतरिया अहिंसा'** अर्थात् अहिंसा इन सब उपमाभूत वस्तुओं से अत्यन्त विशिष्ट है ।

मूलपाठ में वनस्पति का उल्लेख करने के साथ बीज, हरितकाय, पृथ्वीकायिक आदिए केन्द्रियों का उल्लेख करने के साथ स्थावर का एवं जलचर आदि के साथ त्रस का और अन्त में 'सर्वभूत' शब्द का जो पृथक् ग्रहण किया गया है, इसका प्रयोजन अहिंसा-भगवती की महिमा के अतिशय

को प्रकट करना है। आशय यही है कि अहिंसा से प्राणीमात्र का क्षेम-कुशल ही होता है, किसी का अक्षेम नहीं होता।

अहिंसा के विशुद्ध दृष्टा और आराधक—

१०९—एसा भगवई अहिंसा जा सा अपरिमिय-णाणदंसणधरेहिं सील-गुण-विणय-तव-संयम-णायगेहिं तित्थयरेहिं सव्वजगजीववच्छलेहिं तिलोयमहिएहिं जिणवरेहिं (जिणचंदेहिं) सुट्ठुदिट्ठा, ओहिजिणेहिं विण्णाया, उज्जुमईहिं विदिट्ठा, विउलमईहिं विदिआ, पुव्वधरेहिं अहीया, वेउव्वीहिं पतिण्णा, आभिणिवोहियणाणीहिं सुयणाणीहिं मणपज्जवणाणीहिं केवलणाणीहिं आमोसहिपत्तेहिं खेलोसहिपत्तेहिं जल्लोसहिपत्तेहिं विप्पोसहिपत्तेहिं सव्वोसहिपत्तेहिं बीयबुद्धीहिं कुट्ठबुद्धीहिं पयाणुसारीहिं संभिण्णसोएहिं सुयधरेहिं मणबलिएहिं वयबलिएहिं कायबलिएहिं णाणबलिएहिं दंसणबलिएहिं चरित्तबलिएहिं खीरासवेहिं महुआसवेहिं सप्पियासवेहिं अक्खीणमहाणसिएहिं चारणेहिं विज्जाहरेहिं।

चउत्थभत्तिएहिं एवं जाव छम्मासभत्तिएहिं उक्खित्तचरएहिं णिक्खित्तचरएहिं अंतचरएहिं पंतचरएहिं लूहचरएहिं समुयाणचरएहिं अण्णइलाएहिं मोणचरएहिं संसट्ठकप्पिएहिं तज्जायसंसट्ठकप्पिएहिं उवणिएहिं सुद्धेसणिएहिं संखादत्तिएहिं दिट्ठलाभिएहिं पुट्ठलाभिएहिं आयंबिलिएहिं पुरिमड्ढिएहिं एक्कासणिएहिं णिव्विइएहिं भिण्णपिंडवाइएहिं परिमियपिंडवाइएहिं अंताहारेहिं पंताहारेहिं अरसाहारेहिं विरसाहारेहिं लूहाहारेहिं तुच्छाहारेहिं अंतजीवीहिं पंतजीवीहिं लूहजीविहिं तुच्छजीवीहिं उवसंतजीवीहिं पसंतजीवीहिं विवित्तजीवीहिं अखीरमहुसप्पिएहिं अमज्जमंसासिएहिं ठाणाइएहिं पडिमंठाईहिं ठाणुक्कडिएहिं वीरासणिएहिं णेसज्जिएहिं डंडाइएहिं लगंडसाईहिं एगपासगेहिं आयावएहिं अप्पावएहिं अणिट्ठुभएहिं अकंडूयएहिं धुयकेसमंसुलोमणएहिं सव्वगायपडिकम्मविप्पमुक्केहिं समणुचिण्णा, सुयहरविइयत्थकायबुद्धीहिं। धीरमइबुद्धिणो य जे ते आसीविसउग्गतेयकप्पा णिच्छयववसायपज्जत्तकयमईया णिच्चं सज्झायज्झाणअणुवद्धधम्मज्झाणा पंचमहव्वयचरित्तजुत्ता समिया समिइसु, समियपावा छव्विहजगवच्छला णिच्चमप्पमत्ता एएहिं अण्णेहि य जा सा अणुपालिया भगवई।

१०९—यह भगवती अहिंसा वह है जो अपरिमित—अनन्त केवलज्ञान-दर्शन को धारण करने वाले, शीलरूप गुण, विनय, तप और संयम के नायक—इन्हें चरम सीमा तक पहुँचाने वाले, तीर्थ की संस्थापना करने वाले—प्रवर्त्तक, जगत् के समस्त जीवों के प्रति वात्सल्य धारण करने वाले, त्रिलोकपूजित जिनवरों (जिनचन्द्रों) द्वारा अपने केवलज्ञान-दर्शन द्वारा सम्यक् रूप में स्वरूप, कारण और कार्य के दृष्टिकोण से निश्चित की गई है।

विशिष्ट अवधिज्ञानियों द्वारा विज्ञात की गई है—ज्ञपरिज्ञा से जानी गई और प्रत्याख्यानपरिज्ञा से सेवन की गई है। ऋजुमति-मनःपर्यवज्ञानियों द्वारा देखी-परखी गई है। विपुलमति-मनःपर्यायज्ञानियों द्वारा ज्ञात की गई है। चतुर्दश पूर्वश्रुत के धारक मुनियों ने इसका अध्ययन किया है। विक्रियालब्धि के धारकों ने इसका आजीवन पालन किया है। आभिनिवोधिक-मतिज्ञानियों ने, श्रुतज्ञानियों ने, अवधिज्ञानियों ने, मनःपर्यवज्ञानियों ने, केवलज्ञानियों ने, आमर्पौषधिलब्धि के धारक, श्लेष्मौषधिलब्धिधारक, जल्लौषधिलब्धिधारकों, विप्रुडौषधिलब्धिधारकों, सर्वौषधिलब्धिप्राप्त,

वीजवुद्धि-कोष्ठवुद्धि—पदानुसारिवुद्धि—लब्धि के धारकों, संभिन्नश्रोतस्लब्धि के धारकों, श्रुतधरों, मनोवली, वचनवली और कायवली मुनियों, ज्ञानवली, दर्शनवली तथा चारित्रवली महापुरुषों ने, मध्वास्रवलब्धिधारी, सर्पिरास्रवलब्धिधारी तथा अक्षीणमहानसलब्धि के धारकों ने, चारणों और विद्याधरों ने, चतुर्थभक्तिकों—एक-एक उपवास करने वालों से लेकर दो, तीन, चार, पाँच दिनों, इसी प्रकार एक मास, दो मास, तीन मास, चार मास, पाँच मास एवं छह मास तक का अनशन-उपवास करने वाले तपस्वियों ने, इसी प्रकार उत्क्षिप्तचरक, निक्षिप्तचरक, अन्तचरक, प्रान्तचरक, रूक्षचरक, समुदानचरक, अन्नग्लायक, मौनचरक, संसृष्टकल्पिक, तज्जातसंसृष्टकल्पिक, उपनिधिक, शुद्धैषणिक, संख्यादत्तिक, दृष्टलाभिक, अदृष्टलाभिक, पृष्ठलाभिक, आचाम्लक, पुरिमार्धिक, एकाशनिक, निर्विकृतिक, भिन्नपिण्डपातिक, परिमितपिण्डपातिक, अन्ताहारी, प्रान्ताहारी, अरसाहारी, विरसाहारी, रूक्षाहारी, तुच्छाहारी, अन्तजीवी, प्रान्तजीवी, रूक्षजीवी, तुच्छजीवी, उपशान्तजीवी, प्रशान्तजीवी, विविक्तजीवी तथा दूध, मधु और घृत का यावज्जीवन त्याग करने वालों ने, मद्य और मांस से रहित आहार करने वालों ने, कायोत्सर्ग करके एक स्थान पर स्थित रहने का अभिग्रह करने वालों ने, प्रतिमास्थायिकों ने, स्थानोत्कटिकों ने, वीरासनिकों ने, नैषधिकों ने, दण्डायतिकों ने, लगण्डशायिकों ने, एकपार्श्वकों ने, आतापकों ने, अपावृतों ने, अनिष्ठीवकों ने, अकंडूयकों ने, धूतकेश-श्मश्रु-लोम-नख अर्थात् सिर के वाल, दाढी, मूंछ और नखों का संस्कार करने का त्याग करने वालों ने, सम्पूर्ण शरीर के प्रक्षालन आदि संस्कार के त्यागियों ने, श्रुतधरों के द्वारा तत्त्वार्थ को अवगत करने वाली वुद्धि के धारक महापुरुषों ने (अहिंसा भगवती का) सम्यक् प्रकार से आचरण किया है। (इनके अतिरिक्त) आशीविष सर्प के समान उग्र तेज से सम्पन्न महापुरुषों ने, वस्तुतत्त्व का निश्चय और पुरुषार्थ—दोनों में पूर्ण कार्य करने वाली वुद्धि से सम्पन्न प्रज्ञापुरुषों ने, नित्य स्वाध्याय और चित्तवृत्तिनिरोध रूप ध्यान करने वाले तथा धर्मध्यान में निरन्तर चित्त को लगाये रखने वाले पुरुषों ने, पाँच महाव्रतस्वरूप चारित्र से युक्त तथा पाँच समितियों से सम्पन्न, पापों का शमन करने वाले, षट् जीवनिकायरूप जगत् के वत्सल, निरन्तर अप्रमादी रह कर विचरण करने वाले महात्माओं ने तथा अन्य विवेकविभूषित सत्पुरुषों ने अहिंसा भगवती की आराधना की है।

विवेचन—कतिपय लोगों की ऐसी धारणा होती है कि अहिंसा एक आदर्श सिद्धान्त मात्र है। जीवन में उसका निर्वाह नहीं किया जा सकता, अर्थात् वह व्यवहार में नहीं लाई जा सकती। इस धारणा को भ्रमपूर्ण सिद्ध करने के लिए सूत्रकार ने खूब विस्तारपूर्वक यह बतलाया है कि अहिंसा मात्र सिद्धान्त नहीं, वह व्यवहार भी है और अनेकानेक महापुरुष अपने जीवन में उसका पूर्णरूपेण परिपालन करते रहे हैं। यही तथ्य स्फुट करने के उद्देश्य से यहाँ तीर्थंकर भगवन्तों से लेकर विशिष्ट ज्ञानों के धारकों, अतिशय लोकोत्तर वुद्धि के धनियों, विविध लब्धियों से सम्पन्न महामुनियों, आहार-विहार में अतिशय संयमशील एवं तपोनिरत तपस्वियों आदि-आदि का उल्लेख हुआ है।

इस विस्तृत उल्लेख से उन साधकों के चित्त का समाधान भी किया गया है जो अहिंसा के पथ पर अग्रसर होने में शंकाशील होते हैं। जिस पथ पर अनेकानेक पुरुष चल चुके हैं, उस पर निश्शंक भाव से मनुष्य चल पड़ता है। लोकोक्ति है—

महाजनो येन गतः स पन्थाः।

अर्थात् जिस मार्ग पर महाजन—विशिष्ट पुरुष चले हैं, वही हमारे लिए लक्ष्य तक पहुँचने का सही मार्ग है ।

अहिंसा के पथ पर त्रिलोकपूजित, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी, प्राणीमात्र के प्रति वत्सल तीर्थंकर देव चले और अन्य अतिशयज्ञानी महामानव चले, वह अहिंसा का मार्ग निस्संदेह गन्तव्य है, वही लक्ष्य तक पहुँचाने वाला है और उसके विषय में किसी प्रकार की शंका रखना योग्य नहीं है । इस मूल पाठ से साधक को इस प्रकार का आश्वासन मिलता है ।

मूल पाठ में अनेक पद ऐसे आए हैं, जिनकी व्याख्या करना आवश्यक है । वह इस प्रकार है—

विशिष्ट प्रकार की तपश्चर्या करने से तपस्वियों को विस्मयकारी लब्धियाँ—शक्तियाँ स्वतः प्राप्त हो जाती हैं । उनमें से कुछ लब्धियों के धारकों का यहाँ उल्लेख किया गया है ।

आमर्षौषधिलब्धिधारक—विशिष्ट तपस्या के प्रभाव से किसी तपस्वी में ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि उसके शरीर का स्पर्श करते ही सब प्रकार के रोग नष्ट हो जाते हैं । वह तपस्वी आमर्षौषधिलब्धि का धारक कहलाता है ।

श्लेष्मौषधिलब्धिधारी—जिनका श्लेष्म—कफ सुगंधित और रोगनाशक हो ।

जल्लौषधिलब्धिधारी—जिनके शरीर का मैल रोग-विनाशक हो ।

विप्रुडौषधिलब्धिधारी—जिनका मल-मूत्र रोग-विनाशक हो ।

सर्वौषधिलब्धिधारी—जिनका मल, मूत्र, कफ, मैल आदि सभी कुछ व्याधिविनाशक हो ।

बीजबुद्धिधारी—बीज के समान बुद्धि वाले । जैसे छोटे बीज से विशाल वृक्ष उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार एक साधारण अर्थ के ज्ञान के सहारे अनेक अर्थों को विशद रूप से जान लेने वाली क्षयोपशमजनित बुद्धि के धारक ।

कोष्ठबुद्धिधारी—जैसे कोठे में भरा धान्य क्षीण नहीं होता, वैसे ही प्राप्त ज्ञान चिरकाल तक उतना ही बना रहे—कम न हो, ऐसी शक्ति से सम्पन्न ।

पदानुसारीबुद्धिधारक—एक पद को सुन कर ही अनेक पदों को जान लेने की बुद्धि-शक्ति वाले ।

संभिन्नश्रोतस्लब्धिधारी—एक इन्द्रिय से सभी इन्द्रियों के विषय को ग्रहण करने की शक्ति वाले ।

श्रुतधर—आचारांग आदि आगमों के विशिष्ट ज्ञाता ।

मनोबली—जिनका मनोबल अत्यन्त दृढ हो ।

वचनबली—जिनके वचनों में कुतर्क, कुहेतु का निरसन करने का विशिष्ट सामर्थ्य हो ।

कायबली—भयानक परीषह और उपसर्ग आने पर भी अचल रहने की शारीरिक शक्ति के धारक ।

ज्ञानबली—मतिज्ञान आदि ज्ञानों के बल वाले ।

दर्शनबली—सुदृढ तत्त्वार्थश्रद्धा के बल से सम्पन्न ।

चारित्रबली—विशुद्ध चारित्र की शक्ति से युक्त ।

क्षीरास्रवी—जिनके वचन दूध के समान मधुर प्रतीत हों ।

मधुरास्रवी—जिनकी वाणी मधु-सी मीठी हो ।

सर्पिरास्रवी—जिनके वचन घृत जैसे स्निग्ध-स्नेहभरे हों ।

अक्षीणमहानसिक—समाप्त नहीं होने वाले भोजन की लब्धि वाले । इस लब्धि के धारक मुनि अकेले अपने लिए लाये भोजन में से लाखों को तृप्तिजनक भोजन करा सकते हैं । वह भोजन तभी समाप्त होता है जब लाने वाला स्वयं भोजन कर ले ।

चारण—आकाश में विशिष्ट गमन करने वाले ।

विद्याधर—विद्या के बल से आकाश में चलने की शक्ति वाले ।

उत्क्षिप्तचरक—पकाने के पात्र में से बाहर निकाले हुए भोजन में से ही आहार ग्रहण करने के अभिग्रह वाले ।

निक्षिप्तचरक—पकाने के पात्र में रक्खे हुए भोजन को ही लेने वाले ।

अन्तचरक—नीरस या चना आदि निम्न कोटि का ही आहार लेने वाले ।

प्रान्तचरक—बचा-खुचा ही आहार लेने की प्रतिज्ञा—अभिग्रह वाले ।

रूक्षचरक—रूखा-सूखा ही आहार लेने वाले ।

समुदानचरक—सधन, निर्धन एवं मध्यम श्रेणी के घरों से समभावपूर्वक भिक्षा ग्रहण करने वाले ।

अन्नग्लायक—ठंडी-बासी भिक्षा स्वीकार करने वाले ।

मौनचरक—मौन धारण करके भिक्षा के लिए जाने वाले ।

संसृष्टकल्पिक—भरे (लिप्त) हाथ या पात्र से आहार लेने की मर्यादा वाले ।

तज्जातसंसृष्टकल्पिक—जो पदार्थ ग्रहण करना है उसी से भरे हुए हाथ या पात्रादि से भिक्षा लेने के कल्प वाले ।

उपनिधिक—समीप में ही भिक्षार्थ जाने के अथवा समीप में रहे हुए पदार्थ को ही ग्रहण करने के अभिग्रह वाले ।

शुद्धैषणिक—निर्दोष आहार की गवेषणा करने वाले ।

संख्यादत्तिक—दत्तियों की संख्या निश्चित करके आहार लेने वाले ।

दृष्टलाभिक—दृष्ट स्थान से दी जाने वाली या दृष्ट पदार्थ की भिक्षा ही स्वीकार करने वाले ।

अदृष्टलाभिक—अदृष्टपूर्व—पहले नहीं देखे दाता से भिक्षा लेने वाले ।

पृष्टलाभिक—'महाराज ! यह वस्तु लेंगे ?' इस प्रकार प्रश्नपूर्वक प्राप्त भिक्षा लेने वाले ।

आचाम्लिक—आयंबिल तप करने वाले ।

पुरिमार्धिक—दो पौरुषी दिन चढ़े बाद आहार लेने वाले ।

एकासनिक—एकाशन करने वाले ।

निर्विकृतिक—घी, दूध, दही आदि रसों से रहित भिक्षा लेने वाले ।

भिन्नपिण्डपातिक—फूटे—बिखरे पिण्ड—आहार को लेने वाले ।

परिमितपिण्डपातिक—घरों एवं आहार के परिमाण का निश्चय करके आहार ग्रहण करने वाले ।

अरसाहारी—रसहीन—हींग आदि बघार से रहित आहार लेने वाले ।

विरसाहारी—पुराना होने से नीरस हुए धान्य का आहार लेने वाले ।

उपशान्तजीवी—भिक्षा के लाभ और अलाभ की स्थिति में उद्विग्न न होकर शान्तभाव में रहने वाले ।

प्रतिमास्थायिक—एकमासिकी आदि भिक्षुप्रतिमाओं को स्वीकार करने वाले ।

स्थानोत्कुटुक—उकड़ू आसन से एक जगह बैठने वाले ।

वीरासनिक—वीरासन से बैठने वाले । (पैर धरती पर टेक कर कुर्सी पर बैठे हुए मनुष्य के नीचे से कुर्सी हटा लेने पर उसका जो आसन रहता है, वह वीरासन है ।)

नैषधिक—दृढ़ आसन से बैठने वाले ।

दण्डायतिक—डंडे के समान लम्बे लेट कर रहने वाले ।

लगण्डशायिक—सिर और पांवों की एड़ियों को धरती पर टिका कर और शेष शरीर को अधर रख कर शयन करने वाले ।

एकपार्श्वक—एक ही पसवाड़े से सोने वाले ।

आतापक—सर्दी-गर्मी में आतापना लेने वाले ।

अप्रावृत्तिक—प्रावरण—वस्त्ररहित होकर शीत, उष्ण, दंश-मशक आदि परीषह सहन करने वाले ।

अनिष्ठीवक—नहीं थूकने वाले ।

अकण्डूयक—शरीर को खुजली आने पर भी नहीं खुजलाने वाले ।

शेष पद सुगम—सुबोध हैं और उनका आशय अर्थ में ही आ चुका है ।

इस प्रकार के महनीय पुरुषों द्वारा आचरित अहिंसा प्रत्येक कल्याणकामी के लिए आचरणीय है ।

आहार की निर्दोष विधि

११०—इमं च पुढवि-दग-अगणि-मारुय-तरुगण-तस-थावर-सव्वभूयसंजमदयट्ठयाए सुद्धं उञ्छं गवेसियव्वं अकयमकारियमणाहूयमणुद्दिट्ठं अकीयकडं णवहि य कोडिहिं सुपरिसुद्धं, दसहि य दोसेहिं विप्पमुक्कं, उग्गम-उप्पायणेसणासुद्धं ववगयचुयचावियचत्तदेहं च फासुयं च ण णिसज्जकहापओय-णक्खासुओवणीयं ति ण तिगिच्छा-मंत-मूल-भेसज्जकज्जहेउं, ण लक्खणुप्पाय-सुमिण-जोइस-णिमित्त-कहकप्पउत्तं, ण वि डंभणाए, ण वि रक्खणाए, ण वि सासणाए, ण वि डंभण-रक्खण-सासणाए भिक्खं गवेसियव्वं, ण वि वंदणाए, ण वि माणणाए, ण वि पूयणाए, ण वि वंदण-माणण-पूयणाए भिक्खं गवेसियव्वं ।

११०—अहिंसा का पालन करने के लिए उद्यत साधु को पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय—इन स्थावर और (द्वीन्द्रिय आदि) त्रस, इस प्रकार सभी प्राणियों के प्रति संयमरूप दया के लिए शुद्ध—निर्दोष भिक्षा की गवेषणा करनी चाहिए। जो आहार साधु के लिए नहीं बनाया गया हो, दूसरे से नहीं बनवाया गया हो, जो अनाहूत हो अर्थात् गृहस्थ द्वारा निमंत्रण देकर या पुन: बुलाकर न दिया गया हो, जो अनुद्दिष्ट हो—साधु के निमित्त तैयार न किया गया हो, साधु के उद्देश्य से खरीदा नहीं गया हो, जो नव कोटियों से विशुद्ध हो, शंकित आदि दश दोषों से सर्वथा रहित हो, जो उद्गम के सोलह, उत्पादना के सोलह और एषणा के दस दोषों से रहित हो, जिस देय वस्तु में से आगन्तुक जीव-जन्तु स्वत: पृथक् हो गए हों, वनस्पतिकायिक आदि जीव स्वत: या परत:—किसी के द्वारा च्युत—मृत हो गए हों या दाता द्वारा दूर करा दिए गए हों अथवा दाता ने स्वयं दूर कर दिए हों, इस प्रकार जो भिक्षा अचित्त हो, जो शुद्ध अर्थात् भिक्षा सम्बन्धी अन्य दोषों से रहित हो, ऐसी भिक्षा की गवेषणा करनी चाहिए।

भिक्षा के लिए गृहस्थ के घर गए हुए साधु को आसन पर बैठ कर, धर्मोपदेश देकर या कथा-कहानी सुना कर प्राप्त किया हुआ आहार नहीं ग्रहण करना चाहिए। वह आहार चिकित्सा, मंत्र, मूल—जड़ीबूटी, औषध आदि के हेतु नहीं होना चाहिए। स्त्री-पुरुष आदि के शुभाशुभसूचक लक्षण, उत्पात—भूकम्प, अतिवृष्टि, दुर्भिक्ष आदि स्वप्न, ज्यौतिष—ग्रहदशा, मुहूर्त्त आदि का प्रतिपादक शास्त्र, विस्मयजनक चामत्कारिक प्रयोग या जादू के प्रयोग के कारण दिया जाता आहार नहीं होना चाहिए, अर्थात् साधु को लक्षण, उत्पात, स्वप्नफल या कुतूहलजनक प्रयोग आदि बतला कर भिक्षा नहीं ग्रहण करना चाहिए। दम्भ अर्थात् माया का प्रयोग करके भिक्षा नहीं लेनी चाहिए। गृहस्वामी के घर की या पुत्र आदि की रखवाली करने के बदले प्राप्त होने वाली भिक्षा नहीं लेनी चाहिए—भिक्षाप्राप्ति के लिए रखवाली नहीं करनी चाहिए। गृहस्थ के पुत्रादि को शिक्षा देने या पढ़ाने के निमित्त से भी भिक्षा ग्राह्य नहीं है। पूर्वोक्त दम्भ, रखवाली और शिक्षा—इन तीनों निमित्तों से भिक्षा नहीं स्वीकार करनी चाहिए। गृहस्थ का वन्दन—स्तवन—प्रशंसा करके, सन्मान—सत्कार करके अथवा पूजा—सेवा करके और वन्दन, मानन एवं पूजन—इन तीनों को करके भिक्षा की गवेषणा नहीं करना चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ में अहिंसा के आराधक साधु को किस प्रकार की निर्दोष भिक्षा की गवेषणा करनी चाहिए, यह प्रतिपादित किया गया है। सूत्र में जिन दोषों का उल्लेख हुआ है, उनसे बचते हुए ही भिक्षा ग्रहण करने वाला पूर्ण अहिंसा की आराधना कर सकता है। कतिपय विशिष्ट पदों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

नवकोटिपरिशुद्ध—आहारशुद्धि की नौ कोटियाँ ये हैं—(१) आहारादि के लिए साधु हिंसा न करे (२) दूसरे के द्वारा हिंसा न कराए (३) ऐसी हिंसा करने वाले का अनुमोदन न करे (४) स्वयं न पकाए (५) दूसरे से न पकवाए (६) पकाने वाले का अनुमोदन न करे (७) स्वयं न खरीदे (८) दूसरे से न खरीदवाए और (९) खरीदने वाले का अनुमोदन न करे। ये नौ कोटियाँ मन, वचन और काय से समझना चाहिए।

शंकित आदि दस दोष—

(१) **शंकित**—दोष की आशंका होने पर भी भिक्षा ले लेना।

(२) म्रक्षित—देते समय हाथ, पात्र या आहार सचित्त पानी आदि से लिप्त होना ।
(३) निक्षिप्त—सचित्त पर रक्खी अचित्त वस्तु ग्रहण करना ।
(४) पिहित—सचित्त से ढँकी वस्तु लेना ।
(५) संहृत—किसी पात्र में से दोषयुक्त वस्तु पृथक् करके उसी पात्र से दी जाने वाली भिक्षा ग्रहण करना ।
(६) दायक—बालक आदि अयोग्य दाता से भिक्षा लेना, किन्तु गृहस्वामी स्वयं बालक से दिलाए तो दोष नहीं है ।
(७) उन्मिश्र—सचित्त अथवा सचित्तमिश्रित से मिला हुआ लेना ।
(८) अपरिणत—जिसमें शस्त्र पूर्ण रूप से परिणत न हुआ हो—जो पूर्ण रूप से अचित्त न हुआ हो, ऐसा आहार लेना ।
(९) लिप्त—तत्काल लीपी हुई भूमि पर से भिक्षा लेना ।
(१०) छर्दित—जो आंशिक रूप से नीचे गिर या टपक रहा हो, ऐसा आहार लेना ।

(१) सोलह उद्गम-दोष—

(१) **आधाकर्म**—किसी एक—अमुक साधु के निमित्त से षट्काय के जीवों की विराधना करके किसी वस्तु को पकाना आधाकर्म कहलाता है । यह दोष चार प्रकार से लगता है—(१) आधाकर्म दोष से दूषित आहार का सेवन करना (२) आधाकर्मी आहार के लिए निमंत्रण स्वीकार करना (३) आधाकर्मी आहार का सेवन करने वालों के साथ रहना (४) आधाकर्मी आहारसेवी की प्रशंसा करना ।

(२) **औद्देशिक**—साधारण रूप से भिक्षुओं के लिए तैयार किया हुआ आहारादि औद्देशिक कहलाता है । यह दो प्रकार से होता है—ओघ से और विभाग से । अपने लिए बनती हुई रसोई में भिक्षुकों के लिए कुछ अधिक बनाना ओघ है और विवाह आदि के अवसर पर भिक्षुकों के लिए कुछ भाग अलग निकाल रखना विभाग कहा जाता है । आधाकर्मी आहार किसी विशिष्ट—अमुक एक साधु के उद्देश्य से और औद्देशिक सामान्य रूप से किन्हीं भी साधुओं के लिए बनाया गया होता है । यही इन दोनों में अन्तर है ।

(३) **पूतिकर्म**—निर्दोष आहार में दूषित आहार का अंश मिला हो तो वह पूतिकर्म दोष से दूषित होता है ।

(४) **मिश्रजात**—अपने लिए और साधु के लिए तैयार किया गया आहार मिश्रजातदोषयुक्त कहलाता है ।

(५) **स्थापना**—साधु के लिए अलग रखा हुआ आहार लेना स्थापनादोष है ।

(६) **प्राभृतिका**—साधु को आहार देने के निमित्त से जीमनवार के समय को आगे-पीछे करना ।

(७) **प्रादुष्करण**—अन्धेरे में रखी हुई वस्तु को लाने के लिए उजाला करके या अन्धकार में से प्रकाश में लाया आहार लेना ।

(८) क्रीत—साधु के निमित्त खरीद कर लाया आहार लेना।

(९) प्रामित्य—साधु के लिए उधार लिया हुआ आहार लेना।

(१०) परिवर्त्तित—साधु के लिए आहार में अदल-बदल करना, दूसरे से अदलाबदली करना।

(११) अभिहृत—साधु के सामने—उपाश्रय आदि में आहार लाना।

(१२) उद्भिन्न—साधु को देने के लिए किसी पात्र को खोलना—लाख आदि के लेप को हटाना।

(१३) मालापहृत—निसरणी आदि लगा कर, उस पर चढ़ कर, ऊपर से नीचे उतार कर दिया जाने वाला आहार।

(१४) आच्छेद्य—दुर्वलों से या आश्रित जनों से छीन कर साधु को आहार देना।

(१५) अनिसृष्ट—जिस वस्तु के अनेक स्वामी हों, उसे उन सब की अनुमति के विना देना।

(१६) अध्यवपूर—साधुओं का आगमन जान कर अपने लिए वनने वाले भोजन में अधिक सामग्री मिला देना—अधिक रसोई तैयार करना।

उद्गम के इन सोलह दोषों का निमित्त दाता होता है, अर्थात् दाता के कारण ये दोष होते हैं।

(२) सोलह उत्पादनादोष—

(१) धात्री—धायमाता जैसे कार्य—वच्चे को खेलाना आदि करके आहार प्राप्त करना।

(२) दूती—गुप्त अथवा प्रकट संदेश पहुँचा कर आहार प्राप्त करना।

(३) निमित्त—शुभ-अशुभ निमित्त वतलाकर आहार प्राप्त करना।

(४) आजीव—प्रकट या अप्रकट रूप से अपनी जाति या कुल का परिचय देकर भिक्षा प्राप्त करना।

(५) वनीपक—जैन, वौद्ध, वैष्णव आदि में जहाँ जिसका आदर हो, वहाँ वैसा ही अपने को वतलाकर अथवा दीनता दिखलाकर आहार प्राप्त करना।

(६) चिकित्सा—वैद्यवृत्ति से आहार प्राप्त करना।

(७) क्रोध—क्रोध करके या गृहस्थ को शाप आदि का भय दिखाकर आहार प्राप्त करना।

(८) मान—अभिमान से अपने को प्रतापी, तेजस्वी वगैरह वतला कर आहार प्राप्त करना।

(९) माया—छल करके आहार प्राप्त करना।

(१०) लोभ—आहार में लोभ करना, आहार के लिए जाते समय लालचवश ऐसा निश्चय करके जाना कि आज तो अमुक वस्तु ही लाएँगे और उस वस्तु के न मिलने पर उसके लिए भटकना।

(११) पूर्व-पश्चात् संस्तव—आहार देने से पहले या पश्चात् दाता की प्रशंसा करना, उसका गुणगान करना।

(१२) विद्या—देवी जिसकी अधिष्ठात्री हो और जप या हवन से जिसकी सिद्धि हो, उसे विद्या कहते हैं। ऐसी विद्या के प्रयोग से आहारलाभ करना।

(१३) मन्त्र—पुरुषप्रधान अक्षर-रचना को मंत्र कहते हैं, जिसका जप करने मात्र से सिद्धि प्राप्त हो जाए। ऐसे मंत्र के प्रयोग से आहार प्राप्त करना।

(१४) चूर्ण—अदृश्य करने वाले चूर्ण—सुरमा आदि का प्रयोग करके भिक्षालाभ करना।

(१५) योग—पैर में लेप करने आदि द्वारा सिद्धियाँ बतला करके आहार प्राप्त करना।

(१६) मूलकर्म—गर्भाधान, गर्भपात आदि भवभ्रमण के हेतुभूत पापकृत्य मूल कहलाते हैं। ऐसे कृत्य बतला कर आहार प्राप्त करना।

ये सोलह उत्पादना दोष कहलाते हैं। ये दोष साधु के निमित्त से लगते हैं। निर्दोष भिक्षा प्राप्त करने के लिए इनसे भी बचना आवश्यक है।

१११—णवि हीलणाए, ण वि णिंदणाए, ण वि गरहणाए, ण वि हीलण-णिंदण-गरहणाए भिक्खं गवेसियव्वं। ण वि भेसणाए, ण वि तज्जणाए, ण वि तालणाए, ण वि भेसण-तज्जण-तालणाए भिक्खं गवेसियव्वं। ण वि गारवेणं, ण वि कुहणयाए, ण वि वणीमयाए, ण वि गारव-कुहण-वणीमयाए भिक्खं गवेसियव्वं। ण वि मित्तयाए, ण वि पत्थणाए, ण वि सेवणाए, ण वि मित्त-पत्थण-सेवणाए भिक्खं गवेसियव्वं। अण्णाए अगढिए अदुट्ठे अदीणे अविमणे अकलुणे अविसाई अपरितंतजोगी जयणघडणकरणचरियविणयगुणजोगसंपउत्ते भिक्खू भिक्खेसणाए णिरए।

१११—(पूर्वोक्त वन्दन, मानन एवं पूजन से विपरीत) न तो गृहस्थ की हीलना करके—जाति आदि के आधार पर बदनामी करके, न निन्दना—देय आहार आदि अथवा दाताके दोष को प्रकट करके और न गर्हा करके—अन्य लोगों के समक्ष दाता के दोष प्रकट करके तथा हीलना, निन्दना एवं गर्हा—तीनों न करके भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। इसी तरह साधु को भय दिखला कर, तर्जना करके—डांट कर या धमकी देकर और ताडना करके—थप्पड़-मुक्का मार कर भी भिक्षा नहीं ग्रहण करना चाहिए और यह तीनों—भय-तर्जना-ताडना करके भी भिक्षा की गवेषणा नहीं करनी चाहिए। ऋद्धि, रस और साता के गौरव-अभिमान से भी भिक्षा की गवेषणा नहीं करनी चाहिए, न अपनी दरिद्रता दिखा कर, मायाचार करके या क्रोध करके, न भिखारी की भाँति दीनता दिखा कर भिक्षा की गवेषणा करनी चाहिए और न यह तीनों—गौरव-क्रोध-दीनता दिखा कर भिक्षा की गवेषणा करनी चाहिए। मित्रता प्रकट करके, प्रार्थना करके और सेवा करके भी अथवा यह तीनों करके भी भिक्षा की गवेषणा नहीं करनी चाहिए। किन्तु अज्ञात रूप से—अपने स्वजन, कुल, जाति आदि का परिचय न देते हुए, अगृद्ध—आहार में आसक्ति—मूर्छा से रहित होकर, आहार और आहारदाता के प्रति द्वेष न करते हुए, अदीन—दैन्यभाव से मुक्त रह कर, भोजनादि न मिलने पर मन में उदासी न लाते हुए, अपने प्रति हीनता-करुणता का भाव न रखते हुए—दयनीय न होकर, अविषादी—विषाद-रहित वचन-चेष्टा रख कर, निरन्तर मन-वचन-काय को धर्मध्यान में लगाते हुए, यत्न—प्राप्त संयमयोग में उद्यम, अप्राप्त संयम योगों की प्राप्ति में चेष्टा, विनय के आचरण और क्षमादि के गुणों के योग से युक्त होकर साधु को भिक्षा की गवेषणा में निरत—तत्पर होना चाहिए।

विवेचन—उल्लिखित पाठ में भी साधु की भिक्षाशुद्धि की विधि का प्रतिपादन किया गया है। शरीर धर्मसाधना का प्रधान आधार है और आहार के अभाव में शरीर टिक नहीं सकता। इस

उद्देश्य से साधु को आहार-पानी आदि संयम-साधनों की आवश्यकता होती है। किन्तु उन्हें किस प्रकार निर्दोष रूप में प्राप्त करना चाहिए, इस प्रश्न का उत्तर आगमों में यत्र-तत्र अत्यन्त विस्तार से दिया गया है। आहारादि-ग्रहण के साथ अनेकानेक विधिनिपेध जुड़े हुए हैं। उन सब का अभिप्राय यही है कि साधु ने जिन महाव्रतों को अंगीकार किया है, उनका भलीभाँति रक्षण एवं पालन करते हुए ही उसे आहारादि प्राप्त करना चाहिए। आहारादि के लिए उसे संयमविरुद्ध कोई क्रिया नहीं करनी चाहिए। साथ ही पूर्ण समभाव की स्थिति में रहना चाहिए। आहार का लाभ होने पर हर्ष और लाभ न होने पर विषाद को निकट भी न फटकने देना चाहिए। मन में लेशमात्र दीनता-हीनता न आने देना चाहिए और दाता या देय वस्तु के अनिष्ट होने पर क्रोध या द्वेष की भावना नहीं लानी चाहिए। आहार के विषय में गृद्धि नहीं उत्पन्न होने देना भी आवश्यक है। इस प्रकार शरीर, आहार आदि के प्रति ममत्वविहीन होकर सब दोषों से बच कर भिक्षा की गवेषणा करने वाला मुनि ही अहिंसा भगवती की यथावत् आराधना करने में समर्थ होता है।

प्रवचन का उद्देश्य और फल—

११२—इमं च णं सव्वजगजीव-रक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं अत्तहियं पेच्चाभावियं आगमेसिभद्दं सुद्धं णेयाउयं अकुडिलं अणुत्तरं सव्वदुक्खपावाणविउसमणं।

११२—(अहिंसा की आराधना के लिए शुद्ध—निर्दोष भिक्षा आदि के ग्रहण का प्रतिपादक) यह प्रवचन श्रमण भगवान् महावीर ने जगत् के समस्त जीवों की रक्षा—दया के लिए समीचीन रूप में कहा है। यह प्रवचन आत्मा के लिए हितकर है, परलोक—आगामी जन्मों में शुद्ध फल के रूप में परिणत होने से भविक है तथा भविष्यत् काल में भी कल्याणकर है। यह भगवत्प्रवचन शुद्ध—निर्दोष है और दोषों से मुक्त रखने वाला है, न्याययुक्त है—तर्कसंगत है और किसी के प्रति अन्यायकारी नहीं है, अकुटिल है अर्थात् मुक्तिप्राप्ति का सरल—सीधा मार्ग है, यह अनुत्तर—सर्वोत्तम है तथा समस्त दुःखों और पापों को उपशान्त करने वाला है।

विवेचन—इस पाठ में विनेय जनों की श्रद्धा को सुदृढ़ बनाने के लिए प्रवचन के उद्देश्य और महत्त्व का निरूपण किया गया है।

तीर्थंकर भगवान् जगत् के समस्त प्राणियों के प्रति परिपूर्ण समभाव के धारक होते हैं। पूर्ण वीतराग होने के कारण न किसी पर राग और न किसी पर द्वेष का भाव उनमें होता है। इस कारण भगवान् तीर्थंकर देव का प्रवचन सार्व—सर्वकल्याणकारी ही होता है।

चार घातिकर्मों से मुक्त और कृतकृत्य हो चुकने पर भी तीर्थंकर उपदेश क्यों—किसलिए करते हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि तीर्थंकर नामकर्म के उदय से भगवान् प्राणियों की रक्षा रूप करुणा से प्रेरित होकर उपदेश में प्रवृत्त होते हैं। भव्य प्राणियों का प्रबल पुण्य भी उसमें बाह्य निमित्त बनता है।

साधारण पुरुष की उक्ति वचन कहलाती है और महान् पुरुष का वचन **प्रवचन** कहलाता है। प्रवचन शब्द की व्युत्पत्ति व्याकरणशास्त्र के अनुसार तीन प्रकार से की जा सकती है—

प्रकृष्टं वचनं यस्य असौ प्रवचनः—अर्थात् जिनका वचन प्रकृष्ट—अत्यन्त उत्कृष्ट हो। इस व्युत्पत्ति के अनुसार वीतराग देव प्रवचन हैं।

प्रकृष्टं वचनं प्रवचनम्—अर्थात् श्रेष्ठ वचन ही प्रवचन है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार शास्त्र प्रवचन कहलाता है।

प्रकृष्टस्य वचनं प्रवचनम्—अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष का वचन प्रवचन है। इस व्युत्पत्ति से गुरु को भी प्रवचन कहा जा सकता है।

इस प्रकार प्रवचन शब्द देव, शास्त्र और गुरु, इन तीनों का वाचक हो सकता है। प्रस्तुत में 'पावयण' (प्रवचन) शब्द आगमवाचक है।

किसी वस्तु की प्रमाण से परीक्षा करना न्याय कहलाता है। भगवान् का प्रवचन न्याययुक्त है, इस विशेषण से यह ध्वनित किया गया है कि भगवत्प्रवचन प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से अबाधित है। बाधायुक्त वचन प्रवचन नहीं कहलाता।

यह वीतराग और सर्वज्ञ द्वारा कथित प्रवचन वर्तमान जीवन में, आगामी भव में और भविष्यत् काल में भी कल्याणकारी है और मोक्ष का सरल—सीधा मार्ग है।

अहिंसा महाव्रत की प्रथम भावना : ईर्यासमिति—

११३—तस्स इमा पंच भावणाओ पढमस्स वयस्स होंति—

पाणाइवायवेरमण-परिरक्खणट्ठयाए पढमं ठाण-गमण-गुणजोगजुंजणजुगंतरणिवाइयाए दिट्ठीए ईरियव्वं कीड-पयंग-तस-थावर-दयावरेण णिच्चं पुप्फ-फल-तय-पवाल-कंद-मूल-दग-मट्टिय-बीय-हरिय-परिवज्जिएण सम्मं। एवं खलु सव्वपाणा ण हीलियव्वा, ण णिंदियव्वा, ण गरहियव्वा, ण हिंसियव्वा, ण छिंदियव्वा, ण भिंदियव्वा, ण वहेयव्वा, ण भयं दुक्खं च किंचि लब्भा पावेउं, एवं ईरियासमिइजोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा असबलमसंकिलिट्ठणिव्वणचरित्तभावणाए अहिंसए संजए सुसाहू।

११३—पाँच महाव्रतों—संवरों में से प्रथम महाव्रत की ये—आगे कही जाने वाली—पाँच भावनाएँ प्राणातिपातविरमण अर्थात् अहिंसा महाव्रत की रक्षा के लिए हैं।

खड़े होने, ठहरने और गमन करने में स्व-पर की पीड़ारहितता गुणयोग को जोड़ने वाली तथा गाड़ी के युग (जूवे) प्रमाण भूमि पर गिरने वाली दृष्टि से अर्थात् लगभग चार हाथ आगे की भूमि पर दृष्टि रख कर निरन्तर कीट, पतंग, त्रस, स्थावर जीवों की दया में तत्पर होकर फूल, फल, छाल, प्रवाल—पत्ते—कोंपल—कंद, मूल, जल, मिट्टी, बीज एवं हरितकाय—दूब आदि को (कुचलने से) बचाते हुए, सम्यक् प्रकार से—यतना के साथ चलना चाहिए। इस प्रकार चलने वाले साधु को निश्चय ही समस्त अर्थात् किसी भी प्राणी की हीलना—उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, निन्दा नहीं करनी चाहिए, गर्हा नहीं करनी चाहिए। उनकी हिंसा नहीं करनी चाहिए, उनका छेदन नहीं करना चाहिए, भेदन नहीं करना चाहिए, उन्हें व्यथित नहीं करना चाहिए। इन पूर्वोक्त जीवों को लेश मात्र भी भय या दुःख नहीं पहुँचाना चाहिए। इस प्रकार (के आचरण) से साधु ईर्यासमिति में मन, वचन, काय

की प्रवृत्ति से भावित होता है। तथा शबलता (मलीनता) से रहित, संक्लेश से रहित, अक्षत—निरतिचार चारित्र की भावना ने युक्त, संयमशील एवं अहिंसक सुसाधु कहलाता है—मोक्ष का साधक होता है।

द्वितीय भावना : मनःसमिति—

११४—बिइयं च मणेण पावएणं पावगं अहम्मियं दारुणं णिस्संसं वह-बंध-परिकिलेसबहुलं भय-मरण-परिकिलेससंकिलिट्ठं ण कयावि मणेण पावएणं पावगं किंचि वि झायव्वं। एवं मणसमिइ-जोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा असबलमसंकिलिट्ठणिव्वणचरित्तभावणाए अहिंसए संजए सुसाहू।

११४—दूसरी भावना मनःसमिति है। पापमय, अधार्मिक—धर्मविरोधी, दारुण—भयानक, नृशंस—निर्दयतापूर्ण, वध, वन्ध और परिक्लेश की वहुलता वाले, भय, मृत्यु एवं क्लेश से संक्लिष्ट—मलीन ऐसे पापयुक्त मन से लेशमात्र भी विचार नहीं करना चाहिए। इस प्रकार (के आचरण) से—मनःसमिति की प्रवृत्ति से अन्तरात्मा भावित—वासित होती है तथा निर्मल, संक्लेशरहित, अखण्ड निरतिचार चारित्र की भावना से युक्त, संयमशील एवं अहिंसक सुसाधु कहलाता है।

तृतीय भावना : वचनसमिति—

११५—तइयं च वईए पावियाए पावगं ण किंचि वि भासियव्वं। एवं वइ-समिति-जोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा असबलमसंकिलिट्ठणिव्वणचरित्तभावणाए अहिंसए संजए सुसाहू।

११५—अहिंसा महाव्रत की तीसरी भावना वचनसमिति है। पापमय वाणी से तनिक भी पापयुक्त—सावद्य वचन का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इस प्रकार की वाक्समिति (भाषासमिति) के योग से युक्त अन्तरात्मा वाला निर्मल, संक्लेशरहित और अखण्ड चारित्र की भावना वाला अहिंसक साधु सुसाधु होता है—मोक्ष का साधक होता है।

चतुर्थ भावना : आहारैषणासमिति—

११६—चउत्थं आहारएसणाय सुद्धं उंछं गवेसियव्वं अण्णाए अगढिए अदुट्ठे अदीणे अकलुणे अविसाई अपरितंतजोगी जयण-घडण-करण-चरिय-विणय-गुण-जोग-संपओगजुत्ते भिक्खू भिक्खेसणाए जुत्ते समुदाणेऊण भिक्खचरियं उंछं घेत्तूण आगओ गुरुजणस्स पासं गमणागमणाइयारे पडिक्कमण-पडिक्कंते आलोयणदायणं य दाऊण गुरुजणस्स गुरुसंदिट्ठस्स वा जहोवएसं णिरइयारं च अप्पमत्तो पुणरवि अणेसणाए पयओ पडिक्कमित्ता पसंते आसीणसुहणिसण्णे मुहुत्तमित्तं च झाणसुहजोगणाण-सज्झायगोवियमणे धम्ममणे अविमणे सुहमणे अविग्गहमणे समाहियमणे सद्धासंवेगणिज्जरमणे पवयणवच्छलभावियमणे उट्ठिऊण य पहट्ठतुट्ठे जहारायणियं णिमंतइत्ता य साहवे भावओ य विइण्णे य गुरुजणेणं उपविट्ठे।

संपमज्जिऊण ससीसं कायं तहा करयलं, अमुच्छिए अगिद्धे अगढिए अगरहिए अणज्झोववण्णे अणाइले अलुद्धे अणत्तट्ठिए असुरसुरं अचवचवं अदुयमविलंबियं अपरिसाडियं आलोयभायणे जयं पयत्तेण ववगय-संजोग-मणिगालं च विगयधूमं अक्खोवंजणाणुलेवणभूयं संजमजायामायाणिमित्तं संजम-

भारवहणट्ठयाए भुंजेज्जा पाणधारणट्ठयाए संजएण समियं एवं आहारसमिइजोगेणं भाविओ भवइ अंतरप्पा असबलमसंकिलिट्ठणिव्वणचरित्तभावणाए अहिंसए संजए सुसाहू ।

११६—आहार की एषणा से शुद्ध—एषणासम्बन्धी समस्त दोषों से रहित, मधुकरी वृत्ति से—अनेक घरों मे भिक्षा की गवेषणा करनी चाहिए । भिक्षा लेने वाला साधु अज्ञात रहे—अज्ञात सम्बन्ध वाला रहे, अगृद्ध—गृद्धि—आसक्ति से रहित हो, अदुष्ट-द्वेष से रहित हो, अर्थात् भिक्षा न देने वाले, अपर्याप्त भिक्षा देने वाले या नीरस भिक्षा देने वाले दाता पर द्वेष न करे । करुण—दयनीय—दयापात्र न बने । अलाभ की स्थिति में विषाद न करे । मन-वचन-काय की सम्यक् प्रवृत्ति में निरन्तर निरत रहे । प्राप्त संयमयोगों की रक्षा के लिए यतनाशील एवं अप्राप्त संयमयोगों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नवान्, विनय का आचरण करने वाला तथा क्षमा आदि गुणों की प्रवृत्ति से युक्त ऐसा भिक्षाचर्या में तत्पर भिक्षु अनेक घरों में भ्रमण करके थोड़ी-थोड़ी भिक्षा ग्रहण करे । भिक्षा ग्रहण करके अपने स्थान पर गुरुजन के समक्ष जाने-आने में लगे हुए अतिचारों—दोषों का प्रतिक्रमण करे । गृहीत आहार—पानी की आलोचना करे, आहार—पानी उन्हें दिखला दे, फिर गुरुजन के अथवा गुरुजन द्वारा निर्दिष्ट किसी अग्रगण्य साधु के आदेश के अनुसार, सब अतिचारों—दोषों से रहित एवं अप्रमत्त होकर विधिपूर्वक अनेषणाजनित दोषों की निवृत्ति के लिए पुनः प्रतिक्रमण (कायोत्सर्ग) करे । तत्पश्चात् शान्त भाव से सुखपूर्वक आसीन होकर, मुहूर्त्त भर धर्मध्यान, गुरु की सेवा आदि शुभ योग, तत्त्वचिन्तन अथवा स्वाध्याय के द्वारा अपने मन का गोपन करके—चित्त स्थिर करके श्रुत-चारित्ररूप धर्म में संलग्न मन वाला होकर, चित्तशून्यता से रहित होकर, संक्लेश से मुक्त रह कर, कलह अथवा दुराग्रह से रहित मन वाला होकर, समाहितमना—समाधियुक्त मन वाला—अपने चित्त को उपशम में स्थापित करने वाला, श्रद्धा, संवेग—मोक्ष की अभिलाषा और कर्मनिर्जरा में चित्त को संलग्न करने वाला, प्रवचन में वत्सलतामय मन वाला होकर साधु अपने आसन से उठे और हृष्ट-तुष्ट होकर यथारात्निक—दीक्षा में छोटे-बड़े के क्रमानुसार अन्य साधुओं को आहार के लिए निमंत्रित करे । गुरुजनों द्वारा लाये हुए आहार को वितरण कर देने के बाद उचित आसन पर बैठे । फिर मस्तक सहित शरीर को तथा हथेली को भलीभाँति प्रमार्जित करके—पूंज करके आहार में अनासक्त होकर, स्वादिष्ट भोजन की लालसा से रहित होकर तथा रसों में अनुराग-रहित होकर, दाता या भोजन की निन्दा नहीं करता हुआ, सरस वस्तुओं में आसक्ति न रखता हुआ, अकलुषित भावपूर्वक, लोलुपता से रहित होकर, परमार्थ बुद्धि का धारक साधु (भोजन करते समय) 'सुड्-सुड्' ध्वनि न करता हुआ, 'चप-चप' आवाज न करता हुआ, न बहुत जल्दी-जल्दी और न बहुत देर में, भोजन को भूमि पर न गिराता हुआ, चौड़े प्रकाशयुक्त पात्र में (भोजन करे ।) यतना-पूर्वक, आदरपूर्वक एवं संयोजनादि सम्बन्धी दोषों से रहित, अंगार तथा धूम दोष से रहित, गाड़ी की धुरी में तेल देने अथवा घाव पर मल्हम लगाने के समान, केवल संयमयात्रा के निर्वाह के लिए एवं संयम के भार को वहन करने के लिए प्राणों को धारण करने के उद्देश्य से साधु को सम्यक् प्रकार से—यतना के साथ भोजन करना चाहिए ।

इस प्रकार आहारसमिति (एषणासमिति) में समीचीन रूप से प्रवृत्ति के योग से अन्तरात्मा भावित करने वाला साधु, निर्मल, संक्लेशरहित तथा अखण्डित चारित्र की भावना वाला अहिंसक संयमी होता है—मोक्षसाधक होता है ।

पंचमी भावना : आदान-निक्षेपणसमिति—

११७—पंचमं आयाणणिक्खेवणसमिई—पीढ-फलग-सिज्जा-संथारग-वत्थ-पत्त-कंबल-दंडग-रय-हरण-चोलपट्टग-मुहपोत्तिय-पायपुंछणाई एयं पि संजमस्स उववूहणट्ठयाए वायातव-दंसमसग-सीयपरि-रक्खणट्ठयाए उवगरणं रागदोसरहियं परिहरियव्वं संजमेणं णिच्चं पडिलेहण-पप्फोडण-पमज्जणयाए अहो य राओ य अप्पमत्तेण होइ सययं णिक्खियव्वं च गिण्हियव्वं च भायणभंडोवहिउवगरणं एवं आयाणभंडणिक्खेवणासमिइजोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा असबलमसंकिलिट्ठणिव्वणचरित्तभावणाए अहिंसए संजए सुसाहू।

११७—अहिंसा महाव्रत की पाँचवीं भावना आदान-निक्षेपणसमिति है। इस का स्वरूप इस प्रकार है—संयम के उपकरण पीठ—पीढ़ा, चौकी, फलक पाट, शय्या—सोने का आसन, संस्तारक—घास का बिछौना, वस्त्र, पात्र, कम्बल, दण्ड, रजोहरण, चोलपट्ट, मुखवस्त्रिका, पादप्रोंछन—पैर पोंछने का वस्त्रखण्ड, ये अथवा इनके अतिरिक्त उपकरण संयम की रक्षा या वृद्धि के उद्देश्य से तथा पवन, धूप, डांस, मच्छर और शीत आदि से शरीर की रक्षा के लिए धारण-ग्रहण करना चाहिए। (शोभावृद्धि आदि किसी अन्य प्रयोजन से नहीं)। साधु सदैव इन उपकरणों के प्रतिलेखन, प्रस्फोटन—झटकारने और प्रमार्जन करने में, दिन में और रात्रि में सतत अप्रमत्त रहे और भाजन—पात्र, भाण्ड—मिट्टी के बरतन, उपधि—वस्त्र तथा अन्य उपकरणों को यतनापूर्वक रक्खे या उठाए।

इस प्रकार आदान-निक्षेपणसमिति के योग से भावित अन्तरात्मा—अन्तःकरण वाला साधु निर्मल, असंक्लिष्ट तथा अखण्ड—निरतिचार चारित्र की भावना से युक्त अहिंसक संयमशील सुसाधु होता है अथवा ऐसा सुसाधु ही अहिंसक होता है।

विवेचन—उल्लिखित पंचभावना सम्बन्धी पाठ में अहिंसा महाव्रत के परिपूर्ण पालन के लिए आवश्यक पाँच भावनाओं के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है और यह स्पष्ट किया है कि इन भावनाओं के अनुसार आचरण करने वाला ही पूर्ण अहिंसक हो सकता है, वही सुसाधु कहलाने योग्य है, वही चारित्र को निर्मल-निरतिचार रूप से पालन कर सकता है।

मूल पाठ में साधु की भिक्षाचर्या का विशद वर्णन किया गया है। उसका आशय सरलता पूर्वक समझा जा सकता है, अतएव उसके लिए अधिक विवेचन की आवश्यकता नहीं। अहिंसाव्रत की पाँच भावनाएँ पाँच समितियों के नाम से कही गई प्रसिद्ध हैं।

प्रथम भावना ईर्यासमिति है। साधु को अनेक प्रयोजनों से गमनागमन करना पड़ता है। किन्तु उसका गमनागमन विशिष्ट विधि के अनुसार होना चाहिए। गमन करते समय उसे अपने महाव्रत को ध्यान में रखना चाहिए और पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक एवं वनस्पतिकायिक स्थावर जीवों को तथा कीड़ा-मकोड़ा आदि छोटे-मोटे त्रस जीवों को किंचिन्मात्र भी आघात न लगे, उनकी विराधना न हो जाए, इस ओर सतत सावधान रहना चाहिए। ऐसी सावधानी रखने वाला साधु पर-विराधना से बच जाता है, साथ ही आत्मविराधना से भी बचता है। असावधानी से चलने वाला साधु आत्मविराधक भी हो सकता है। कण्टक, कंकर आदि के चुभने से, गड़हे में गिर जाने से,

पाषाण या ठूंठ से टकरा जाने से चोट लग सकती है, गिर पड़ सकता है। ऐसी स्थिति में आर्त्त-ध्यान उत्पन्न हो सकता है। उसका समाधिभाव नष्ट हो सकता है। यह आत्मविराधना है। अतएव स्व-परविराधना से बचने के लिए इधर-उधर दृष्टि न डालते हुए, वार्तालाप में चित्त न लगाते हुए गन्तव्य मार्ग पर ही दृष्टि रखनी चाहिए। आगे की चार हाथ प्रमाण भूमि को देखते हुए एकाग्र भाव से चलना चाहिए।

दूसरी भावना मनःसमिति है। अहिंसा भगवती की पूरी तरह आराधना करने के लिए मन के अप्रशस्त व्यापारों से निरन्तर बचते रहना चाहिए। मन आत्मा का सूक्ष्म किन्तु अत्यन्त शक्तिशाली साधन है। वह कर्मबन्ध का भी और कर्मनिर्जरा का भी प्रधान कारण है। उस पर नियन्त्रण रखने के लिए निरन्तर उसकी चौकसी रखनी पड़ती है। जरा-सी सावधानी हटी और वह कहीं का कहीं दौड़ जाता है। अतः सावधान रहकर उसकी देख-भाल करते रहने की आवश्यकता है। किसी भी प्रकार का पापमय, अधार्मिक या अप्रशस्त विचार उत्पन्न न हो, इसके लिए सदा धर्ममय विचार में संलग्न रखना चाहिए।

तीसरी वचन-भावना में वाणी-प्रयोग सम्बन्धी विवेक को जगाए रखने की मुख्यता है। वध-बन्धकारी, क्लेशोत्पादक, पीडाजनक अथवा कठोर वचनों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। साधु के लिए मौन सर्वोत्तम है किन्तु वचनप्रयोग आवश्यक होने पर हित-मित-पथ्य वचनों का ही प्रयोग करना चाहिए।

चौथी भावना आहार-एषणा है। आहार की प्राप्ति साधु को भिक्षा द्वारा ही होती है। अतएव जैनागमों में भिक्षा सम्बन्धी विधि-निषेध बहुत विस्तारपूर्वक प्रतिपादित किए गए हैं। भिक्षा सम्बन्धी दोषों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। आहार पकाने में हिंसा अवश्यंभावी है। किन्तु इस हिंसा से पूरी तरह बचाव भी हो और भिक्षा भी प्राप्त हो जाए, ऐसा मार्ग भगवान् ने बतलाया है। इसी प्रयोजन से आहार सम्बन्धी उद्गमदोष, उत्पादनादोष आदि का निरूपण किया गया है। उन सब दोषों से रहित भिक्षा ग्रहण करना मुख्यतः परविराधना से बचने के लिए आवश्यक है।

साधु को कभी सरस या नीरस आहार भी मिलता है। कदाचित् अनेक घरों में भ्रमण करने पर भी आहार का लाभ नहीं होता। ऐसे प्रसंगों में मन में रागभाव अथवा द्वेषभाव का उदय हो सकता है। दीनता की भावना भी आ सकती है। मूलपाठ में स्पष्ट किया गया है कि भिक्षा के लाभ, अलाभ अथवा अल्पलाभ आदि का प्रसंग उपस्थित होने पर साधु को अपना समभाव कायम रखना चाहिए।

'हम परान्नजीवी हैं, दूसरों के दिये आहार पर हमारी जीविका निर्भर है' इस प्रकार के विचार को निकट भी नहीं फटकने देना चाहिए। दीनता-हीनता का यह भाव साधु का तेजोवध करता है और तेजोविहीन साधु प्रवचन की प्रभावना नहीं कर सकता, श्रोताओं को प्रभावित नहीं कर सकता। जिस प्रकार गृहस्थों से भिक्षा ग्रहण करके साधु उपकृत होता है, उसी प्रकार गृहस्थ भी भिक्षा देकर उपकृत होता है। वह सुपात्रदान के महान् इहलोक और परलोक संबंधी सुफल से अनुगृहीत होता है। वह उत्कृष्ट पुण्य का उपार्जन करता है। शालिभद्र और सुबाहुकुमार जैसे पुण्यशाली महापुरुषों ने सुपात्रदान के फलस्वरूप ही लौकिक एवं लोकोत्तर ऋद्धि—विभूति प्राप्त की थी। अतएव साधु, गृहस्थों से भिक्षा लेकर उनका भी महान् उपकार करता है। ऐसी स्थिति में साधु

के मन में दीनता या हीनता का विचार नहीं आना चाहिए। यह तथ्य प्रकट करने के लिए मूलपाठ में 'अदीणो' पद का प्रयोग किया गया है।

पाँचवीं भावना आदान-निक्षेपणसमिति है। साधु अपने शरीर पर भी ममत्वभाव नहीं रखते, किन्तु **'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'** उक्ति के अनुसार संयम-साधना का निमित्त मान कर उसकी रक्षा के लिए अनेक उपकरणों को स्वीकार करते हैं। इन उपकरणों को उठाते समय एवं रखते समय यतना रखनी चाहिए। यथासमय यथाविधि उनका प्रतिलेखन तथा प्रमार्जन भी अप्रमत्त रूप से करते रहना चाहिए।

इस प्रकार अहिंसा महाव्रत की इन भावनाओं के यथावत् परिपालन से व्रत निर्मल, निरतिचार बनता है। निरतिचार व्रत का पालक साधु ही सुसाधु है, वही मोक्ष की साधना में सफलता प्राप्त करता है।

११८—एवमिणं संवरस्स दारं सम्मं संवरियं होइ सुप्पणिहियं इमेहिं पंचहिं पि कारणेहिं मण-वयण-कायपरिरक्खिएहिं णिच्चं आमरणंतं च एस जोगो णेयव्वो धिइमया मइमया अणासवो अकलसो अच्छिद्दो असंकिलिट्ठो सुद्धो सव्वजिणमणुण्णाओ।

११८—इस प्रकार मन, वचन और काय से सुरक्षित इन पाँच भावना रूप उपायों से यह अहिंसा-संवरद्वार पालित-सुप्रणिहित होता है। अतएव धैर्यशाली और मतिमान् पुरुष को सदा जीवनपर्यन्त सम्यक् प्रकार से इसका पालन करना चाहिए। यह अनास्रव है, अर्थात् नवीन कर्मों के आस्रव को रोकने वाला है, दीनता से रहित है, कलुष-मलीनता से रहित और अच्छिद्र-अनास्रवरूप है, अपरिस्रावी—कर्मरूपी जल के आगमन को अवरुद्ध करने वाला है, मानसिक संक्लेश से रहित है, शुद्ध है और सभी तीर्थंकरों द्वारा अनुज्ञात-अभिमत है।

विवेचन—हिंसा आस्रव का कारण है तो उसकी विरोधी अहिंसा आस्रव को रोकने वाली हो, यह स्वाभाविक ही है।

अहिंसा के पालन में दो गुणों की अपेक्षा रहती है—धैर्य की और मति—विवेक की। विवेक के अभाव में अहिंसा के वास्तविक आशय को समझा नहीं जा सकता और वास्तविक आशय को समझे विना उसका आचरण नहीं किया जा सकता है। विवेक विद्यमान हो और अहिंसा के स्वरूप को वास्तविक रूप में समझ भी लिया जाए, मगर साधक में यदि धैर्य न हो तो भी उसका पालन होना कठिन है। अहिंसा के उपासक को व्यवहार में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं, संकट भी झेलने पड़ते हैं, ऐसे प्रसंगों पर धीरज ही उसे अपने व्रत में अडिग रख सकता है। अतएव पाठ में **'धिइमया मइमया'** इन दो पदों का प्रयोग किया गया है।

११९—एवं पढमं संवरदारं फासियं पालियं सोहियं तीरियं किट्टियं आराहियं आणाए अणुपालियं भवइ। एवं णायमुणिया भगवया पण्णवियं परूवियं पसिद्धं सिद्धं सिद्धवरसासणमिणं आघवियं सुदेसियं पसत्थं।

॥ पढमं संवरदारं समत्तं। त्तिवेमि ॥

११९—पूर्वोक्त प्रकार से प्रथम संवरद्वार स्पृष्ट होता है, पालित होता है, शोधित होता है, तीर्ण-पूर्ण रूप से पालित होता है, कीर्त्तित, आराधित और (जिनेन्द्र भगवान् की) आज्ञा के अनुसार पालित होता है। ऐसा भगवान् ज्ञातमुनि—महावीर ने प्रज्ञापित किया है एवं प्ररूपित किया है। यह सिद्धवरशासन प्रसिद्ध है, सिद्ध है, बहुमूल्य है, सम्यक् प्रकार से उपदिष्ट है और प्रशस्त है।

विवेचन—यहाँ प्रथम अहिंसा-संवरद्वार का उपसंहार किया गया है। इस संवरद्वार में जो-जो कथन किया गया है, उसी प्रकार से इसका समग्र रूप में परिपालन किया जाता है। पाठ में आए कतिपय विशिष्ट पदों का स्पष्टीकरण इस भाँति है—

फासिय—यथासमय विधिपूर्वक स्वीकार किया गया।
पालित—निरन्तर उपयोग के साथ आचरण किया गया।

सोहिय—इस पद के संस्कृत रूप दो होते हैं—शोभित और शोधित। व्रत के योग्य दूसरे पात्रों को दिया गया शोभित कहलाता है और अतिचार-रहित पालन करने से शोधित कहा जाता है।

तीरिय—किनारे तक पहुँचाया हुआ।
कित्तिय—दूसरों को उपदिष्ट किया हुआ।
आराहिय—पूर्वोक्त रूप से सम्पूर्णता को प्राप्त।[1]

॥ प्रथम संवरद्वार समाप्त ॥

१—अभयदेवटीका, पृ. ११३.

द्वितीय अध्ययन : सत्य

प्रथम संवरद्वार अहिंसा के विशद विवेचन के अनन्तर द्वितीय संवरद्वार सत्य का निरूपण किया जा रहा है। अहिंसा की समीचीन एवं परिपूर्ण साधना के लिए असत्य से विरत होकर सत्य की समाराधना आवश्यक है। सत्य की समाराधना के विना अहिंसा की आराधना नहीं हो सकती। वस्तुतः सत्य अहिंसा को पूर्णता प्रदान करता है। वह अहिंसा को अलंकृत करता है। अतएव अहिंसा के पश्चात् सत्य का निरूपण किया जाता है।

सत्य की महिमा

१२०—जंबू ! बिइयं य सच्चवयणं सुद्धं सुचियं सिवं सुजायं सुभासियं सुव्वयं सुकहियं सुदिट्ठं सुपइट्ठियं सुपइट्ठियजसं सुसंजमिय-वयण-बुइयं सुरवर-णरवसभ-पवरबलवग-सुविहियजणबहुमयं, परमसाहुधम्मचरणं, तव-णियमपरिग्गहियं सुगइपहदेसगं य लोगुत्तमं वयमिणं।

विज्जाहरगगणगमणविज्जाण साहकं सग्गमग्ग-सिद्धिपहदेसगं अवितहं, तं सच्चं उज्जुयं अकुडिलं भूयत्थं अत्थओ विसुद्धं उज्जोयकरं पभासगं भवइ सव्वभावाण जीवलोए, अविसंवाइ जहत्थमहुरं।

पच्चक्खं दयिवयं व जं तं अच्छेरकारगं अवत्थंतरेसु बहुएसु मणुसाणं सच्चेण महासमुद्दमज्झे वि मूढाणिया वि पोया। सच्चेण य उदगसंभमम्मि वि ण वुज्झइ ण य मरंति थाहं ते लहंति।

सच्चेण य अगणिसंभमम्मि वि ण डज्झंति उज्जुगा मणुस्सा।

सच्चेण य तत्ततेल्ल-तउलोहसीसगाइं छिवंति धरेंति ण य डज्झंति मणुस्सा।

पव्वयकडकाहिं मुच्चंते ण य मरंति।

सच्चेण य परिग्गहिया, असिपंजरगया समराओ वि णिइंति अणहा य सच्चवाई।

वहबंधभियोगवेर-घोरेहिं पमुच्चंति य अमित्तमज्झाहिं णिइंति अणहा य सच्चवाई। सादेव्वाणि य देवयाओ करेंति सच्चवयणे रत्ताणं।

तं सच्चं भगवं तित्थयरसुभासियं दसविहं, चोद्दसपुव्वीहिं पाहुडत्थविइयं, महरिसीण य समयप्पइण्णं, देविंदणरिंदभासियत्थं, वेमाणियसाहियं, महत्थं, मंतोसहिविज्जासाहणत्थं, चारणगण-समणसिद्धविज्जं, मणुयगणाणं वंदणिज्जं, अमरगणाणं अच्चणिज्जं, असुरगणाण य पूयणिज्जं, अणेग-पासंडिपरिग्गहियं जं तं लोगम्मि सारभूयं, गंभीरयरं महासमुद्दाओ, थिरयरगं मेरुपव्वयाओ, सोमयरगं चंदमंडलाओ, दित्तयरं सूरमंडलाओ, विमलयरं सरयणहयलाओ, सुरभियरं गंधमादणाओ, जे वि य लोगम्मि अपरिसेसा मंतजोगा जवा य विज्जा य जंभगा य अत्थाणि य सत्थाणि य सिक्खाओ य आगमा य सव्वाइं पि ताइं सच्चे पइट्ठियाइं।

सदोष सत्य का त्याग

सच्चं वि य संजमस्स उवरोहकारगं किंचि ण वत्तव्वं, हिंसासावज्जसंपउत्तं भेयविकहकारगं अणत्थवायकलहकारगं अणज्जं अववाय-विवायसंपउत्तं वेलंबं ओजधेज्जवहुलं णिल्लज्जं लोयगरहणिज्जं दुद्दिट्ठं दुस्सुयं अमुणियं, अप्पणो थवणा परेसु णिंदा; ण तंसि मेहावी, ण तंसि धण्णो, ण तंसि पियधम्मो, ण तंसि कुलीणो, ण तंसि दाणवई, ण तंसि सूरो, ण तंसि पडिरूवो, ण तंसि लट्ठो, ण पंडिओ, ण वहुस्सुओ, ण वि य तंसि तवस्सी, ण यावि परलोयणिच्छयमई असि, सव्वकालं जाइ-कुल-रूव-वाहि-रोगेण वावि जं होई वज्जणिज्जं दुहओ उवयारमइक्कंतं एवं विहं सच्चं वि ण वत्तव्वं।

बोलने योग्य वचन

अह केरिसगं पुणाइ सच्चं तु भासियव्वं ?

जं तं दव्वेहि पज्जवेहि य गुणेहि कम्मेहि वहुविहेहि सिप्पेहि आगमेहि य णामक्खायणिवाय-उवसग्ग-तद्धिय-समास-संधि-पद-हेउ-जोगिय-उणाइ-किरियाविहाणधाउ-सर-विभत्ति-वण्णजुत्तं तिकल्लं दसविहं पि सच्चं जह भणियं तह य कम्मुणा होइ। दुवालसविहा होइ भासा, वयणं वि य होइ सोल-सविहं। एवं अरहंतमणुण्णायं समिक्खियं संजएण कालम्मि य वत्तव्वं।

१२०—श्री सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी से कहा—हे जम्बू ! द्वितीय संवर सत्यवचन है। सत्य शुद्ध—निर्दोष, शुचि—पवित्र, शिव—समस्त प्रकार के उपद्रवों से रहित, सुजात-प्रशस्त-विचारों से उत्पन्न होने के कारण सुभाषित—समीचीन रूप से भाषित—कथित होता है। यह उत्तम व्रतरूप है और सम्यक् विचारपूर्वक कहा गया है। इसे ज्ञानी जनों ने कल्याण के साधन के रूप में देखा है, अर्थात् ज्ञानियों की दृष्टि में सत्य कल्याण का कारण है। यह सुप्रतिष्ठित है—सुस्थिर कीर्ति वाला है, समीचीन रूप में संयमयुक्त वाणी से कहा गया है। सत्य सुरवरों—उत्तम कोटि के देवों, नरवृषभों—श्रेष्ठ मानवों, अतिशय बलधारियों एवं सुविहित जनों द्वारा बहुमत—अतीव मान्य किया गया है। श्रेष्ठ—नैष्ठिक मुनियों का धार्मिक अनुष्ठान है। तप एवं नियम से स्वीकृत किया गया है। सद्गति के पथ का प्रदर्शक है और यह सत्यव्रत लोक में उत्तम है।

सत्य विद्याधरों की आकाशगामिनी विद्याओं को सिद्ध करने वाला है। स्वर्ग के मार्ग का तथा मुक्ति के मार्ग का प्रदर्शक है। यथातथ्य अर्थात् मिथ्याभाव से रहित है, ऋजुक—सरल भाव से युक्त है, कुटिलता से रहित है, प्रयोजनवश यथार्थ पदार्थ का ही प्रतिपादक है, सर्व प्रकार से शुद्ध है—असत्य या अर्द्ध सत्य की मिलावट से रहित है. अर्थात् असत्य का सम्मिश्रण जिसमें नहीं होता वही विशुद्ध सत्य कहलाता है अथवा निर्दोष होता है। इस जीवलोक में समस्त पदार्थों का विसंवाद-रहित—यथार्थ प्ररूपक है। यह यथार्थ होने के कारण मधुर है और मनुष्यों का बहुत-सी विभिन्न प्रकार की अवस्थाओं में आश्चर्यजनक कार्य करने वाले देवता के समान है, अर्थात् मनुष्यों पर आ पड़े घोर संकट की स्थिति में वह देवता की तरह सहायक बन कर संकट से उबारने वाला है।

किसी महासमुद्र में, जिस में बैठे सैनिक मूढधी हो गए हों, दिशाभ्रम से ग्रस्त हो जाने के कारण जिनकी बुद्धि काम न कर रही हो, उनके जहाज भी सत्य के प्रभाव से ठहर जाते हैं, डूबते

नहीं हैं। सत्य का ऐसा प्रभाव है कि भंवरों से युक्त जल के प्रवाह में भी मनुष्य वहते नहीं हैं, मरते नहीं हैं, किन्तु थाह पा लेते हैं।

सत्य के प्रभाव से जलती हुई अग्नि के भयंकर घेरे में पड़े हुए मानव जलते नहीं हैं।

सत्यनिष्ठ सरलहृदय वाले सत्य के प्रभाव से तपे—उवलते हुए तेल, रांगे, लोहे और सीसे को छू लेते हैं, हथेली पर रख लेते हैं, फिर भी जलते नहीं हैं।

मनुष्य पर्वत के शिखर से गिरा दिये जाते हैं—नीचे फेंक दिये जाते हैं, फिर भी (सत्य के प्रभाव से) मरते नहीं हैं।

सत्य के (सुरक्षा-कवच को) धारण करने वाले मनुष्य चारों ओर से तलवारों के घेरे में—तलवार-धारकों के पींजरे में पड़े हुए भी अक्षत-शरीर संग्राम से (सकुशल) वाहर निकल आते हैं।

सत्यवादी मानव वध, वन्धन सवल प्रहार और घोर वैर-विरोधियों के वीच में से मुक्त हो जाते हैं—बच निकलते हैं।

सत्यवादी शत्रुओं के घेरे में से विना किसी क्षति के सकुशल वाहर आ जाते हैं।

सत्य वचन में अनुरागी जनों का देवता भी सान्निध्य करते हैं—उसके साथ रह कर उनकी सेवा-सहायता करते हैं।

तीर्थंकरों द्वारा भाषित सत्य भगवान् दस प्रकार का है। इसे चौदह पूर्वों के ज्ञाता महामुनियों ने प्राभृतों (पूर्वगत विभागों) से जाना है एवं महर्षियों को सिद्धान्त रूप में दिया गया है—साधुओं के द्वितीय महाव्रत में सिद्धान्त द्वारा स्वीकार किया गया है। देवेन्द्रों और नरेन्द्रों ने इसका अर्थ कहा है अथवा देवेन्द्रों एवं नरेन्द्रों को इसका अर्थ तत्त्वरूप से कहा गया है। यह सत्य वैमानिक देवों द्वारा समर्थित एवं आसेवित है। महान् प्रयोजन वाला है। यह मंत्र औषधि और विद्याओं की सिद्धि का कारण है—सत्य के प्रभाव से मंत्र और विद्याओं की सिद्धि होती है। यह चारण (विद्याचारण, जंघाचारण) आदि मुनिगणों की विद्याओं को सिद्ध करने वाला है। मानवगणों द्वारा वंदनीय है—स्तवनीय है, अर्थात् स्वयं सत्य तथा सत्यनिष्ठ पुरुष मनुष्यों की प्रशंसा-स्तुति का पात्र वनता है। इतना ही नहीं, सत्यसेवी मनुष्य अमरगणों—देवसमूहों के लिए भी अर्चनीय तथा असुरकुमार आदि भवनपति देवों द्वारा भी पूजनीय होता है। अनेक प्रकार के पापंडी-व्रतधारी इसे धारण करते हैं।

इस प्रकार की महिमा से मण्डित यह सत्य लोक में सारभूत है। महासागर से भी गम्भीर है। सुमेरु पर्वत से भी अधिक स्थिर-अटल है। चन्द्रमण्डल से भी अधिक सौम्य—आह्लादक है। सूर्य-मण्डल से भी अधिक दीप्ति से देदीप्यमान है। शरत्-काल के आकाश तल से भी अधिक विमल है। गन्धमादन (गजदन्त गिरिविशेष) से भी अधिक सुरभिसम्पन्न है।

लोक में जो भी समस्त मंत्र हैं, वशीकरण आदि योग हैं, जप हैं, प्रज्ञप्ति प्रभृति विद्याएँ हैं, दस प्रकार के जृंभक देव हैं, धनुष आदि अस्त्र हैं, जो भी सत्थ—तलवार आदि शस्त्र अथवा शास्त्र हैं, कलाएँ हैं, आगम हैं, वे सभी सत्य में प्रतिष्ठित हैं—सत्य के ही आश्रित हैं।

किन्तु जो सत्य संयम में वाधक हो—रुकावट पैदा करता हो, वैसा सत्य तनिक भी नहीं

बोलना चाहिए (क्योंकि जो वचन तथ्य होते हुए भी हितकर नहीं, प्रशस्त नहीं, हिंसकारी है, वह सत्य में परिगणित नहीं होता)। जो वचन (तथ्य होते हुए भी) हिंसा रूप पाप से अथवा हिंसा एवं पाप से युक्त हो, जो भेद—फूट उत्पन्न करने वाला हो, जो विकथाकारक हो—स्त्री आदि से सम्बन्धित चारित्रनाशक या अन्य प्रकार से अनर्थ का हेतु हो, जो निरर्थक वाद या कलहकारक हो अर्थात् जो वचन निरर्थक वाद-विवाद रूप हो और जिससे कलह उत्पन्न हो, जो वचन अनार्य हो—अनाड़ी लोगों के योग्य हो—आर्य पुरुषों के बोलने योग्य न हो अथवा अन्याययुक्त हो, जो अन्य के दोषों को प्रकाशित करने वाला हो, विवादयुक्त हो, दूसरों की विडम्बना—फजीहत करने वाला हो, जो विवेकशून्य जोश और धृष्टता से परिपूर्ण हो, जो निर्लज्जता से भरा हो, जो लोक—जनसाधारण या सत्पुरुषों द्वारा निन्दनीय हो, ऐसा वचन नहीं बोलना चाहिए।

जो घटना भलीभांति स्वयं न देखी हो, जो बात सम्यक् प्रकार से सुनी न हो, जिसे ठीक तरह—यथार्थ रूप में जान नहीं लिया हो, उसे या उसके विषय में बोलना नहीं चाहिए।

इसी प्रकार अपनी प्रशंसा और दूसरों की निन्दा भी (नहीं करनी चाहिए), यथा—तू बुद्धिमान् नहीं है—बुद्धिहीन है, तू धन्य—धनवान् नहीं—दरिद्र है, तू धर्मप्रिय नहीं है, तू कुलीन नहीं है, तू दानपति—दानेश्वरी नहीं है, तू शूरवीर नहीं है, तू सुन्दर नहीं है, तू भाग्यवान् नहीं है, तू पण्डित नहीं है, तू बहुश्रुत—अनेक शास्त्रों का ज्ञाता नहीं है, तू तपस्वी भी नहीं है, तुझमें परलोक संबंधी निश्चय करने की बुद्धि भी नहीं है, आदि। अथवा जो वचन सदा-सर्वदा जाति (मातृपक्ष), कुल (पितृपक्ष), रूप (सौन्दर्य), व्याधि (कोढ़ आदि बीमारी), रोग (ज्वरादि) से सम्बन्धित हो, जो पीडाकारी या निन्दनीय होने के कारण वर्जनीय हो—न बोलने योग्य हो, अथवा जो वचन द्रोह-कारक अथवा द्रव्य-भाव से आदर एवं उपचार से रहित हो—शिष्टाचार के अनुकूल न हो अथवा उपकार का उल्लंघन करने वाला हो, इस प्रकार का तथ्य—सद्भूतार्थ वचन भी नहीं बोलना चाहिए।

(यदि पूर्वोक्त प्रकार के तथ्य—वास्तविक वचन भी बोलने योग्य नहीं हैं तो प्रश्न उपस्थित होता है कि) फिर किस प्रकार का सत्य बोलना चाहिए ?

प्रश्न का उत्तर यह है—जो वचन द्रव्यों—त्रिकालवर्त्ती पुद्गलादि द्रव्यों से, पर्यायों से—नवीनता, पुरानता आदि क्रमवर्त्ती अवस्थाओं से तथा गुणों से अर्थात् सहभावी वर्ण आदि विशेषों से युक्त हों अर्थात् द्रव्यों, पर्यायों या गुणों के प्रतिपादक हों तथा कृषि आदि कर्मों से अथवा धरने—उठाने आदि क्रियाओं से, अनेक प्रकार की चित्रकला, वास्तुकला आदि शिल्पों से और आगमों अर्थात् सिद्धान्तसम्मत अर्थों से युक्त हों और जो नाम देवदत्त आदि संज्ञापद, आख्यात—त्रिकाल सम्बन्धी 'भवति' आदि क्रियापद, निपात—'वा, च' आदि अव्यय, प्र, परा आदि उपसर्ग, तद्धितपद—जिनके अन्त में तद्धित प्रत्यय लगा हो, जैसे 'नाभेय' आदि पद, समास—अनेक पदों को मिला कर एक पद बना देना, जैसे 'राजपुरुष' आदि, सन्धि—समीपता के कारण अनेक पदों का जोड़, जैसे विद्या+आलय= विद्यालय आदि, हेतु—अनुमान का वह अंग जिससे साध्य को जाना जाए, जैसे धूम से अग्नि का किसी विशिष्ट स्थल पर अस्तित्व जाना जाता है, यौगिक—दो आदि के संयोग वाला पद अथवा जिस पद के अवयवार्थ से समुदायार्थ जाना जाए, जैसे 'उपकरोति' आदि, उणादि—उणादिगण के प्रत्यय जिन पदों के अन्त में हों, जैसे 'साधु' आदि, क्रियाविधान—क्रिया को सूचित करने वाला

पद, जैसे 'पाचक' (पकाने की क्रिया करने वाला), धातु—क्रियावाचक 'भू—हो' आदि, स्वर—'अ, आ' इत्यादि अथवा संगीतशास्त्र सम्बन्धी षड्ज, ऋषभ, गान्धार आदि सात स्वर, विभक्ति—प्रथमा आदि, वर्ण—'क, ख' आदि व्यंजनयुक्त अक्षर, इन से युक्त हो (ऐसा वचन बोलना चाहिए।)

त्रिकालविषयक सत्य दस प्रकार का होता है। जैसा मुख से कहा जाता है, उसी प्रकार कर्म से अर्थात् लेखन क्रिया से तथा हाथ, पैर, आँख आदि की चेष्टा से, मुँह बनाना आदि आकृति से अथवा जैसा कहा जाए वैसी ही क्रिया करके बतलाने से अर्थात् कथन के अनुसार अमल करने से सत्य होता है।

बारह प्रकार की भाषा होती है। वचन सोलह प्रकार का होता है।

इस प्रकार अरिहन्त भगवान् द्वारा अनुज्ञात—आदिष्ट तथा सम्यक् प्रकार से विचारित सत्य-वचन यथावसर पर ही साधु को बोलना चाहिए।

विवेचन—उल्लिखित पाठ में सत्य की महिमा का विस्तारपूर्वक एवं प्रभावशाली शब्दों में वर्णन किया गया है, जो वचन सत्य—तथ्य होने पर भी किसी को पीड़ा उत्पन्न करने वाला अथवा अनर्थकारी होने से सदोष हो, वैसा वचन भी बोलने योग्य नहीं है। यह कथन अनेक उदाहरणों सहित प्रतिपादित किया गया है तथा किस प्रकार का सत्य भाषण करने योग्य है, इसका भी उल्लेख किया गया है। सत्य, भाषा और वचन के भेद भी बतलाए गए हैं।

इस सम्पूर्ण कथन से साधक के समक्ष सत्य का सुस्पष्ट चित्र उभर आता है। सत्य की महिमा का प्रतिपादन करने वाला अंश सरल—सुबोध है। उस पर अधिक विवेचन की आवश्यकता नहीं है। तथापि संक्षेप में वह महिमा इस प्रकार है—

सत्य की महिमा—सत्य सभी के लिए हितकर है, व्रतरूप है, सर्वज्ञों द्वारों दृष्ट और परीक्षित है, अतएव उसके विषय में किंचित् भी शंका के लिए स्थान नहीं है। उत्तम देवों तथा चक्रवर्त्ती आदि उत्तम मनुष्यों, सत्पुरुषों और महापुरुषों द्वारा स्वीकृत है। सत्यसेवी ही सच्चा तपस्वी और नियम-निष्ठ हो सकता है। वह स्वर्ग और अपवर्ग का मार्ग है। यथार्थता—वास्तविकता के ही साथ उसका सम्बन्ध है। जब मनुष्य घोर संकट में पड़ जाता है तब सत्य देवता की तरह उसकी रक्षा करता है। सत्य के लोकोत्तर प्रभाव से महासागर में पड़ा प्राणी सकुशल किनारा पा लेता है। सत्य चारों ओर भयंकर धू-धू करती आग की लपटों से बचाने में समर्थ है—सत्यनिष्ठ को आग जला नहीं सकती। उबलता हुआ लोहा, रांगा आदि सरलात्मा सत्यसेवी की हथेली पर रख दिया जाए तो उसका बाल बांका नहीं होता। उसे ऊँचे गिरिशिखर से पटक दिया जाए तो भी वह सुरक्षित रहता है। विकराल संग्राम में, तलवारों के घेरे से वह सकुशल बाहर आ जाता है। अभिप्राय यह है कि सत्य की समग्र-भाव से आराधना करने वाले भीषण से भीषण विपत्ति से आश्चर्यजनक रूप से सहज ही छुटकारा पा जाते हैं।

सत्य के प्रभाव से विद्याएँ और मंत्र सिद्ध होते हैं। श्रमणगण, चारणगण, सुर और असुर—सभी के लिए वह अर्चनीय है, पूजनीय है, आराधनीय है। सत्य महासागर से भी अधिक गम्भीर है, क्योंकि वह सर्वथा क्षोभरहित है। अटलता के लिहाज से वह मेरु पर्वत से भी अधिक स्थिर है। आह्लादजनक और सन्तापहारक होने से चन्द्रमण्डल से भी अधिक सौम्य है। सूर्य से भी अधिक

प्रकाशमान है, क्योंकि वह मूर्त्त--अमूर्त्त आदि समस्त पदार्थों को अविकल रूप से प्रकाशित करता है। शरत्कालीन व्योम से भी अधिक निर्मल है, क्योंकि वह कालुष्यरहित है और गन्धमादन पर्वतों से भी अधिक सौरभमय है।

ऐसा सत्य भी वर्जनीय—

जो वचन तथ्य—वास्तविक होने पर भी किसी प्रकार अनर्थकर या हानिकर हो, वह वर्जनीय है। यथा—

१. जो संयम का विघातक हो।
२. जिसमें हिंसा या पाप का मिश्रण हो।
३. जो फूट डालने वाला, वृथा बकवास हो, आर्यजनोचित न हो।
४. अन्याय का पोषक हो, मिथ्यादोषारोपणरूप हो।
५. जो विवाद या विडम्बनाजनक हो, धृष्टतापूर्ण हो।
६. जो लोकनिन्दनीय हो।
७. जो भलीभांति देखा, सुना या जाना हुआ न हो।
८. जो आत्मप्रशंसा और परनिन्दारूप हो।
९. जो द्रोहयुक्त, द्विधापूर्ण हो।
१०. जिससे शिष्टाचार का उल्लंघन होता हो।
११. जिससे किसी को पीड़ा उत्पन्न हो।

ऐसे और इसी कोटि के अन्य वचन तथ्य होने पर भी बोलने योग्य नहीं हैं।

सत्य के दस प्रकार—

मूल पाठ में निर्दिष्ट दस प्रकार के सत्य का स्वरूप इस प्रकार है—

जणवय-सम्मय-ठवणा नामे-रूवे पडुच्चसच्चे य।
ववहार-भाव-जोगे, दसमे ओवम्मसच्चे य॥[1]

१. जनपदसत्य—जिस देश-प्रदेश में जिस वस्तु के लिए जो शब्द प्रयुक्त होता हो, वहाँ उस वस्तु के लिए उसी शब्द का प्रयोग करना, जैसे माता को 'आई' कहना, नाई को 'राजा' कहना।

२. सम्मतसत्य—बहुत लोगों ने जिस शब्द को जिस वस्तु का वाचक मान लिया हो, जैसे 'देवी' शब्द पटरानी का वाचक मान लिया गया है। अतः पटरानी को 'देवी' कहना सम्मतसत्य है।

३. स्थापनासत्य—जिसकी मूर्ति हो उसे उसी के नाम से कहना, जैसे—इन्द्रमूर्ति को इन्द्र कहना या शतरंज की गोटों को हाथी, घोड़ा आदि कहना।

४. नामसत्य—जिसका जो नाम हो उसे गुण न होने पर भी उस शब्द से कहना, जैसे कुल की वृद्धि न करने वाले को भी 'कुलवर्द्धन' कहना।

५. रूपसत्य—साधु के गुण न होने पर भी वेषमात्र से असाधु को साधु कहना।

---

१. दशवैकालिक हारिभद्रीय वृत्ति,

६. **प्रतीत्यसत्य**—अपेक्षाविशेष से कोई वचन बोलना, जैसे दूसरी उंगली की अपेक्षा से किसी उंगली को छोटी या बड़ी कहना, द्रव्य की अपेक्षा सब पदार्थों को नित्य कहना या पर्याय की अपेक्षा से सब को क्षणिक कहना।

७. **व्यवहारसत्य**—जो वचन लोकव्यवहार की दृष्टि से सत्य हो, जैसे—रास्ता तो कहीं जाता नहीं, किन्तु कहा जाता है कि यह रास्ता अमुक नगर को जाता है, गाँव आ गया आदि।

८. **भावसत्य**—अनेक गुणों की विद्यमानता होने पर भी किसी प्रधान गुण की विवक्षा करके कहना, जैसे तोते में लाल वर्ण होने पर भी उसे हरा कहना।

९. **योगसत्य**—संयोग के कारण किसी वस्तु को किसी शब्द से कहना, जैसे—दण्ड धारण करने के कारण किसी को दण्डी कहना।

१०. **उपमासत्य**—समानता के आधार पर किसी शब्द का प्रयोग करना, जैसे—मुख-चन्द्र आदि।

भाषा के बारह प्रकार

आगमों में भाषा के विविध दृष्टियों से अनेक भेद-प्रभेद प्रतिपादित किए गए हैं। उन्हें विस्तार से समझने के लिए दशवैकालिक तथा प्रज्ञापनासूत्र का भाषापद देखना चाहिए। प्रस्तुत पाठ में बारह प्रकार की भाषाएँ बतलाई गई हैं, वे तत्काल में प्रचलित भाषाएँ हैं, जिनके नाम ये हैं—(१) प्राकृत (२) संस्कृत (३) मागधी (४) पैशाची (५) शौरसेनी और (६) अपभ्रंश। ये छह गद्यमय और छह पद्यमय होने से बारह प्रकार की हैं।

सोलह प्रकार के वचन

टीकाकार श्री अभयदेवसूरि ने सोलह प्रकार के वचन निम्नलिखित गाथा उद्धृत करके गिनाए हैं—

> वयणतियं लिंगतियं कालतियं तह परोक्ख पच्चक्खं।
> उवणीयाइ चउक्कं अज्झत्थं चेव सोलसमं॥

अर्थात् वचनत्रिक, लिंगत्रिक, कालत्रिक, परोक्ष, प्रत्यक्ष, उपनीत आदि चतुष्क और सोलहवाँ अध्यात्मवचन, ये सब मिलकर सोलह वचन हैं।

वचनत्रिक—एकवचन, द्विवचन, बहुवचन।
लिंगत्रिक—स्त्रीलिंग, पुंलिंग, नपुंसकलिंग।
कालत्रिक—भूतकाल, वर्त्तमानकाल, भविष्यत्काल।
प्रत्यक्षवचन—यथा यह पुरुष है।
परोक्षवचन—यथा वह मुनिराज।

उपनीतादिचतुष्क—(१) उपनीतवचन अर्थात् प्रशंसा का प्रतिपादक वचन, जैसे यह रूपवान् है। (२) अपनीतवचन—दोष प्रकट करने वाला वचन, जैसे यह दुराचारी है। (३) उपनीतापनीत—प्रशंसा के साथ निन्दावाचक वचन, जैसे यह रूपवान् है किन्तु दुराचारी है। (४) अपनीतोपनीत-वचन—निन्दा के साथ प्रशंसा प्रकट करने वाला वचन, जैसे—यह दुराचारी है किन्तु रूपवान् है।

अध्यात्मवचन—जिस अभिप्राय को कोई छिपाना चाहता है, फिर भी अकस्मात् उस अभिप्राय को प्रकट कर देने वाला वचन।

इस दस प्रकार के सत्य का, बारह प्रकार की भाषा का और सोलह प्रकार के वचनों का संयमी पुरुष को तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा के अनुसार, अवसर के अनुकूल प्रयोग करना चाहिए। जिससे किसी को पीड़ा उत्पन्न न हो—जो हिंसा का कारण न बने।

सत्य महाव्रत का सुफल

१२१—इमं च अलिय-पिसुण-फरुस-कडुय-चवलवयण-परिरक्खणट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं अत्तहियं पेच्चाभावियं आगमेसिभद्दं सुद्धं णेयाउयं अकुडिलं अणुत्तरं सव्वदुक्खपावाणं विउसमणं।

१२१—अलीक—असत्य, पिशुन—चुगली, परुष—कठोर, कटु—कटुक और चपल—चंचलतायुक्त वचनों से (जो असत्य के रूप हैं) बचाव के लिए तीर्थंकर भगवान् ने यह प्रवचन समीचीन रूप से प्रतिपादित किया है। यह भगवत्प्रवचन आत्मा के लिए हितकर है, जन्मान्तर में शुभ भावना से युक्त है, भविष्य में श्रेयस्कर है, शुद्ध—निर्दोष है, न्यायसंगत है, मुक्ति का सीधा मार्ग है, सर्वोत्कृष्ट है तथा समस्त दुःखों और पापों को पूरी तरह उपशान्त—नष्ट करने वाला है।

सत्य महाव्रत की पाँच भावनाएँ

प्रथम भावना—अनुवीचिभाषण

१२२—तस्स इमा पंच भावणाओ विइयस्स वयस्स अलियवयणस्स वेरमण-परिरक्खणट्ठयाए।

पढमं—सोऊण संवरट्ठं परमट्ठं सुट्ठु जाणिऊणं ण वेगियं ण तुरियं ण चवलं ण कडुयं ण फरुसं ण साहसं ण य परस्स पीडाकरं सावज्जं, सच्चं च हियं च मियं च गाहगं च सुद्धं संगयमकाहलं च समिक्खियं संजएण कालम्मि य वत्तव्वं।

एवं अणुवीइसमिइजोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा संजयकर-चरण-णयण-वयणो सूरो सच्चज्जवसंपुण्णो।

१२२—दूसरे व्रत अर्थात् सत्यमहाव्रत की ये—आगे कही जा रही पाँच भावनाएँ हैं, जो असत्य वचन के विरमण की रक्षा के लिए हैं अर्थात् इन पाँच भावनाओं का विचारपूर्वक पालन करने से असत्य-विरमणरूप सत्य महाव्रत की पूरी तरह रक्षा होती है। इन पाँच भावनाओं में प्रथम अनुवीचिभाषण है। सद्गुरु के निकट सत्यव्रत रूप संवर के अर्थ—आशय को सुन कर एवं उसके शुद्ध परमार्थ—रहस्य को सम्यक् प्रकार से जानकर जल्दी-जल्दी—सोच-विचार किए विना नहीं वोलना चाहिए, अर्थात् कटुक वचन नहीं वोलना चाहिए, शब्द से कठोर वचन नहीं वोलना चाहिए, चपलतापूर्वक नहीं वोलना चाहिए, विचारे विना सहसा नहीं वोलना चाहिए, पर को पीड़ा पैदा करने वाला एवं सावद्य—पापयुक्त वचन भी नहीं वोलना चाहिए। किन्तु सत्य, हितकारी, परिमित, ग्राहक—विवक्षित अर्थ का वोध कराने वाला, शुद्ध—निर्दोष, संगत—युक्तियुक्त एवं पूर्वापर-अविरोधी,

स्पष्ट तथा पहले बुद्धि द्वारा सम्यक् प्रकार से विचारित ही साधु को अवसर के अनुसार बोलना चाहिए।

इस प्रकार अनुवीचिसमिति के—निरवद्य वचन बोलने की यतना के योग से भावित अन्तरात्मा—प्राणी हाथों, पैरों, नेत्रों और मुख पर संयम रखने वाला, शूर तथा सत्य और आर्जव धर्म से सम्पन्न होता है।

दूसरी भावना—अक्रोध

१२३—बिइयं—कोहो ण सेवियव्वो, कुद्धो चंडिक्किओ मणूसो अलियं भणेज्ज, पिसुणं भणेज्ज, फरुसं भणेज्ज, अलियं-पिसुणं-फरुसं भणेज्ज, कलहं करिज्जा, वेरं करिज्जा, विकहं करिज्जा, कलहं-वेरं-विकहं करिज्जा, सच्चं हणेज्ज, सीलं हणेज्ज, विणयं हणेज्ज, सच्चं-सीलं-विणयं हणेज्ज, वेसो हवेज्ज, वत्थुं हवेज्ज, गम्मो हवेज्ज, वेसो-वत्थुं-गम्मो हवेज्ज, एयं अण्णं च एवमाइयं भणेज्ज कोहग्गि-संपलित्तो तम्हा कोहो ण सेवियव्वो। एवं खंतीइ भाविओ भवइ अंतरप्पा संजयकर-चरण-णयण-वयणो सूरो सच्चज्जवसंपण्णो।

१२३—दूसरी भावना क्रोधनिग्रह—क्षमाशीलता है। (सत्य के आराधक को) क्रोध का सेवन नहीं करना चाहिए। क्रोधी मनुष्य रौद्रभाव वाला हो जाता है और (ऐसी अवस्था में) असत्य भाषण कर सकता है (या करता है)। वह पिशुन—चुगली के वचन बोलता है, कठोर वचन बोलता है। मिथ्या, पिशुन और कठोर—तीनों प्रकार के वचन बोलता है। कलह करता है, वैर-विरोध करता है, विकथा करता है तथा कलह-वैर-विकथा—ये तीनों करता है। वह सत्य का घात करता है, शील—सदाचार का घात करता है, विनय का विघात करता है और सत्य, शील तथा विनय—इन तीनों का घात करता है। असत्यवादी लोक में द्वेष का पात्र बनता है, दोषों का घर बन जाता है और अनादर का पात्र बनता है तथा द्वेष, दोष और अनादर—इन तीनों का पात्र बनता है।

क्रोधाग्नि से प्रज्वलितहृदय मनुष्य ऐसे और इसी प्रकार के अन्य सावद्य वचन बोलता है। अतएव क्रोध का सेवन नहीं करना चाहिए। इस प्रकार क्षमा से भावित अन्तरात्मा—अन्तःकरण वाला हाथों, पैरों, नेत्रों और मुख के संयम से युक्त, शूर साधु सत्य और आर्जव से सम्पन्न होता है।

तीसरी भावना—निर्लोभता

१२४—तइयं—लोभो ण सेवियव्वो, १ लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं खेत्तस्स व वत्थुस्स व कएण, २ लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं, कित्तीए लोभस्स व कएण, ३ लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं, इड्ढीए व सोक्खस्स व कएण, ४ लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं, भत्तस्स व पाणस्स व कएण, ५ लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं, पीढस्स व फलगस्स व कएण, ६ लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं, सेज्जाए व संथारगस्स व कएण, ७ लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं, वत्थस्स व पत्तस्स व काएण, ८ लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं, कंबलस्स व पायपुंछणस्स व कएण, ९ लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं, सीसस्स व सिस्सिणीए व कएण, लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं, अण्णेसु य एवमाइसु बहुसु कारणसएसु लुद्धो लोलो भणेज्ज अलीयं, तम्हा

लोभो ण सेवियव्वो, एवं मुत्तीए भाविओ भवइ अंतरप्पा संजयकर-चरण-णयण-वयणो सूरो सच्चज्जव-संपण्णो।

१२४—तीसरी भावना लोभनिग्रह है। लोभ का सेवन नहीं करना चाहिए।

(१) लोभी मनुष्य लोलुप होकर क्षेत्र—खेत-खुली भूमि और वास्तु-मकान आदि के लिए असत्य भाषण करता है।

(२) लोभी-लालची मनुष्य कीर्त्ति और लोभ—धनप्राप्ति के लिए असत्य भाषण करता है।

(३) लोभी-लालची मनुष्य ऋद्धि-वैभव और सुख के लिए असत्य भाषण करता है।

(४) लोभी-लालची भोजन के लिए, पानी (पेय) के लिए असत्य भाषण करता है।

(५) लोभी-लालची मनुष्य पीठ-पीढ़ा और फलक—पाट प्राप्त करने के लिए असत्य भाषण करता है।

(६) लोभी-लालची मनुष्य शय्या और संस्तारक—छोटे बिछौने के लिए असत्य भाषण करता है।

(७) लोभी-लालची मनुष्य वस्त्र और पात्र के लिए असत्य भाषण करता है।

(८) लोभी-लालची मनुष्य कम्बल और पादप्रोंछन के लिए असत्य भाषण करता है।

(९) लोभी-लालची मनुष्य शिष्य और शिष्या के लिए असत्य भाषण करता है।

(१०) लोभी-लालची मनुष्य इस प्रकार के सैकड़ों कारणों-प्रयोजनों से असत्य भाषण करता है।

लोभी व्यक्ति मिथ्या भाषण करता है, अर्थात् लोभ भी असत्य भाषण का एक कारण है, अतएव (सत्य के आराधक को) लोभ का सेवन नहीं करना चाहिए। इस प्रकार मुक्ति—निर्लोभता से भावित अन्तःकरण वाला साधु हाथों, पैरों, नेत्रों और मुख से संयत, शूर और सत्य तथा आर्जव धर्म से सम्पन्न होता है।

चौथी भावना—निर्भयता

१२५—चउत्थं—ण भाइयव्वं, भीयं खु भया अइंति लहुयं, भीओ अबितिज्जओ मणूसो, भीओ भूएहिं घिप्पइ, भीओ अण्णं वि हु भेसेज्जा, भीओ तवसंजमं वि हु मुएज्जा, भीओ य भरं ण णित्थरेज्जा, सप्पुरिसणिसेवियं च मग्गं भीओ ण समत्थो अणुचरिउं, तम्हा ण भाइयव्वं। भयस्स वा वाहिस्स वा रोगस्स वा जराए वा मच्चुस्स वा अण्णस्स वा एवमाइयस्स। एवं धेज्जेण भाविओ भवइ अंतरप्पा संजयकर-चरण-णयण-वयणो सूरो सच्चज्जवसंपण्णो।

१२५—चौथी भावना निर्भयता—भय का अभाव है। भयभीत नहीं होना चाहिए। भीरु मनुष्य को अनेक भय शीघ्र ही जकड़ लेते हैं—भयग्रस्त बना देते हैं। भीरु मनुष्य अद्वितीय-असहाय रहता है। भयभीत मनुष्य भूत-प्रेतों द्वारा आक्रान्त कर लिया जाता है। भीरु मनुष्य (स्वयं तो डरता ही है) दूसरों को भी डरा देता है। भयभीत हुआ पुरुष निश्चय ही तप और संयम को भी छोड़ बैठता है। भीरु साधक भार का निस्तार नहीं कर सकता अर्थात् स्वीकृत कार्यभार अथवा संयम-भार का भलीभांति निर्वाह नहीं कर सकता है। भीरु पुरुष सत्पुरुषों द्वारा सेवित मार्ग का अनुसरण

करने में समर्थ नहीं होता । अतएव (किसी मनुष्य, पशु-पक्षी या देवादि अन्य निमित्त के द्वारा जनित अथवा आत्मा द्वारा जनित) भय से, व्याधि-कुष्ठ आदि से, ज्वर आदि रोगों से, वृद्धावस्था से, मृत्यु से या इसी प्रकार के अन्य इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग आदि के भय से डरना नहीं चाहिए। इस प्रकार विचार करके धैर्य—चित्त की स्थिरता अथवा निर्भयता से भावित अन्तःकरण वाला साधु हाथों, पैरों, नेत्रों और मुख से संयत, शूर एवं सत्य तथा आर्जवधर्म से सम्पन्न होता है।

पाँचवीं भावना—हास्य-त्याग

१२६—पंचमगं—हासं ण सेवियव्वं अलियाइं असंतगाइं जंपंति हासइत्ता । परपरिभवकारणं च हासं, परपरिवायप्पियं च हासं, परपीलाकारगं च हासं, भेयविमुत्तिकारगं च हासं, अण्णोण्णजणियं च होज्ज हासं, अण्णोण्णगमणं च होज्ज मम्मं, अण्णोण्णगमणं च होज्ज कम्मं, कदंप्पाभियोगगमणं च होज्ज हासं, आसुरियं किब्विसत्तणं च जणेज्ज हासं, तम्हा हासं ण सेवियव्वं । एवं मोणेण भाविओ भवइ अंतरप्पा संजयकर-चरण-णयण-वयणो सूरो सच्चज्जवसंपण्णो ।

१२६—पाँचवीं भावना परिहासपरिवर्जन है। हास्य का सेवन नहीं करना चाहिए। हँसोड़ व्यक्ति अलीक—दूसरे में विद्यमान गुणों को छिपाने रूप और असत्—अविद्यमान को प्रकाशित करने वाले या अशोभनीय और अशान्तिजनक वचनों का प्रयोग करते हैं। परिहास दूसरों के परिभव-अपमान-तिरस्कार का कारण होता है। हँसी में परकीय निन्दा-तिरस्कार ही प्रिय लगता है। हास्य परपीडाकारक होता है। हास्य चारित्र का विनाशक, शरीर की आकृति को विकृत करने वाला है और मोक्षमार्ग का भेदन करने वाला है। हास्य अन्योन्य—एक दूसरे का परस्पर में किया हुआ होता है, फिर परस्पर में परदारगमन आदि कुचेष्टा—मर्म का कारण होता है। एक दूसरे के मर्म—गुप्त चेष्टाओं को प्रकाशित करने वाला वन जाता है, हँसी-हँसी में लोग एक दूसरे की गुप्त चेष्टाओं को प्रकट करके फजीहत करते हैं। हास्य कन्दर्प-हास्यकारी अथवा आभियोगिक—आज्ञाकारी सेवक जैसे देवों में जन्म का कारण होता है। हास्य असुरता एवं किल्विषता उत्पन्न करता है, अर्थात् साधु तप और संयम के प्रभाव से कदाचित् देवगति में उत्पन्न हो तो भी अपने हँसोड़पन के कारण निम्न कोटि के देवों में उत्पन्न होता है। वैमानिक आदि उच्च कोटि के देवों में नहीं उत्पन्न होता। इस कारण हँसी का सेवन नहीं करना चाहिए। इस प्रकार मौन से भावित अन्तःकरण वाला साधु हाथों, पैरों, नेत्रों और मुख से संयत होकर शूर तथा सत्य और आर्जव से सम्पन्न होता है।

विवेचन—उल्लिखित पाँच (१२२ से १२६) सूत्रों में अहिंसामहाव्रत के समान सत्यमहाव्रत की पाँच भावनाओं का प्रतिपादन किया गया है, जो इस प्रकार हैं—(१) अनुवीचिभाषण (२) क्रोध का त्याग—अक्रोध (३) लोभत्याग या निर्लोभता (४) भयत्याग या निर्भयता और (५) परिहास-परिहार या हँसी-मजाक का त्याग।

वाणीव्यवहार मानव की एक महत्त्वपूर्ण विशिष्टता है। पशु-पक्षी भी अपनी-अपनी वाणी से वोलते हैं किन्तु मानव की वाणी की अर्थपरकता या सोद्देश्यता उनकी वाणी में नहीं होती। अतएव व्यक्त वाणी मनुष्य की एक अनमोल विभूति है।

वाणी की यह विभूति मनुष्य को अनायास प्राप्त नहीं होती। एकेन्द्रिय पृथ्वीकायिक आदि

स्थावर जीव जिह्वा से सर्वथा वंचित होते हैं। वे बोल ही नहीं सकते। द्वीन्द्रियादि जीव जिह्वा वाले होते हुए भी व्यक्त वाणी नहीं बोल सकते। व्यक्त और सार्थक वाणी मनुष्य को ही प्राप्त है। किन्तु क्या यह वाणीवैभव यों ही प्राप्त हो गया? नहीं, इसे प्राप्त करने के लिए बहुत बड़ी पुण्यराशि खरचनी पड़ी है। विपुल पुण्य की पूंजी के बदले इसकी उपलब्धि हुई है। अतएव मनुष्य की वाणी बहुमूल्य है। धन देकर प्राप्त न की जा सकने के कारण वह अनमोल भी है।

विचारणीय है कि जो वस्तु अनमोल है, जो प्रबलतर पुण्य के प्रभाव से प्राप्त हुई है, उसका उपयोग किस प्रकार करना उचित है? यदि कोई मनुष्य अपनी वाणी का प्रयोग पाप के उपार्जन में करता है तो वह निश्चय ही अभागा है, विवेकविहीन है। इस वाणी की सार्थकता और सदुपयोग यही हो सकता है कि इसे धर्म और पुण्य की प्राप्ति में व्यय किया जाए। यह तभी सम्भव है जब इसे पापोपार्जन का निमित्त न बनाया जाए।

इसी उद्देश्य से सत्य को महाव्रत के रूप में स्थापित किया गया है और इससे पूर्व सत्य की महिमा का प्रतिपादन किया गया है।

अब प्रश्न यह उठ सकता है कि असत्य के पाप से बच कर सत्य भगवान् की आराधना किस प्रकार की जा सकती है? इसी प्रश्न के समाधान के लिए पाँच भावनाओं की प्ररूपणा की गई है। सत्य की आराधना के लिए पूर्ण रूप से असत्य से बचना आवश्यक है और असत्य से बचने के लिए असत्य के कारणों से दूर रहना चाहिए। असत्य के कारणों की विद्यमानता में उससे बचना अत्यन्त कठिन है, प्रायः असंभव है। किन्तु जब असत्य का कोई कारण न हो तो उसका अभाव अवश्य हो जाता है, क्योंकि कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। इन भावनाओं में असत्य के कारणों के परिहार का ही प्रतिपादन किया गया है। न होगा बांस, न बजेगी बांसुरी। असत्य का कारण न होगा तो असत्य भी नहीं होगा।

असत्य के प्रधान कारण पाँच हैं। उनके त्याग की यहाँ प्रेरणा की गई है।

असत्य का एक कारण है—सोच-विचार किये बिना, जल्दबाजी में, जो मन में आए, बोल देना। इस प्रकार बोल देने से अनेकों बार घोर अनर्थ उत्पन्न हो जाते हैं। 'अन्धे की सन्तान अन्धी होती है' द्रौपदी के इस अविचारित वचन ने कितने भीषण अनर्थ उत्पन्न नहीं किए? स्वयं द्रौपदी को अपमानित होना पड़ा, पाण्डवों की दुर्दशा हुई और महाभारत जैसा दुर्भाग्यपूर्ण संग्राम हुआ, जिसमें करोड़ों को प्राण गँवाने पड़े। अतएव जिस विषय की जानकारी न हो, जिसके विषय में सम्यक् प्रकार से विचार न कर लिया गया हो, जिसके परिणाम के सम्बन्ध में पूरी तरह सावधानी न रक्खी गई हो, उस विषय में वाणी का प्रयोग करना उचित नहीं है। तात्पर्य यह है कि जो भी बोला जाए, सुविचारित एवं सुज्ञात ही बोला जाए। भलीभांति विचार करके बोलने वाले को पश्चात्ताप करने का अवसर नहीं आता, उसे लांछित नहीं होना पड़ता और उसका सत्यव्रत अखंडित रहता है।

प्रथम भावना का नाम 'अनुवीचिसमिति' कहा गया है। तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धिटीका में इसका अर्थ किया गया है—'अनुवीचिभाषणम्—निरवद्यानुभाषणम्'[1] अर्थात् निरवद्य भाषा

---

१. सर्वार्थसिद्धि अ. ७

का प्रयोग करना अनुवीचिभाषण कहलाता है। तत्त्वार्थभाष्य में भी सत्यव्रत की प्रथम भावना के लिए 'अनुवीचि' भाषण शब्द का ही प्रयोग किया गया है।[1] अतएव भलीभाँति विचार कर बोलने के साथ-साथ भाषा सम्बन्धी अन्य दोषों से वचना भी इस भावना के अन्तर्गत है।

सत्यव्रत का निरतिचार रूप से पालन करने के लिए क्रोधवृत्ति पर विजय प्राप्त करना भी आवश्यक है। क्रोध ऐसी वृत्ति है जो मानवीय विवेक को विलुप्त कर देती है और कुछ काल के लिए पागल बना देती है। क्रोध का उद्रेक होने पर सत्—असत् का भान नहीं रहता और असत्य बोला जाता है। कहना चाहिए कि क्रोध के अतिशय आवेश में जो बोला जाता है, वह असत्य ही होता है। अतएव सत्यमहाव्रत की सुरक्षा के लिए क्रोधप्रत्याख्यान अथवा अक्रोधवृत्ति परमावश्यक है।

तीसरी भावना लोभत्याग या निर्लोभता है। लोभ से होने वाली हानियों का मूल पाठ में ही विस्तार से कथन कर दिया गया है। शास्त्र में लोभ को समस्त सद्गुणों का विनाशक कहा है।[2] जब मनुष्य लोभ की जकड़ में फँस जाता है तो कोई भी दुष्कर्म करना उसके लिए कठिन नहीं होता। अतएव सत्यव्रत की सुरक्षा चाहने वाले को निर्लोभवृत्ति धारण करनी चाहिए। किसी भी वस्तु के प्रति लालच उत्पन्न नहीं होने देना चाहिए।

चौथी भावना भय-प्रत्याख्यात है। भय मनुष्य की वड़ी से वड़ी दुर्वलता है। भय मनुष्य के मस्तिष्क में छिपा हुआ विषाणु है जो उसे कातर, भीरु, निर्वल, सामर्थ्यशून्य और निष्प्राण बना देता है। भय वह पिशाच है जो मनुष्य की वीर्यशक्ति को पूरी तरह सोख जाता है। भय वह वृत्ति है जिसके कारण मनुष्य अपने को निकम्मा, नालायक और नाचीज समझने लगता है। शास्त्रकार ने कहा है कि भयभीत पुरुष को भूत-प्रेत ग्रस्त कर लेते हैं। वहुत वार तो भय स्वयं ही भूत बन जाता है और उस मनोविनिर्मित भूत के आगे मनुष्य घुटने टेक देता है। भय के भूत के प्रताप से कइयों को जीवन से हाथ धोना पड़ता है और अनेकों का जीवन वेकार वन जाता है।

भीरु मनुष्य स्वयं भीत होता है, साथ ही दूसरों के मस्तक में भी भय का भूत उत्पन्न कर देता है। भीरु पुरुष स्वयं सन्मार्ग पर नहीं चल सकता और दूसरों के चलने में भी वाधक वनता है।

मनुष्य के मन में व्याधि, रोग, वृद्धावस्था, मरण आदि के अनेक प्रकार के भय विद्यमान रहते हैं। मूल पाठ में निर्देश किया गया है कि रोगादि के भय से डरना नहीं चाहिए। भय कोई औषध तो है नहीं कि उसके सेवन से रोगादि उत्पन्न न हों! क्या वुढ़ापे का भय पालने से बुढ़ापा आने से रुक जाएगा? मरणभय के सेवन से मरण टल जाएगा? ऐसा कदापि नहीं हो सकता। यही नहीं, प्रत्युत भय के कारण न आने वाला रोग भी आ सकता है, न होने वाली व्याधि हो सकती है, विलम्ब से आने वाले वार्धक्य और मरण को भय आमंत्रण देकर शीघ्र ही निकट ला सकता है। ऐसी स्थिति में भयभीत होने से हानि के अतिरिक्त लाभ क्या है।

सारांश यह है कि भय की भावना आत्मिक शक्ति के परिवोध में वाधक है, साहस को तहस-नहस करने वाली है, समाधि की विनाशक है और संक्लेश को उत्पन्न करने वाली है। वह सत्य पर स्थिर नहीं रहने देती। अतएव सत्य भगवान् के आराधक को निर्भय होना चाहिए।

---

१. तत्त्वार्थभाष्य अ. ७

२. लोहो सव्वविणासणो—दशवैकालिकसूत्र

पाँचवी भावना है परिहास-परिहार या हास्यप्रत्याख्यान। सरलभाव से यथातथ्य वचनों के प्रयोग से हँसी-मजाक का रूप नहीं बनता। हास्य के लिए सत्य को विकृत करना पड़ता है। नमक-मिर्च लगाकर बोलना होता है। किसी के सद्गुणों को छिपा कर दुर्गुणों को उघाड़ा करना होता है। अभिप्राय यह है कि सर्वांश या अधिकांश में सत्य को छिपा कर असत्य का आश्रय लिए विना हँसी-मजाक नहीं होता। इससे सत्यव्रत का विघात होता है और अन्य को पीड़ा होती है। अतएव सत्यव्रत के संरक्षण के लिए हास्यवृत्ति का परिहार करना आवश्यक है।

जो साधक हास्यशील होता है, साथ ही तपस्या भी करता है, वह तप के फलस्वरूप यदि देवगति पाता है तो भी किल्विप या आभियोगिक जैसे निम्नकोटि के देवों में जन्म पाता है। वह देवगणों में अस्पृश्य चाण्डाल जैसी अथवा दास जैसी स्थिति में रहता है। उसे उच्च श्रेणी का देवत्व प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार हास्यवृत्ति महान् फल को भी तुच्छ वना देती है।

संयमी के लिए मौनवृत्ति का अवलम्बन करना सर्वोत्तम है। जो इस वृत्ति का निर्वाह भावपूर्वक कर सकते हैं, उनके लिए मौन रह कर संयम की साधना करना हितकर है। किन्तु आजीवन इस उत्सर्ग मार्ग पर चलना प्रत्येक के लिए सम्भव नहीं है। संघ और तीर्थ के अभ्युदय एवं हित की दृष्टि से यह वांछनीय भी नहीं है। फिर भी भाषा का प्रयोग करते समय आगम में उल्लिखित निर्देशों का ध्यान रख कर समितिपूर्वक जो वचनप्रयोग करते हैं, उनका सत्यमहाव्रत अखण्डित रहता है। उनके चित्त में किसी प्रकार का संक्लेशभाव उत्पन्न नहीं होता। वे अपनी आराधना में सफलता प्राप्त करते हैं। उनके लिए मुक्ति का द्वार उद्घाटित रहता है।

उपसंहार—

१२७—एवमिणं संवरस्स दारं सम्मं संवरियं होइ सुप्पणिहियं, इमेहिं पंचहि वि कारणेहिं मण-वयण-काय-परिरक्खिएहिं णिच्चं आमरणंतं च एस जोगो णेयव्वो धिइमया मइमया अणासवो अकलुसो अच्छिद्दो अपरिस्सावी असंकिलिट्ठो सव्वजिणमणुण्णाओ।

१२७—इस प्रकार मन, वचन और काय से पूर्ण रूप से सुरक्षित-सुसेवित इन पांच भावनाओं से संवर का यह द्वार—सत्यमहाव्रत सम्यक् प्रकार से संवृत—आचरित और सुप्रणिहित—स्थापित हो जाता है। अतएव धैर्यवान् तथा मतिमान् साधक को चाहिए कि वह आस्रव का निरोध करने वाले, निर्मल (अकलुष), निश्छिद्र—कर्म-जल के प्रवेश को रोकने वाले, कर्मवन्ध के प्रवाह से रहित, संक्लेश का अभाव करने वाले एवं समस्त तीर्थंकरों द्वारा अनुज्ञात इस योग को निरन्तर जीवनपर्यन्त आचरण में उतारे।

१२८—एवं विइयं संवरदारं फासियं पालियं सोहियं तीरियं किट्टियं अणुपालियं आणाए आराहियं भवइ। एवं णायमुणिणा भगवया पण्णवियं परूवियं पसिद्धं सिद्धं सिद्धवरसासणमिणं आघवियं सुदेसियं पसत्थं।

॥ विइयं संवरदारं समत्तं ॥ त्तिबेमि ॥

१२८—इस प्रकार (पूर्वोक्त रीति से) सत्य नामक संवरद्वार यथासमय अंगीकृत, पालित, शोधित—निरतिचार आचरित या शोभाप्रदायक, तीरित—अन्त तक पार पहुँचाया हुआ, कीर्त्तित—दूसरों के समक्ष आदरपूर्वक कथित, अनुपालित—निरन्तर सेवित और भगवान् की आज्ञा के अनुसार आराधित होता है। इस प्रकार भगवान् ज्ञातमुनि—महावीर स्वामी ने इस सिद्धवरशासन का कथन किया है, विशेष प्रकार से विवेचन किया है। यह तर्क और प्रमाण से सिद्ध है, सुप्रतिष्ठित किया गया है, भव्य जीवों के लिए इसका उपदेश किया गया है, यह प्रशस्त-कल्याणकारी—मंगलमय है।

विवेचन—उल्लिखित पाठों में प्रस्तुत प्रकरण में कथित अर्थ का उपसंहार किया गया है। सुगम होने से इनके विवेचन की आवश्यकता नहीं है।

॥ द्वितीय संवरद्वार समाप्त ॥

तृतीय अध्ययन : दत्तानुज्ञात

द्वितीय संवरद्वार के निरूपण के पश्चात् अचौर्य नामक तृतीय संवरद्वार का निरूपण प्रस्तुत है। सत्य के पश्चात् अचौर्य के विवेचन के टीकाकार ने दो कारण बतलाए हैं—प्रथम यह कि सूत्रक्रम के अनुसार अब अस्तेय का निरूपण ही संगत है, दूसरा असत्य का त्यागी वही हो सकता है जो अदत्तादान का त्यागी हो। अदत्तादान करने वाले सत्य का निर्वाह नहीं कर सकते। अतएव सत्यसंवर के अनन्तर अस्तेयसंवर का निरूपण करना उचित है।

अस्तेय का स्वरूप

१२९—जंबू ! दत्तमणुण्णाय-संवरो णाम होइ तइयं सुव्वया ! महव्वयं गुणव्वयं परदव्व-हरणपडिविरइकरणजुत्तं अपरिमियमणंततण्हाणुगयमहिच्छमणवयणकलुसआयाणसुणिग्गहियं सुसंज-मिय-मण-हत्थ-पायणिहुयं णिग्गंथं णिट्ठियं णिरुत्तं णिरासवं णिब्भयं विमुत्तं उत्तमणरवसभपवरबलवग-सुविहियजणसम्मतं परमसाहुधम्मचरणं।

१२९—हे शोभन व्रतों के धारक जम्बू ! तीसरा संवरद्वार 'दत्तानुज्ञात' नामक है। यह महान् व्रत है तथा यह गुणव्रत—इहलोक और परलोक संबंधी उपकारों का कारणभूत भी है। यह परकीय द्रव्य-पदार्थों के हरण से निवृत्तिरूप क्रिया से युक्त है, अर्थात् इस व्रत में परायी वस्तुओं के अपहरण का त्याग किया जाता है। यह व्रत अपरिमित—सीमातीत और अनन्त तृष्णा से अनुगत महा-अभिलाषा से युक्त मन एवं वचन द्वारा पापमय परद्रव्यहरण का भलीभाँति निग्रह करता है। इस व्रत के प्रभाव से मन इतना संयमशील बन जाता है कि हाथ और पैर परधन को ग्रहण करने से विरत हो जाते हैं। यह बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थियों से रहित है, सब धर्मों के प्रकर्ष के पर्यन्त-वर्त्ती है। सर्वज्ञ भगवन्तों ने इसे उपादेय कहा है। यह आस्रव का निरोध करने वाला है। निर्भय है—इसका पालन करने वाले को राजा या शासन आदि का भय नहीं रहता और लोभ उसका स्पर्श भी नहीं करता। यह प्रधान बलशालियों तथा सुविहित साधुजनों द्वारा सम्मत है, श्रेष्ठ साधुओं का धर्माचरण है।

विवेचन—तृतीय संवरद्वार के प्रारंभ में सुधर्मा स्वामी ने अपने प्रधान अन्तेवासी को 'सुव्रत' कह कर सम्बोधित किया है। अपने सदाचरण की गुरुजन द्वारा प्रशंसा सुन कर शिष्य के हृदय में उल्लास होता है और वह सदाचरण में अधिक उत्साह के साथ अग्रसर होता है। इस प्रकार यह सम्बोधन शिष्य के उत्साहवर्द्धन के लिए प्रयुक्त हुआ है।

अस्तेय महाव्रत है। जीवन पर्यन्त तृण जैसे अत्यन्त तुच्छ पदार्थ को भी अदत्त या अननुज्ञात ग्रहण न करना अपने आप में एक महान् साधना है। इसका निर्वाह करने में आने वाली बड़ी-बड़ी कठिनाइयों को समभाव से, मन में तनिक भी मलीनता लाये बिना, सहन कर लेना और वह भी स्वेच्छा से, कितना कठिन है ! अतएव इसे महाव्रत कहना सर्वथा समुचित ही है।

यह व्रत अनेकानेक गुणों का जनक है। इसके धारण और पालन से इस लोक में भी उपकार होता है और परलोक में भी, अतएव इसे गुणव्रत भी कहा गया है।

अस्तेयव्रत की आराधना से अपरिमित तृष्णा और अभिलाषा के कारण कलुषित मन का निग्रह होता है। जो द्रव्य प्राप्त है, उसका व्यय न हो जाए, इस प्रकार की इच्छा को यहाँ तृष्णा कहा गया है और अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति की बलवती लालसा को महेच्छा कहा गया है।

'सुसंजमिय-मण-हत्थ-पायनिहुयं' इस विशेषण के द्वारा शास्त्रकार ने यह सूचित किया है कि मन पर यदि सम्यक् प्रकार से नियन्त्रण कर लिया जाए, मन पूरी तरह काबू में रहे तो हाथों और पैरों की प्रवृत्ति स्वतः रुक जाती है। जिस ओर मन नहीं जाता उस ओर हाथ-पैर भी नहीं हिलते। यह सूचना साधकों के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण और उपयोगी है। साधकों को सर्वप्रथम अपने मन को संयत बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा करने पर वचन और काय अनायास ही संयत हो जाते हैं।

शेष पदों का अर्थ सुगम है।

१३०—जत्थ य गामागर-णगर-णिगम-खेड-कब्बड-मडंब-दोणमुह-संवाह-पट्टणासमगयं च किंचि दव्वं मणि-मुत्त-सिलप्पवाल-कंस-दूस-रयय-वरकणग-रयणमाइं पडियं पम्हुट्ठं विप्पणट्ठं, ण कप्पइ कस्सइ कहेउं वा गिण्हिउं वा अहिरण्णसुवण्णियेण समलेट्ठुकंचणेणं अपरिग्गहसंवुडेणं लोगम्मि विहरियव्वं।

१३०—इस अदत्तादानविरमण व्रत में ग्राम, आकर, नगर, निगम, खेट, कर्वट, मडंब, द्रोणमुख, संवाध, पट्टन अथवा आश्रम (अथवा इनके अतिरिक्त किसी अन्य स्थान) में पड़ी हुई, उत्तम मणि, मोती, शिला, प्रवाल, कांसा, वस्त्र, चांदी, सोना, रत्न आदि कोई भी वस्तु पड़ी हो—गिरी हो, कोई उसे भूल गया हो, गुमी हुई हो तो (उसके विषय में) किसी को कहना अथवा स्वयं उठा लेना नहीं कल्पता है। क्योंकि साधु को हिरण्य—सुवर्ण का त्यागी हो कर, पाषाण और स्वर्ण में समभाव रख कर, परिग्रह से सर्वथा रहित और सभी इन्द्रियों से संवृत-संयत होकर ही लोक में विचरना चाहिए।

विवेचन—ग्राम, आकर आदि विभिन्न प्रकार की बस्तियाँ हैं, जिनका अर्थ पूर्व में लिखा जा चुका है। इन बस्तियों में से किसी भी बस्ती में और उपलक्षण से वन में या मार्ग आदि में कहीं कोई मूल्यवान् या अल्पमूल्य वस्तु साधु को दिखाई दे जाए तो उसके विषय में दूसरे किसी को कहना अथवा स्वयं उठा लेना योग्य नहीं है। साधु की दृष्टि ऐसी परमार्थदर्शिनी बन जाए कि वह पत्थर और सोने को समदृष्टि से देखे। उसे पूर्णरूप से अपरिग्रही होकर विचरण करना चाहिए और अपनी सब इन्द्रियों को सदा संयममय रखना चाहिए।

१३१—जं वि य हुज्जाहि दव्वजायं खलगयं खेत्तगयं रण्णमंतरगयं वा किंचि पुप्फ-फल-तयप्पवाल-कंद-मूल-तण-कट्ठ-सक्कराइ अप्पं च बहुं च अणुं च थूलगं वा ण कप्पइ उग्गहम्मि अदिण्णंम्मि गिण्हिउं जे, हणि हणि उग्गहं अणुण्णविय गिण्हियव्वं, वज्जेयव्वो सव्वकालं अचियत्तघरप्पवेसो

अचियत्तभत्तपाणं अचियत्तपीढ-फलग-सिज्जा-संथारग-वत्थ-पत्त-कंबल-दंडग-रयहरण-णिसिज्ज-चोल-पट्टग-मुहपोत्तिय-पायपुंछणाइ भायण-भंडोवहि-उवगरणं परपरिवाओ परस्स दोसो परववएसेणं जं च गिण्हइ, परस्स णासेइ जं च सुकयं, दाणस्स य अंतराइयं दाणविप्पणासो पिसुण्णं चेव मच्छरियं च।

ये अस्तेय के आराधक नहीं—

जे वि य पीढ-फलग-सिज्जा-संथारग-वत्थ-पाय-कंबल-मुहपोत्तिय-पाय-पुंछणाइ-भायण-भंडोवहिउवगरणं असंविभागी, असंगहरुई, तवतेणे य वइतेणे य रूवतेणे य आयारे चेव भावतेणे य, सद्दकरे झंझकरे कलहकरे वेरकरे विकहकरे असमाहिकरे सया अप्पमाणभोई सययं अणुबद्धवेरे य णिच्चरोसी से तारिसए णाराहए वयमिणं।

१३१—कोई भी वस्तु, जो खलिहान में पड़ी हो, या खेत में पड़ी हो, या जंगल में पड़ी हो, जैसे कि फूल हो, फल हो, छाल हो, प्रवाल हो, कन्द, मूल, तृण, काष्ठ या कंकर आदि हो, वह थोड़ी हो या बहुत हो, छोटी हो या मोटी हो, स्वामी के दिये विना या उसकी आज्ञा प्राप्त किये विना ग्रहण करना नहीं कल्पता। घर और स्थंडिलभूमि भी आज्ञा प्राप्त किये विना ग्रहण करना उचित नहीं है।

तो फिर साधु को किस प्रकार ग्रहण करना चाहिए? यह विधान किया जाता है कि प्रतिदिन अवग्रह की आज्ञा लेकर ही उसे लेना चाहिए। तथा अप्रीतिकारक घर में प्रवेश वर्जित करना चाहिए अर्थात् जिस घर के लोगों में साधु के प्रति अप्रीति हो, ऐसे घरों में किसी वस्तु के लिए प्रवेश करना योग्य नहीं है। अप्रीतिकारक के घर से आहार-पानी तथा पीठ, फलक—पाट, शय्या, संस्तारक, वस्त्र, पात्र, कंबल, दण्ड—विशिष्ट कारण से लेने योग्य लाठी और पादप्रोंछन—पैर साफ करने का वस्त्रखण्ड आदि एवं भाजन—पात्र, भाण्ड—मिट्टी के पात्र तथा उपधि—वस्त्रादि उपकरण भी ग्रहण नहीं करना चाहिए। साधु को दूसरे की निन्दा नहीं करनी चाहिए, दूसरे को दोष नहीं देना चाहिए या किसी पर द्वेष नहीं करना चाहिए। (आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, रुग्ण अथवा शैक्ष आदि) दूसरे के नाम से जो कोई वस्तु ग्रहण करता है तथा जो उपकार को या किसी के सुकृत को छिपाता है—नष्ट करता है, जो दान में अन्तराय करता है, अर्थात् दिये जाने वाले दान में किसी प्रकार से विघ्न डालता है, जो दान का विप्रणाश करता अर्थात् दाता के नाम को छिपाता है, जो पैशुन्य करता—चुगली खाता है और मात्सर्य—ईर्षा-द्वेष करता है, (वह सर्वज्ञ भगवान् की आज्ञा से विरुद्ध करता है, अतएव इनसे बचना चाहिए।)

जो भी पीठ—पीढ़ा, पाट, शय्या, संस्तारक, वस्त्र, पात्र, कम्बल, दण्ड, रजोहरण, आसन, चोलपट्टक, मुखवस्त्रिका और पादप्रोञ्छन आदि, पात्र, मिट्टी के पात्र—भाण्ड और अन्य उपकरणों का जो आचार्य आदि साधर्मिकों में संविभाग (उचित रूप से विभाग) नहीं करता, वह अस्तेयव्रत का आराधक नहीं होता। जो असंग्रहरुचि है अर्थात् एषणीय पीठ, फलक आदि गच्छ के लिए आवश्यक या उपयोगी उपकरणों का जो स्वार्थी (आत्मंभरी) होने के कारण संग्रह करने में रुचि नहीं रखता, जो तपस्तेन है अर्थात् तपस्वी न होने पर भी तपस्वी के रूप में अपना परिचय देता है, वचनस्तेन—वचन का चोर है, जो रूपस्तेन है अर्थात् सुविहित साधु न होने पर भी जो सुविहित साधु का वेष धारण करता है, जो आचार का चोर है अर्थात् आचार से दूसरों को धोखा देता है और जो

भावस्तेन है अर्थात् दूसरे के ज्ञानादि गुण के आधार पर अपने आपको ज्ञानी प्रकट करता है, जो शब्दकर है अर्थात् रात्रि में उच्चस्वर से स्वाध्याय करता या बोलता है अथवा गृहस्थों जैसी भाषा बोलता है, जो गच्छ में भेद उत्पन्न करने वाले कार्य करता है, जो कलहकारी, वैरकारी और असमाधिकारी है, जो शास्त्रोक्त प्रमाण से सदा अधिक भोजन करता है, जो सदा वैर बाँध रखने वाला है, सदा क्रोध करता रहता है, ऐसा पुरुष इस अस्तेयव्रत का आराधक नहीं होता है।

विवेचन—अस्तेयव्रत की आराधना की विधि विस्तारपूर्वक यहाँ बतलाई गई है। प्रारंभ में कहा गया है कि अस्तेयव्रत के आराधक को कोई भी वस्तु, चाहे वह मूल्यवान् हो या मूल्यहीन हो, बहुत हो या थोड़ी हो, छोटी हो या मोटी हो, यहाँ तक कि धूल या कंकर जैसी तुच्छतर ही क्यों न हो, बिना दी हुई या अननुज्ञात ग्रहण नहीं करना चाहिए। ग्राह्य वस्तु का दाता अथवा अनुज्ञाता भी वही होना चाहिए जो उसका स्वामी हो। व्रत की पूर्ण आराधना के लिए यह नियम सर्वथा उपयुक्त ही है। मगर प्रश्न हो सकता है कि साधु जब मार्ग में चल रहा हो, ग्राम, नगर आदि से दूर जंगल में हो और उसे अचानक तिनका जैसी किसी वस्तु की आवश्यकता हो जाए तो वह क्या करे ?

उत्तर यह है कि शास्त्र में अनुज्ञा देने वाले पाँच बतलाए गए हैं—(१) देवेन्द्र (२) राजा (३) गृहपति—मण्डलेश, जागीरदार या ठाकुर (४) सागारी (गृहस्थ) और (५) साधर्मिक। पूर्वोक्त परिस्थिति में तृण, कंकर आदि तुच्छ—मूल्यहीन वस्तु की यदि आवश्यकता हो तो साधु देवेन्द्र की अनुज्ञा से उसे ग्रहण कर सकते हैं।

इस आशय को व्यक्त करने के लिए मूल पाठ में इस व्रत या संवर के लिए **दत्तमणुण्णायसंवरो** (दत्त—अनुज्ञातसंवर) शब्द का प्रयोग किया गया है, केवल 'दत्तसंवर' नहीं कहा गया। इसका तात्पर्य यही है कि जो पीठ, फलक आदि वस्तु किसी गृहस्थ के स्वामित्व की हो उसे स्वामी के देने पर ग्रहण करना चाहिए और जो धूलि या तिनका जैसी तुच्छ वस्तुओं का कोई स्वामी नहीं होता—जो सर्व साधारण के लिए मुक्त हैं, उन्हें देवेन्द्र की अनुज्ञा से ग्रहण किया जाए तो वे अनुज्ञात हैं। उनके ग्रहण से व्रतभंग नहीं होता।[1]

अदत्तादान के विषय में कुछ अन्य शंकाएं भी उठाई जाती हैं, यथा—

शंका—साधु कर्म और नोकर्म का जो ग्रहण करता है, वह अदत्त है। फिर व्रतभंग क्यों नहीं होता ?

समाधान—जिसका देना और लेना संभव होता है, उसी वस्तु में स्तेय—चौर्य-चोरी का व्यवहार होता है। कर्म—नोकर्म के विषय में ऐसा व्यवहार नहीं हो सकता, अतः उनका ग्रहण अदत्तादान नहीं है।

शंका—साधु रास्ते में या नगरादि के द्वार में प्रवेश करता है, वह अदत्तादान क्यों नहीं है ?

समाधान—रास्ता और नगरद्वार आदि सामान्य रूप से सभी के लिए मुक्त हैं, साधु के लिए

---

१. भगवती—श. १६. उ. २

भी उसी प्रकार अनुज्ञात हैं जैसे दूसरों के लिए। अतएव यहाँ भी अदत्तादान नहीं समझना चाहिए। अथवा जहाँ प्रमादभाव है वहीं अदत्तादान का दोष होता है। रास्ते आदि में प्रवेश करने वाले साधु में प्रमत्तयोग नहीं होता, अतएव वह अदत्तादानी नहीं है। तात्पर्य यह है कि जहाँ संक्लेशभावपूर्वक प्रवृत्ति होती है वहीं अदत्तादान होता है, भले ही वह बाह्य वस्तु को ग्रहण करे अथवा न करे।[1]

अभिप्राय यह है कि जिन वस्तुओं में देने और लेने का व्यवहार संभव हो और जहाँ सक्लिष्ट परिणाम के साथ बाह्य वस्तु को ग्रहण किया जाए, वहीं अदत्तादान का दोष लागू होता है। जो अस्वामिक या सस्वामिक वस्तु सभी के लिए मुक्त है या जिसके लिए देवेन्द्र आदि की अनुज्ञा ले ली गई है, उसे ग्रहण करने अथवा उसका उपयोग करने से अदत्तादान नहीं होता। साधु को दत्त और अनुज्ञात वस्तु ही ग्राह्य होती है।

सूत्र में असंविभागी और असंग्रहरुचि पदों द्वारा व्यक्त किया गया है कि गच्छवासी साधु को गच्छवर्त्ती साधुओं की आवश्यकताओं का भी ध्यान रखना चाहिए। उसे स्वार्थी नहीं होना चाहिए। आहारादि शास्त्रानुसार जो भी प्राप्त हो उसका उदारतापूर्वक यथोचित संविभाग करना चाहिए। किसी दूसरे साधु को किसी उपकरण की या अमुक प्रकार के आहार की आवश्यकता हो और वह निर्दोष रूप से प्राप्त भी हो रहा हो तो केवल स्वार्थीपन के कारण उसे ग्रहण में अरुचि नहीं करनी चाहिए। गच्छवासी साधुओं को एक दूसरे के उपकार और अनुग्रह में प्रसन्नता अनुभव करनी चाहिये।

उल्लिखित पाठ में तपस्तेन अर्थात् 'तप का चोर' आदि पदों का प्रयोग किया गया है, उनका उल्लेख दशवैकालिक सूत्र में भी आया है। स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

तपःस्तेन—किसी स्वभावतः कृशकाय साधु को देखकर किसी ने पूछा—महाराज, अमुक गच्छ में मासखमण की तपस्या करने वाले सुने हैं, क्या आप वही मासक्षपक हैं ?

यह सुन कर वह कृशकाय साधु मासक्षपक न होते हुए भी यदि अपने को मासक्षपक कह देता है तो वह तप का चोर है। अथवा धूर्ततापूर्वक उत्तर देता है—'भई, साधु तो तपस्वी होते ही हैं, उनका जीवन ही तपोमय है।'

इस प्रकार गोलमोल उत्तर देकर वह तपस्वी न होकर भी यह धारणा उत्पन्न कर देता है कि यही मासक्षपक तपस्वी है, किन्तु निरहंकार होने के कारण स्पष्ट नहीं कह रहे हैं। ऐसा साधु तपःस्तेन कहलाता है।

वचःस्तेन—इसी प्रकार किसी वाग्मी—कुशल व्याख्याता साधु का यश छल के द्वारा अपने ऊपर ओढ लेना—धूर्तता से अपने को वाग्मी प्रकट करने या कहने वाला वचस्तेन साधु कहलाता है।

रूपस्तेन—किसी सुन्दर रूपवान् साधु का नाम किसी ने सुना है। वह किसी दूसरे रूपवान् साधु को देख कर पूछता है—क्या अमुक रूपवान् साधु आप ही हैं ? वही साधु न होने पर भी वह साधु यदि हाँ कह देता है अथवा छलपूर्वक गोलमोल उत्तर देता है, जिससे प्रश्नकर्त्ता की धारणा बन जाए कि यह वही प्रसिद्ध रूपवान् साधु है, तो ऐसा कहने वाला साधु रूप का चोर है।

---

१. सर्वार्थसिद्धिटीका अ. ७, सूत्र १५

रूप दो प्रकार का है—शरीर की सुन्दरता और सुविहित साधु का वेष। जो साधु सुविहित तो न हो किन्तु लोगों को अपने प्रति आकर्षित करने के लिए, अन्य साधुओं की अपेक्षा अपनी उत्कृष्टता प्रदर्शित करने के लिए सुविहित साधु का वेष धारण कर ले—मैला चोलपट्ट, मैल से भरा शरीर, सिर्फ दो पात्र आदि रख कर विचरे तो वह रूप का चोर कहलाता है।

इसी प्रकार **आचारस्तेन** और **भावस्तेन** भी समझ लेने चाहिए। शेष पदों की सुबोध होने से व्याख्या करना अनावश्यक है।

अस्तेय के आराधक कौन ?

१३२—अह केरिसए पुणाइं आराहए वयमिणं ? जे से उवहि-भत्त-पाण-संगहण-दाण-कुसले अच्चंतबाल-दुब्बल-गिलाण-वुड्ढ-खवग-पवत्ति-आयरिय-उवज्झाए सेहे साहम्मिए तवस्सी-कुल-गण-संघ-चेइयट्ठे य णिज्जरट्ठी वेयावच्चं अणिस्सियं दसविहं बहुविहं करेइ, ण य अचियत्तस्स गिहं पविसइ, ण य अचियत्तस्स गिण्हइ भत्तपाणं, ण य अचियत्तस्स सेवइ पीढ-फलग-सिज्जा-संथारग-वत्थ-पाय-कंबल-दंडग-रयहरण-णिसिज्ज-चोलपट्टय-मुहपोत्तियं पायपुंछणाइ-भायण-भंडोवहिउवगरणं ण य परिवायं परस्स जंपइ, ण यावि दोसे परस्स गिण्हइ, परववएसेण वि ण किंचि गिण्हइ, ण य विपरिणामेइ किंचि जणं, ण यावि णासेइ दिण्णसुकयं दाऊणं य ण होइ पच्छाताविए संभागसीले संग्गहोवग्गहकुसले से तारिसए आराहए वयमिणं।

१३२—प्रश्न—(यदि पूर्वोक्त प्रकार के मनुष्य इस व्रत की आराधना नहीं कर सकते) तो फिर किस प्रकार के मनुष्य इस व्रत के आराधक हो सकते हैं ?

उत्तर—इस अस्तेयव्रत का आराधक वही पुरुष हो सकता है जो—वस्त्र, पात्र आदि धर्मोपकरण, आहार-पानी आदि का संग्रहण और संविभाग करने में कुशल हो।

जो अत्यन्त बाल, दुर्बल, रुग्ण, वृद्ध और मासक्षपक आदि तपस्वी साधु की, प्रवर्त्तक, आचार्य, उपाध्याय की, नवदीक्षित साधु की तथा सार्धमिक—लिंग एवं प्रवचन से समानधर्मा साधु की, तपस्वी, कुल, गण, संघ के चित्त की प्रसन्नता के लिए सेवा करने वाला हो,

जो निर्जरा का अभिलाषी हो—कर्मक्षय करने का इच्छुक हो, जो अनिश्रित हो अर्थात् यश-कीर्त्ति आदि की कामना न करते हुए पर पर निर्भर न रहता हो, वही दस प्रकार का वैयावृत्य, अन्न-पान आदि अनेक प्रकार से करता है। वह अप्रीतिकारक गृहस्थ के कुल में प्रवेश नहीं करता और न अप्रीतिकारक के घर का आहार-पानी ग्रहण करता है। अप्रीतिकारक से पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक, वस्त्र, पात्र, कम्बल, दण्ड, रजोहरण, आसन, चोलपट्ट, मुखवस्त्रिका एवं पादप्रोंछन भी नहीं लेता है। वह दूसरों की निन्दा (परपरिवाद) नहीं करता और न दूसरे के दोषों को ग्रहण करता है। जो दूसरे के नाम से (अपने लिए) कुछ भी ग्रहण नहीं करता और न किसी को दानादि धर्म से विमुख करता है, दूसरे के दान आदि सुकृत का अथवा धर्माचरण का अपलाप नहीं करता है, जो दानादि देकर और वैयावृत्य आदि करके पश्चात्ताप नहीं करता है, ऐसा आचार्य, उपाध्याय आदि के लिए संविभाग करने वाला, संग्रह एवं उपकार करने में कुशल साधक ही इस अस्तेयव्रत का आराधक होता है।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ में बतलाया गया है कि अस्तेयव्रत की आराधना के लिए किन-किन योग्यताओं की आवश्यकता है ? जिस साधक में मूल पाठ में उल्लिखित गुण विद्यमान होते हैं, वही वास्तव में इस व्रत का पालन करने में समर्थ होता है । वैयावृत्य (सेवा) के दस भेद बतलाए गए हैं, वे इस प्रकार हैं—

वेयावच्चं वावडभावो इह धम्मसाहणनिमित्तं ।
अन्नाइयाण विहिणा, संपायणमेस भावत्थो ।।

आयरिय-उवज्झाए थेर-तवस्सी-गिलाण-सेहाणं ।
साहम्मिय-कुल-गण-संघ-संगयं तमिह कायव्वं ।।[1]

अर्थात्—धर्म की साधना के लिए विधिपूर्वक आचार्य आदि के लिए अन्न आदि उपयोगी वस्तुओं का संपादन करना—प्राप्त करना वैयावृत्य कहलाता है ।

वैयावृत्य के पात्र दस हैं—(१) आचार्य (२) उपाध्याय (३) स्थविर (४) तपस्वी (५) ग्लान (६) शैक्ष (७) साधर्मिक (८) कुल (९) गण और (१०) संघ । साधु को इन दस की सेवा करनी चाहिए, अतएव वैयावृत्य के भी दस प्रकार होते हैं ।

१. **आचार्य**—संघ के नायक, पंचविध आचार का पालन करने-कराने वाले ।

२. **उपाध्याय**—विशिष्ट श्रुतसम्पन्न, साधुओं को सूत्रशिक्षा देने वाले ।

३. **स्थविर**—श्रुत, वय अथवा दीक्षा की अपेक्षा वृद्ध साधु, अर्थात् स्थानांग-समवायांग आदि आगमों के विज्ञाता, साठ वर्ष से अधिक वय वाले अथवा कम से कम बीस वर्ष की दीक्षा वाले ।

४. **तपस्वी**—मासखमण आदि विशिष्ट तपश्चर्या करने वाले ।

५. **ग्लान**—रुग्ण मुनि ।

६. **शैक्ष**—नवदीक्षित ।

७. **साधर्मिक**—सदृश समाचार वाले तथा समान वेष वाले ।

८. **कुल**—एक गुरु के शिष्यों का समुदाय अथवा एक वाचनाचार्य से ज्ञानाध्ययन करने वाले ।

९. **गण**—अनेक कुलों का समूह ।

१०. **संघ**—साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकाओं का समूह ।

इन सब का वैयावृत्य निर्जरा के हेतु करना चाहिए, यश-कीर्त्ति आदि के लिए नहीं । भगवान् ने वैयावृत्य को आभ्यन्तर तप के रूप में प्रतिपादित किया है । इसका सेवन दोहरे लाभ का कारण है—वैयावृत्यकर्त्ता कर्मनिर्जरा का लाभ करता है और जिनका वैयावृत्य किया जाता है, उनके चित्त में समाधि, सुख-शान्ति उत्पन्न होती है ।

साधर्मिक बारह प्रकार के हैं । उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१. नामसाधर्मिक—दो या अधिक व्यक्तियों में नाम की समानता होना । जैसे देवदत्त नामक दो व्यक्तियों में नाम की समानता है ।

१—अभयदेवटीका से उद्धृत ।

२. स्थापनासाधर्मिक—साधर्मिक के चित्र आदि में उसकी स्थापना करना ।
३. द्रव्यसाधर्मिक—जो भूतकाल में साधर्मिक था या भविष्यत् में होगा, वर्त्तमान में नहीं है ।
४. क्षेत्रसाधर्मिक—एक ही क्षेत्र—देश या नगर आदि के निवासी ।
५. कालसाधर्मिक—जो समकालीन हों या एककालोत्पन्न हों ।
६. प्रवचनसाधर्मिक—एक सिद्धान्त को मानने वाले, समान श्रद्धा वाले ।
७. लिंगसाधर्मिक—एक ही प्रकार के वेष वाले ।
८. दर्शनसाधर्मिक—जिनका सम्यग्दर्शन समान हो ।
९. ज्ञानसाधर्मिक—मति आदि ज्ञानों की समानता वाले ।
१०. चारित्रसाधर्मिक—समान चारित्र-आचार वाले ।

११. अभिग्रहसाधर्मिक—एक-से अभिग्रह वाले, आहारादि के विषय में जिन्होंने एक-सी प्रतिज्ञा अंगीकार की हो ।

१२. भावनासाधर्मिक—समान भावना वाले—अनित्यादि भावनाओं में समान रूप से विचरने वाले ।

प्रस्तुत में प्रवचन, लिंग और चारित्र की अपेक्षा साधर्मिक समझना चाहिए, अन्य अपेक्षाओं से नहीं ।

एक प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता ह कि परनिन्दा और पर को दोष देना दोष तो है किन्तु अदत्तादान के साथ उनका सबन्ध जोड़ना कैसे उपयुक्त हो सकता है ? अर्थात् जो परनिन्दा करता है और पर के साथ द्वेष करता है, वह अदत्तादानविरमण व्रत का पालन नहीं कर सकता और जो यह नहीं करता वही पालन कर सकता है, ऐसा क्यों कहा गया है ?

इस प्रश्न का समाधान आचार्य अभयदेव ने इस प्रकार किया है—

सामीजीवादत्तं तित्थयरेणं तहेव य गुरूहि ।

अर्थात् अदत्त चार प्रकार का है—स्वामि-अदत्त अर्थात् स्वामी के द्वारा विना दिया, जीव-अदत्त, तीर्थंकर-अदत्त और गुरु-अदत्त ।

निन्दा निन्दनीय व्यक्ति द्वारा तथा तीर्थंकर और गुरु द्वारा अननुज्ञात (अदत्त) है, इसी प्रकार दोष देना भी दूषणीय जीव एवं तीर्थंकर-गुरु द्वारा अननुज्ञात है, अतएव इनका सेवन अननुज्ञात—अदत्त का सेवन करना है । इस प्रकार अदत्तादान-त्यागी को परनिन्दा और दूसरे को दोष लगाना या किसी पर द्वेष करना भी त्याज्य है ।

शेष सुगम है ।

आराधना का फल—

१३३—इमं च परदव्वहरणवेरमणपरिरक्खणट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं अत्तहियं पेच्चाभावियं आगमेसिभद्दं सुद्धं णेयाउयं अकुडिलं अणुत्तरं सव्वदुक्खपावाणं विउवसमणं ।

१३३—परकीय द्रव्य के हरण से विरमण (निवृत्ति) रूप इस अस्तेयव्रत की परिरक्षा

के लिए भगवान् तीर्थंकर देव ने यह प्रवचन समीचीन रूप से कहा है। यह प्रवचन आत्मा के लिए हितकारी है, आगामी भव में शुभ फल प्रदान करने वाला और भविष्यत् में कल्याणकारी है। यह प्रवचन शुद्ध है, न्याय-युक्ति-तर्क से संगत है, अकुटिल-मुक्ति का सरल मार्ग है, सर्वोत्तम है तथा समस्त दुःखों और पापों को निश्शेष रूप से शान्त कर देने वाला है।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ में अस्तेयव्रत संबंधी भगवत्प्रवचन की महिमा बतलाई गई है। साथ ही व्रत के पालनकर्त्ता को प्राप्त होने वाले फल का भी निर्देश किया गया है। आशय स्पष्ट है।

अस्तेय व्रत की पाँच भावनाएँ—

१३४—तस्स इमा पंच भावणाओ होंति परदव्व-हरण-वेरमण-परिरक्खणट्ठयाए।

१३४—परद्रव्यहरणविरमण (अदत्तादानत्याग) व्रत की पूरी तरह रक्षा करने के लिए पाँच भावनाएँ हैं, जो आगे कही जा रही हैं।

प्रथम भावना—निर्दोष उपाश्रय—

१३५—पढमं—देवकुल-सभा-प्पवा-वसह-रुक्खमूल-आराम-कंदरागर-गिरि-गुहा-कम्मंतउज्जाण-जाणसाला-कुवियसाला-मंडव-सुण्णघर-सुसाण-लेण-आवणे अण्णम्मि य एवमाइयम्मि दग-मट्टिय-बीज-हरिय-तसपाणअसंसत्ते अहाकडे फासुए विवित्ते पसत्थे उवस्सए होइ विहरियव्वं।

आहाकम्मबहुले य जे से आसित्त-सम्मज्जिय-उवलित्त-सोहिय-छायण-दूमण-लिंपण-अणुलिंपण-जलण-भंडचालणं अंतो बहिं च असंजमो जत्थ वड्ढइ संजयाण अट्ठा वज्जियव्वो हु उवस्सओ से तारिसए सुत्तपडिकुट्ठे।

एवं विवत्तवासवसहिसमिइजोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा णिच्चं-अहिगरणकरणकारावण-पावकम्मविरओ दत्तमणुण्णाय उग्गहरुई।

१३५—पाँच भावनाओं में से प्रथम भावना (विविक्त एवं निर्दोष वसति का सेवन करना) है। वह इस प्रकार है—देवकुल—देवालय, सभा—विचार-विमर्श का स्थान अथवा व्याख्यानस्थान, प्रपा—प्याऊ, आवसथ—परिव्राजकों के ठहरने का स्थान, वृक्षमूल, आराम—लतामण्डप आदि से युक्त, दम्पतियों के रमण करने योग्य बगीचा, कन्दरा—गुफा, आकर—खान, गिरिगुहा—पर्वत की गुफा, कर्म—जिसके अन्दर सुधा (चूना) आदि तैयार किया जाता है, उद्यान—फूल वाले वृक्षों से युक्त बाग, यानशाला—रथ आदि रखने की जगह, कुप्यशाला—घर का सामान रखने का स्थान, मण्डप—विवाह आदि के लिए या यज्ञादि के लिए बनाया गया मण्डप, शून्य घर, श्मशान, लयन—पहाड़ में बना गृह तथा दुकान में और इसी प्रकार के अन्य स्थानों में जो भी सचित्त जल, मृत्तिका, बीज, दूव आदि हरित और चींटी-मकोड़े आदि त्रस जीवों से रहित हो, जिसे गृहस्थ ने अपने लिए बनवाया हो, प्रासुक—निर्जीव हो, जो स्त्री, पशु एवं नपुंसक के संसर्ग से रहित हो और इस कारण जो प्रशस्त हो, ऐसे उपाश्रय में साधु को विहरना चाहिए—ठहरना चाहिए।

(किस प्रकार के उपाश्रय—स्थान में नहीं ठहरना चाहिए? इसका उत्तर यह है—) साधुओं

के निमित्त जिसके लिए हिंसा की जाए, ऐसे आधाकर्म की बहुलता वाले, आसिक्त—जल के छिड़काव वाले, संमार्जित—बुहारी से साफ किए हुए, उत्सिक्त—पानी से खूब सींचे हुए, शोभित—सजाए हुए, छादन—डाभ आदि से छाये हुए, दूमन—कलई आदि से पोते हुए, लिम्पन—गोवर आदि से लीपे हुए, अनुलिपन—लीपे को फिर लीपा हो, ज्वलन—अग्नि जलाकर गर्म किये हुए या प्रकाशित किए हुए, भाण्डों—सामान को इधर-उधर हटाए हुए अर्थात् जिस साधु के लिए कोई सामान इधर-उधर किया गया हो और जिस स्थान के अन्दर या वाहर (समीप में) जीवविराधना होती हो, ये सव जहाँ साधुओं के निमित्त से हों, वह स्थान—उपाश्रय साधुओं के लिए वर्जनीय है। ऐसा स्थान शास्त्र द्वारा निषिद्ध है।

इस प्रकार विविक्त—निर्दोष वास—स्थान में वसतिरूप समिति के योग से भावित अन्तःकरण वाला मुनि सदैव दुर्गति के कारण पापकर्म के करने और करवाने से निवृत्त होता—वचता है तथा दत्त-अनुज्ञात अवग्रह में रुचि वाला होता है।

द्वितीय भावना—निर्दोष संस्तारक—

१३६—बिइयं—आराम-उज्जाण-काणण-वणप्पदेसभागे जं किंचि इक्कडं च कठिणगं च जंतुगं च परामेरकुच्च-कुस-डब्भ-पलाल-मूयग-वल्लय-पुप्फ-फल-तय-प्पवाल-कंद-मूल-तण-कट्ठ-सक्कराइ गिण्हइ सेज्जोवहिस्स अट्ठा ण कप्पए उग्गहे अदिण्णम्मि गिण्हिउं जे हणि हणि उग्गहं अणुण्णवियं गिण्हियव्वं।

एवं उग्गहसमिइजोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा णिच्चं अहिगरण-करण-कारावण-पावकम्म-विरए दत्तमणुण्णाय उग्गहरुई।

१३६—दूसरी भावना निर्दोष संस्तारकग्रहण संवंधी है। आराम, उद्यान, कानन—नगरसमीपवर्ती वन और वन—नगर से दूर का वनप्रदेश आदि स्थानों में जो कुछ भी (अचित्त) इक्कड जाति का घास तथा कठिन—घास की एक जाति, जन्तुक—पानी में उत्पन्न होने वाला घास, परा नामक घास, मेरा—मूंज के तन्तु, कूर्च—कूंची वनाने योग्य घास, कुश, डाभ, पलाल, मूयक नामक घास, वल्वज घास, पुष्प, फल, त्वचा, प्रवाल, कन्द, मूल, तृण, काष्ठ और शर्करा आदि द्रव्य संस्तारक रूप उपधि के लिए अथवा संस्तारक एवं उपधि के लिए ग्रहण करता है तो इन उपाश्रय के भीतर की ग्राह्य वस्तुओं को दाता द्वारा दिये विना ग्रहण करना नहीं कल्पता। तात्पर्य यह है कि उपाश्रय की अनुज्ञा ले लेने पर भी उपाश्रय के भीतर की घास आदि लेना हो तो उनके लिए पृथक् रूप से अनुज्ञा प्राप्त करना चाहिए। उपाश्रय की अनुज्ञा प्राप्त कर लेने मात्र से उसमें रखी अन्य तृण आदि वस्तुओं के लेने की अनुज्ञा ले ली, ऐसा नहीं मानना चाहिए।

इस प्रकार अवग्रहसमिति के योग से भावित अन्तःकरण वाला साधु सदा दुर्गति के कारणभूत पाप-कर्म के करने और कराने से निवृत्त होता—वचता है और दत्त—अनुज्ञात अवग्रह की रुचि वाला होता है।

तृतीय भावना—शय्या-परिकर्म वर्जन—

१३७—तइयं—पीढफलगसिज्जासंथारगट्ठयाए रुक्खा ण छिंदियव्वा, ण छेयणेण भेयणेण सेज्जा कारियव्वा, जस्सेव उवस्सए वसेज्ज सेज्जं तत्थेव गवेसिज्जा, ण य विसमं समं करेज्जा, ण णिवाय-

पवायउस्सुगत्तं, ण डंसमसगेसु खुभियव्वं, अग्गी धूमो ण कायव्वो, एवं संजमबहुले संवरबहुले संवुड-बहुले समाहिबहुले धीरे काएण फासयंतो सययं अज्झप्पज्झाणजुत्ते समिए एगे चरिज्ज धम्मं।

एवं सेज्जासमिइजोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा णिच्चं अहिगरण-करणकारावण-पावकम्म-विरए दत्तमणुण्णाय उग्गहरुई।

१३७—तीसरी भावना शय्या-परिकर्मवर्जन है। उसका स्वरूप इस प्रकार है—पीठ, फलक, शय्या और संस्तारक के लिए वृक्षों का छेदन नहीं करना चाहिए। वृक्षों के छेदन या भेदन से शय्या तैयार नहीं करवानी चाहिए। साधु जिसके उपाश्रय में निवास करे—ठहरे, वहीं शय्या की गवेषणा करनी चाहिए। वहाँ की भूमि यदि विषम (ऊँची-नीची) हो तो उसे सम न करे। पवनहीन स्थान को अधिक पवन वाला अथवा अधिक पवन वाले स्थान को पवनरहित—कम पवन वाला बनाने के लिए उत्सुक न हो—ऐसा करने की अभिलाषा भी न करे, डांस—मच्छर आदि के विषय में क्षुब्ध नहीं होना चाहिए और उन्हें हटाने के लिए धूम आदि नहीं करना चाहिए। इस प्रकार संयम की बहुलता—प्रधानता वाला, संवर की प्रधानता वाला, कषाय एवं इन्द्रियों के निग्रह की प्रधानता वाला, अतएव समाधि की प्रधानता वाला धैर्यवान् मुनि काय से इस व्रत का पालन करता हुआ निरन्तर आत्मा के ध्यान में निरत रहकर, समितियुक्त रह कर और एकाकी—रागद्वेष से रहित होकर धर्म का आचरण करे।

इस प्रकार शय्यासमिति के योग से भावित अन्तरात्मा वाला साधु सदा दुर्गति के कारणभूत पाप-कर्म से विरत होता है और दत्त—अनुज्ञात अवग्रह की रुचि वाला होता है।

चतुर्थ भावना—अनुज्ञात भक्तादि

१३८—चउत्थं—साहारण-पिंडपायलाभे सति भोत्तव्वं संजएणं समियं, ण सायसूपाहियं, ण खद्धं, ण वेगियं, ण तुरियं, ण चवलं, ण साहसं, ण य परस्स पीलाकरसावज्जं तह भोत्तव्वं जह से तइयवयं ण सीयइ। साहारणपिंडपायलाभे सुहुमं अदिण्णादाणवयणियमविरमणं।

एवं साहारणपिंडपायलाभे समिइजोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा णिच्चं अहिगरण-करण-कारावण-पावकम्मविरए दत्तमणुण्णाय उग्गहरुई।

१३८—चौथी भावना अनुज्ञातभक्तादि है। वह इस प्रकार है—सब साधुओं के लिए साधारण सम्मिलित आहार—पानी आदि मिलने पर साधु को सम्यक् प्रकार से—यतनापूर्वक खाना चाहिए। शाक और सूप की अधिकता वाला भोजन—सरस-स्वादिष्ट भोजन अधिक (या शीघ्रतापूर्वक) नहीं खाना चाहिए (क्योंकि ऐसा करने से अन्य साधुओं को अप्रीति उत्पन्न होती है और वह भोजन अदत्त हो जाता है)। तथा वेगपूर्वक—जल्दी-जल्दी कवल निगलते हुए भी नहीं खाना चाहिए। त्वरा के साथ नहीं खाना चाहिए। चंचलतापूर्वक नहीं खाना चाहिए और न विचारविहीन होकर खाना चाहिए। जो दूसरों को पीडाजनक हो ऐसा एवं सदोष नहीं खाना चाहिए। साधु को इस रीति से भोजन करना चाहिए जिससे उसके तीसरे व्रत में बाधा उपस्थित न हो। यह अदत्तादानविरमणव्रत का सूक्ष्म—अत्यन्त रक्षा करने योग्य नियम है।

इस प्रकार सम्मिलित भोजन के लाभ में समिति के योग से भावित ग्रन्तःकरण वाला साधु सदा दुर्गतिहेतु पापकर्म से विरत होता है और दत्त एवं अनुज्ञात अवग्रह की रुचि वाला होता है।

पंचमी भावना—साधर्मिक-विनय

१३९—पंचमगं—साहम्मिए विणओ पउंजियव्वो, उवगरणपारणासु विणओ पउंजियव्वो, वायणपरियट्टणासु विणओ पउंजियव्वो, दाणगहणपुच्छणासु विणओ पउंजियव्वो, णिक्खमणपवेसणासु विणओ पउंजियव्वो, अण्णेसु य एवमाइसु बहुसु कारणसएसु विणओ पउंजियव्वो। विणओ वि तवो, तवो वि धम्मो तम्हा विणओ पउंजियव्वो गुरुसु साहुसु तवस्सीसु य।

एवं विणएण भाविओ भवइ अंतरप्पा णिच्चं अहिगरणं करण-कारावण-पावकम्मविरए दत्तमणुण्णाय उग्गहरुई।

१३९—पाँचवीं भावना साधर्मिक-विनय है। साधर्मिक के प्रति विनय का प्रयोग करना चाहिए। (रुग्णता आदि की स्थिति में) उपकार और तपस्या की पारणा—पूर्त्ति में विनय का प्रयोग करना चाहिए। वाचना अर्थात् सूत्रग्रहण में और परिवर्त्तना अर्थात् गृहीत सूत्र की पुनरावृत्ति में विनय का प्रयोग करना चाहिए। भिक्षा में प्राप्त अन्न आदि अन्य साधुओं को देने में तथा उनसे लेने में और विस्मृत अथवा शंकित सूत्रार्थ सम्बन्धी पृच्छा करने में विनय का प्रयोग करना चाहिए। उपाश्रय से बाहर निकलते और उसमें प्रवेश करते समय विनय का प्रयोग करना चाहिए। इनके अतिरिक्त इसी प्रकार के अन्य सैकड़ों कारणों में (कार्यों के प्रसंग में) विनय का प्रयोग करना चाहिए। क्योंकि विनय भी अपने आप में तप है और तप भी धर्म है। अतएव विनय का आचरण करना चाहिए।

विनय किनका करना चाहिए?

गुरुजनों का, साधुओं का और (तेला आदि) तप करने वाले तपस्वियों का।

इस प्रकार विनय से युक्त अन्तःकरण वाला साधु अधिकरण—पाप के करने और करवाने से विरत तथा दत्त-अनुज्ञात अवग्रह में रुचिवाला होता है। शेष पाठ का अर्थ पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

विवेचन—तृतीय व्रत की पाँच भावनाएँ (सूत्राङ्क १३५ से १३९ तक) प्रतिपादित की गई हैं। प्रथम भावना में निर्दोष उपाश्रय को ग्रहण करने का विधान किया गया है। आधुनिक काल में उपाश्रय शब्द से एक विशिष्ट प्रकार के स्थान का बोध होता है और सर्वसाधरण में वही अर्थ अधिक प्रचलित है। किन्तु वस्तुतः जिस स्थान में साधुजन ठहर जाते हैं, वही स्थान उपाश्रय कहलाता है। यहाँ ऐसे कतिपय स्थानों का उल्लेख किया गया है जिनमें साधु ठहरते थे। वे स्थान हैं—देवकुल—देवालय, सभाभवन, प्याऊ, मठ, वृक्षमूल, बाग-बगीचे, गुफा, खान, गिरिगुहा, कारखाने, उद्यान, यानशाला (रथादि रखने के स्थान), कुप्यशाला—घरगृहस्थी का सामान रखने की जगह, मण्डप, शून्यगृह, श्मशान, पर्वतगृह, दुकान आदि।

इन या इस प्रकार से अन्य जिन स्थानों में साधु निवास करे वह निर्दोष होना चाहिए। साधु के निमित्त से उसमें किसी प्रकार का झाड़ना-पोंछना, लीपना-पोतना आदि आरम्भ-समारम्भ न किया जाए।

द्वितीय भावना का आशय यह है कि निर्दोष उपाश्रय की अनुमति प्राप्त हो जाने पर भी उसमें रखे हुए घास, पयाल, आदि की साधु को आवश्यकता हो तो उसके लिए पृथक् रूप से उसके स्वामी की अनुज्ञा प्राप्त करनी चाहिए। ऐसा नहीं मानना चाहिए कि उपाश्रय की अनुमति ले लेने से उसके भीतर की वस्तुओं की भी अनुमति प्राप्त कर ली। जो भी वस्तु ग्रहण करनी हो वह निर्दोष और दत्त ही होनी चाहिए।

तीसरी भावना शय्यापरिकर्मवर्जन है। इसका अभिप्राय है कि साधु के निमित्त से पीठ, फलक आदि बनवाने के लिए वृक्षों का छेदन-भेदन नहीं होना चाहिए। उपाश्रय में ही शय्या की गवेषणा करनी चाहिए। वहाँ की भूमि विषम हो तो उसे समतल नहीं करना चाहिए। वायु अधिक आए या कम आए, इसके लिए उत्कंठित होना नहीं चाहिए। उपाश्रय में डांस--मच्छर सताएँ तो चित्त में क्षोभ उत्पन्न नहीं होने देना चाहिए—उस समय में समभाव रहना चाहिए। डांस—मच्छर भगाने के लिए आग या धूम का प्रयोग करना नहीं चाहिए आदि।

चौथी भावना का सम्बन्ध प्राप्त आहारादि के उपभोग के साथ है। साधु जब अन्य साधुओं के साथ आहार करने बैठे तो सरस आहार जल्दी-जल्दी न खाए, अन्य साधुओं को ठेस पहुँचे, इस प्रकार न खाए। साधारण अर्थात् अनेक साधुओं के लिए सम्मिलित भोजन का उपभोग समभाव-पूर्वक, अनासक्त रूप से करे।

पांचवीं भावना साधर्मिक विनय है। समान आचार-विचार वाले साधु, साधु के लिए साधर्मिक कहलाते हैं। बीमारी आदि की अवस्था में अन्य के द्वारा जो उपकार किया जाता है, वह उपकरण है। उपकरण एवं तपश्चर्या की पारणा के समय विनय का प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् इच्छाकारादि देकर, जबर्दस्ती न करते हुए एकत्र या अनेकत्र गुरु की आज्ञा से भोजन करना चाहिए। वाचना, परिवर्तन एवं पृच्छा के समय विनय-प्रयोग का आशय है वन्दनादि विधि करना। आहार के देते-लेते समय विनयप्रयोग का अर्थ है—गुरु की आज्ञा प्राप्त करके देना-लेना। उपाश्रय से बाहर निकलते और उपाश्रय में प्रवेश करते समय विनयप्रयोग का अर्थ आवश्यकी और नैषेधिकी करना आदि है। अभिप्राय यह कि प्रत्येक क्रिया आगमादेश के अनुसार करना ही यहाँ विनयप्रयोग कहा गया है।

उपसंहार

१४०—एवमिणं संवरस्स दारं सम्मं संवरियं होइ, सुप्पणिहियं, एवं जाव पंचहि वि कारणेहि मण-वयण काय-परिरक्खिएहिं णिच्चं आमरणंतं च एस जोगो णेयव्वो धिइमया मइमया अणासवो अकलुसो अछिद्दो अपरिस्सावी असंकिलिट्ठो सुद्धो सव्वजिणमणुण्णाओ।

एवं तइयं संवरदारं फासियं पालियं सोहियं तीरियं किट्टियं आराहियं आणाए अणुपालियं भवइ।

एवं णायमुणिणा भगवया पण्णवियं परूवियं पसिद्धं सिद्धं सिद्धवरसासणमिणं आघवियं सुदेसियं पसत्थं ।

।। तइयं संवरदारं समत्तं तिबेमि ।।

१४०—इस प्रकार (आचरण करने) से यह तीसरा संवरद्वार समीचीन रूप से पालित और सुरक्षित होता है। इस प्रकार यावत् तीर्थंकर भगवान् द्वारा कथित है, सम्यक् प्रकार से उपदिष्ट है और प्रशस्त है। शेष शब्दों का अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिए।

।। तृतीय संवरद्वार समाप्त ।।

चतुर्थ अध्ययन : ब्रह्मचर्य

तृतीय संवरद्वार में अदत्तादानविरमणव्रत का निरूपण किया गया है। उसका सम्यक् प्रकार से परिपालन ब्रह्मचर्य व्रत को धारण और पालन करने पर ही हो सकता है। अतएव अदत्तादानविरमण के अनन्तर ब्रह्मचर्य का निरूपण किया जा रहा है।

ब्रह्मचर्य की महिमा

१४१—जंबू ! इत्तो य वंभचेरं उत्तम-तव-णियम-णाण-दंसण-चरित्त-सम्मत्त-विणय-मूलं, यम-नियम-गुणप्पहाणजुत्तं, हिमवंतमहंततेयमंतं, पसत्थगंभीरथिमियमज्झं, अज्जवसाहुजणाचरियं, मोक्खमग्गं, विसुद्धसिद्धिगइणिलयं, सासयमव्वावाहमपुणब्भवं, पसत्थं, सोमं, सुभं, सिवमयलमक्खयकरं, जइवरसारक्खियं, सुचरियं, सुभासियं,[1] णवरि मुणिवरेहिं महापुरिसधीरसूरधम्मियधिइमंताण य सया विसुद्धं, सव्वं भव्वजणाणुचिण्णं, णिस्संकियं णिब्भयं णित्तुसं, णिरायासं णिरुवलेवं णिव्वुइघरं णियमणिप्पकंपं तवसंजममूलदलियणेम्मं पंचमहव्वयसुरक्खियं समिइगुत्तिगुत्तं।

झाणवरकवाडसुकयं[2] अज्झप्पदिण्णफलिहं सण्णद्धो[3]च्छइयदुग्गइपहं सुगइपहदेसगं च लोगुत्तमं च।

वयमिणं पउमसरतलागपालिभूयं महासगडअरगतुंवभूयं महाविडिमरुक्खखंधभूयं महाणगरपागारकवाडफलिहभूयं रज्जुपिणिद्धो व इंदकेऊ विसुद्धणेगगुणसंपिणद्धं, जम्मि य भग्गम्मि होइ सहसा सव्वं संभग्गमथियचुण्णियकुसल्लिय-पल्लट्ट-पडिय-खंडिय-परिसडिय-विणासियं विणयसीलतवणियमगुणसमूहं। तं वंभं भगवंतं।

१४१—हे जम्बू ! अदत्तादानविरमण के अनन्तर ब्रह्मचर्य व्रत है। यह ब्रह्मचर्य अनशन आदि तपों का, नियमों—उत्तरगुणों का, ज्ञान का, दर्शन का, चारित्र का, सम्यक्त्व का और विनय का मूल है। यह अहिंसा आदि यमों और गुणों में प्रधान नियमों से युक्त है। यह हिमवान् पर्वत से भी महान् और तेजोवान् है। प्रशस्य है, गम्भीर है। इसकी विद्यमानता में मनुष्य का अन्तःकरण स्थिर हो जाता है। यह सरलात्मा साधुजनों द्वारा आसेवित है और मोक्ष का मार्ग है। विशुद्ध—रागादिरहित निर्मल—सिद्धिगतिरूपी गृह वाला है—सिद्धि के गृह के समान है। शाश्वत एवं अव्यावाध तथा पुनर्भव से रहित बनाने वाला है। यह प्रशस्त—उत्तम गुणों वाला, सौम्य—शुभ या सुखरूप है। शिव—सर्व प्रकार के उपद्रवों से रहित, अचल और अक्षय—कभी क्षीण न होने वाले पद (पर्याय—मोक्ष) को

---

१. पाठान्तर—'मुसाहियं'।

२. पाठान्तर—'सुकय रक्खण' है।

३. पाठान्तर—'सण्णद्धो' के स्थान 'सण्णद्धबद्धो' भी है।

प्रदान करने वाला है। उत्तम मुनियों द्वारा सुरक्षित है, सम्यक् प्रकार से आचरित है और उपदिष्ट है। श्रेष्ठ मुनियों—महापुरुषों द्वारा जो धीर, शूरवीर और धार्मिक धैर्यशाली हैं, सदा अर्थात् कुमार आदि अवस्थाओं में भी विशुद्ध रूप से पाला गया है। यह कल्याण का कारण है। भव्यजनों द्वारा इसका आराधन—पालन किया गया है। यह शंकारहित है अर्थात् ब्रह्मचारी पुरुष विषयों के प्रति निस्पृह होने से लोगों के लिए शंकनीय नहीं होते—उन पर कोई शंका नहीं करता। अशंकनीय होने से ब्रह्मचारी निर्भीक रहता है—उसे किसी से भय नहीं होता है। यह व्रत निस्सारता से रहित—शुद्ध तंदुल के समान है। यह खेद से रहित और रागादि के लेप से रहित है। चित्त की शान्ति का स्थल है और नियमतः अविचल है। यह तप और संयम का मूलाधार—नींव है। पाँच महाव्रतों में विशेष रूप से सुरक्षित, पाँच समितियों और तीन गुप्तियों से गुप्त (रक्षित) है। रक्षा के लिए उत्तम ध्यान रूप सुनिर्मित कपाट वाला तथा अध्यात्म—सद्भावनामय चित्त ही (ध्यान—कपाट को दृढ़ करने के लिए) लगी हुई अर्गला—आगल वाला है। यह व्रत दुर्गति के मार्ग को रुद्ध एवं आच्छादित कर देने वाला अर्थात् रोक देने वाला है और सद्गति के पथ को प्रदर्शित करने वाला है। यह ब्रह्मचर्यव्रत लोक में उत्तम है।

यह व्रत कमलों से सुशोभित सर (स्वतः बना तालाब) और तडाग (पुरुषों द्वारा निर्मित तालाब) के समान (मनोहर) धर्म की पाल के समान है, अर्थात् धर्म की रक्षा करने वाला है। किसी महाशकट के पहियों के आरों के लिए नाभि के समान है, अर्थात् धर्म-चारित्र का आधार है—ब्रह्मचर्य के सहारे ही क्षमा आदि धर्म टिके हुए हैं। यह किसी विशाल वृक्ष के स्कन्ध के समान है, अर्थात् जैसे विशाल वृक्ष की शाखाएँ, प्रशाखाएँ, टहनियाँ, पत्ते, पुष्प, फल आदि का आधार स्कन्ध होता है, उसी प्रकार समस्त प्रकार के धर्मों का आधार ब्रह्मचर्य है। यह महानगर के प्राकार—परकोटा के कपाट की अर्गला के समान है। डोरी से बँधे इन्द्रध्वज के सदृश है। अनेक निर्मल गुणों से व्याप्त है। (यह ऐसा आधारभूत व्रत है) जिसके भग्न होने पर सहसा—एकदम सब विनय, शील, तप और गुणों का समूह फूटे घड़े की तरह संभग्न हो जाता है, दही की तरह मथित हो जाता है, आटे की भाँति चूर्ण—चूरा-चूरा हो जाता है, काँटे लगे शरीर की तरह शल्ययुक्त हो जाता है, पर्वत से लुढ़की शिला के समान लुढ़का हुआ—गिरा हुआ, चीरी या तोड़ी हुई लकड़ी की तरह खण्डित हो जाता है तथा दुरवस्था को प्राप्त और अग्नि द्वारा दग्ध होकर बिखरे काष्ठ के समान विनष्ट हो जाता है। वह ब्रह्मचर्य भगवान् है—अतिशयसम्पन्न है।

विवेचन—शास्त्रकार ने प्रस्तुत पाठ में प्रभावशाली शब्दों में ब्रह्मचर्य की महिमा का वास्तविक निरूपण किया है। उसे तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व एवं विनय का मूल कहा है। इसका आशय यह है कि ब्रह्मचर्यनिष्ठ उत्तम पुरुष ही उत्तम तप आदि का पालन करने में समर्थ हो सकता है, ब्रह्मचर्य के अभाव में इन सब का उत्कृष्ट रूप से आराधन नहीं हो सकता। कहा है—

जइ ठाणी जइ मोणी, जइ झाणी वक्कली तपस्सी वा।
पत्थंतो य अबंभं, बंभावि न रोयए मज्झ॥

तो पढियं तो गुणियं, तो मुणियं तो य चेइओ अप्पा ।
आवडियपेल्लियामंतिओवि न कुणइ अकज्जं ॥[1]

अर्थात् भले कोई कायोत्सर्ग में स्थित रहे, भले मौन धारण करके रहता हो, ध्यान में मगन हो, छाल के कपड़े धारण करता हो या तपस्वी हो, यदि वह अब्रह्मचर्य की अभिलाषा करता है तो मुझे नहीं सुहाता, फिर भले ही वह साक्षात् ब्रह्मा ही क्यों न हो !

शास्त्रादि का पढ़ना, गुनना—मनन करना, ज्ञानी होना और आत्मा का बोध होना तभी सार्थक है जब विपत्ति आ पड़ने पर भी और सामने से आमंत्रण मिलने पर भी मनुष्य अकार्य अर्थात् अब्रह्म सेवन न करे ।

आशय यह है कि ब्रह्मचर्य की विद्यमानता में ही तप, नियम आदि का निर्दोष रूप से पालन संभव है । जिसका ब्रह्मचर्य खण्डित हो गया उसका समग्र आचार खण्डित हो जाता है । इस तथ्य पर मूल पाठ में बहुत बल दिया गया है । जमीन पर पटका हुआ घड़ा जैसे फूट जाता है—किसी काम का नहीं रहता वैसे ही ब्रह्मचर्य के विनष्ट होने पर समग्र गुण नष्ट हो जाते हैं । ब्रह्मचर्य के भंग होने पर अन्य समस्त गुण मथे हुए दही जैसे, पिसे हुए धान्य जैसे चूर्ण-विचूर्ण (चूरा-चूरा) हो जाते हैं । इत्यादि अनेक उदाहरणों से इस तथ्य को समझाया गया है ।

जैसे कमलों से सुशोभित सरोवर की रक्षा पाली से होती है, उसी प्रकार धर्म की रक्षा ब्रह्मचर्य से होती है ।

जैसे रथ आदि के चक्र में लगे हुए आरों का मूल आधार उसकी नाभि है, नाभि के अभाव में या उसके क्षतिग्रस्त हो जाने पर आरे टिक नहीं सकते । आरों के अभाव में पहिये काम के नहीं रहते और पहियों के अभाव में रथ गतिमान् नहीं हो सकता । इसी प्रकार ब्रह्मचर्य के बिना धर्म या चारित्र भी अनुपयोगी सिद्ध होता है, वह इष्टसम्पादक नहीं बनता ।

धर्म महानगर है । उसकी सुरक्षा के लिए व्रत नियम आदि का प्राकार खड़ा किया गया है । प्राकार में फाटक होते हैं, दृढ कपाट होते हैं और कपाटों की मजबूती के लिए अर्गला होती है । अर्गला से द्वार सुदृढ हो जाता है और उसमें उपद्रवी लोग या शत्रु प्रवेश नहीं कर सकते । ब्रह्मचर्य वह अर्गला है जिसकी दृढता के कारण धर्म-नगर का चारित्ररूपी प्राकार ऐसा बन जाता है कि उसमें धर्मविरोधी तत्त्व—पाप का प्रवेश नहीं हो पाता ।

इस प्रकार के अनेक दृष्टान्तों से ब्रह्मचर्य का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है । पाठक सरलता से इसका आशय समझ सकते हैं ।

मूल पाठ में ब्रह्मचर्य के लिए 'सया विसुद्ध' विशेषण का प्रयोग किया गया है । टीकाकार ने इसका अर्थ सदा अर्थात् 'कुमार आदि सभी अवस्थाओं में' किया है । कुछ लोग कहते हैं कि—

अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च नैव च ।
तस्मात्पुत्रमुखं दृष्ट्वा, पश्चाद्धर्मं चरिष्यसि ॥

---

१. अभयदेवटीका, पृ. १३२ (आगमोदय०)

अर्थात् निपूते—पुत्रहीन पुरुष को सद्गति प्राप्त नहीं होती। स्वर्ग तो कदापि मिल ही नहीं सकता। अतएव पुत्र का मुख देख कर—पहले पुत्र को जन्म देकर पश्चात् यतिधर्म का आचरण करना।

वस्तुतः यह कथन किसी मोहग्रस्त पिता का अपने कुमार पुत्र को संन्यास ग्रहण करने से विरत करने के लिए है। 'चरिष्यसि' इस क्रियापद से यह आशय स्पष्ट रूप से ध्वनित होता है। यह किसी सम्प्रदाय या परम्परा का सामान्य विधान नहीं है, अन्यथा 'चरिष्यसि' के स्थान पर 'चरेत्' अथवा इसी अर्थ को प्रकट करने वाली कोई अन्य क्रिया होती।

इसके अतिरिक्त जिस परम्परा से इसका सम्बन्ध जोड़ा जाता है, उसी परम्परा में यह भी मान्य किया गया है—

अनेकानि सहस्राणि, कुमारब्रह्मचारिणाम्।
दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसन्ततिम्॥

अर्थात् कुमार—अविवाहित ब्रह्मचारी सहस्रों की संख्या में कुल—सन्तान (पुत्र आदि) उत्पन्न किए विना ही स्वर्ग में गए हैं।

तात्पर्य यह है कि स्वर्गप्राप्ति के लिए पुत्र को जन्म देना आवश्यक नहीं है। स्वर्ग प्राप्ति यदि पुत्र उत्पन्न करने से होती हो तो वह वड़ी सस्ती, सुलभ और सुसाध्य हो जाए! फिर तो कोई विरला ही स्वर्ग से वंचित रहे!

संभव है 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' यह प्रवाद उस समय प्रचलित हुआ हो जब श्राद्ध करने की प्रथा चालू हुई। उस समय भोजन-लोलुप लोगों ने यह प्रचार प्रारम्भ किया कि पुत्र अवश्य उत्पन्न करना चाहिए। पुत्र न होगा तो पितरों का श्राद्ध कौन करेगा! श्राद्ध नहीं किया जाएगा तो पितर भूखे-प्यासे रहेंगे और श्राद्ध में भोजन करने वालों को उत्तम खीर आदि से वंचित रहना पड़ेगा।

किन्तु यह लोकप्रवाद मात्र है। मृतक जन अपने-अपने किये कर्म के अनुसार स्वर्ग-नरक आदि गतियाँ प्राप्त कर लेते हैं। अतएव श्राद्ध में ब्राह्मणों को खिलाने-पिलाने का उनके सुख-दुःख पर किंचित् भी प्रभाव नहीं पड़ता।

ब्रह्मचर्य उत्तमोत्तम धर्म है और वह प्रत्येक अवस्था में आचरणीय है। आर्हत परम्परा में तथा भारतवर्ष की अन्य परम्पराओं में भी ब्रह्मचर्य की असाधारण महिमा का गान किया गया है और अविवाहित महापुरुषों के प्रव्रज्या एवं संन्यास ग्रहण करने के अगणित उदाहरण उपलब्ध हैं।

जिनमत में अन्य व्रतों में तो अपवाद भी स्वीकार किए गए हैं किन्तु ब्रह्मचर्य व्रत निरपवाद कहा गया है—

न वि किंचि अणुण्णायं,
पडिसिद्धं वावि जिणवरिंदेहिं।
मोत्तुं मेहुणभावं,
न तं विना रागदोसेहिं॥

अर्थात् जिनवरेन्द्र तीर्थंकरों ने मैथुन के सिवाय न तो किसी बात को एकान्त रूप से अनुमत किया है और न एकान्ततः किसी चीज का निषेध किया है—सभी विधि-निषेधों के साथ आवश्यक अपवाद जुड़े हैं। कारण यह है कि मैथुन (तीव्र) राग-द्वेष अथवा राग रूप दोष के विना नहीं होता।

ब्रह्मचर्य की इस असामान्य महिमा के कारण ही—

देव-दाणव-गंधव्वा, जक्ख-रक्खस-किन्नरा।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जं करेंति ते ॥

अर्थात् जो महाभाग दुश्चर ब्रह्मचर्यव्रत का आचरण करते हैं, ऐसे उन ब्रह्मचारियों को देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर भी नमस्कार करते हैं—देवगण भी उनके चरणों में नतमस्तक होते हैं।

बत्तीस उपमाओं से मण्डित ब्रह्मचर्य—

१४२—तं बंभं भगवंतं १. गहगणणक्खत्ततारगाणं वा जहा उडुवई।

२. मणिमुत्तसिलप्पवालरत्तरयणागराणं च जहा समुद्दो।
३. वेरुलिओ चेव जहा मणीणं।
४. जहा मउडो चेव भूसणाणं।
५. वत्थाणं चेव खोमजुयलं।
६. अरविंदं चेव पुप्फजेट्ठं।
७. गोसीसं चेव चंदणाणं।
८. हिमवंतो चेव ओसहीणं।
९. सीतोदा चेव णिण्णगाणं।
१०. उदहीसु जहा सयंभूरमणो।
११. रुयगवरे चेव मंडलियपव्वयाणं पवरे।
१२. एरावण इव कुंजराणं।
१३. सीहोव्व जहा मियाणं पवरे।
१४. पवगाणं चेव वेणुदेवे।
१५. धरणो जहा पण्णगिंदराया।
१६. कप्पाणं चेव बंभलोए।
१७. सभासु य जहा भवे सुहम्मा।
१८. ठिइसु लवसत्तमव्व पवरा।
१९. दाणाणं चेव अभयदाणं।
२०. किमिराउ चेव कंबलाणं।

२१. संघयणे चेव वज्जरिसहे ।

२२. संठाणे चेव समचउरंसे ।

२३. झाणेसु य परमसुक्कज्झाणं ।

२४. णाणेसु य परमकेवलं तु पसिद्धं ।

२५. लेसासु य परमसुक्कलेस्सा ।

२६. तित्थयरे चेव जहा मुणीणं ।

२७. वासेसु जहा महाविदेहे ।

२८. गिरिराया चेव मंदरवरे ।

२९. वणेसु जहा णंदणवणं पवरं ।

३०. दुमेसु जहा जंबू, सुदंसणा विस्सुयजसा जीए णामेण य अयं दीवो ।

३१. तुरगवई गयवई रहवई णरवई जह वीसुए चेव राया ।

३२. रहिए चेव जहा महारहगए ।

एवमणेगा गुणा अहीणा भवंति एगम्मि बंभचेरे । जम्मि य आराहियम्मि आराहियं वयमिणं सव्वं सीलं तवो य विणओ य संजमो य खंती गुत्ती मुत्ती तहेव इहलोइय-पारलोइयजसे य कित्ती य पच्चओ य, तम्हा णिहुएण बंभचेरं चरियव्वं सव्वओ विसुद्धं जावज्जीवाए जाव सेयट्ठिसंजओ त्ति एवं भणियं वयं भगवया ।

१४२—ब्रह्मचर्य की बत्तीस उपमाएँ इस प्रकार हैं—

१. जैसे ग्रहगण, नक्षत्रों और तारागण में चन्द्रमा प्रधान होता है, उसी प्रकार समस्त व्रतों में ब्रह्मचर्य प्रधान है ।

२. मणि, मुक्ता, शिला, प्रवाल और लाल (रत्न) की उत्पत्ति के स्थानों (खानों) में समुद्र प्रधान है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य सर्व व्रतों का श्रेष्ठ उद्‌भवस्थान है ।

३. इसी प्रकार ब्रह्मचर्य मणियों में वैडूर्यमणि के समान उत्तम है ।

४. आभूषणों में मुकुट के समान है ।

५. समस्त प्रकार के वस्त्रों में क्षौमयुगल—कपास के वस्त्रयुगल के सदृश है ।

६. पुष्पों में श्रेष्ठ अरविन्द—कमलपुष्प के समान है ।

७. चन्दनों में गोशीर्ष चन्दन के समान है ।

८. जैसे ओषधियों—चामत्कारिक वनस्पतियों का उत्पत्तिस्थान हिमवान् पर्वत है, उसी प्रकार आमर्शौषधि आदि (लब्धियों) की उत्पत्ति का स्थान ब्रह्मचर्य है ।

९. जैसे नदियों में शीतोदा नदी प्रधान है, वैसे ही सब व्रतों में ब्रह्मचर्य प्रधान है ।

१०. समस्त समुद्रों में स्वयंभूरमण समुद्र जैसे महान् है, उसी प्रकार व्रतों में ब्रह्मचर्य महत्त्वशाली है ।

११. जैसे माण्डलिक अर्थात् गोलाकार पर्वतों में रुचकवर (तेरहवें द्वीप में स्थित) पर्वत प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य प्रधान है ।

१२. इन्द्र का ऐरावण नामक गजराज जैसे सर्व गजराजों में श्रेष्ठ है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य है।

१३. ब्रह्मचर्य वन्य जन्तुओं में सिंह के समान प्रधान है।

१४. ब्रह्मचर्य सुपर्णकुमार देवों में वेणुदेव के समान श्रेष्ठ है।

१५. जैसे नागकुमार जाति के देवों में धरणेन्द्र प्रधान है, उसी प्रकार सर्व व्रतों में ब्रह्मचर्य प्रधान है।

१६. ब्रह्मचर्य कल्पों में ब्रह्मलोक कल्प के समान उत्तम है, क्योंकि प्रथम तो ब्रह्मलोक का क्षेत्र महान् है और फिर वहाँ का इन्द्र अत्यन्त शुभ परिणाम वाला होता है।

१७. जैसे उत्पादसभा, अभिषेकसभा, अलंकारसभा, व्यवसायसभा और सुधर्मासभा, इन पाँचों में सुधर्मासभा श्रेष्ठ है, उसी प्रकार व्रतों में ब्रह्मचर्य है।

१८. जैसे स्थितियों में लवसप्तमा—अनुत्तरविमानवासी देवों की स्थिति प्रधान है, उसी प्रकार व्रतों में ब्रह्मचर्य प्रधान है।

१९. सब दानों में अभयदान के समान ब्रह्मचर्य सब व्रतों में श्रेष्ठ है।

२०. ब्रह्मचर्य सब प्रकार के कम्बलों में कृमिरागरक्त कम्बल के समान उत्तम है।

२१. संहननों में वज्रऋषभनाराचसंहनन के समान ब्रह्मचर्य सर्वश्रेष्ठ है।

२२. संस्थानों में चतुरस्रसंस्थान के समान ब्रह्मचर्य समस्त व्रतों में उत्तम है।

२३. ब्रह्मचर्य ध्यानों में शुक्लध्यान के समान सर्वप्रधान है।

२४. समस्त ज्ञानों में जैसे केवलज्ञान प्रधान है, उसी प्रकार सर्व व्रतों में ब्रह्मचर्यव्रत प्रधान है।

२५. लेश्याओं में परमशुक्ललेश्या जैसे सर्वोत्तम है, वैसे ही सब व्रतों में ब्रह्मचर्यव्रत सर्वोत्तम है।

२६. ब्रह्मचर्यव्रत सब व्रतों में इसी प्रकार उत्तम है, जैसे सब मुनियों में तीर्थंकर उत्तम होते हैं।

२७. ब्रह्मचर्य सभी व्रतों में वैसा ही श्रेष्ठ है, जैसे सब क्षेत्रों में महाविदेहक्षेत्र उत्तम है।

२८. ब्रह्मचर्य, पर्वतों में गिरिराज सुमेरु की भाँति सर्वोत्तम व्रत है।

२९. जैसे समस्त वनों में नन्दनवन प्रधान है, उसी प्रकार समस्त व्रतों में ब्रह्मचर्य प्रधान है।

३०. जैसे समस्त वृक्षों में सुदर्शन जम्बू विख्यात है, उसी प्रकार समस्त व्रतों में ब्रह्मचर्य विख्यात है।

३१. जैसे अश्वाधिपति, गजाधिपति और रथाधिपति राजा विख्यात होता है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्यव्रताधिपति विख्यात है।

३२. जैसे रथिकों में महारथी राजा श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार समस्त व्रतों में ब्रह्मचर्यव्रत सर्वश्रेष्ठ है।

इस प्रकार एक ब्रह्मचर्य की आराधना करने पर अनेक गुण स्वतः अधीन—प्राप्त हो जाते हैं। ब्रह्मचर्यव्रत के पालन करने पर निर्ग्रन्थ प्रव्रज्या सम्बन्धी सम्पूर्ण व्रत अखण्ड रूप से पालित हो जाते हैं, यथा—शील—समाधान, तप, विनय और संयम, क्षमा, गुप्ति, मुक्ति—निर्लोभता। ब्रह्मचर्यव्रत के प्रभाव से इहलोक और परलोक सम्बन्धी यश और कीर्ति प्राप्त होती है। यह विश्वास का कारण है अर्थात् ब्रह्मचारी पर सब का विश्वास होता है। अतएव एकाग्र—स्थिरचित्त से तीन करण और

तीन योग से विशुद्ध—सर्वथा निर्दोष ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए और वह भी जीवनपर्यन्त, मृत्यु के आगमन तक।

इस प्रकार भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्यव्रत का कथन किया है।

विवेचन—इन बत्तीस उपमाओं द्वारा ब्रह्मचर्य की श्रेष्ठता स्थापित की गई है। आशय सुगम है।

महाव्रतों का मूल : ब्रह्मचर्य—

१४३—तं च इमं—

पंच महव्वयसुव्वयमूलं, समणमणाइलसाहुसुचिण्णं।
वेरविरामणपज्जवसाणं, सव्वसमुद्दमहोदहितित्थं ॥१॥

१४३—भगवान् का वह कथन इस प्रकार का है—

यह ब्रह्मचर्यव्रत पाँच महाव्रतरूप शोभन व्रतों का मूल है, शुद्ध आचार या स्वभाव वाले मुनियों के द्वारा भावपूर्वक सम्यक् प्रकार से सेवन किया गया है, यह वैरभाव की निवृत्ति और उसका अन्त करने वाला है तथा समस्त समुद्रों में स्वयंभूरमण समुद्र के समान दुस्तर किन्तु तैरने का उपाय होने के कारण तीर्थस्वरूप है।

विवेचन—उल्लिखित गाथा में ब्रह्मचर्य की महिमा प्रतिपादित की गई है। ब्रह्मचर्य पाँचों महाव्रतों का मूलाधार है, क्योंकि इसके खण्डित होने पर सभी महाव्रतों का खण्डन हो जाता है और इसका पूर्णरूपेण पालन करने पर ही अन्य महाव्रतों का पालन सम्भव है।

जहाँ सम्पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन होता है, वहाँ वैर-विरोध का स्वतः अन्त हो जाता है। यद्यपि इसके विशुद्ध पालन करने के लिए धैर्य, दृढ़ता एवं संयम की आवश्यकता होती है, अतीव सावधानी बरतनी पड़ती है तथापि इसका पालन करना अशक्य नहीं है। मुनियों ने इसका पालन किया है और भगवान् ने इसके पालन करने का उपाय भी बतलाया है। भव-सागर को पार करने के लिए यह महाव्रत तीर्थ के समान है।

गाथा में प्रयुक्त **'पंचमहव्वयसुव्वयमूलं'** इस पद के अनेक अर्थ होते हैं, जो इस प्रकार हैं— (१) अहिंसा, सत्य आदि महाव्रत नामक जो सुव्रत हैं, उनका मूल। (२) पाँच महाव्रतों वाले साधुओं के सुव्रतों—शोभन नियमों का मूल। (३) पाँच महाव्रतों का तथा सुव्रतों अर्थात् अणुव्रतों का मूल और (४) हे पंचमहाव्रत ! अर्थात् हे पाँच महाव्रतों को धारण करने के कारण सुव्रत—शोभन व्रतवाले (शिष्य !) यह ब्रह्मचर्य मूल (व्रत) है।

१४४—तित्थयरेहि सुदेसियमग्गं, णरयतिरिच्छविवज्जियमग्गं।
सव्वपवित्तिसुणिम्मियसारं, सिद्धिविमाणअवंगुयदारं ॥२॥

१४४—तीर्थंकर भगवन्तों ने ब्रह्मचर्य व्रत के पालन करने के मार्ग—उपाय—गुप्ति आदि, भलीभाँति बतलाए हैं। यह नरकगति और तिर्यञ्चगति के मार्ग को रोकने वाला है, अर्थात् ब्रह्मचर्य

आराधक को नरक-तिर्यंचगति से बचाता है, सभी पवित्र अनुष्ठानों को सारयुक्त बनाने वाला तथा मुक्ति और वैमानिक देवगति के द्वार को खोलने वाला है।

विवेचन—तीर्थंकर भगवान् ने ब्रह्मचर्यव्रत को निर्दोष पालने के लिए अचूक उपाय भी प्रदर्शित किए हैं और वे उपाय हैं गुप्ति आदि। नौ वाडों का भी इनमें समावेश होता है। इनके अभाव में ब्रह्मचर्य की आराधना नहीं हो सकती।

इस गाथा में यह भी स्पष्ट किया गया है कि ब्रह्मचर्य का निर्मल रूप से पालन करने वाला सिद्धि प्राप्त करता है। यदि उस के कर्म कुछ अवशेष रह गए हों तो वह वैमानिक देवों में उत्पन्न होता है।

१४५—देव-णरिंद-णमंसियपूयं, सव्वजगुत्तममंगलमग्गं।
दुद्धरिसं गुणणायगमेक्कं, मोक्खपहस्स वडिंसगभूयं ॥३॥

१४५—देवेन्द्रों और नरेन्द्रों के द्वारा जो नमस्कृत हैं, अर्थात् देवेन्द्र और नरेन्द्र जिनको नमस्कार करते हैं, उन महापुरुषों के लिए भी ब्रह्मचर्य पूजनीय है। यह जगत् के सब मंगलों का मार्ग—उपाय है अथवा प्रधान उपाय है। यह दुर्द्धर्ष है अर्थात् कोई इसका पराभव नहीं कर सकता या दुष्कर है। यह गुणों का अद्वितीय नायक है। अर्थात् ब्रह्मचर्य ही ऐसा साधन है जो अन्य सभी सद्गुणों की ओर आराधक को प्रेरित करता है।

विवेचन—आशय स्पष्ट है। यहाँ ब्रह्मचर्य महाव्रत की महिमा प्रदर्शित की गई है। इस महिमा वर्णन से इस व्रत की महत्ता भलीभाँति विदित हो जाती है। आगे भी ब्रह्मचर्य का महत्त्व प्रदर्शित किया जा रहा है।

ब्रह्मचर्यविघातक निमित्त—

१४६—जेण सुद्धचरिएण भवइ सुबंभणो सुसमणो सुसाहू स इसी स मुणी स संजए स एव भिक्खू जो सुद्धं चरइ बंभचेरं। इमं च रइ-राग-दोस-मोह-पवड्ढणकरं किमज्झ-पमायदोसपासत्थ-सील-करणं अब्भंगणाणि य तेल्लमज्जणाणि य अभिक्खणं कक्ख-सीस-कर-चरण-वयण-धोवण-संवाहण-गाय-कम्म-परिमद्दणाणुलेवण-चुण्णवास-धुवण-सरीर-परिमंडण-बाउसिय-हसिय-भणिय-णट्ट-गीय-वाइय-णड-णट्टग-जल्ल-मल्ल-पेच्छणवेलंवगं जाणि य सिंगारागाराणि य अण्णाणि य एवमाइयाणि तव-संजम-बंभचेर-घाओवघाइयाइं अणुचरमाणेणं बंभचेरं वज्जियव्वाइं सव्वकालं।

१४६—ब्रह्मचर्य महाव्रत का निर्दोष परिपालन करने से सुब्राह्मण—यथार्थ नाम वाला, सुश्रमण—सच्चा तपस्वी और सुसाधु—निर्वाण साधक वास्तविक साधु कहा जाता है। जो शुद्ध ब्रह्मचर्य का आचरण करता है वही ऋषि अर्थात् यथार्थ तत्त्वद्रष्टा है, वही मुनि—तत्त्व का वास्तविक मनन करने वाला है, वही संयत—संयमवान् है और वही सच्चा भिक्षु—निर्दोष भिक्षाजीवी है।

ब्रह्मचर्य का अनुपालन करने वाले पुरुष को इन आगे कहे जाने वाले व्यवहारों का त्याग करना चाहिए—रति—इन्द्रिय-विषयों के प्रति राग, राग—पारिवारिक जनों के प्रति स्नेह, द्वेष और

मोह—अज्ञान की वृद्धि करने वाला, निस्सार प्रमाददोष तथा पार्श्वस्थ—शिथिलाचारी साधुओं का शील—आचार, (जैसे निष्कारण शय्यातरपिण्ड का उपभोग आदि) और घृतादि की मालिश करना, तेल लगाकर स्नान करना, वार-वार वगल, शिर, हाथ, पैर और मुँह धोना, मर्दन करना, पैर आदि दवाना—पगचम्पी करना, परिमर्दन करना—समग्र शरीर को मलना, विलेपन करना, चूर्णवास—सुगन्धित चूर्ण—पाउडर से शरीर को सुवासित करना, अगर आदि की धूप देना—शरीर को धूपयुक्त करना, शरीर को मण्डित करना—सुशोभन वनाना, वाकुशिक कर्म करना—नखों, केशों एवं वस्त्रों को संवारना आदि, हँसी-ठट्ठा करना, विकारयुक्त भाषण करना, नाट्य, गीत, वादित्र, नटों, नृत्यकारकों और जल्लों—रस्से पर खेल दिखलाने वालों और मल्लों—कुश्तीवाजों का तमाशा देखना तथा इसी प्रकार की अन्य वातें जो शृंगार का आगार हैं—शृंगार के स्थान हैं और जिनसे तपश्चर्या, संयम एवं ब्रह्मचर्य का उपघात—आंशिक विनाश या घात—पूर्णतः विनाश होता है, ब्रह्मचर्य का आचरण करने वाले को सदैव के लिए त्याग देनी चाहिए।

ब्रह्मचर्य-रक्षक नियम—

१४७—भावियव्वो भवइ य अंतरप्पा इमेहिं तव-णियम-सील-जोगेहिं णिच्चकालं।

किं ते?

अण्हाणग-अदंतधावण-सेय-मल-जल्लधारणं मूणवय-केसलोय-खम-दम-अचेलग-खुप्पिवास-लाघव-सीउसिण-कट्ठसिज्जा-भूमिणिसिज्जा-परघरपवेस-लद्धावलद्ध-माणावमाण-णिंदण-दंसमसग-फास-णियम-तव-गुण-विणय-माइएहिं जहा से थिरतरगं होइ बंभचेरं।

इमं च अबंभचेर-विरमण-परिरक्खणट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं अत्तहियं पेच्चाभावियं आगमेसिभद्दं सुद्धं णेयाउयं अकुडिलं अणुत्तरं सव्वदुक्ख-पावाणं विउसमणं।

१४७—इन त्याज्य व्यवहारों के वर्जन के साथ आगे कहे जाने वाले व्यापारों से अन्तरात्मा को भावित-वासित करना चाहिए।

वे व्यापार कौन-से हैं?

(वे ये हैं—) स्नान नहीं करना, दन्तधावन नहीं करना, स्वेद (पसीना) धारण करना, जमे हुए या इससे भिन्न मैल को धारण करना, मौनव्रत धारण करना, केशों का लुञ्चन करना, क्षमा, दम—इन्द्रियनिग्रह, अचेलकता—वस्त्ररहित होना अथवा अल्प वस्त्र धारण करना, भूख-प्यास सहना, लाघव-उपधि अल्प रखना, सर्दी, गर्मी सहना, काष्ठ की शय्या, भूमिनिषद्या—जमीन पर आसन, परगृहप्रवेश—शय्या या भिक्षादि के लिए गृहस्थ के घर में जाना और प्राप्ति या अप्राप्ति (को समभाव से सहना), मान, अपमान, निन्दा एवं दंश-मशक का क्लेश सहन करना, नियम अर्थात् द्रव्यादि संवंधी अभिग्रह करना, तप तथा मूलगुण आदि एवं विनय (गुरुजनों के लिए अभ्युत्थान) आदि से अन्तःकरण को भावित करना चाहिए; जिससे ब्रह्मचर्यव्रत खूब स्थिर—दृढ हो।

अब्रह्मनिवृत्ति (ब्रह्मचर्य) व्रत की रक्षा के लिए भगवान् महावीर ने यह प्रवचन कहा है। यह प्रवचन परलोक में फलप्रदायक है, भविष्य में कल्याण का कारण है, शुद्ध है, न्याययुक्त है, कुटिलता से रहित है, सर्वोत्तम है और दुःखों और पापों को उपशान्त करने वाला है।

विवेचन—काम-वासना ऐसी प्रवल है कि तनिक-सी असावधानी होते ही मनुष्य के मन को विकृत कर देती है। यदि मनुष्य तत्काल न सम्भल गया तो वह उसके वशीभूत होकर दीर्घकालिक साधना से पतित हो जाता है और फिर न घर का न घाट का रहता है। उसकी साधना खोखली, निष्प्राण, दिखावटी या आडम्बरमात्र रह जाती है। ऐसा व्यक्ति अपने साध्य से दूर पड़ जाता है। उसका वाह्य कष्टसहन निरर्थक वन जाता है।

प्रस्तुत पाठों में अत्यन्त तेजस्वी एवं प्रभावशाली शब्दों में ब्रह्मचर्य की महिमा का गान किया गया है। यह महिमागान जहाँ उसकी श्रेष्ठता को प्रदर्शित करता है, वहीं उसकी दुराराध्यता का भी सूचक है। यही कारण है कि इसकी आराधना के लिए अनेकानेक विधि-निषेधों का दिग्दर्शन कराया गया है।

जिन-जिन कार्यों—व्यापारों से काम-राग के वीज अंकुरित होने की सम्भावना हो सकती है, उन व्यवहारों से ब्रह्मचारी को सदैव वचते रहना चाहिए। ऐसे व्यवहार शास्त्रकार ने मूलपाठ में गिना दिए हैं। शरीर की विभूषा यथा—मालिश—मर्दन करना, केशों और नाखूनों को संवारना, सुगंधित वस्तुओं का उपयोग करना, स्नान करना, वारंवार हाथों-पैरों-मुख आदि को धोना आदि देहाध्यास वढ़ाने वाले व्यवहार हैं और इससे वासना को उत्तेजित होने का अवसर मिलता है। अतएव तपस्वी को इन और इसी प्रकार के अन्य व्यापारों से सदा दूर ही रहना चाहिए।

इसी प्रकार नृत्य, नाटक, गीत, खेल, तमाशे आदि भी साधक की दृष्टि को अन्तर्मुख से वहिर्मुख वनाने वाले हैं। ऐसे प्रसंगों पर मनोवृत्ति साधना से विमुख हो जाती है और वाहर के राग-रंग में डूव जाती है। अतएव साधक के लिए श्रेयस्कर यही है कि वह न ऐसे प्रसंगों को दृष्टिगोचर होने दे और न साधना में मलीनता आने दे।

सच्चे साधक को अपने उच्चतम साध्य पर—मुक्ति पर और उसके उपायों पर ही अपना सम्पूर्ण मनोयोग केन्द्रित करना चाहिए। उसे शारीरिक वासना से ऊपर उठा रहना चाहिए। जो शरीर-वासना से ऊपर उठ जाता है, उसे स्नान, दन्तधावन, देह के स्वच्छीकरण आदि की आवश्यकता नहीं रहती। 'ब्रह्मचारी सदा शुचिः' इस कथन के अनुसार ब्रह्मचारी सदैव पवित्र होता है, उसे जल से पवित्र होने की आवश्यकता नहीं। स्नान काम के आठ अंगों में एक अंग माना गया है। जैसे गाय भैंस आदि पशु रूखा-सूखा, स्नेहहीन और परिमित आहार करते हैं, अतएव उनके दाँत विना धोये ही स्वच्छ रहते हैं, उसी प्रकार अन्त-प्रान्त और परिमित आहार करने वाले मुनि के दाँतों को भी धोने की आवश्यकता नहीं होती।

अभिप्राय यही है कि ब्रह्मचर्य के पूर्ण आराधक को शास्त्रोक्त सभी विधि-निषेधों का अन्तःकरण से, आत्मशोधन के उद्देश्य से पालन करना चाहिए। ऐसा करने पर ही उसका यह महाव्रत सुरक्षित रहता है। सुरक्षित ब्रह्मचर्य के अलौकिक तेज से साधक की समग्र साधना तेजोमय वन जाती है, उसकी आन्तरिक अद्‌भुत शक्तियाँ चमक उठती हैं और आत्मा तेजःपुञ्ज वन जाता है। ऐसी स्थिति में ही सुरेन्द्र, असुरेन्द्र और नागेन्द्र साधक के चरणों में नतमस्तक होते हैं।

पाँच भावनाओं के रूप में आगे भी ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के उपायों का प्ररूपण किया गया है।

ब्रह्मचर्यव्रत की पाँच भावनाएँ

प्रथम भावना—विविक्त-शयनासन—

२४८—तस्स इमा पंच भावणाओ चउत्थवयस्स होंति अबंभचेरविरमणपरिरक्खणट्ठयाए—

पढमं—सयणासण-घर-दुवार-अंगण-आगास-गवक्ख-साल-अभिलोयण-पच्छवत्थुक-पसाहणग-ण्हाणिगावगासा, अवगासा जे य वेसियाणं, अच्छंति य जत्थ इत्थियाओ अभिक्खणं मोहदोस-रइराग-वड्ढणीओ, कहिंति य कहाओ बहुविहाओ, ते वि हु वज्जणिज्जा। इत्थि-संसत्त-संकिलिट्ठा, अण्णे वि य एवमाई अवगासा ते हु वज्जणिज्जा।

जत्थ मणोविब्भमो वा भंगो वा भंसणा [भसंगो] वा अट्टं रुद्दं च हुज्ज झाणं तं तं वज्जेज्ज-ऽवज्जभीरू अणाययणं अंतपंतवासी।

एवमसंसत्तवास-वसहीसमिइ-जोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा, आरयमण-विरयगामधम्मे जिइंदिए बंभचेरगुत्ते।

१४८—चतुर्थ अब्रह्मचर्यविरमण व्रत की रक्षा के लिए ये पाँच भावनाएँ हैं—

प्रथम भावना : (उनमें से) **स्त्रीयुक्त स्थान का वर्जन**—प्रथम भावना इस प्रकार है—शय्या, आसन, गृहद्वार (घर का दरवाजा), आँगन, आकाश—ऊपर से खुला स्थान, गवाक्ष—झरोखा, शाला—सामान रखने का कमरा आदि स्थान, अभिलोकन—बैठ कर देखने का ऊँचा स्थान, पश्चाद्-गृह—पिछवाड़ा—पीछे का घर, प्रसाधनक—नहाने और शृंगार करने का स्थान, इत्यादि सब स्थान स्त्रीसंसक्त—नारी के संसर्ग वाले होने से वर्जनीय हैं।

इनके अतिरिक्त वेश्याओं के स्थान—अड्डे हैं और जहाँ स्त्रियाँ बैठती-उठती हैं और बार-बार मोह, द्वेष, कामराग और स्नेहराग की वृद्धि करने वाली नाना प्रकार की कथाएँ कहती हैं—बातें करती हैं, उनका भी ब्रह्मचारी को वर्जन करना चाहिए। ऐसे स्त्री के संसर्ग के कारण संक्लिष्ट—संक्लेशयुक्त अन्य जो भी स्थान हों, उनसे भी अलग रहना चाहिए, जैसे—जहाँ रहने से मन में विभ्रम—चंचलता उत्पन्न हो, ब्रह्मचर्य भग्न होता हो या उसका आंशिकरूप से खण्डन होता हो, जहाँ रहने से आर्त्तध्यान—रौद्रध्यान होता हो, उन-उन अनायतनों—अयोग्य स्थानों का पाप-भीरु—ब्रह्मचारी—परित्याग करे। साधु तो ऐसे स्थान पर ठहरता है जो अन्त-प्रान्त हों अर्थात् इन्द्रियों के प्रतिकूल हो।

इस प्रकार असंसक्तवास-वसति-समिति के अर्थात् स्त्रियों के संसर्ग से रहित स्थान का त्याग रूप समिति के योग से युक्त अन्तःकरण वाला, ब्रह्मचर्य की मर्यादा में मन वाला तथा इन्द्रियों के विषय ग्रहण—स्वभाव से निवृत्त, जितेन्द्रिय और ब्रह्मचर्य से गुप्त—सुरक्षित होता है।

द्वितीय भावना—स्त्री-कथावर्जन—

१४९—बिइयं—णारीजणस्स मज्झे ण कहियव्वा कहा—विचित्ता विब्बोय-विलास-संपउत्ता हाससिंगार-लोइयकहव्व मोहजणणी, ण आवाह-विवाह-वर-कहा, इत्थीणं वा सुभग-दुब्भगकहा,

चउसट्ठि च महिलागुणा, ण वण्ण-देस-जाइ-कुल-रूव-णाम-णेवत्थ-परिजण-कहा इत्थियाणं, अण्णा वि य एवमाइयाओ कहाओ सिंगार-कलुणाओ तव-संजम-बंभचेर-घाओवघाइयाओ अणुचरमाणेणं बंभचेरं ण कहियव्वा, ण सुणियव्वा, ण चिंतियव्वा। एवं इत्थीकहाविरइसमिइजोगेणं भाविओ भवइ अंतरप्पा आरयमण-विरयगामधम्मे जिइंदिए बंभचेरगुत्ते।

१४९—दूसरी भावना है स्त्रीकथावर्जन। इसका स्वरूप इस प्रकार है—नारीजनों के मध्य में अनेक प्रकार की कथा नहीं करनी चाहिए अर्थात् नाना प्रकार की बातें नहीं करनी चाहिए, जो बातें विब्बोक[1]—स्त्रियों की कामुक चेष्टाओं से और विलास[2]—स्मित, कटाक्ष आदि के वर्णन से युक्त हों, जो हास्यरस और शृंगाररस की प्रधानता वाली साधारण लोगों की कथा की तरह हों, जो मोह उत्पन्न करने वाली हों। इसी प्रकार द्विरागमन—गौने या विवाह सम्बन्धी बातें भी नहीं करनी चाहिए। स्त्रियों के सौभाग्य-दुर्भाग्य की भी चर्चा-वार्त्ता नहीं करनी चाहिए। महिलाओं के चौंसठ गुणों (कलाओं), स्त्रियों के रंग-रूप, देश, जाति, कुल, रूप-सौन्दर्य, भेद-प्रभेद—पद्मिनी, चित्रणी, हस्तिनी, शंखिनी आदि प्रकार, पोशाक तथा परिजनों सम्बन्धी कथाएँ तथा इसी प्रकार की जो भी अन्य कथाएँ शृंगाररस से करुणता उत्पन्न करने वाली हों और जो तप, संयम तथा ब्रह्मचर्य का घात—उपघात करने वाली हों, ऐसी कथाएँ ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले साधुजनों को नहीं कहनी चाहिए। ऐसी कथाएँ—बातें उन्हें सुननी भी नहीं चाहिए और उनका मन में चिन्तन भी नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार स्त्रीकथाविरति-समिति के योग से भावित अन्तःकरण वाला, ब्रह्मचर्य में अनुरक्त चित्त वाला तथा इन्द्रिय विकार से विरत रहने वाला, जितेन्द्रिय साधु ब्रह्मचर्य से गुप्त—सुरक्षित रहता है।

तृतीय भावना—स्त्रियों के रूप-दर्शन का त्याग—

१५०—तइयं—णारीणं हसिय-भणिय-चेट्ठिय-विप्पेक्खिय-गइ-विलास-कीलियं, विब्बोइय-णट्ट-गीय-वाइय-सरीर-संठाण-वण्ण-कर-चरण-णयण-लावण्ण-रूव-जोव्वण-पयोहरा-धर-वत्थालंकार-भूसणाणि य, गुज्झोकासियाइं, अण्णाणि य एवमाइयाइं तव-संजम-बंभचेर-घाओवघाइयाइं अणुचरमाणेणं बंभचेरं ण चक्खुसा, ण मणसा, ण वयसा पत्थेयव्वाइं पावकम्माइं। एवं इत्थीरूवविरइ-समिइजोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा आरयमणविरयगामधम्मे जिइंदिए बंभचेरगुत्ते।

---

१. विब्बोक का लक्षण—

इष्टानामर्थानां प्राप्तावभिमानगर्वसम्भूतः।
स्त्रीणामनादरकृतो विब्बोको नाम विज्ञेयः॥ —अभय. टीका पृ. १३९

२. विलास का स्वरूप—

स्थानासनगमनानां, हस्तभ्रूनेत्रकर्मणां चैव।
उत्पद्यते विशेषो यः श्लिष्टः स तु विलासः स्यात॥ अभय. टीका पृ. १३९

१५०—ब्रह्मचर्यव्रत की तीसरी भावना स्त्री के रूप को देखने के निषेध-स्वरूप है। वह इस प्रकार है—नारियों के हास्य को, विकारमय भाषण को, हाथ आदि की चेष्टाओं को, विप्रेक्षण—कटाक्षयुक्त निरीक्षण को, गति—चाल को, विलास और क्रीडा को, विव्वोकित—अनुकूल—इष्ट वस्तु की प्राप्ति होने पर अभिमानपूर्वक किया गया तिरस्कार, नाटच, नृत्य, गीत, वादित—वीणा आदि वाद्यों के वादन, शरीर की आकृति, गौर श्याम आदि वर्ण, हाथों, पैरों एवं नेत्रों का लावण्य, रूप, यौवन, स्तन, अधर—ओष्ठ, वस्त्र, अलंकार और भूषण—ललाट की बिन्दी आदि को तथा उसके गोपनीय अंगों को, एवं स्त्रीसम्बन्धी अन्य अंगोपांगों या चेष्टाओं को जिनसे ब्रह्मचर्य, तप तथा संयम का घात—उपघात होता है, उन्हें ब्रह्मचर्य का अनुपालन करने वाला मुनि न नेत्रों से देखे, न मन से सोचे और न वचन से उनके सम्बन्ध में कुछ बोले और न पापमय कार्यों की अभिलाषा करे।

इस प्रकार स्त्रीरूपविरति—समिति के योग से भावित अन्तःकरण वाला मुनि ब्रह्मचर्य में अनुरक्त चित्त वाला, इन्द्रियविकार से विरत, जितेन्द्रिय और ब्रह्मचर्य से गुप्त—सुरक्षित होता है।

चतुर्थ भावना—पूर्वभोग-चिन्तनत्याग—

१५१—चउत्थं—पुव्वरय-पुव्व-कीलिय-पुव्व-संगंथगंथ-संथुया जे ते आवाह-विवाह-चोल्लगेसु य तिहिसु जण्णेसु उस्सवेसु य सिंगारागारचारुवेसाहिं हावभावपललिय-विक्खेव-विलास-सालिणीहिं अणुकूल-पेम्मिगाहिं सद्धिं अणुभूया सयणसंपओगा, उउसुहवरकुसुम-सुरभि-चंदण-सुगंधिवर-वास-धूव-सुहफरिस-वत्थ-भूसण-गुणोववेया, रमणिज्जाओज्जगेय-पउर-णड-णट्टग-जल्ल-मल्ल-मुट्ठिग-वेलंबग-कहग-पवग-लासग-आइक्खग-लंख-मंख-तूणइल्लतुंब-वीणिय-तालायर-पकरणाणि य बहूणि महुरसर-गीय-सुस्सराइं, अण्णाणि य एवमाइयाणि तव-संजम-बंभचेर-घाओवघाइयाइं अणुचरमाणेणं बंभचेरं ण ताइं समणेण लब्भा दट्ठुं, ण कहेउं, ण वि सुमरिउं, जे एवं पुव्वरय-पुव्वकीलिय-विरइ-समिइ-जोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा आरयमण-विरयगामधम्मे जिइंदिए बंभचेरगुत्ते।

१५१—(चौथी भावना में पूर्वकाल में भोगे भोगों के स्मरण के त्याग का विधान किया गया है।) वह इस प्रकार है—पहले (गृहस्थावस्था में) किया गया रमण—विषयोपभोग, पूर्वकाल में की गई क्रीड़ाएँ—द्यूत आदि क्रीडा, पूर्वकाल के सग्रन्थ—श्वसुरकुल—ससुराल सम्बन्धी जन, ग्रन्थ—साले आदि से सम्बन्धित जन, तथा संश्रुत—पूर्व काल के परिचित जन, इन सब का स्मरण नहीं करना चाहिए। इसके अतिरिक्त द्विरागमन, विवाह, चूडाकर्म—शिशु का मुण्डन तथा पर्वतिथियों में, यज्ञों—नागपूजा आदि के अवसरों पर, श्रृंगार के आगार जैसी सजी हुई, हाव—मुख की चेष्टा, भाव—चित्त के अभिप्राय, प्रललित—लालित्ययुक्त कटाक्ष, विक्षेप—ढीली चोटी, पत्रलेखा, आँखों में अंजन आदि श्रृंगार, विलास—हाथों, भौंहों एवं नेत्रों की विशेष प्रकार की चेष्टा—इन सब से सुशोभित, अनुकूल प्रेम वाली स्त्रियों के साथ अनुभव किए हुए शयन आदि विविध प्रकार के कामशास्त्रोक्त प्रयोग, ऋतु के अनुकूल सुख प्रदान करने वाले उत्तम पुष्पों का सौरभ एवं चन्दन की सुगन्ध, चूर्ण किए हुए अन्य उत्तम वासद्रव्य, धूप, सुखद स्पर्श वाले वस्त्र, आभूषण—इनके गुणों से युक्त, रमणीय आतोद्य—वाद्यध्वनि, गायन, प्रचुर नट, नर्तक—नाचने वाले, जल्ल—रस्सी पर खेल दिखलाने वाले, मल्ल—कुश्तीबाज, मौष्टिक—मुक्केबाज, विडम्बक—विदूषक, कथा-कहानी सुनाने वाले, प्लवक—उछलने

वाले, रास गाने या रासलीला करने वाले, शुभाशुभ बतलाने वाले, लंख—ऊँचे वांस पर खेल करने वाले, मंख—चित्रमय पट्ट लेकर भिक्षा मांगने वाले, तूण नामक वाद्य बजाने वाले, वीणा बजाने वाले, तालाचर—एक प्रकार के तमाशबीन—इन सब की क्रीडाएँ, गायकों के नाना प्रकार के मधुर ध्वनि वाले गीत एवं मनोहर स्वर और इस प्रकार के अन्य विषय, जो तप, संयम और ब्रह्मचर्य का घात--उपघात करने वाले हैं, उन्हें ब्रह्मचर्यपालक श्रमण को देखना नहीं चाहिए, इन से सम्बद्ध वार्त्तालाप नहीं करना चाहिए और पूर्वकाल में जो देखे--सुने हों, उनका स्मरण भी नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार पूर्वरत-पूर्वक्रीडितविरति—समिति के योग से भावित अन्तःकरण वाला, ब्रह्मचर्य में अनुरक्त चित्तवाला, मैथुनविरत, जितेन्द्रिय साधु ब्रह्मचर्य से गुप्त—सुरक्षित होता है।

पंचम भावना—स्निग्ध सरस भोजन-त्याग—

१५२—पंचमगं—आहार-पणीय-णिद्ध-भोयण-विवज्जए संजए सुसाहू व वगय-खीर-दहि-सप्पि-णवणीय-तेल्ल-गुल-खंड-मच्छंडिग-महु-मज्ज-मंस-खज्जग-विगइ-परिचित्तकयाहारे ण दप्पणं ण वहुसो ण णिइगं ण सायसूपाहियं ण खद्धं, तहा भोत्तव्वं जहा से जायामाया य भवइ, ण य भवइ विब्भमो ण भंसणा य धम्मस्स। एवं पणीयाहार-विरइ-समिइ-जोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा आरयमण-विरय-गामधम्मे जिइंदिए बंभचेरगुत्ते।

१५२—पांचवी भावना—सरस आहार एवं स्निग्ध-चिकनाई वाले भोजन का त्यागी संयमशील सुसाधु दूध, दही, घी, मक्खन, तेल, गुड़, खांड, मिसरी, मधु, मद्य, मांस, खाद्यक—पकवान और विगय से रहित आहार करे। वह दर्पकारक—इन्द्रियों में उत्तेजना उत्पन्न करने वाला आहार न करे। दिन में बहुत बार न खाए और न प्रतिदिन लगातार खाए। न दाल और व्यंजन की अधिकता वाला और न प्रभूत—प्रचुर भोजन करे। साधु उतना ही हित-मित आहार करे जितना उसकी संयम-यात्रा का निर्वाह करने के लिए आवश्यक हो, जिससे मन में विभ्रम—चंचलता उत्पन्न न हो और धर्म (ब्रह्मचर्यव्रत) से च्युत न हो।

इस प्रकार प्रणीत-आहार की विरति रूप समिति के योग से भावित अन्तःकरण वाला, ब्रह्मचर्य की आराधना में अनुरक्त चित्त वाला और मैथुन से विरत साधु जितेन्द्रिय और ब्रह्मचर्य से सुरक्षित होता है।

विवेचन—चतुर्थ संवरद्वार ब्रह्मचर्य महाव्रत की पाँच भावनाओं का उल्लिखित पाठों में प्रतिपादन किया गया है।

पूर्व में बतलाया जा चुका है कि ब्रह्मचर्यव्रत महान् है। उसकी महिमा अद्भुत और अलौकिक है। उसका प्रभाव अचिन्त्य और अकल्प्य है। वह सब प्रकार की ऋद्धियों और सिद्धियों का प्रदाता है। ब्रह्मचर्य के अखण्ड पालन से आत्मा की सुषुप्त शक्तियाँ जागृत हो जाती हैं और आत्मा सहज आन्तरिक तेज से जाज्वल्यमान बन जाता है। किन्तु इस महान् व्रत की जितनी अधिक महिमा है, उतना ही परिपूर्ण रूप में पालन करना भी कठिन है। उसका आगमोक्त रूप से सम्यक् प्रकार से पालन किया जा सके, इसी अभिप्राय से, साधकों के पथप्रदर्शन के लिए उसको पाँच भावनाएँ यहाँ प्रदर्शित की गई हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. विविक्तशयनासन,
२. स्त्रीकथा का परित्याग,
३. स्त्रियों के रूपादि को देखने का परिवर्जन,
४. पूर्वकाल में भुक्त भोगों के स्मरण से विरति,
५. सरस वलवर्द्धक आदि आहार का त्याग।

प्रथम भावना का आशय यह है कि ब्रह्मचारी को ऐसे स्थान में नहीं रहना या टिकना चाहिये जहाँ नारी जाति का सामीप्य हो—संसर्ग हो, जहाँ स्त्रियाँ उठती-बैठती हों, बातें करती हों, और जहाँ वेश्याओं का सान्निध्य हो। ऐसे स्थान पर रहने से ब्रह्मचर्यव्रत के भंग का खतरा रहता है, क्योंकि ऐसा स्थान चित्त में चंचलता उत्पन्न करने वाला है।

दूसरी भावना स्त्रीकथावर्जन है। इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्मचर्य के साधक को स्त्रियों के बीच बैठ कर वार्तालाप करने से बचना चाहिए। यही नहीं, स्त्रियों सम्बन्धी कामुक चेष्टाओं का, विलास, हास्य आदि का, स्त्रियों की वेशभूषा आदि का, उनके रूप-सौन्दर्य, जाति, कुल, भेद-प्रभेद का तथा विवाह आदि का वर्णन करने से भी बचना चाहिए। इस प्रकार की कथनी भी मोहजनक होती है। दूसरा कोई इस प्रकार की बातें करता हो तो उन्हें सुनना नहीं चाहिए और न ही ऐसे विषयों का मन में चिन्तन करना चाहिए।

तीसरी भावना का सम्बन्ध मुख्यतः चक्षुरिन्द्रिय के साथ है। जो दृश्य काम-राग को बढ़ाने वाला हो, मोहजनक हो, आसक्ति जागृत करने वाला हो, ब्रह्मचारी उससे बचता रहे। स्त्रियों के हास्य, बोल-चाल, विलास, क्रीडा, नृत्य, शरीर, आकृति, रूप-रंग, हाथ-पैर, नयन, लावण्य, यौवन आदि पर तथा उनके स्तन, गुह्य अंग, वस्त्र, अलंकार एवं टीकी आदि भूषणों पर ब्रह्मचारी को दृष्टिपात नहीं करना चाहिए। जैसे सूर्य के बिम्ब पर दृष्टि पड़ते ही तत्काल उसे हटा लिया जाता है—टकटकी लगा कर नहीं देखा जाता, उसी प्रकार नारी पर दृष्टिपात हो जाए तो तत्क्षण उसे हटा लेना चाहिए। ऐसा करने से नेत्रों के द्वारा मन में मोहभाव उत्पन्न नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जो दृश्य तप, संयम और ब्रह्मचर्य को अंशतः अथवा पूर्णतः विघात करने वाले हों, उनसे ब्रह्मचारी को सदैव बचते रहना चाहिए।

चौथी भावना में पूर्व काल में अर्थात् गृहस्थावस्था में भोगे हुए भोगों के चिन्तन के वर्जन की प्रेरणा की गई है। बहुत से साधक ऐसे होते हैं जो गृहस्थदशा में दाम्पत्यजीवन यापन करने के पश्चात् मुनिव्रत अंगीकार करते हैं। उनके मस्तिष्क में गृहस्थजीवन की घटनाओं के संस्कार या स्मरण संचित होते हैं। वे संस्कार यदि निमित्त पाकर उभर उठें तो चित्त को विभ्रान्त कर देते हैं, चित्त को विकृत बना देते हैं और कभी-कभी मुनि अपने कल्पना-लोक में उसी पूर्वावस्था में पहुँचा हुआ अनुभव करने लगता है। वह अपनी वर्त्तमान स्थिति को कुछ समय के लिए भूल जाता है। यह स्थिति उसके तप, संयम एवं ब्रह्मचर्य का विघात करने वाली होती है। अतएव ब्रह्मचारी पुरुष को ऐसे प्रसंगों से निरन्तर बचना चाहिए, जिनसे काम-वासना को जागृत होने का अवसर मिले।

पाँचवीं भावना आहार सम्बन्धी है। ब्रह्मचर्य का आहार के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। बलवर्द्धक, दर्पकारी—इन्द्रियोत्तेजक आहार ब्रह्मचर्य का विघातक है। जिह्वा इन्द्रिय पर जो पूरी तरह नियंत्रण स्थापित कर पाता है, वही निरतिचार ब्रह्मव्रत का आराधन करने में समर्थ होता है।

इसके विपरीत जिह्वालोलुप सरस, स्वादिष्ट एवं पौष्टिक भोजन करने वाला इस व्रत का सम्यक् प्रकार के पालन नहीं कर सकता। अतएव इस भावना में दूध, दही, घृत, नवनीत, तेल, गुड़, खांड, मिस्री आदि के भोजन के त्याग का विधान किया गया है। मधु, मांस एवं मदिरा, ये महाविकृतियाँ हैं, इनका सर्वथा परित्याग तो अनिवार्य ही है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचारी पुरुष को ऐसा नीरस, रूखा-सूखा एवं सात्त्विक भोजन ही करना चाहिए जो वासना के उद्रेक में सहायक न बने और जिससे संयम का भलीभाँति निर्वाह भी हो जाए।

दर्पकारी भोजन के परित्याग के साथ शास्त्रकार ने यह भी स्पष्ट किया है कि ब्रह्मचारी को अतिमात्रा में (खद्ध—प्रचुर) और प्रतिदिन लगातार भी भोजन नहीं करना चाहिए। इस सम्बन्ध में कहा है -

जहा दवग्गी पउरिंधणे वणे, समारुओ णोवसमं उवेति।
एवेंदियग्गीवि पकामभोइणो, न बंभयारिस्स हियाय कस्सइ॥

अर्थात्—जैसे जंगल में प्रचुर ईंधन प्राप्त होने पर पवन की सहायता प्राप्त दावानल शान्त नहीं होता, उसी प्रकार प्रकामभोजी—खूब आहार करने वाले किसी भी ब्रह्मचारी की इन्द्रिय-अग्नि उसके लिए हितकर नहीं है अर्थात् वह उसके ब्रह्मचर्य की विघातक होती है।

इस प्रकार ब्रह्मचारी को हित-भोजन के साथ मित-भोजन ही करना चाहिए और वह भी लगातार प्रतिदिन नहीं करना चाहिए, अर्थात् बीच-बीच में अनशनतप करके निराहार भी रहना चाहिए।

जो साधक इन भावनाओं का अनुपालन भलीभाँति करता है, उसका ब्रह्मचर्यव्रत अक्षुण्ण रह सकता है।

यहाँ एक स्पष्टीकरण आवश्यक है। आगम पुरुष की प्रधानता को लक्ष्य में रखकर विरचित होते हैं। इस कारण यहाँ ब्रह्मचारी पुरुष को स्त्रीसंसर्ग, स्त्रीकथा, स्त्री के अंगोपांगों के निरीक्षण आदि के वर्जन का विधान किया गया है। किन्तु नारी साधिका—ब्रह्मचारिणी के लिए पुरुषसंसर्ग, पुरुषकथा आदि का वर्जन समझ लेना चाहिए। नपुंसकों की चेष्टाओं का अवलोकन ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी दोनों के लिए समान रूप से वर्जित है।

उपसंहार—

१५३—एवमिणं संवरस्स दारं सम्मं संवरियं होइ सुप्पणिहियं इमेहिं पंचहि वि कारणेहिं मण-वयण-काय-परिरक्खिएहिं। णिच्चं आमरणंतं च एसो जोगो णेयव्वो धिइमया मइमया अणासवो अकलुसो अच्छिद्दो अपरिस्सावी असंकिलिट्ठो सव्वजिणमणुण्णाओ।

एवं चउत्थं संवरदारं फासियं पालियं सोहियं तीरियं किट्टियं आराहियं आणाए अणुपालियं भवइ। एवं णायमुणिणा भगवया पण्णवियं परूवियं पसिद्धं सिद्धं सिद्धवरसासणमिणं आघवियं सुदेसियं पसत्थं। त्तिबेमि॥

॥ चउत्थं संवरदारं समत्तं॥

१५३—इस प्रकार ब्रह्मचर्यव्रतरूप यह संवरद्वार सम्यक् प्रकार से संवृत और सुरक्षित-पालित होता है। मन, वचन और काय, इन तीनों योगों से परिरक्षित इन (पूर्वोक्त) पाँच भावनारूप कारणों से सदैव, आजीवन यह योग धैर्यवान् और मतिमान् मुनि को पालन करना चाहिए।

यह संवरद्वार आस्रव से रहित है, मलीनता से रहित है और भावछिद्रों से रहित है। इससे कर्मों का आस्रव नहीं होता। यह संक्लेश से रहित है, शुद्ध है और सभी तीर्थंकरों द्वारा अनुज्ञात है।

इस प्रकार यह चौथा संवरद्वार स्पृष्ट—विधिपूर्वक अंगीकृत, पालित, शोधित—अतिचार-त्याग से निर्दोष किया गया, पार—किनारे तक पहुँचाया हुआ, कीर्तित—दूसरों को उपदिष्ट किया गया, आराधित और तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा के अनुसार अनुपालित होता है, ऐसा ज्ञातमुनि भगवान् (महावीर) ने कहा है, युक्तिपूर्वक समझाया है। यह प्रसिद्ध—जगद्विख्यात है, प्रमाणों से सिद्ध है। यह भवस्थित सिद्धों—अर्हन्त भगवानों का शासन है। सुर, नर आदि की परिषद् में उपदिष्ट किया गया है और मंगलकारी है।

चतुर्थ संवरद्वार समाप्त हुआ।

जैसा मैंने भगवान् से सुना, वैसा ही कहता हूँ। □□

पंचम अध्ययन : परिग्रहत्याग

सूत्रक्रम के अनुसार ब्रह्मचर्यसंवर के पश्चात् अपरिग्रहसंवर का प्रतिपादन क्रमप्राप्त है अथवा इससे पूर्व मैथुनविरमण का कथन किया गया है, वह सर्वथा परिग्रह का त्याग करने पर ही संभव है, अतएव अब परिग्रहविरमणरूप संवर का निरूपण किया जा रहा है। उसका प्रथम सूत्र इस प्रकार है—

उत्क्षेप—

१५४—जंबू ! अपरिग्गहसंवुडे य समणे आरंभ-परिग्गहाओ विरए, विरए कोह-माण-माया-लोहा।

एगे असंजमे।

दो चेव रागदोसा।

तिण्णि य दंडा, गारवा य, गुत्तीओ तिण्णि, तिण्णि य विराहणाओ।

चत्तारि कसाया झाण-सण्णा-विकहा तहा य हुंति चउरो।

पंच य किरियाओ समिइ-इंदिय-महव्वयाइं च।

छज्जीवणिकाया, छच्च लेसाओ।

सत्त भया।

अट्ठ य मया।

णव चेव य बंभचेर-वयगुत्ती।

दसप्पगारे य समणधम्मे।

एग्गारस य उवासगाणं।

बारस य भिक्खुपडिमा।

तेरस किरियाठाणा य।

चउद्दस भूयगामा।

पण्णरस परमाहम्मिया।

गाहा सोलसया।

सत्तरस असंजमे।

अट्ठारस अबंभे।

एगुणवीसइ णायज्झयणा।

वीसं असमाहिट्ठाणा।

एगवीसा य सबला य।

बावीसं परिसहा य ।
तेवीसए सूयगडज्झयणा ।
चउव्वीसविहा देवा ।
पण्णवीसाए भावणा ।
छव्वीसा दसाकप्पववहाराणं उद्देसणकाला ।
सत्तावीसा अणगारगुणा ।
अट्ठावीसा आयारकप्पा ।
एगुणतीसा पावसुया ।
तीसं मोहणीयट्ठाणा ।
एगतीसाए सिद्धाइगुणा ।
बत्तीसा य जोगसंग्गहे ।
तित्तीसा आसायणा ।

एक्काइयं करित्ता एगुत्तरियाए वुड्ढीए तीसाओ जाव उ भवे तिगाहिया विरइपणिहीसु य एवमाइसु बहुसु ठाणेसु जिणपसत्थेसु अवितहेसु सासयभावेसु अवट्ठिएसु संकं कंखं णिराकरित्ता सद्दहए सासणं भगवओ अणियाणे अगारवे अलुद्धे अमूढमणवयणकायगुत्ते ।

१५४ — श्री सुधर्मा स्वामी ने अपने प्रधान अन्तेवासी जम्बू को संबोधन करते हुए कहा— हे जम्बू ! जो मूर्च्छा—ममत्वभाव से रहित है, इन्द्रियसंवर तथा कषायसंवर से युक्त है एवं आरंभ-परिग्रह से तथा क्रोध, मान, माया और लोभ से रहित है, वही श्रमण या साधु होता है ।

१. अविरति रूप एक स्वभाव के कारण अथवा भेद की विवक्षा न करने पर असंयम सामान्य रूप से एक है ।

२. इसी प्रकार संक्षेप विवक्षा से बन्धन दो प्रकार के हैं— रागबन्धन और द्वेषबन्धन ।

३. दण्ड तीन हैं— मनोदण्ड, वचनदण्ड, कायदण्ड । गौरव तीन प्रकार के हैं—ऋद्धिगौरव, रसगौरव, सातागौरव । गुप्ति तीन प्रकार की है— मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति । विराधना तीन प्रकार की है— ज्ञान की विराधना, दर्शन की विराधना और चारित्र की विराधना ।

४. कषाय चार हैं— क्रोध, मान, माया, लोभ । ध्यान चार हैं— आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान, शुक्लध्यान । संज्ञा चार प्रकार की है—आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा, परिग्रहसंज्ञा । विकथा चार प्रकार की है—स्त्रीकथा, भोजनकथा, राजकथा और देशकथा ।

५. क्रियाएँ पाँच हैं—कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी और प्राणातिपातिकी । समितियाँ पाँच हैं—ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदान-निक्षेपणसमिति और परिष्ठापनिकासमिति । इन्द्रियाँ पाँच हैं—स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय । महाव्रत पाँच हैं—अहिंसामहाव्रत, सत्यमहाव्रत, अस्तेयमहाव्रत, ब्रह्मचर्यमहाव्रत और

६. जीवनिकाय अर्थात् संसारी जीवों के छह समूह-वर्ग हैं—(१) पृथ्वीकाय (२) अप्काय (३) तेजस्काय (४) वायुकाय (५) वनस्पतिकाय और (६) त्रसकाय।

लेश्याएँ छह हैं—(१) कृष्णलेश्या (२) नीललेश्या (३) कापोतलेश्या (४) पीतलेश्या (५) पद्मलेश्या (६) शुक्ललेश्या।

७. भय सात प्रकार के हैं—(१) इहलोकभय (२) परलोकभय (३) आदानभय (४) अकस्मात् भय (५) आजीविकाभय (६) अपयशभय और (७) मृत्युभय।

८. मद आठ हैं—(१) जातिमद (२) कुलमद (३) वलमद (४) रूपमद (५) तपमद (६) लाभमद (७) श्रुतमद (८) ऐश्वर्यमद।

९. ब्रह्मचर्य-गुप्तियाँ नौ हैं—(१) विविक्तशयनासनसेवन (२) स्त्रीकथावर्जन (३) स्त्री-युक्त आसन का परिहार (४) स्त्री के रूपादि के दर्शन का त्याग (५) स्त्रियों के शृंगारमय, करुण तथा हास्य आदि सम्वन्धी शब्दों के श्रवण का परिवर्जन (६) पूर्वकाल में भोगे हुए भोगों के स्मरण का वर्जन (७) प्रणीत आहार का त्याग (८) प्रभूत—अति आहार का त्याग और (९) शारीरिक विभूषा का त्याग।

१०. श्रमणधर्म दस हैं—(१) क्षान्ति (२) मुक्ति—निर्लोभता (३) आर्जव—निष्कपटता-सरलता (४) मार्दव—मृदुता-नम्रता (५) लाघव—उपधि की अल्पता (६) सत्य (७) संयम (८) तप (९) त्याग और (१०) ब्रह्मचर्य।

११. श्रमणोपासक की प्रतिमाएँ ग्यारह हैं—(१) दर्शनप्रतिमा (२) व्रतप्रतिमा (३) सामायिक प्रतिमा (४) पौषधप्रतिमा (५) कायोत्सर्गप्रतिमा (६) ब्रह्मचर्यप्रतिमा (७) सचित्तत्यागप्रतिमा (८) आरम्भत्यागप्रतिमा (९) प्रेष्यप्रयोगत्यागप्रतिमा (१०) उद्दिष्टत्यागप्रतिमा और (११) श्रमणभूतप्रतिमा।

१२. भिक्षु-प्रतिमाएँ बारह हैं। वे इस प्रकार हैं—

मासाई सत्तंता पढमा विय तिय सत्त राइदिणा।
अहराइ एगराई भिक्खू पडिमाण बारसगं॥

अर्थात् एकमासिकी, द्विमासिकी, त्रिमासिकी से लेकर सप्तमासिकी तक की सात प्रतिमाएँ, सात-सात अहोरात्र की आठवीं, नौवीं और दसमी, एक अहोरात्र की ग्यारहवीं और एक रात्रि की बारहवीं प्रतिमा। विशेष विवरण दशाश्रुतस्कन्धसूत्र से जानना चाहिए।

१३. क्रियास्थान तेरह हैं, जो इस प्रकार हैं—

अट्ठाऽणट्ठाहिंसाऽकम्हा दिट्ठी य मोसऽदिन्ने य।
अज्झप्पमाणमित्ते मायालोभेरिया वहिया॥

अर्थात्—(१) अर्थदण्ड (२) अनर्थदण्ड (३) हिंसादण्ड (४) अकस्मात्दण्ड (५) दृष्टि-विपर्यासदण्ड (६) मृषावाद (७) अदत्तादानदण्ड (८) अध्यात्मदण्ड (९) मानदण्ड (१०) मित्रद्वेष-दण्ड (११) मायादण्ड (१२) लोभदण्ड और (१३) ऐर्यापथिकदण्ड।

इनका विशेष विवेचन सूत्रकृतांग आदि सूत्रों से जान लेना चाहिए।

१४. भूतग्राम अर्थात् जीवों के समूह चौदह हैं, जो इस प्रकार हैं— (१) सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक (२) सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्तक (३) वादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक (४) वादर एकेन्द्रिय अपर्याप्तक (५) द्वीन्द्रिय पर्याप्तक (६) द्वीन्द्रिय अपर्याप्तक (७-८) त्रीन्द्रिय पर्याप्तक और अपर्याप्तक (९-१०) चतुरिन्द्रिय पर्याप्तक-अपर्याप्तक (११-१२) पंचेन्द्रिय असंज्ञी पर्याप्तक-अपर्याप्तक (१३-१४) पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक और अपर्याप्तक।

१५. नारक जीवों को, तीसरे नरक तक जाकर नानाविध पीड़ा देने वाले असुरकुमार देव परमाधार्मिक कहलाते हैं। वे पन्द्रह प्रकार के हैं— (१) अम्ब (२) अम्बरीप (३) श्याम (४) शवल (५) रौद्र (६) उपरौद्र (७) काल (८) महाकाल (९) असिपत्र (१०) धनु (११) कुंभ (१२) वालुक (१३) वैतरणिक (१४) खरस्वर और (१५) महाघोष। इनके द्वारा उत्पन्न की जाने वाली यातनाओं का वर्णन प्रथम आस्रवद्वार में आ गया है।

१६. गाथाषोडशक— सूत्रकृतांगसूत्र के वे सोलह अध्ययन जिनमें गाथा नामक अध्ययन सोलहवाँ हैं। उनके नाम ये हैं— (१) समय (२) वैतालीय (३) उपसर्गपरिज्ञा (४) स्त्रीपरिज्ञा (५) नरकविभक्ति (६) वीरस्तुति (७) कुशीलपरिभाषित (८) वीर्य (९) धर्म (१०) समाधि (११) मार्ग (१२) समवसरण (१३) याथातथ्य (१४) ग्रन्थ (१५) यमकीय और (१६) गाथा।

१७. असंयम—(१) पृथ्वीकाय-असंयम (२) अप्काय-असंयम (३) तेजस्काय-असंयम (४) वायुकाय-असंयम (५) वनस्पतिकाय-असंयम (६) द्वीन्द्रिय-असंयम (७) त्रीन्द्रिय-असंयम (८) चतुरिन्द्रिय-असंयम (९) पञ्चेन्द्रिय-असंयम (१०) अजीव-असंयम (११) प्रेक्षा-असंयम (१२) उपेक्षा-असंयम (१३) अपहृत्य (प्रतिष्ठापन) असंयम (१४) अप्रमार्जन-असंयम (१५) मन-असंयम (१६) वचन-असंयम और (१७) काय-असंयम।

पृथ्वीकाय आदि नौ प्रकार के जीवों की यतना न करना, इनका आरंभ करना और मूल्यवान् वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि अजीव वस्तुओं को ग्रहण करना, जीव-अजीव-असंयम है। धर्मोपकरणों की यथाकाल यथाविधि प्रतिलेखना न करना प्रेक्षा-असंयम है। संयम-कार्यों में प्रवृत्ति न करना और असंयमयुक्त कार्य में प्रवृत्ति करना उपेक्षा-असंयम है। मल-मूत्र आदि का शास्त्रोक्त विधि के अनुसार प्रतिष्ठापन न करना—त्यागना अपहृत्य-प्रतिष्ठापन-असंयम है। वस्त्र-पात्र आदि उपधि का विधिपूर्वक प्रमार्जन नहीं करना अप्रमार्जन-असंयम है। मन को प्रशस्त चिन्तन में नहीं लगाना या अप्रशस्त चिन्तन में लगाना मानसिक-असंयम हैं। अप्रशस्त या मिथ्या अथवा अर्ध मिथ्या वाणी का प्रयोग करना वचन-असंयम है और काय से सावद्य व्यापार करना काय-असंयम है।

१८. अब्रह्म— अब्रह्मचर्य के अठारह प्रकार ये हैं—

ओरालियं च दिव्वं, मण-वय-कायाण करण-जोगेहिं।
अणुमोयण - कारावण - करणेणट्ठारसाऽबंभं ॥

अर्थात्— औदारिक शरीर द्वारा मन, वाणी और काय से अब्रह्मचर्य का सेवन करना, कराना और अनुमोदना तथा इसी प्रकार वैक्रिय शरीर द्वारा मन, वचन, काय से अब्रह्म का सेवन करना, कराना और अनुमोदन करना। दोनों के सम्मिलित भेद अठारह हैं।

१६. ज्ञात-अध्ययन—ज्ञाताधर्मकथा नामक अंग के १६ अध्ययन इस प्रकार हैं—(१) उत्क्षिप्त (२) संघाट (३) अण्ड (४) कूर्म (५) शैलकऋषि (६) तुम्ब (७) रोहिणी (८) मल्ली (६) माकन्दी (१०) चन्द्रिका (११) दवदव (इस नाम के वृक्षों का उदाहरण) (१२) उदक (१३) मण्डूक (१४) तेतलि (१५) नन्दिफल (१६) अपरकंका (१७) आकीर्ण (१८) सुषमा और (१६) पुण्डरीक।

२०. असमाधिस्थान इस प्रकार हैं—(१) द्रुतचारित्व—संयम की उपेक्षा करके जल्दी-जल्दी चलना (२) अप्रमार्जित-चारित्व—भूमि का प्रमार्जन किए विना उठना, वैठना, चलना आदि। (३) दुष्प्रमार्जित-चारित्व—विधिपूर्वक भूमि आदि का प्रमार्जन न करना (४) अतिरिक्त शय्यासनिकत्व—मर्यादा से अधिक आसन या शय्या-उपाश्रयस्थान ग्रहण करना (५) रात्निकपरिभाषित्व—अपने से वड़े आचार्यादि का विनय न करना, अविनय करना (६) स्थविरोपघातित्व-दीक्षा, आयु और श्रुत से स्थविर मुनियों के चित्त को किसी व्यवहार से व्यथा पहुँचाना (७) भूतोपघातित्व—जीवों का घात करना (८) संज्वलनता—वात-वातमें क्रोध करना या ईर्षा की अग्नि से जलना (६) क्रोधनता-क्रोधशील होना (१०) पृष्ठिमांसकता—पीठ पीछे किसी की निन्दा करना (११) अभीक्ष्णमवधारकता—वारंवार निश्चयकारी भाषा का प्रयोग करना (१२) नये-नये कलह उत्पन्न करना, (१३) शान्त हो चुके पुराने कलह को नये सिरे से जागृत करना (१४) सचित्तरज वाले हाथ पैर वाले दाता से आहार लेना। (१५) निषिद्धकाल में स्वाध्याय करना (१६) कलहोत्पादक कार्य करना, वातें करना या उनमें भाग लेना (१७) रात्रि में ऊँचे स्वर से वोलना, शास्त्रपाठ करना (१८) झंझाकरत्व—गण, संघ या गच्छ में फूट उत्पन्न करने या मानसिक पीड़ा उत्पन्न करने वाले वचन वोलना (१६) सूर्योदय से सूर्यास्त तक भोजन करते रहना (२०) एषणासमिति के अनुसार आहार की गवेषणा आदि न करना और दोष वतलाने पर झगड़ना।

२१, शवलदोष—चारित्र को कलुषित करने वाले दोष शवलदोष कहे गए हैं। वे इक्कीस हैं, जो संक्षेप में इस प्रकार हैं—(१) हस्तकर्म करना (२) अतिक्रम, व्यतिक्रम और अतिचार रूप में मैथुनसेवन करना (३) अतिक्रमादिरूप से रात्रि में भोजन करना (४) आधाकर्म—दूषित आहार करना (५) शय्यातर के आहार का सेवन करना (६) उद्दिष्ट, क्रीत आदि दोषों वाला आहार करना (७) त्यागे हुए अशन आदि का उपयोग करना (८) छह महीने के भीतर एक गण का त्याग कर दूसरे गण में जाना (६) एक मास में तीन वार नाभिप्रमाण जल में अवगाहन करना (१०) एक मास में तीन वार मायाचार करना (११) राजपिण्ड का सेवन करना (१२) इरादापूर्वक प्राणियों की हिंसा करना (१३) इरादापूर्वक मृषावाद करना (१४) इरादापूर्वक अदत्तादान करना (१५) जान-वूझ कर सचित्त भूमि पर कायोत्सर्ग करना (१६) जान-वूझ कर गीली, सरजस्क भूमि पर, सचित्त शिला पर या घुन वाले काष्ठ पर सोना-वैठना (१७) वीजों तथा जीवों से युक्त अन्य किसी स्थान पर वैठना (१८) जान-वूझ कर कन्दमूल खाना (१६) एक वर्ष में दस वार नाभिप्रमाण जल में अवगाहन करना (२०) एक वर्ष में दस वार माया का सेवन करना और (२१) वारंवार सचित्त जल से लिप्त हाथ आदि से आहारादि ग्रहण करना।

२२. परीषह—संयम-जीवन में होने वाले कष्ट, जिन्हें समभावपूर्वक सहन करके साधु कर्मो की विशिष्ट निर्जरा करता है। ये वाईस परीषह इस प्रकार हैं—

खुहा पिवासा सीउण्हं दंसा चेलऽरई-त्थिओ।
चरिया निसीहिया सेज्जा, अक्कोसा वह जायणा॥

अलाभ-रोग-तणफासा, मल-सक्कार परीसहा ।
पण्णा अण्णाण सम्मत्तं, इय बावीस परीसहा ।।

अर्थात् (१) क्षुधा (भूख) (२) पिपासा—प्यास (३) शीत—ठंड (४) उष्ण (गर्मी) (५) दंश-मशक (डांस-मच्छरों द्वारा सताया जाना) (६) अचेल (निर्वस्त्रता या अल्प एवं फटे-पुराने वस्त्रों का कष्ट) (७) अरति—संयम में अरुचि (८) स्त्री (९) चर्या (१०) निषद्या (११) शय्या—उपाश्रय (१२) आक्रोश (१३) वध—मारा-पीटा जाना (१४) याचना (१५) अलाभ—लेने की इच्छा होने पर भी आहार आदि आवश्यक वस्तु का न मिलना (१६) रोग (१७) तृणस्पर्श—कंकर-कांटा आदि की चुभन (१८) जल्ल—मल को सहन करना (१९) सत्कार-पुरस्कार—आदर होने पर अहंकार और अनादर की अवस्था में विषाद होना (२२) प्रज्ञा—विशिष्ट बुद्धि का अभिमान (२१) अज्ञान—विशिष्ट ज्ञान के अभाव में खेद का अनुभव और (२२) अदर्शन ।

इन बाईस परीषहों पर विजय प्राप्त करने वाला संयमी विशिष्ट निर्जरा का भागी होता है ।

२३. सूत्रकृतांग-अध्ययन—प्रथम श्रुतस्कन्ध के पूर्वलिखित सोलह अध्ययन और द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सात अध्ययन मिल कर तेईस होते हैं । द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सात अध्ययन ये हैं—(१) पुण्डरीक (२) क्रियास्थान (३) आहारपरिज्ञा (४) प्रत्याख्यानक्रिया (५) अनगारश्रुत (६) आर्द्र-कुमार और (७) नालन्दा ।

२४. चार निकाय के देवों के चौवीस अवान्तर भेद हैं—१० भवनवासी, ८ वाणव्यन्तर, ५ ज्योतिष्क और सामान्यतः १ वैमानिक । मतान्तर से मूलपाठ में आए 'देव' शब्द से देवाधिदेव अर्थात् तीर्थंकर समझना चाहिए, जिनकी संख्या चौवीस प्रसिद्ध है ।

२५. भावना—एक-एक महाव्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ होने से पाँचों की सम्मिलित पच्चीस भावनाएँ हैं ।

२६. उद्देश—दशाश्रुतस्कन्ध के १०, वृहत्कल्प के ६ और व्यवहारसूत्र के १० उद्देशक मिलकर छब्बीस हैं ।

२७. गुण अर्थात् साधु के मूलगुण सत्ताईस हैं—५ महाव्रत, ५ इन्द्रियनिग्रह, ४ क्रोधादि कषायों का परिहार, भावसत्य, करणसत्य, योगसत्य, क्षमा, विरागता, मन का, वचन का और काय का निरोध, ज्ञानसम्पन्नता, दर्शनसम्पन्नता, चारित्रसम्पन्नता, वेदनादि सहन और मारणान्तिक उपसर्ग का सहन । अन्य विवक्षा से व्रतषट्क (पाँच महाव्रत और रात्रिभोजन-त्याग), पाँच इन्द्रियनिग्रह, भावसत्य, करणसत्य, क्षमा, विरागता, मनोनिरोध, वचननिरोध, कायनिरोध, छह कायों की रक्षा, योगयुक्तता, वेदनाध्यास (परीषहसहन) और मारणान्तिक संलेखना, इस प्रकार २७ गुण अनगार के होते हैं ।[1]

---

१. वयछक्कं ६ इंदियाणं निग्गहो ११ भाव-करणसच्चं च १३ ।
खमया १४ विरागयावि य १५ मणमाईणं निरोहो य १८ ।।
कायाण छक्क २४ जोगम्मि जुत्तया २५ वेयणाहियासणया २६ ।
तह मरणंते संलेहणा य २७, एए-ऽणगारगुणा ।। —अभय. टीका, पृ. १४५

२८. प्रकल्प—आचार प्रकल्प २८ हैं। यहाँ आचार का अर्थ है—आचारांगसूत्र के दोनों श्रुतस्कन्धों के अध्ययन, जिनकी संख्या पच्चीस है और प्रकल्प का अर्थ है—निशीथसूत्र के तीन अध्ययन—उद्‌घातिक, अनुद्‌घातिक और आरोपणा। ये सब मिलकर २८ हैं।

२९. पापश्रुतप्रसंग के २९ भेद इस प्रकार हैं—(१) भौम (२) उत्पात (३) स्वप्न (४) अन्तरिक्ष (५) अंग (६) स्वर (७) लक्षण (८) व्यंजन। इन आठ प्रकार के निमित्तशास्त्रों के सूत्र, वृत्ति और वार्त्तिक के भेद से २४ भेद हो जाते हैं। इनमें विकथानुयोग, विद्यानुयोग, मंत्रानुयोग, योगानुयोग और अन्यतीर्थिक प्रवृत्तानुयोग—इन पाँच को सम्मिलित करने पर पापश्रुत के उनतीस भेद होते हैं। मतान्तर से अन्तिम पाँच पापश्रुतों के स्थान पर गन्धर्व, नाट्य, वास्तु, चिकित्सा और धनुर्वेद का उल्लेख मिलता है।[1] इनका विवरण अन्यत्र देख लेना चाहिए।

३०. मोहनीय—अर्थात् मोहनीयकर्म के बन्धन के तीस स्थान—कारण इस प्रकार हैं—(१) जल में डुबाकर त्रस जीवों का घात करना (२) हाथ आदि से मुख, नाक आदि बन्द करके मारना (३) गीले चमड़े की पट्टी कस कर मस्तक कर बाँध कर मारना (४) मस्तक पर मुद्‌गर आदि का प्रहार करके मारना (५) श्रेष्ठ पुरुष की हत्या करना (६) शक्ति होने पर भी दुष्ट परिणाम के कारण रोगी की सेवा न करना (७) तपस्वी साधक को बलात् धर्मभ्रष्ट करना (८) अन्य के सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग रूप शुद्ध परिणामों को विपरीत रूप में परिणत करके उसका अपकार करना (९) जिनेन्द्र भगवान् की निन्दा करना (१०) आचार्य—उपाध्याय की निन्दा करना (११) ज्ञानदान आदि से उपकारक आचार्य आदि का उपकार न मानना एवं उनका यथोचित सम्मान न करना (१२) पुनः पुनः राजा के प्रयाण के दिन आदि का कथन करना (१३) वशीकरणादि का प्रयोग करना (१४) परित्यक्त भोगों की कामना करना (१५) बहुश्रुत न होने पर भी अपने को बहुश्रुत कहना (१६) तपस्वी न होकर भी अपने को तपस्वी के रूप में विख्यात करना (१७) बहुत जनों को बढ़िया मकान आदि में बंद करके आग लगाकर मार डालना (१८) अपने पाप को पराये सिर मढ़ना (१९) मायाजाल रच कर जनसाधारण को ठगना (२०) अशुभ परिणामवश सत्य को भी सभा में—बहुत लोगों के समक्ष—असत्य कहना (२१) वारंवार कलह—लड़ाई-झगड़ा करना (२२) विश्वास में लेकर दूसरे का धन हड़प जाना (२३) विश्वास उत्पन्न कर परकीय स्त्री को अपनी ओर आकृष्ट करना—लुभाना (२४) कुमार—अविवाहित न होने पर भी अपने को कुमार कहना (२५) अब्रह्मचारी होकर भी अपने को ब्रह्मचारी कहना (२६) जिसकी सहायता से वैभव प्राप्त किया उसी उपकारी के द्रव्य पर लोलुपता करना (२७) जिसके निमित्त से ख्याति अर्जित की उसी के काम में विघ्न डालना (२८) राजा, सेनापति अथवा इसी प्रकार के किसी राष्ट्रपुरुष का वध करना (२९) देवादि का साक्षात्कार न होने पर भी साक्षात्कार—दिखाई देने की बात कहना और (३०) देवों की अवज्ञा करते हुए स्वयं को देव कहना। इन कारणों से मोहनीयकर्म का बन्ध होता हैं।

---

१. टीकाकार ने पापश्रुत की गणना के लिए यह गाथा उद्‌धृत की है—

अट्ठंगनिमित्ताइं दिव्वुप्पायंतलिक्ख भोमं च।
अंग सर लक्खण वंजणं च तिविहं पुणोक्केक्कं॥
सुत्तं वित्ती तह वत्तियं च पावसुयमउणतीसविहं।
गंधव्व नट्ट वत्थुं आउं धणुवेयसंजुत्तं। —अभय. टीका. पृ. १४५

३१. सिद्धादिगुण—सिद्ध भगवान् में आदि से अर्थात् सिद्धावस्था के प्रथम समय से ही उत्पन्न होने वाले या विद्यमान रहने वाले गुण सिद्धादिगुण कहलाते हैं अथवा 'सिद्धाइगुण' पद का अर्थ 'सिद्धातिगुण' होता है, जिसका तात्पर्य है—सिद्धों के आत्यन्तिक गुण। ये इकतीस हैं—(१-५) मतिज्ञानावरणीय आदि पाँच प्रकार के ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय (६-१४) नौ प्रकार के दर्शनावरण का क्षय (१५-१६) सातावेदनीय-असातावेदनीय का क्षय (१७) दर्शनमोहनीय का क्षय (१८) चारित्रमोहनीय का क्षय (१९-२२) चार प्रकार के आयुष्यकर्म का क्षय (२३-२४) दो प्रकार के गोत्रकर्म का क्षय (२५-२६) शुभनामकर्म और अशुभनामकर्म का क्षय (२७-३१) पाँच प्रकार के अन्तराय कर्म का क्षय ।

प्रकारान्तर से इकतीस गुण इस प्रकार हैं—पाँच संस्थानों, पाँच वर्णों, पाँच रसों, दो गन्धों, आठ स्पर्शों और तीन वेदों (स्त्रीवेद-पुरुषवेद-नपुंसकवेद) से रहित होने के कारण २८ गुण तथा अकायता, असंगता और अरूपित्व, ये तीन गुण सम्मिलित कर देने पर सब ३१ गुण होते हैं ।

३२. योगसंग्रह—मन, वचन और काय की प्रशस्त प्रवृत्तियों का संग्रह योगसंग्रह कहलाता है। यह बत्तीस प्रकार का है—(१) आलोचना—आचार्यादि के समक्ष शिष्य द्वारा अपने दोष को यथार्थ रूप से निष्कपट भाव से प्रकट करना। (२) निरपलाप—शिष्य द्वारा प्रकट किए हुए दोषों को आचार्यादि किसी अन्य के समक्ष प्रकट न करे। (३) आपत्ति आ पड़ने पर भी धर्म में दृढता रखना (४) विना किसी का सहारा लिये तपश्चर्या करना (५) आचार्यादि से सूत्र और उसके अर्थ आदि को ग्रहण करना (६) शरीर का शृंगार न करना (७) अपनी तपश्चर्या या उग्र क्रिया को प्रकाशित न करना (८) निर्लोभ होना (९) कष्ट-सहिष्णु होना—परीषहों को समभाव से सहन करना (१०) आर्जव—सरलता—निष्कपटभाव होना (११) शुचिता—सत्य होना (१२) दृष्टि सम्यक् रखना (१३) समाधि—चित्त को समाहित रखना (१४) पाँच प्रकार के आचार का पालन करना (१५) विनीत होकर रहना (१६) धैर्यवान् होना—धर्मपालन में दीनता का भाव न उत्पन्न होने देना (१७) संवेगयुक्त रहना (१८) प्रणिधि अर्थात् मायाचार न करना (१९) समीचीन आचार-व्यवहार करना (२०) संवर—ऐसा आचरण करना जिससे कर्मों का आस्रव रुक जाए (२१) आत्मदोषोपसंहार—अपने में उत्पन्न होने वाले दोषों का निरोध करना (२२) काम-भोगों से विरत रहना (२३) मूल गुणों संबंधी प्रत्याख्यान करना (२४) उत्तर गुणों से संबंधित प्रत्याख्यान करना—विविध प्रकार के नियमों को अंगीकार करना (२५) व्युत्सर्ग—शरीर, उपधि तथा कषायादि का उत्सर्ग करना-त्यागना (२६) प्रमाद का परिहार करना (२७) प्रतिक्षण समाचारी का पालन करना (२८) ध्यान-रूप संवर की साधना करना (२९) मारणान्तिक कष्ट के अवसर पर भी चित्त में क्षोभ न होना (३०) विषयासक्ति से बचे रहना (३१) अंगीकृत प्रायश्चित्त का निर्वाह करना या दोष होने पर प्रायश्चित्त लेना और (३२) मृत्यु का अवसर सन्निकट आने पर संलेखना करके अन्तिम आराधना करना ।

३३. आशातनाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) शैक्ष—नवदीक्षित या अल्प दीक्षापर्याय वाले साधु का रात्निक-अधिक दीक्षापर्याय वाले साधु के अति निकट होकर गमन करना ।

(२) शैक्ष का रात्निक साधु के आगे—आगे गमन करना ।

(३) शैक्ष का रात्निक के साथ वरावरी से चलना ।
(४) शैक्ष का रात्निक के आगे खड़ा होना ।
(५) शैक्ष का रात्निक के साथ वरावरी से खड़ा होना ।
(६) शैक्ष का रात्निक के अति निकट खड़ा होना ।
(७) शैक्ष का रात्निक साधु के आगे वैठना ।
(८) शैक्ष का रात्निक के साथ वरावरी से वैठना ।
(९) शैक्ष का रात्निक के अति समीप वैठना ।

(१०) शैक्ष, रात्निक के साथ स्थंडिलभूमि जाए और रात्निक से पहले ही शौच—शुद्धि कर ले ।

(११) शैक्ष, रात्निक के साथ विचारभूमि या विहारभूमि जाए और रात्निक से पहले ही आलोचना कर ले ।

(१२) कोई मनुष्य दर्शनादि के लिए आया हो और रात्निक के वात करने से पहले ही शैक्ष द्वारा वात करना ।

(१३) रात्रि में रात्निक के पुकारने पर जागता हुआ भी न वोले ।
(१४) आहारादि लाकर पहले अन्य साधु के समक्ष आलोचना करे, वाद में रात्निक के समक्ष ।
(१५) आहारादि लाकर पहले अन्य साधु को और वाद में रात्निक साधु को दिखलाना ।
(१६) आहारादि के लिए पहले अन्य साधुओं को निमंत्रित करना और वाद में रत्नाधिक को ।
(१७) रत्नाधिक से पूछे विना अन्य साधुओं को आहारादि देना ।
(१८) रात्निक साधु के साथ आहार करते समय मनोज्ञ, सरस वस्तु अधिक एवं जल्दी-जल्दी खाए ।

(१९) रत्नाधिक के पुकारने पर उनकी वात अनसुनी करना ।
(२०) रत्नाधिक के कुछ कहने पर अपने स्थान पर वैठे-वैठे सुनना और उत्तर देना ।
(२१) रत्नाधिक के कुछ कहने पर 'क्या कहा ? इस प्रकार पूछना ।
(२२) रत्नाधिक के प्रति 'तू, तुम' ऐसे तुच्छतापूर्ण शव्दों का व्यवहार करना ।
(२३) रत्नाधिक के प्रति कठोर शव्दों का प्रयोग करे, उद्दण्डतापूर्वक वोले, अधिक वोले ।
(२४) 'जी हाँ' आदि शव्दों द्वारा रात्निक की धर्मकथा का अनुमोदन न करना ।
(२५) धर्मकथा के समय रात्निक को टोकना, 'आपको स्मरण नहीं' इस प्रकार के शव्द कहना ।

(२६) धर्मकथा कहते समय रात्निक को 'वस करो' इत्यादि कह कर कथा समाप्त करने के लिए कहना ।

(२७) धर्मकथा के अवसर पर परिषद् को भंग करने का प्रयत्न करे ।

(२८) रात्निक साधु धर्मोपदेश कर रहे हों, सभा—श्रोतृगण उठे न हों, तव दूसरी-तीसरी वार वही कथा कहना ।

(२९) रात्निक धर्मोपदेश कर रहे हों तव उनकी कथा का काट करना या वीच में स्वयं वोलने लगना ।

(३०) रात्निक साधु की शय्या या आसन को पैर से ठुकराना ।
(३१) रत्नाधिक के समान—वरावरी पर आसन पर वैठना ।

(३२) रत्नाधिक के आसन से ऊँचे आसन पर बैठना।
(३३) रत्नाधिक के कुछ कहने पर अपने आसन पर बैठे-बैठे ही उत्तर देना।

इन आशातनाओं से मोक्षमार्ग की विराधना होती है, अतएव ये वर्जनीय हैं।

३३ सुरेन्द्र बत्तीस हैं—भवनपतियों के २०, वैमानिकों के १० तथा ज्योतिष्कों के दो—चन्द्रमा और सूर्य। (इनमें एक नरेन्द्र अर्थात् चक्रवर्त्ती को सम्मिलित कर देने से ३३ संख्या की पूर्त्ति हो जाती है।[1])

(उल्लिखित) एक से प्रारम्भ करके तीन अधिक तीस अर्थात् तेतीस संख्या हो जाती है। इन सब संख्या वाले पदार्थों में तथा इसी प्रकार के अन्य पदार्थों में, जो जिनेश्वर द्वारा प्ररूपित हैं तथा शाश्वत अवस्थित और सत्य हैं, किसी प्रकार की शंका या कांक्षा न करके हिंसा आदि से निवृत्ति करनी चाहिए एवं विशिष्ट एकाग्रता धारण करनी चाहिए। इस प्रकार निदान—नियाणा से रहित होकर, ऋद्धि आदि के गौरव-अभिमान से दूर रह कर, अलुब्ध-निर्लोभ होकर तथा मूढता त्याग कर जो अपने मन, वचन और काय को संवृत करता हुआ श्रद्धा करता है, वही वास्तव में साधु है।

विवेचन—मूल पाठ स्पष्ट है और आवश्यकतानुसार उसका विवेचन अर्थ में साथ ही कर दिया गया है। इस पाठ का आशय यही है कि वीतराग देव ने जो भी हेय, उपादेय या ज्ञेय तत्त्वों का प्रतिपादन किया है, वे सब सत्य हैं, उनमें शंका-कांक्षा करने का कोई कारण नहीं है। अतएव हेय को त्याग कर, उपादेय को ग्रहण करके और ज्ञेय को जान कर विवेक पूर्वक—अमूढभाव से प्रवृत्ति करनी चाहिए। साधु को इन्द्रादि पद की या भविष्य के भोगादि की आकांक्षा से रहित, निरभिमान, अलोलुप और संवरमय मन, वचन, काय वाला होना चाहिए।

धर्म-वृक्ष का रूपक—

१५५—जो सो वीरवर-वयण-विरइ-पवित्थरबहुविहप्पयारो सम्मत्त-विसुद्धमूलो धिइकंदो विणयवेइओ णिग्गय-तेल्लोक्क-विउलजस-णिविड-पीण-पवरसुजायखंधो पंचमहव्वय-विसालसालो भावणतयंत-ज्झाण-सुहजोग-णाणपल्लववरंकुरधरो बहुगुणकुसुमसमिद्धो सील-सुगंधो अणण्हवफलो पुणो य मोक्खवरबीजसारो मंदरगिरि-सिहर-चूलिआ इव इमस्स मोक्खवर-मुत्तिमग्गस्स सिहरभूओ संवर-वर-पायवो चरिमं संवरदारं।

१५५—श्रीवीरवर—महावीर भगवान् के वचन—आदेश से की गई परिग्रहनिवृत्ति के विस्तार से यह संवरवर-पादप अर्थात् अपरिग्रह नामक अन्तिम संवरद्वार बहुत प्रकार का है। सम्यग्दर्शन इसका विशुद्ध—निर्दोष मूल है। धृति-चित्त की स्थिरता इसका कन्द है। विनय इसकी

---

१. 'तित्तीसा आसायणा' के पश्चात् 'सुरिंदा' पाठ आया है। टीकाकार अभयदेव और देवविमलसूरि को भी यही पाठक्रम अभीष्ट है। सुरेन्द्रों की संख्या बत्तीस बतलाई गई है। तेतीस के बाद बत्तीससंख्यक सुरेन्द्रों का कथन असंगत मान कर किसी-किसी संस्करण में 'सुरिंदा' आसातनाओं से पहले रख दिया है और किसी ने 'नरेन्द्र' को सुरेन्द्रों के साथ जोड़ कर तेतीस की संख्या की पूर्त्ति की है। बत्तीस सुरेन्द्रों में भवनपतियों के इन्द्रों की गणना की गई है, पर व्यन्तरेन्द्र नहीं गिने गए। —तत्त्व केवलिगम्य है।

वेदिका—चारों ओर का परिकर है। तीनों लोकों में फैला हुआ विपुल यश इसका सघन, महान् और सुनिर्मित स्कन्ध (तना) है। पाँच महाव्रत इसकी विशाल शाखाएँ हैं। अनित्यता, अशरणता आदि भावनाएँ इस संवरवृक्ष की त्वचा है। धर्मध्यान, शुभयोग तथा ज्ञान रूपी पल्लवों के अंकुरों को यह धारण करने वाला है। बहुसंख्यक उत्तरगुण रूपी फूलों से यह समृद्ध है। यह शील के सौरभ से सम्पन्न है और वह सौरभ ऐहिक फल की वांछा से रहित सत्प्रवृत्तिरूप है। यह संवरवृक्ष अनास्रव-कर्मास्रव के निरोध रूप फलों वाला है। मोक्ष ही इसका उत्तम बीजसार-मींजी है। यह मेरु पर्वत के शिखर पर चूलिका के समान मोक्ष—कर्मक्षय के निर्लोभतास्वरूप मार्ग का शिखर है। इस प्रकार का अपरिग्रह रूप उत्तम संवरद्वार रूपी जो वृक्ष है, वह अन्तिम संवरद्वार है।

विवेचन—अपरिग्रह पाँच संवरद्वारों में अन्तिम संवरद्वार है। सूत्रकार ने इस संवरद्वार को वृक्ष का रूपक देकर आलंकारिक भाषा में सुन्दर रूप से वर्णित किया है। वर्णन का आशय मूलार्थ से ही समझा जा सकता है।

अकल्पनीय-अनाचरणीय—

१५६—जत्थ ण कप्पइ गामागर-णगर-खेड-कव्वड-मडंब-दोणमुह-पट्टणासमगयं च किंचि अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा तसथावरकायदव्वजायं मणसा वि परिघेत्तुं, ण हिरण्णसुवण्णखेत्तवत्थुं, ण दासी-दास-भयग-पेस-हय-गय-गवेलगं व, ण जाण-जुग्ग-सयणासणाइ, ण छत्तगं, ण कुंडिया, ण उवाणहा, ण पेहुण-वीयण-तालियंटगा, ण यावि अय-तउय-तंब-सीसग-कंस-रयय-जायरूव-मणिमुत्ताहार-पुडग-संख-दंत-मणि-सिंग-सेल-काय-वरचेल-चम्मपत्ताइं महरिहाइं, परस्स अज्झोववाय-लोहजणणाइं परियड्ढेउं गुणवओ, ण यावि पुप्फ-फल-कंद-मूलाइयाइं सणसत्तरसाइं सव्वधण्णाइं तिहिं वि जोगेहिं परिघेत्तुं ओसह-भेसज्ज-भोयणट्ठयाए संजएणं।

किं कारणं ?

अपरिमियणाणदंसणधरेहिं सील-गुण-विणय-तव-संजमणायगेहिं तित्थयरेहिं सव्वजगज्जीव-वच्छलेहिं तिलोयमहिएहिं जिणवरिंदेहिं एस जोणी जंगमाणं दिट्ठा। ण कप्पइ जोणिसमुच्छेओ त्ति तेण वज्जंति समणसीहा।

१५६—ग्राम, आकर, नगर, खेड, कर्वट, मडंब, द्रोणमुख, पत्तन अथवा आश्रम में रहा हुआ कोई भी पदार्थ हो, चाहे वह अल्प मूल्य वाला हो या बहुमूल्य हो, प्रमाण में छोटा हो अथवा बड़ा हो, वह भले त्रसकाय—शंख आदि हो या स्थावरकाय—रत्न आदि हो, उस द्रव्यसमूह को मन से भी ग्रहण करना नहीं कल्पता, अर्थात् उसे ग्रहण करने की इच्छा करना भी योग्य नहीं है। चांदी, सोना, क्षेत्र (खुली भूमि), वास्तु (मकान-दुकान आदि) भी ग्रहण करना नहीं कल्पता। दासी, दास, भृत्य—नियत वृत्ति पाने वाला सेवक, प्रेष्य—संदेश ले जाने वाला सेवक, घोड़ा, हाथी, बैल आदि भी ग्रहण करना नहीं कल्पता। यान—रथ, गाड़ी आदि, युग्य—डोली आदि, शयन आदि और छत्र-छाता आदि भी ग्रहण करना नहीं कल्पता, न कमण्डलु, न जूता, न मोरपीछी, न बीजना-पंखा और तालवृन्त—ताड़ का पंखा—ग्रहण करना कल्पता है। लोहा, रांगा, तांबा, सीसा, कांसा, चांदी, सोना,

मणि और मोती का आधार सीपसम्पुट, शंख, उत्तम दांत, सींग, शैल-पाषाण (या पाठान्तर के अनुसार लेस अर्थात् श्लेष द्रव्य), उत्तम काच, वस्त्र और चर्मपात्र—इन सब को भी ग्रहण करना नहीं कल्पता। ये सब मूल्यवान् पदार्थ दूसरे के मन में ग्रहण करने की तीव्र आकांक्षा उत्पन्न करते हैं, आसक्तिजनक हैं, इन्हें संभालने और बढ़ाने की इच्छा उत्पन्न करते हैं, अर्थात् किसी स्थान पर पूर्वोक्त पड़े पदार्थ देख कर दूसरे लोग इन्हें उठा लेने की अभिलाषा करते हैं, उनके चित्त में इनके प्रति मूर्च्छाभाव उत्पन्न होता है, वे इनकी रक्षा और वृद्धि करना चाहते हैं, किन्तु साधु को नहीं कल्पता कि वह इन्हें ग्रहण करे। इसी प्रकार पुष्प, फल, कन्द, मूल आदि तथा सन जिनमें सत्तरहवाँ है, ऐसे समस्त धान्यों को भी परिग्रहत्यागी साधु औषध, भैषज्य या भोजन के लिए त्रियोग—मन, वचन, काय से ग्रहण न करे।

नहीं ग्रहण करने का क्या कारण है?

अपरिमित—अनन्त ज्ञान और दर्शन के धारक, शील—चित्त की शान्ति, गुण—अहिंसा आदि, विनय, तप और संयम के नायक, जगत् के समस्त प्राणियों पर वात्सल्य धारण करने वाले, त्रिलोक-पूजनीय, तीर्थंकर जिनेन्द्र देवों ने अपने केवलज्ञान से देखा है कि ये पुष्प, फल आदि त्रस जीवों की योनि—उत्पत्तिस्थान हैं। योनि का उच्छेद—विनाश करना योग्य नहीं है। इसी कारण श्रमणसिंह—उत्तम मुनि पुष्प, फल आदि का परिवर्जन करते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ में स्पष्ट किया गया है कि ग्राम, आकर, नगर, निगम आदि किसी भी वस्ती में कोई भी वस्तु पड़ी हो तो अपरिग्रही साधु को उसे ग्रहण नहीं करना चाहिए। इतना ही नहीं, साधु का मन इस प्रकार सधा हुआ होना चाहिए कि उसे ऐसे किसी पदार्थ को ग्रहण करने की इच्छा ही न हो! ग्रहण न करना एक बात है, वह साधारण साधना का फल है, किन्तु ग्रहण करने की अभिलाषा ही उत्पन्न न होना उच्च साधना का फल है। मुनि का मन इतना समभावी, मूर्च्छा-विहीन एवं नियंत्रित रहे कि वह किसी भी वस्तु को कहीं भी पड़ी देख कर न ललचाए। जो स्वर्ण, रजत, मणि, मोती आदि बहुमूल्य वस्तुएँ अथवा अल्प मूल्य होने पर भी सुखकर—आरामदेह वस्तुएँ दूसरे को मन में लालच उत्पन्न करती हैं, मुनि उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखे। उसे ऐसी वस्तुओं को ग्रहण करने की अभिलाषा ही न हो।

फिर सचित्त पुष्प, फल, कन्द, मूल आदि पदार्थ तो त्रस जीवों की उत्पत्ति के स्थान हैं और योनि को विध्वस्त करना मुनि को कल्पता नहीं है। इस कारण ऐसे पदार्थों के ग्रहण से वह सदैव बचता है।

सन्निधि-त्याग—

१५७—जं पि य ओयणकुम्मास-गंज-तप्पण-मंथु-भुज्जिय-पलल-सूव-सक्कुलि-वेढिम-वरसरक-चुण्ण-कोसग-पिंड-सिहरिणि-वट्ट-मोयग-खीर-दहि-सप्पि-णवणीय-तेल्ल-गुड-खंड-मच्छंडिय-महु-मज्ज-मंस-खज्जग-वंजण-विहिमाइयं पणीयं उवस्सए परघरे व रण्णे ण कप्पइ तं वि सण्णिहिं काउं सुविहियाणं।

१५७—और जो भी ओदन—कूर, कुल्माष—भड़द या थोड़े उवाले मूंग आदि गंज—एक

प्रकार का भोज्य पदार्थ, तर्पण—सत्तू, मंथु—बोर आदि का चूर्ण-आटा, भूंजी हुई धानी—लाई, पलल—तिल के फूलों का पिष्ट, सूप—दाल, शष्कुली—तिलपपड़ी, वेष्टिम—जलेबी, इमरती आदि, वरसरक नामक भोज्य वस्तु, चूर्णकोश—खाद्य विशेष, गुड़ आदि का पिण्ड, शिखरिणी—दही में शक्कर आदि मिला कर बनाया गया भोज्य-श्रीखंड, वट्ट—वड़ा, मोदक—लड्डू, दूध, दही, घी, मक्खन, तेल, खाजा, गुड़, खाँड, मिश्री, मधु, मद्य, मांस और अनेक प्रकार के व्यंजन—शाक, छाछ आदि वस्तुओं का उपाश्रय में, अन्य किसी के घर में अथवा अटवी में सुविहित—परिग्रहत्यागी, शोभन आचार वाले साधुओं को संचय करना नहीं कल्पता है।

विवेचन— उल्लिखित पाठ में खाद्य पदार्थों का नामोल्लेख किया गया है। तथापि सुविहित साधु को इनका संचय करके रखना नहीं कल्पता है। कहा है—

विडमुब्भेइयं लोणं, तेल्लं सप्पिं च फाणियं।
ण ते सन्निहिमिच्छंति, नायपुत्तवए रया॥

अर्थात् सभी प्रकार के नमक, तेल, घृत, तिल-पपड़ी आदि किसी भी प्रकार के खाद्य पदार्थ का वे साधु संग्रह नहीं करते जो ज्ञातपुत्र—भगवान् महावीर के वचनों में रत हैं।

संचय करने वाले साधु को शास्त्रकार गृहस्थ की कोटि में रखते हैं। संचय करना गृहस्थ का कार्य है, साधु का नहीं। साधु तो पक्षी के समान वृत्ति वाले होते हैं। उन्हें यह चिन्ता नहीं होती कि कल आहार प्राप्त होगा अथवा नहीं! कौन जाने कल आहार मिलेगा अथवा नहीं, ऐसी चिन्ता से ही संग्रह किया जाता है, किन्तु साधु तो लाभ-अलाभ में समभाव वाला होता है। अलाभ की स्थिति को वह तपश्चर्यारूप लाभ का कारण मानकर लेशमात्र भी खेद का अनुभव नहीं करता। संग्रहवृत्ति से अन्य भी अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होने की संभावना रहती है। एक ही बार में पर्याप्त से अधिक आहार लाने से प्रमादवृत्ति आ सकती है। सरस आहार अधिक लाकर रख लेने से लोलुपता उत्पन्न हो सकती है, आदि। अतएव साधु को किसी भी भोज्य वस्तु का संग्रह न करने का प्रतिपादन यहाँ किया गया है। परिग्रह-त्यागी मुनि के लिए यह सर्वथा अनिवार्य है।

१५८—जं पि य उद्दिट्ठ-ठविय-रइयग-पज्जवजायं पकिण्णं पाउयरण-पामिच्चं मीसगजायं कीयगडं पाहुडं च दाणट्ठपुण्णपगडं समणवणीमगट्ठयाए वा कयं पच्छाकम्मं पुरेकम्मं णिइकम्मं मक्खियं अइरित्तं मोहरं चेव सयंगाहमाहडं मट्टिउवलित्तं, अच्छेज्जं चेव अणीसट्ठं जं तं तिहिसु जण्णेसु उस्सवेसु य अंतो वा बहिं वा होज्ज समणट्ठयाए ठवियं हिंसासावज्जसंपउत्तं ण कप्पइ तं पि य परिघेत्तुं।

१५८— इसके अतिरिक्त जो आहार औद्देशिक हो, स्थापित हो, रचित हो, पर्यवजात हो, प्रकीर्ण, प्रादुष्करण, प्रामित्य, मिश्रजात, क्रीतकृत, प्राभृत दोष वाला हो, जो दान के लिए या पुण्य के लिए बनाया गया हो, जो पाँच प्रकार के श्रमणों अथवा भिखारियों को देने के लिए तैयार किया गया हो, जो पश्चात्कर्म अथवा पुरःकर्म दोष से दूषित हो, जो नित्यकर्म-दूषित हो, जो म्रक्षित, अतिरिक्त मौखर, स्वयंग्राह अथवा आहृत हो, मृत्तिकोपलिप्त, आच्छेद्य, अनिसृष्ट हो अथवा जो आहार मदनत्रयोदशी आदि विशिष्ट तिथियों में यज्ञ और महोत्सवों में, उपाश्रय के भीतर या बाहर साधुओं को देने के लिए रक्खा हो, जो हिंसा-सावद्य दोष से युक्त हो, ऐसा भी आहार साधु को लेना नहीं कल्पता है।

विवेचन— पूर्व पाठ में बतलाया गया था कि आहार की सन्निधि करना अर्थात् संचय करना अपरिग्रही साधु को नहीं कल्पता, क्योंकि संचय परिग्रह है और यह अपरिग्रह धर्म से विपरीत है। प्रकृत पाठ में प्रतिपादित किया गया है कि भले ही संचय के लिए न हो, तत्काल उपयोग के लिए हो, तथापि सूत्र में उल्लिखित दोषों में से किसी भी दोष से दूषित हो तो भी वह आहार, मुनि के लिए ग्राह्य नहीं है। इन दोषों का अर्थ इस प्रकार है—

उद्दिष्ट— सामान्यतः किसी भी साधु के लिए बनाया गया।

स्थापित— साधु के लिए रख छोड़ा गया।

रचित— साधु के निमित्त मोदक आदि को तपा कर पुनःमोदक आदि के रूप में तैयार किया गया।

पर्यवजात—साधु को उद्देश्य करके एक अवस्था से दूसरी अवस्था में बदला हुआ।

प्रकीर्ण— धरती पर गिराते या टपकाते हुए दिया जाने वाला आहार।

प्रादुष्करण—अन्धेरे में रक्खे आहार को प्रकाश करके देना।

प्रामित्य— साधु के निमित्त उधार लिया गया आहार।

मिश्रजात—साधु और गृहस्थ या अपने लिए सम्मिलित बनाया हुआ आहार।

क्रीतकृत— साधु के लिए खरीद कर बनाया गया।

प्राभृत—साधु के निमित्त अग्नि में ईंधन डालकर उसे प्रज्वलित करके अथवा ईंधन निकाल कर अग्नि मन्द करके दिया गया आहार।

दानार्थ— दान के लिए बनाया गया।

पुण्यार्थ— पुण्य के लिए बनाया गया।

श्रमणार्थ— श्रमण पांच प्रकार के माने गए हैं— (१) निर्ग्रन्थ (२) शाक्य—बौद्धमतानुयायी (३) तापस— तपस्या की विशेषता वाले (४) गेरुक— गेरुआ वस्त्र धारण करने वाले और (५) आजीविक—गोशालक के अनुयायी। इन श्रमणों के लिए बनाया गया आहार श्रमणार्थ कहलाता है।

वनीपकार्थ— भिखारियों के अर्थ बनाया गया। टीकाकार ने वनीपक का पर्यायवाची शब्द 'तर्कुक' लिखा है।

पश्चात्कर्म— दान के पश्चात् वर्त्तन धोना आदि सावद्य क्रिया वाला आहार।

पुरःकर्म— दान से पूर्व हाथ धोना आदि सावद्य कर्म वाला आहार।

नित्यकर्म— सदाव्रत की तरह जहाँ सदैव साधुओं को आहार दिया जाता हो अथवा प्रतिदिन एक घर से लिया जाने वाला आहार।

म्रक्षित— सचित्त जल आदि से लिप्त हाथ अथवा पात्र से दिया जाने वाला आहार।

अतिरिक्त— प्रमाण से अधिक।

मौखर्य— वाचालता— अधिक बोलकर प्राप्त किया जाने वाला।

स्वयंग्राह— स्वयं अपने हाथ से लिया जाने वाला।

आहृत— अपने गाँव या घर से साधु के समक्ष लाया गया।

मृत्तिकालिप्त—मिट्टी आदि से लिप्त।

आच्छेद्य—निर्बल से छीन कर दिया जाने वाला।

अनिसृष्ट—अनेकों के स्वामित्व की वस्तु उन सब की अनुमति के विना दी जाए ।

उल्लिखित आहार सम्बन्धी दोपों में से अनेक दोप उद्गम-उत्पादना संबंधी दोपों में गर्भित हैं । तथापि अधिक स्पष्टता के लिए यहाँ उनका भी निर्देश कर दिया गया है । पूर्वोक्त दोपों में से किसी भी दोप से युक्त आहार सुविहित साधुओं के लिए कल्पनीय नहीं होता ।

कल्पनीय भिक्षा—

१५९—अह केरिसयं पुणाइ कप्पइ ? जं तं एक्कारस-पिंडवायसुद्धं किणण-हणण-पयण-कय-कारियाणुमोयण-णवकोडीहिं सुपरिसुद्धं, दसहि य दोसेहिं विप्पमुक्कं उग्गम-उप्पायणेसणाए सुद्धं, ववगय-चुयचवियचत्त-देहं च फासुयं ववगय-संजोग-मणिगालं विगयधूमं छट्ठाण-णिमित्तं छक्काय-परिरक्खणट्ठा हणिं हणिं फासुएण भिक्खेणं वट्टियव्वं ।

१५९—प्रश्न—तो फिर किस प्रकार का आहार साधु के लिए ग्रहण करने योग्य है ?

उत्तर—जो आहारादि एकादश पिण्डपात से शुद्ध हो, अर्थात् आचारांगसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पिण्डैपणा नामक प्रथम अध्ययन के ग्यारह उद्देशकों में प्ररूपित दोपों से रहित हो, जो खरीदना, हनन करना—हिंसा करना और पकाना, इन तीन क्रियाओं से कृत, कारित और अनुमोदन से निष्पन्न नौ कोटियों से पूर्ण रूप से शुद्ध हो, जो एपणा के दस दोपों से रहित हो, जो उद्गम और उत्पादना रूपएपणा अर्थात् गवेपणा और ग्रहणैपणा रूप एपणादोष से रहित हो, जो सामान्य रूप से निर्जीव हुए, जीवन से च्युत हो गया हो, आयुक्षय के कारण जीवनक्रियाओं से रहित हो, शरीरोपचय से रहित हो, अतएव जो प्रासुक—अचेतन हो चुका हो, जो आहार संयोग और अंगार नामक मण्डल-दोप से रहित हो, जो आहार की प्रशंसारूप धूम-दोप से रहित हो, जो छह कारणों में से किसी कारण से ग्रहण किया गया हो और छह कायों की रक्षा के लिए स्वीकृत किया गया हो, ऐसे प्रासुक आहारादि से प्रतिदिन—सदा निर्वाह करना चाहिए ।

विवेचन—पूर्व में वतलाया गया था कि किन-किन दोप वाली भिक्षा साधु के लिए ग्राह्य नहीं है । यह वक्तव्य भिक्षा सम्बन्धी निपेधपक्ष को मुख्यतया प्रतिपादित करता है । किन्तु जव तक निपेध के साथ विधिपक्ष को प्रदर्शित न किया जाए तव तक सामान्य साधक के लिए स्पष्ट मार्गदर्शन नहीं होता । अतएव यहाँ भिक्षा के विधिपक्ष का निरूपण किया गया है । यह निरूपण प्रश्न और उत्तर के रूप में है ।

प्रश्न किया गया है कि यदि साधुओं को अमुक-अमुक दोप वाली भिक्षा ग्रहण नहीं करनी चाहिए तो कैसी भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए ?

उत्तर है—आचारांगसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पिण्डैपणा नामक अध्ययन के ग्यारह उद्देशकों में कथित समस्त दोपों से रहित भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए । इन उद्देशकों में आहार सम्वन्धी समस्त दोपों का कथन समाविष्ट हो जाता है । इस शास्त्र में भी उनका निरूपण किया जा चुका है । अतएव यहाँ पुनः उल्लेख करना अनावश्यक है ।

नवकोटिविशुद्ध आहार—साधु के निमित्त खरीदी गई, खरीदवाई गई और खरीद के लिए

अनुमोदित की गई, इसी प्रकार हिंसा करने, कराने और अनुमोदन करने से तैयार की गई, और पकाना, पकवाना तथा पकाने की अनुमोदना करने से निष्पन्न हुई भिक्षा अग्राह्य है। इनसे रहित भिक्षा ग्राह्य है।

एषणा एवं मंडल सम्बन्धी दोषों का वर्णन पहले किया जा चुका है।

आहारग्रहण के छह निमित्त—साधु शरीरपोषण अथवा रसनेन्द्रिय के आनन्द के अर्थ आहार ग्रहण नहीं करते। शास्त्र में छह कारणों में से कोई एक या अनेक कारण उपस्थित होने पर आहार ग्रहण करने का विधान किया गया है, जो इस प्रकार हैं—

वेयण-वेयावच्चे ईरियट्ठाए य संजमट्ठाए।
तह पाणवत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचिंताए॥

अर्थात्—(१) क्षुधावेदनीय कर्म की उपशान्ति के लिए (२) वैयावृत्य (आचार्यादि गुरुजनों की सेवा) का सामर्थ्य बना रहे, इस प्रयोजन के लिए (३) ईर्यासमिति का सम्यक् प्रकार से पालन करने के लिए (४) संयम का पालन करने के लिए (५) प्राणरक्षा—जीवननिर्वाह के लिए और (६) धर्मचिन्तन के लिए (आहार करना चाहिए)।

छह काय—पृथ्वीकाय आदि पाँच स्थावर और द्वीन्द्रियादि त्रस, ये छह काय हैं। समस्त संसारवर्त्ती जीव इन छह भेदों में गर्भित हो जाते हैं। अतएव षट्काय की रक्षा का अर्थ है—समस्त सांसारिक जीवों की रक्षा। इन की रक्षा के लिए और रक्षा करते हुए आहार कल्पनीय होता है।

१६०—जं पि य समणस्स सुविहियस्स उ रोगायंके बहुप्पकारंमि समुप्पण्णे वायाहिक-पित्त-सिंभ-अइरित्तकुविय-तहसण्णिवायजाए व उदयपत्ते उज्जल-बल-विउल (तिउल) कक्खडपगाढदुक्खे असुभकडुयफरुसे चंडफलविवागे महब्भये जीवियंतकरणे सव्वसरीरपरितावणकरे ण कप्पइ तारिसे वि तह अप्पणो परस्स वा ओसहभेसज्जं भत्तपाणं च तं पि सण्णिहिकयं।

१६०—सुविहित—आगमानुकूल चारित्र का परिपालन करने वाले साधु को यदि अनेक प्रकार के ज्वर आदि रोग और आतंक—जीवन को संकट या कठिनाई में डालने वाली व्याधि उत्पन्न हो जाए, वात, पित्त या कफ का अतिशय प्रकोप हो जाए, अथवा सन्निपात—उक्त दो या तीनों दोषों का एक साथ प्रकोप हो जाए और इसके कारण उज्ज्वल अर्थात् सुख के लेशमात्र से रहित, प्रबल, विपुल—दीर्घकाल तक भोगने योग्य (या त्रितुल—तीनों योगों को तोलने वाले—कष्टमय बना देने वाले), कर्कश—अनिष्ट एवं प्रगाढ़ अर्थात् अत्यन्त तीव्र दुःख उत्पन्न हो जाए और वह दुःख अशुभ या कटुक द्रव्य के समान असुख—अनिष्ट रूप हो, परुष—कठोर हो, दुःखमय दारुण फल वाला हो, महान् भय उत्पन्न करने वाला हो, जीवन का अन्त करने वाला और समग्र शरीर में परिताप उत्पन्न करने वाला हो, तो ऐसा दुःख उत्पन्न होने की स्थिति में भी स्वयं अपने लिए अथवा दूसरे साधु के लिए औषध, भैषज्य, आहार तथा पानी का संचय करके रखना नहीं कल्पता है।

विवेचन—पूर्ववर्त्ती पाठ में सामान्य अवस्था में लोलुपता आदि के कारण आहारादि के संचय करने का निषेध किया गया था और प्रस्तुत पाठ में रोगादि की अवस्था में भी सन्निधि करने का निषेध किया गया है। यहाँ रोग के अनेक विशेषणों द्वारा उसकी तीव्रतमता प्रदर्शित की गई है। कहा

गया है कि रोग अथवा आतंक इतना उग्र हो कि लेशमात्र भी चैन न लेने दे, बहुत बलशाली हो, थोड़े समय के लिए नहीं वरन् दीर्घ काल पर्यन्त भोगने योग्य हो, अतीव कर्कश हो, तन और मन को भीषण व्यथा पहुँचाने वाला हो, यहाँ तक कि जीवन का अन्त करने वाला भी क्यों न हो, तथापि साधु को ऐसी घोरतर अवस्था में आहार-पानी और औषध-भैषज्य का कदापि संग्रह नहीं करना चाहिए। संग्रह परिग्रह है और अपरिग्रही साधु के जीवन में संग्रह को कोई स्थान नहीं है।

साधु के उपकरण—

१६१—जं पि य समणस्स सुविहियस्स उ पडिग्गहधारिस्स भवइ भायण-भंडोवहिउवगरणं पडिग्गहो पायबंधणं पायकेसरिया पायठवणं च पडलाइं तिण्णेव, रयत्ताणं च गोच्छओ, तिण्णेव य पच्छागा, रयहरण-चोलपट्टग-मुहणंतगमाईयं। एयं पि य संजमस्स उववूहणट्ठयाए वायायव-दंस-मसग-सीय-परिरक्खणट्ठयाए उवगरणं रागदोसरहियं परिहरियव्वं, संजएण णिच्चं पडिलेहण-पप्फोडण-पमज्जणाए अहो य राओ य अप्पमत्तेण होइ सययं णिक्खिवियव्वं च गिण्हियव्वं च भायण-भंडोवहि-उवगरणं।

१६१—पात्रधारी सुविहित साधु के पास जो भी पात्र, मृत्तिका के भांड, उपधि और उपकरण होते हैं, जैसे—पात्र, पात्रबन्धन, पात्रकेसरिका, पात्रस्थापनिका, पटल, रजस्त्राण, गोच्छक, तीन प्रच्छाद, रजोहरण, चोलपट्टक, मुखानन्तक—मुखवस्त्रिका, ये सब भी संयम की वृद्धि के लिए होते हैं तथा वात—प्रतिकूल वायु, ताप, धूप, डांस-मच्छर और शीत से रक्षण—बचाव के लिए हैं। इन सब उपकरणों को राग और द्वेष से रहित होकर साधु को धारण करने चाहिए अर्थात् रखना चाहिए। सदा इनका प्रतिलेखन—देखना, प्रस्फोटन—झाड़ना और प्रमार्जन—पोंछना चाहिए। दिन में और रात्रि में सतत—निरन्तर अप्रमत्त रह कर भाजन, भाण्ड, उपधि और उपकरणों को रखना और ग्रहण करना चाहिए।

विवेचन—प्रकृत पाठ में 'पडिग्गहधारिस्स' इस विशेषण पद से यह सूचित किया गया है कि विशिष्ट जिनकल्पी साधु के नहीं किन्तु पात्रधारी स्थविरकल्पी साधु के उपकरणों का यहाँ उल्लेख किया गया है। ये उपकरण संयम की वृद्धि और प्रतिकूल परिस्थितियों में से शरीर की रक्षा के लिए ही ग्रहण किए जाते हैं, यह भी इस पाठ से स्पष्ट है। इनका अर्थ इस प्रकार है—

पतद्ग्रह—पात्र—आहारादि के लिए काष्ठ, मृत्तिका या तूम्बे के पात्र।
पात्रबन्धन—पात्रों को बाँधने का वस्त्र।
पात्रकेसरिका—पोंछने का वस्त्रखण्ड।
पात्रस्थापन—जिस पर पात्र रक्खे जाएँ।
पटल—पात्र ढँकने के लिए तीन वस्त्र।
रजस्त्राण—पात्रों को लपेटने का वस्त्र।
गोच्छक—पात्रादि के प्रमार्जन के लिए पूंजनी।
प्रच्छाद—ओढने के वस्त्र (तीन)।
रजोहरण—ओघा।

चोलपट्टक—कमर में पहनने का वस्त्र ।

मुखानन्तक—मुखवस्त्रिका ।

ये उपकरण संयम-निर्वाह के अर्थ ही साधु ग्रहण करते और उपयोग में लाते हैं, ममत्व से प्रेरित होकर नहीं, अतएव ये परिग्रह में सम्मिलित नहीं हैं । आगम में उल्लेख है—

जंपि वत्थं व पायं वा, कंवलं पायपुंछणं ।
तंपि संजम-लज्जट्ठा, धारंति परिहरंति य ।।
न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इअ वुत्तं महेसिणा ।।

तात्पर्य यह है कि मुनि जो भी वस्त्र, पात्र, कम्वल, पादप्रोञ्छन आदि उपकरण ग्रहण करते हैं, वे मात्र संयम एवं लज्जा के लिए ही ग्रहण करते हैं और उनका परिभोग करते हैं । भगवान् महावीर ने उन उपकरणों को परिग्रह नहीं कहा है । क्योंकि परिग्रह तो मूर्च्छा-ममता है । महर्षि प्रभु महावीर का यह कथन है ।

इस आगम-कथन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि गृहीत उपकरणों के प्रति यदि ममत्वभाव उत्पन्न हो जाए तो वही उपकरण परिग्रह वन जाते हैं । इस भाव को प्रकट करने के लिए प्रस्तुत पाठ में भी **रागदोसरहियं परिहरितव्वं** अर्थात् राग और द्वेष से रहित होकर उपयोग करना चाहिए, यह उल्लेख कर दिया गया है ।

निर्ग्रन्थों का आन्तरिक स्वरूप—

१६२—एवं से संजए विमुत्ते निस्संगे णिप्परिग्गहरुई णिम्ममे णिण्णेहवंधणे सव्वपावविरए वासीचंदणसमाणकप्पे समतिणमणिमुत्तालेट्ठुकंचणे समे य माणावमाणणाए समियरए समियरागदोसे समिए समिइसु सम्मदिट्ठी समे य जे सव्वपाणभूएसु से हु समणे, सुयधारए उज्जुए संजए सुसाहू, सरणं सव्वभूयाणं सव्वजगवच्छले सच्चभासए य संसारंतट्ठिए य संसारसमुच्छिण्णे सययं मरणाणुपारए, पारगे य सव्वेसिं संसयाणं पवयणमायाहिं अट्ठहिं अट्ठकम्म-गंठी-विमोयगे, अट्ठमय-महणे ससमयकुसले य भवइ सुहदुहणिव्विसेसे अब्भितरबाहिरम्मि सया तवोवहाणम्मि सुट्ठुज्जुए खंते दंते य हियणिरए ईरिया-समिए भासासमिए एसणासमिए आयाण-भंड-मत्त-णिक्खेवणा-समिए उच्चार-पासवण-खेल-सिंघाण-जल्ल-परिट्ठावणियासमिए मणगुत्ते वयगुत्ते कायगुत्ते गुत्तिंदिए गुत्तबंभयारी चाई लज्जू धण्णे तवस्सी खंतिखमे जिइंदिए सोहिए अणियाणे अवहिल्लेस्से अममे अकिंचणे छिण्णगंथे निरुवलेवे ।

१६२—इस प्रकार के आचार का परिपालन करने के कारण वह साधु संयमवान्, विमुक्त—धन-धान्यादि का त्यागी, निःसंग—आसक्ति से रहित, निष्परिग्रहरुचि—अपरिग्रह में रुचि वाला, निर्मम—ममता से रहित, निःस्नेहवन्धन—स्नेह के वन्धन से मुक्त, सर्वपापविरत—समस्त पापों से निवृत्त, वासी-चन्दनकल्प अर्थात् उपकारक और अपकारक के प्रति समान भावना वाला, तृण, मणि, मुक्ता और मिट्टी के ढेले को समान मानने वाला अर्थात् अल्पमूल्य या वहुमूल्य पदार्थों की समान रूप से उपेक्षा करने वाला, सन्मान और अपमान में समता का धारक, शमितरज—पाप रूपी रज को

उपशान्त करने वाला या शमितरत—विषय सम्बन्धी रति को उपशान्त करने वाला अथवा शमितरय—उत्सुकता को शान्त कर देने वाला, राग-द्वेष को शान्त करने वाला, ईर्या आदि पाँच समितियों से युक्त, सम्यग्दृष्टि और समस्त प्राणों—द्वीन्द्रियादि त्रस प्राणियों और भूतों—एकेन्द्रिय स्थावरों पर समभाव धारण करने वाला होता है। वही वास्तव में साधु है।

वह साधु श्रुत का धारक, ऋजु—निष्कपट—सरल अथवा उद्युक्त—प्रमादहीन और संयमी है। वह साधु समस्त प्राणियों के लिए शरणभूत होता है, समस्त जगद्वर्त्ती जीवों का वत्सल—हितैषी होता है। वह सत्यभाषी, संसार—जन्म-मरण के अन्त में स्थित, संसार-भवपरम्परा का उच्छेद—अन्त करने वाला, सदा के लिए (बाल) मरण आदि का पारगामी और सब संशयों का पारगामी—छेत्ता होता है। पाँच समिति और तीन गुप्ति रूप आठ प्रवचनमाताओं के द्वारा आठ कर्मों की ग्रन्थि को खोलने वाला—अष्ट कर्मों को नष्ट करने वाला, जातिमद, कुलमद आदि आठ मदों का मथन करने वाला एवं स्वसमय—स्वकीय सिद्धान्त में निष्णात होता है। वह सुख-दुःख में विशेषता रहित अर्थात् सुख में हर्ष और दुःख में शोक से अतीत होता है—दोनों अवस्थाओं में समान रहता है। आभ्यन्तर और बाह्य तप रूप उपधान में सम्यक् प्रकार से उद्यत रहता है, क्षमावान्, इन्द्रियविजेता, स्वकीय और परकीय हित में निरत, ईर्यासमिति से सम्पन्न, भाषासमिति से सम्पन्न, एषणासमिति से सम्पन्न, आदान-भाण्ड-मात्र-निक्षपणसमिति से सम्पन्न और मल-मूत्र-श्लेष्म-संधान—नासिकामल-जल्ल—शरीरमल आदि के प्रतिष्ठापन की समिति से युक्त, मनोगुप्ति से, वचनगुप्ति से और कायगुप्ति से युक्त, विषयों की ओर उन्मुख इन्द्रियों का गोपन करने वाला, ब्रह्मचर्य की गुप्ति से युक्त, समस्त प्रकार के संग का त्यागी, रज्जु के समान सरल, तपस्वी, क्षमागुण के कारण सहनशील, जितेन्द्रिय, सद्गुणों से शोभित या शोधित, निदान से रहित, चित्तवृत्ति को संयम की परिधि से बाहर न जाने देने वाला, ममत्व से विहीन, अकिंचन—सम्पूर्ण रूप से निर्द्रव्य, स्नेहबन्धन को काटने वाला और कर्म के उपलेप से रहित होता है।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ में साधु के आन्तरिक जीवन का अत्यन्त सुन्दर एवं भव्य चित्र अंकित किया गया है। साधु के समग्र आचार को यहाँ सार के रूप में समाविष्ट कर दिया गया है। पाठ में पदों का अर्थ प्रायः सुगम है। कुछ विशिष्ट पदों का तात्पर्य इस प्रकार है—

खंतिखमे—साधु अनिष्ट प्रसंगों को, वध-बन्धन आदि उपसर्गों या परीषहों को सहन करता है, किन्तु असमर्थता अथवा विवशता के कारण नहीं। उसमें क्षमा की वृत्ति इतनी प्रबल होती है अर्थात् ऐसी सहनशीलता होती है कि वह प्रतीकार करने में पूर्णरूपेण समर्थ होकर भी अनिष्ट प्रसंगों को विशिष्ट कर्मनिर्जरा के हेतु सह लेता है।

आभ्यन्तर-बाह्य तप उपधान—टीकाकार अभयदेवसूरि के अनुसार आन्तरिक शरीर अर्थात् कार्मणशरीर को सन्तप्त—विनष्ट करने वाला प्रायश्चित्त आदि षड्विध तप आभ्यन्तर तप कहलाता है और बाह्य शरीर अर्थात् औदारिक शरीर को तपाने वाला अनशन आदि छह प्रकार का तप बाह्य तप कहलाता है।

'छिन्नगंथे' के स्थान पर टीकाकार ने **'छिन्नसोए'** पाठान्तर का उल्लेख किया है। इसका अर्थ **छिन्नशोक** अर्थात् शोक को छेदन कर देने वाला—किसी भी स्थिति में शोक का अनुभव न करने

वाला अथवा छिन्नश्रोत अर्थात् स्रोतों को स्थगित कर देने वाला है। श्रोत दो प्रकार के हैं—द्रव्यश्रोत और भावश्रोत। नदी आदि का प्रवाह द्रव्यश्रोत है और संसार-समुद्र में गिराने वाला अशुभ लोक-व्यवहार भावश्रोत है।

निरुपलेप—का आशय है—कर्म-लेप से रहित। किन्तु मुनि कर्मलेप से रहित नहीं होते। सिद्ध भगवान् ही कर्म-लेप से रहित होते हैं। ऐसी स्थिति में यहाँ मुनि के लिए 'निरुपलेप' विशेषण का प्रयोग किस अभिप्राय से किया गया है? इस प्रश्न का उत्तर टीका में दिया गया है—'भाविनि भूतवदुपचारमाश्रित्योच्यते' अर्थात् ऐसा साधक भविष्य में कर्मलेप से रहित होगा ही, अतएव भावी अर्थ में भूतकाल का उपचार करके इस विशेषण का प्रयोग किया गया है।

निर्ग्रन्थों की ३१ उपमाएँ—

१६३—सुविमलवरकंसभायणं व मुक्कतोए।
संखे विव णिरंजणे, विगयरागदोसमोहे।
कुम्मो विव इंदिएसु गुत्ते।
जच्चकंचणगं व जायरूवे।
पोक्खरपत्तं व णिरुवलेवे।
चंदो विव सोमभावयाए।
सूरो व्व दित्ततेए।
अचले जह मंदरे गिरिवरे।
अक्खोभे सागरो व्व थिमिए।
पुढवी व्व सव्वफाससहे।
तवसा च्चिय भासरासि-छण्णिव्व जायतेए।
जलियहुयासणे विव तेयसा जलंते।
गोसीसं चंदणं विव सीयले सुगंधे य।
हरयो विव समियभावे।
उग्घसियसुणिम्मलं व आयंसमंडलतलं पागडभावेण सुद्धभावे।
सोंडीरे कुंजरोव्व।
वसभेव्व जायथामे।
सीहेव्व जहा मियाहिवे होइ दुप्पधरिसे।
सारयसलिलं व सुद्धहियए।
भारंडे चेव अप्पमत्ते।
खग्गिविसाणं व एगजाए।
खाणुं चेव उड्ढकाए।

सुण्णागारेव्व अपडिकम्मे ।
सुण्णागारावणस्संतो णिवायसरणप्पदीवज्झाणमिव णिप्पकंपे ।
जहा खुरो चेव एगधारे ।
जहा अही चेव एगदिट्ठी ।
आगासं चेव णिरालंबे ।
विहगे विव सव्वओ विप्पमुक्के ।
कयपरणिलए जहा चेव उरए ।
अप्पडिबद्धे अणिलोव्व ।
जीवो व्व अपडिहयगई ।

१६३—मुनि आगे कही जाने वाली उपमाओं से मण्डित होता है—

(१) कांसे का अत्यन्त निर्मल उत्तम पात्र जैसे जल के सम्पर्क से मुक्त रहता है, वैसे ही साधु रागादि के बन्ध से मुक्त होता है।

(२) शंख के समान निरंजन अर्थात् रागादि के कालुष्य से रहित, अतएव राग, द्वेष और मोह से रहित होता है।

(३) कूर्म—कच्छप की तरह इन्द्रियों का गोपन करने वाला।
(४) उत्तम शुद्ध स्वर्ण के समान शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त।
(५) कमल के पत्ते के सदृश निर्लेप।
(६) सौम्य—शीतल स्वभाव के कारण चन्द्रमा के समान।
(७) सूर्य के समान तपस्तेज से देदीप्यमान।
(८) गिरिवर मेरु के समान अचल—परीषह आदि में अडिग।
(९) सागर के समान क्षोभरहित एवं स्थिर।
(१०) पृथ्वी के समान समस्त अनुकूल एवं प्रतिकूल स्पर्शों को सहन करने वाला।
(११) तपश्चर्या के तेज से अन्तरंग में ऐसा दीप्त जैसे भस्मराशि से आच्छादित अग्नि हो।
(१२) प्रज्वलित अग्नि के सदृश तेजस्विता से देदीप्यमान।
(१३) गोशीर्ष चन्दन की तरह शीतल और अपने शील के सौरभ से युक्त।
(१४) ह्रद—(पवन के न होने पर) सरोवर के समान प्रशान्तभाव वाला।

(१५) अच्छी तरह घिस कर चमकाए हुए निर्मल दर्पणतल के समान स्वच्छ, प्रकट रूप से मायारहित होने के कारण अतीव निर्मल जीवन वाला—शुद्ध भाव वाला।

(१६) कर्म-शत्रुओं को पराजित करने में गजराज की तरह शूरवीर।
(१७) वृषभ की तरह अंगीकृत व्रत-भार का निर्वाह करने वाला।
(१८) मृगाधिपति सिंह के समान परीषहादि से अजेय।
(१९) शरत्कालीन जल के सदृश स्वच्छ हृदय वाला।
(२०) भारण्ड पक्षी के समान अप्रमत्त—सदा सजग।
(२१) गेंडे के सींग के समान अकेला—अन्य की सहायता की अपेक्षा न रखने वाला।

(२२) स्थाणु (ठूँठ) की भाँति ऊर्ध्वकाय—कायोत्सर्ग में स्थित।

(२३) शून्यगृह के समान अप्रतिकर्म, अर्थात् जैसे सुनसान पड़े घर को कोई सजाता-संवारता नहीं, उसी प्रकार शरीर की साज-सज्जा से रहित।

(२४) वायुरहित घर में स्थित प्रदीप की तरह विविध उपसर्ग होने पर भी शुभ ध्यान में निश्चल रहने वाला।

(२५) छुरे की तरह एक धार वाला, अर्थात् एक उत्सर्गमार्ग में ही प्रवृत्ति करने वाला।

(२६) सर्प के समान एकदृष्टि वाला, अर्थात् सर्प जैसे अपने लक्ष्य पर ही नजर रखता है, उसी प्रकार मोक्षसाधना की ओर ही एकमात्र दृष्टि रखने वाला।

(२७) आकाश के समान किसी का सहारा न लेनेवाला—स्वावलम्वी।

(२८) पक्षी के सदृश विप्रमुक्त—पूर्ण निष्परिग्रह।

(२९) सर्प के समान दूसरों के लिए निर्मित स्थान में रहने वाला।

(३०) वायु के समान अप्रतिबद्ध—द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के प्रतिवन्ध से मुक्त।

(३१) देहविहीन जीव के समान वेरोकटोक (अप्रतिहत) गति वाला—स्वेच्छापूर्वक यत्र-तत्र विचरण करने वाला।

विवेचन—इन उपमाओं के द्वारा भी साधुजीवन की विशिष्टता, उज्ज्वलता, संयम के प्रति निश्चलता, स्वावलम्विता, अप्रमत्तता, स्थिरता, लक्ष्य के प्रति निरन्तर सजगता, आन्तरिक शुचिता, देह के प्रति अनासक्तता, संयमनिर्वाह संवंधी क्षमता आदि का प्रतिपादन किया गया है। इन उपमाओं द्वारा फलित आशय स्पष्ट है। आगे भी मुनिजीवन की विशेपताओं का उल्लेख किया जा रहा है।

पूर्व में प्रतिपादित किया गया कि साधु अप्रतिवद्धविहारी होता है। विहार के विपय में वह किसी बन्धन से वँधा नहीं होता। अतएव यहाँ उसके विहार के सम्वन्ध में स्पष्ट उल्लेख करते हुए कतिपय अन्य गुणों पर प्रकाश डाला जा रहा है—

१६४—गामे गामे एगरायं णयरे णयरे य पंचरायं दूइज्जंते य जिइंदिए जियपरीसहे णिब्भओ विऊ सच्चित्ता-चित्त-मीसगेहिं दव्वेहिं विरायं गए, संचयाओ विरए, मुत्ते, लहुए, णिरवकंखे, जीविय-मरणासविप्पमुक्के णिस्संधि णिव्वणं चरित्तं धीरे काएण फासयंते सययं अज्झप्पज्झाणजुत्ते, णिहुए, एगे चरेज्ज धम्मं।

इमं च परिग्गहवेरमण-परिरक्खणट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं अत्तहियं पेच्चाभावियं आगमेसिभद्दं सुद्धं णेयाउयं अकुडिलं अणुत्तरं सव्वदुक्खपावाणं विउवसमणं।

१६४—(मुनि) प्रत्येक ग्राम में एक रात्रि और प्रत्येक नगर में पाँच रात्रि तक विचरता—रहता है, क्योंकि वह जितेन्द्रिय होता है, परीषहों को जीतने वाला, निर्भय, विद्वान्—गीतार्थ, सचित्त-सजीव, अचित्त—निर्जीव और मिश्र—आभूषणयुक्त दास आदि मिश्रित द्रव्यों में वैराग्ययुक्त होता है, वस्तुओं का संचय करने से विरत होता है, मुक्त—निर्लोभवृत्ति वाला, लघु अर्थात् तीनों प्रकार के गौरव से रहित और परिग्रह के भार से रहित होता है। जीवन और मरण की आशा—आकांक्षा से

सर्वथा मुक्त रहता है, चारित्र-परिणाम के विच्छेद से रहित होता है, अर्थात् उसका चारित्र-परिणाम निरन्तर विद्यमान रहता है, कभी भग्न नहीं होता। वह निरतिचार—निर्दोष चारित्र का धैर्यपूर्वक शारीरिक क्रिया द्वारा पालन करता है। ऐसा मुनि सदा अध्यात्मध्यान में निरत, उपशान्त भाव तथा एकाकी—सहायकरहित अथवा रागादि से असंपृक्त होकर धर्म का आचरण करे।

परिग्रहविरमणव्रत के परिरक्षण के हेतु भगवान् ने यह प्रवचन—उपदेश कहा है। यह प्रवचन आत्मा के लिए हितकारी है, आगामी भवों में उत्तम फल देने वाला है और भविष्य में कल्याण करने वाला है। यह शुद्ध, न्याययुक्त, अकुटिल, सर्वोत्कृष्ट और समस्त दुःखों तथा पापों को सर्वथा शान्त करने वाला है।

विवेचन—प्रकृत पाठ स्पष्ट और सुबोध है। केवल एक ही बात का स्पष्टीकरण आवश्यक है। मुनि को ग्राम में एक रात और नगर में पाँच रात तक टिकने का जो कथन यहाँ किया गया है, उसके विषय में टीकाकार ने लिखा है—

'एतच्च भिक्षुप्रतिमाप्रतिपन्नसाध्वपेक्षया सूत्रमवगन्तव्यम्।

—प्र. व्या. आगमोदय. पृ. १५८

इसका आशय यह है कि यह सूत्र अर्थात् विधान उस साधु के लिए जानना चाहिए जिसने भिक्षुप्रतिमा अंगीकार की हो। अर्थात् सब सामान्य साधुओं के लिए यह विधान नहीं है।

अपरिग्रहव्रत की पांच भावनाएँ

प्रथम भावना—श्रोत्रेन्द्रिय-संयम—

१६५—तस्स इमा पंच भावणाओ चरिमस्स वयस्स होंति परिग्गहवेरमण-परिरक्खणट्ठयाए।

पढमं—सोइंदिएणं सोच्चा सद्दाइं मणुण्णभद्दगाइं।

किं ते?

वरमुरय-मुइंग-पणव-दद्दुर-कच्छभि-वीणा-विपंची-वल्लयि- वद्धीसग-सुघोस-णंदि-सूसरपरिवाइणी-वंस-तूणग-पव्वग-तंती-तल-ताल-तुडिय-णिग्घोसगीय-वाइयाइं। णड-णट्टग-जल्ल-मल्ल-मुट्ठिग-वेलंबग-कहग-पवग-लासग-आइक्खग-लंख-मंख-तूणइल्ल-तुंववीणिय-तालायर-पकरणाणि य, बहूणि महुरसरगीय-सुस्सराइं कंची-मेहला-कलाव-पतरग-पहेरग-पायजालग-घंटिय-खिखिणि-रयणोरुजालिय-छुद्दिय-णेउर-चलण-मालिय-कणग-णियल-जालग-भूसण-सद्दाणि, लीलचंकम्ममाणाणुदीरियाइं तरुणीजणहसिय-भणिय-कलरिभिय-मंजुलाइं गुणवयणाणि व बहूणि महुरजण-भासियाइं अण्णेसु य एवमाइएसु सद्देसु मणुण्णभद्दएसु ण तेसु समणेण सज्जियव्वं, ण रज्जियव्वं ण गिज्झियव्वं, ण मुज्झियव्वं, ण विणिग्घायं आवज्जियव्वं, ण लुभियव्वं, ण तुसियव्वं, ण हसियव्वं, ण सइं च मइं च तत्थ कुज्जा।

पुणरवि सोइंदिएण सोच्चा सद्दाइं अमणुण्णपावगाइं—

किं ते?

अक्कोस-फरुस-खिंसण-अवमाणण- तज्जण-णिब्भंछण-दित्तवयण- तासण-उक्कूजिय- रुण्ण-रडिय-

कंदिय-णिग्घुट्ठरसिय-कलुण-विलवियाइं अण्णेसु य एवमाइएसु सद्देसु अमणुण्ण-पावएसु ण तेसु समणेण रूसियव्वं, ण हीलियव्वं, ण णिंदियव्वं, ण खिंसियव्वं, ण छिंदियव्वं, ण भिंदियव्वं, ण वहेयव्वं, ण दुगुंछावत्तियाए लब्भा उप्पाएउं, एवं सोइंदिय-भावणा-भाविओ भवइ अंतरप्पा मणुण्णाऽमणुण्ण-सुब्भिदुब्भि-राग दोसप्पणिहियप्पा साहू मणवयणकायगुत्ते संवुडे पणिहिइंदिए चरेज्ज धम्मं ।

१६५—परिग्रहविरमणव्रत अथवा अपरिग्रहसंवर की रक्षा के लिए अन्तिम व्रत अर्थात् अपरिग्रहमहाव्रत की पाँच भावनाएँ हैं । उनमें से प्रथम भावना (श्रोत्रेन्द्रियसंयम) इस प्रकार है—

श्रोत्रेन्द्रिय से, मन के अनुकूल होने के कारण भद्र—सुहावने प्रतीत होने वाले शब्दों को सुन कर (साधु को राग नहीं करना चाहिए)।

(प्रश्न—) वे शब्द कौन-से, किस प्रकार के हैं ?

(उत्तर—) उत्तम मुरज—महामर्दल, मृदंग, पणव—छोटा पटह, दर्दु र—एक प्रकार का वह वाद्य जो चमड़े से मढ़े मुख वाला और कलश जैसा होता है, कच्छभी—वाद्यविशेष, वीणा, विपंची और वल्लकी (विशेष प्रकार की वीणाएँ), वद्दीसक—वाद्यविशेष, सुघोषा नामक एक प्रकार का घंटा, नन्दी—बारह प्रकार के बाजों का निर्घोष, सूसरपरिवादिनी—एक प्रकार की वीणा, वंश—वांसुरी, तूणक एवं पर्वक नामक वाद्य, तंत्री—एक विशेष प्रकार की वीणा, तल—हस्ततल, ताल—कांस्य-ताल, इन सब वाजों के नाद को (सुन कर) तथा नट, नर्तक, जल्ल—वांस या रस्सी के ऊपर खेल दिखलाने वाले, मल्ल, मुष्टिमल्ल, विडम्बक—विदूषक, कथक—कथा कहने वाले, प्लवक—उछलने वाले, रास गाने वाले आदि द्वारा किये जाने वाले नाना प्रकार की मधुर ध्वनि से युक्त सुस्वर गीतों को (सुन कर) तथा करधनी—कंदोरा, मेखला (विशिष्ट प्रकार की करधनी), कलापक—गले का एक आभूषण, प्रतरक और प्रहेरक नामक आभूषण, पादजालक—नूपुर आदि आभरणों के एवं घण्टिका—घुंघरू, खिंखिनी—छोटी घंटियों वाला आभरण, रत्नोरुजालक—रत्नों का जंघा का आभूषण, क्षुद्रिका नामक आभूषण, नेउर—नूपुर, चरंणमालिका तथा कनकनिगड नामक पैरों के आभूषण और जालक नामक आभूषण, इन सब की ध्वनि—आवाज को (सुन कर) तथा लीलापूर्वक चलती हुई स्त्रियों की चाल से उत्पन्न (ध्वनि को) एवं तरुणी रमणियों के हास्य की, बोलों की तथा स्वर-घोलनायुक्त मधुर तथा सुन्दर आवाज को (सुन कर) और स्नेही जनों द्वारा भाषित प्रशंसा-वचनों को एवं इसी प्रकार के मनोज्ञ एवं सुहावने वचनों को (सुन कर) उनमें साधु को आसक्त नहीं होना चाहिए, राग नहीं करना चाहिए, गृद्धि—अप्राप्ति की अवस्था में उनकी प्राप्ति की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए, मुग्ध नहीं होना चाहिए, उनके लिए स्व-पर का परिहनन नहीं करना चाहिए, लुब्ध नहीं होना चाहिए, तुष्ट—प्राप्ति होने पर प्रसन्न नहीं होना चाहिए, हँसना नहीं चाहिए, ऐसे शब्दों का स्मरण और विचार भी नहीं करना चाहिए ।

इसके अतिरिक्त श्रोत्रेन्द्रिय के लिये अमनोज्ञ—मन में अप्रीतिजनक एवं पापक—अभद्र शब्दों को सुनकर रोष (द्वेष) नहीं करना चाहिए ।

(प्र.) वे शब्द—कौन से—किस प्रकार के हैं ?

(उ.) आक्रोश—तू मर जा इत्यादि वचन, परुष—अरे मूर्ख, इत्यादि वचन, खिंसना—

निन्दा, अपमान, तर्जना—भयजनक वचन निर्भर्त्सना—सामने से हट जा, इत्यादि वचन, दीप्त—क्रोधयुक्त वचन, त्रास जनक वचन, उत्कूजित—अस्पष्ट उच्च ध्वनि, रुदनध्वनि, रटित—धाड मार कर रोने, क्रन्दन—वियोगजनित विलाप आदि की ध्वनि, निर्घुष्ट—निर्घोषरूप ध्वनि, रसित—जानवर के समान चीत्कार, करुणाजनक शब्द तथा विलाप के शब्द—इन सब शब्दों में तथा इसी प्रकार के अन्य अमनोज्ञ एवं पापक—अभद्र शब्दों में साधु को रोप नहीं करना चाहिए, उनकी हीलना नहीं करनी चाहिए, निन्दा नहीं करनी चाहिए, जनसमूह के समक्ष उन्हें बुरा नहीं कहना चाहिए, अमनोज्ञ शब्द उत्पन्न करने वाली वस्तु का छेदन नहीं करना चाहिए, भेदन—टुकड़े नहीं करने चाहिए, उसे नष्ट नहीं करना चाहिए। अपने अथवा दूसरे के हृदय में जुगुप्सा उत्पन्न नहीं करनी चाहिए।

इस प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय (संयम) की भावना से भावित अन्तःकरण वाला साधु मनोज्ञ एवं अमनोज्ञरूप शुभ-अशुभ शब्दों में राग-द्वेष के संवर वाला, मन-वचन और काय का गोपन करने वाला, संवरयुक्त एवं गुप्तेन्द्रिय—इन्द्रियों का गोपन-कर्त्ता होकर धर्म का आचरण करे।

द्वितीय भावना—चक्षुरिन्द्रिय-संवर—

१६६—बिइयं—चक्खुइंदिएण पासिय रूवाणि मणुण्णाइं भद्दगाइं, सचित्ताचित्तमीसगाइं कट्ठे पोत्थे य चित्तकम्मे लेप्पकम्मे सेले य दंतकम्मे य पंचहिं वण्णेहिं अणेगसंठाणसंठियाइं, गंठिम-वेढिम-पूरिम-संघाइमाणि य मल्लाइं बहुविहाणि य अहियं णयणमणसुहयराइं, वणसंडे पव्वए य गामागर-णयराणि य खुद्दिय-पुक्खरिणि-वावी-दीहिय-गुंजालिय-सरसरपंतिय-सायर-बिल-पंतिय-खाइय-णई-सर-तलाग-वप्पिणी-फुल्लुप्पल-पउमपरिमंडियाभिरामे अणेगसउणगण-मिहुण-वियरिए वरमंडव-विविह-भवण-तोरण-चेइय-देवकुल-सभा-प्पवा-वसह-सुकयसयणासण-सीय-रह-सयड-जाण-जुग्ग-संदण-णरणारि-गणे य सोमपडिरूव-दरिसणिज्जे अलंकिय-विभूसिए पुव्वकयतवप्पभाव-सोहग्गसंपउत्ते णड-णट्टग-जल्ल-मल्ल-मुट्ठिय-वेलंबग-कहग-पवग-लासग-आइक्खग-लंख-मंख-तूणइल्ल-तुंबवीणिय-तालायर-पकरणाणि य बहूणि सुकरणाणि अण्णेसु य एवमाइएसु रूवेसु मणुण्णभद्दएसु ण तेसु समणेण सज्जियव्वं, ण रज्जियव्वं जाव ण सइं च मइं च तत्थ कुज्जा।

पुणरवि चक्खिदिएण पासिय रूवाइं अमणुण्णपावगाइं—

किं ते ?

गंडि-कोढिक-कुणि-उयरि-कच्छुल्ल-पइल्ल-कुज्ज-पंगुल-वामण-अंधिल्लग-एगचक्खु-विणिहय-सप्पिसल्लग-वाहिरोगपीलियं, विगयाणि मयगकलेवराणि सकिमिणकुहियं च दव्वरासिं, अण्णेसु य एवमाइएसु अमणुण्ण-पावगेसु ण तेसु समणेणं रूसियव्वं जाव ण दुगुंछावत्तिया वि लब्भा उप्पाएउं, एवं चक्खिदियभावणाभाविओ भवइ अंतरप्पा जाव चरेज्ज धम्मं।

द्वितीय भावना चक्षुरिन्द्रिय का संवर है। वह इस प्रकार है—

चक्षुरिन्द्रिय से मनोज्ञ—मन को अनुकूल प्रतीत होने वाले एवं भद्र—सुन्दर सचित्त द्रव्य, अचित्त द्रव्य और मिश्र—सचित्ताचित्त द्रव्य के रूपों को देख कर (राग नहीं करना चाहिए)। वे रूप चाहे काष्ठ

पर हों, वस्त्र पर हों, चित्र-लिखित हों, मिट्टी आदि के लेप से बनाए गए हों, पाषण पर अंकित हों, हाथीदांत आदि पर हों, पाँच वर्ण के और नाना प्रकार के आकार वाले हों, गूंथ कर माला आदि की तरह बनाए गए हों, वेष्टन से, चपड़ी आदि भर कर अथवा संघात से—फूल आदि की तरह एक-दूसरे को मिलाकर बनाए गए हों, अनेक प्रकार की मालाओं के रूप हों और वे नयनों तथा मन को अत्यन्त आनन्द प्रदान करने वाले हों (तथापि उन्हें देख कर राग नहीं उत्पन्न होने देना चाहिए।)

इसी प्रकार वनखण्ड, पर्वत, ग्राम, आकर, नगर तथा विकसित नील कमलों एवं (श्वेतादि) कमलों से सुशोभित और मनोहर तथा जिनमें अनेक हंस, सारस आदि पक्षियों के युगल विचरण कर रहे हों, ऐसे छोटे जलाशय, गोलाकार बावड़ी, चौकोर बावड़ी, दीर्घिका—लम्बी बावड़ी, नहर, सरोवरों की कतार, सागर, बिलपंक्ति, लोहे आदि की खानों में खोदे हुए गड्हों की पंक्ति, खाई, नदी, सर—बिना खोदे प्राकृतिक रूप से बने जलाशय, तडाग—तालाब, पानी की क्यारी (आदि को देख कर) अथवा उत्तम मण्डप, विविध प्रकार के भवन, तोरण, चैत्य—स्मारक, देवालय, सभा—लोगों के बैठने के स्थानविशेष, प्याऊ, आवसथ—परिव्राजकों के आश्रम, सुनिर्मित शयन—पलंग आदि, सिंहासन आदि आसन, शिविका—पालकी, रथ, गाड़ी, यान, युग्य—यानविशेष, स्यन्दन—घुंघरूदार रथ या सांग्रामिक रथ और नर-नारियों का समूह, ये सब वस्तुएँ यदि सौम्य हों, आकर्षक रूप वाली दर्शनीय हों, आभूषणों से अलंकृत और सुन्दर वस्त्रों से विभूषित हों, पूर्व में की हुई तपस्या के प्रभाव से सौभाग्य को प्राप्त हों तो (इन्हें देखकर) तथा नट, नर्तक, जल्ल, मल्ल, मौष्टिक, विदूषक, कथावाचक, प्लवक, रास करने वाले व वार्त्ता कहने वाले, चित्रपट लेकर भिक्षा मांगने वाले, बांस पर खेल करने वाले, तूणइल्ल—तूणा बजाने वाले, तूम्बे की वीणा बजाने वाले एवं तालाचरों के विविध प्रयोग देख कर तथा बहुत से करतबों को देखकर (आसक्त नहीं होना चाहिए)। इस प्रकार के अन्य मनोज्ञ तथा सुहावने रूपों में साधु को आसक्त नहीं होना चाहिए, अनुरक्त नहीं होना चाहिए, यावत् उनका स्मरण और विचार भी नहीं करना चाहिए।

इसके सिवाय चक्षुरिन्द्रिय से अमनोज्ञ और पापकारी रूपों को देखकर (रोष नहीं करना चाहिए)।

(प्र.) वे (अमनोज्ञ रूप) कौन-से हैं ?

(उ.) वात, पित्त, कफ और सन्निपात से होने वाले गंडरोग वाले को, अठारह प्रकार के कुष्ठ रोग वाले को, कुणि—कुंट—टोंटे को, जलोदर के रोगी को, खुजली वाले को, श्लीपद रोग के रोगी को, लंगड़े को, वामन—बौने को, जन्मान्ध को, एकचक्षु (काणे) को, विनिहत चक्षु को—जन्म के पश्चात् जिसकी एक या दोनों आँखें नष्ट हो गई हों, पिशाचग्रस्त को अथवा पीठ से सरक कर चलने वाले को, विशिष्ट चित्तपीड़ा रूप व्याधि या रोग से पीड़ित को (इनमें से किसी को देखकर) तथा विकृत मृतक-कलेवरों को या बिलबिलाते कीड़ों से युक्त सड़ी-गली द्रव्यराशि को देखकर अथवा इनके सिवाय इसी प्रकार के अन्य अमनोज्ञ और पापकारी रूपों को देखकर श्रमण को उन रूपों के प्रति रुष्ट नहीं होना चाहिए, यावत् अवहीलना आदि नहीं करनी चाहिए और मन में जुगुप्सा—घृणा भी नहीं उत्पन्न होने देना चाहिए।

इस प्रकार चक्षुरिन्द्रियसंवर रूप-भावना से भावित अन्तःकरण वाला होकर मुनि यावत् धर्म का आचरण करे।

तीसरी भावना—घ्राणेन्द्रिय-संयम—

१६७—तइयं—घाणिंदिएण अग्घाइय गंधाइं मणुण्णभद्दगाइं—

किं ते ?

जलय-थलय - सरस-पुप्फ-फल - पाणभोयण- कुट्ठ-तगर-पत्त-चोय- दमणग-मरुय-एलारस-पिक्क-मंसि-गोसीस- सरस–चंदण- कप्पूर-लवंग- अगर-कुंकुम- कक्कोल-उसीर-सेयचंदण- सुगंधसारंग-जुत्तिवर-धूववासे उउय-पिंडिम-णिहारिमगंधिएसु अण्णेसु य एवमाइएसु गंधेसु मणुण्णभद्दएसु ण तेसु समणेण सज्जियव्वं जाव ण सइं च मइं च तत्थ कुज्जा।

पुणरवि घाणिंदिएण अग्घाइय गंधाइं अमणुण्णपावगाइं—

किं ते ?

अहिमड-अस्समड- हत्थिमड-गोमड- विग-सुणग-सियाल- मणुय-मज्जार-सीह-दीविय-मयकुहिय-विणट्ठकिविण-बहुदुरभिगंधेसु अण्णेसु य एवमाइएसु गंधेसु अमणुण्ण-पावगेसु ण तेसु समणेण रूसियव्वं जाव पणिहिएंदिए चरेज्ज धम्मं।

१६७—घ्राणेन्द्रिय से मनोज्ञ और सुहावना गंध सूंघ कर (रागादि नही करना चाहिए)।

(प्र०) वे सुगन्ध क्या—कैसे हैं ?

(उ०) जल और स्थल में उत्पन्न होने वाले सरस पुप्प, फल, पान, भोजन, उत्पलकुष्ठ, तगर, तमालपत्र, चोय—सुगंधित त्वचा, दमनक (एक विशेष प्रकार का फूल)— मरुआ, एलारस—इलायची का रस, पका हुआ मांसी नामक सुगंध वाला द्रव्य—जटामासी, सरस गोशीर्ष चन्दन, कपूर, लवंग, अगर, कुंकुम, कक्कोल—गोलाकार सुगंधित फलविशेष, उशीर—खस, श्वेत चन्दन, श्रीखण्ड आदि द्रव्यों के संयोग से बनी श्रेष्ठ धूप की सुगन्ध को सूंघकर (रागभाव नहीं धारण करना चाहिए) तथा भिन्न-भिन्न ऋतुओं में उत्पन्न होने वाले कालोचित सुगन्ध वाले एवं दूर-दूर तक फैलने वाली सुगन्ध से युक्त द्रव्यों में और इसी प्रकार की मनोहर, नासिका को प्रिय लगने वाली सुगन्ध के विषय में मुनि को आसक्त नहीं होना चाहिए, यावत् अनुरागादि नहीं करना चाहिए। उनका स्मरण और विचार भी नहीं करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त घ्राणेन्द्रिय से अमनोज्ञ और असुहावने गंधों को सूंघकर (रोष आदि नहीं करना चाहिए)।

वे दुर्गन्ध कौन-से हैं ?

मरा हुआ सर्प, मृत घोड़ा, मृत हाथी, मृत गाय तथा भेड़िया, कुत्ता, मनुष्य, बिल्ली, शृगाल, सिंह और चीता आदि के मृतक सड़े-गले कलेवरों की, जिसमें कीड़े बिलबिला रहे हों, दूर-दूर तक बदबू फैलाने वाली गन्ध में तथा इसी प्रकार के और भी अमनोज्ञ और असुहावनी दुर्गन्धों के विषय में साधु को रोष नहीं करना चाहिए यावत् इन्द्रियों को वशीभूत करके धर्म का आचरण करना चाहिए।

चतुर्थ भावना—रसनेन्द्रिय-संयम—

१६८—चउत्थं—जिब्भिदिएण साइय रसाणि मणुण्णभद्दगाइं।

किं ते ?

उग्गाहिमविविहपाण-भोयण-गुलकय-खंडकय-तेल्ल-घयकय-भक्खेसु-बहुविहेसु लवणरससंजुत्तेसु महुमंस-बहुप्पगारमज्जिय- णिट्ठाणगदालियंब- सेहंब-दुद्ध- दहि-सरय-मज्ज- वरवारुणी-सीहु-काविसायण-सायट्ठारस-बहुप्पगारेसु भोयणेसु य मणुण्ण-वण्ण-गंध-रस-फास-बहुदव्वसंभिएसु अण्णेसु य एवमाइएसु रसेसु मणुण्णभद्दएसु ण तेसु समणेण सज्जियव्वं जाव ण सइं च मइं च तत्थ कुज्जा।

पुणरवि जिब्भिदिएण साइय रसाइं अमुण्णपावगाइं—

किं ते ?

अरस-विरस-सीय-लुक्ख-णिज्जप्प-पाण-भोयणाइं दोसीण-वावण्ण-कुहिय-पूइय-अमणुण्ण-विणट्ठ-प्पसूय-बहुदुब्भिगंधियाइं तित्त-कडुय-कसाय-अंबिल-रस-लिंडणीरसाइं, अण्णेसु य एवमाइएसु रसेसु अमणुण्ण-पावगेसु ण तेसु समणेण रूसियव्वं जाव चरेज्ज धम्मं।

१६८—रसना-इन्द्रिय से मनोज्ञ एवं सुहावने रसों का आस्वादन करके (उनमें आसक्त नहीं होना चाहिए)।

(प्र.) वे रस क्या-कैसे हैं ?

(उ.) घी—तैल आदि में डुबा कर पकाए हुए खाजा आदि पकवान, विविध प्रकार के पानक—द्राक्षापान आदि, गुड़ या शक्कर के बनाए हुए, तेल अथवा घी से बने हुए मालपूवा आदि वस्तुओं में, जो अनेक प्रकार के नमकीन आदि रसों से युक्त हों, मधु, मांस, बहुत प्रकार की मज्जिका, बहुत व्यय करके बनाया गया, दालिकाम्ल—खट्टी दाल, सैन्धाम्ल—रायता आदि, दूध, दही, सरक, मद्य, उत्तम प्रकार की वारुणी, सीधु तथा पिशायन नामक मदिराएँ, अठारह प्रकार के शाक वाले ऐसे अनेक प्रकार के मनोज्ञ वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से युक्त अनेक द्रव्यों से निर्मित भोजन में तथा इसी प्रकार के अन्य मनोज्ञ एवं सुहावने—लुभावने रसों में साधु को आसक्त नहीं होना चाहिए, यावत् उनका स्मरण तथा विचार भी नहीं करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त जिह्वा-इन्द्रिय से अमनोज्ञ और असुहावने रसों का आस्वाद करके (रोष आदि नहीं करना चाहिए)।

(प्र.) वे अमनोज्ञ रस कौन-से हैं ?

(उ.) अरस—हींग आदि के संस्कार से रहित होने के कारण रसहीन, विरस—पुराना होने से विगतरस, ठण्डे, रूखे—विना चिकनाई के, निर्वाह के अयोग्य भोजन-पानी को तथा रात-वासी, व्यापन्न—रंग बदले हुए, सड़े हुए, अपवित्र होने के कारण अमनोज्ञ अथवा अत्यन्त विकृत हो चुकने के कारण जिनसे दुर्गन्ध निकल रही हो ऐसे तिक्त, कटु, कसैले, खट्टे, शेवाल-रहित पुराने पानी के समान एवं नीरस पदार्थों में तथा इसी प्रकार के अन्य अमनोज्ञ तथा अशुभ रसों में साधु को रोष धारण नहीं करना चाहिए यावत् संयतेन्द्रिय होकर धर्म का आचरण करना चाहिए।

पंचम भावना—स्पर्शनेन्द्रिय-संयम—

१६९—पंचमगं—फासिंदिएण फासिय फासाइं मणुण्णभद्दगाइं—

किं ते ?

दग-मंडव- हार- सेयचंदण- सीयल-विमल- जल- विविहकुसुम- सत्थर- ओसीर-मुत्तिय- मुणाल-दोसिणा-पेहुणउक्खेवग-तालियंट-वीयणग-जणियसुहसीयले य पवणे गिम्हकाले सुहफासाणि य बहूणि सयणाणि आसणाणि य पाउरणगुणे य सिसिरकाले अंगारपयावणा य आयवणिद्धमउयसीय-उसिण-लहुआ य जे उउसुहफासा अंगसुह-णिव्वुइगरा ते अण्णेसु य एवमाइएसु फासेसु मणुण्णभद्दगेसु ण तेसु समणेण सज्जियव्वं, ण रज्जियव्वं, ण गिज्झियव्वं, ण मुज्झियव्वं, ण विणिग्घायं आवज्जियव्वं, ण लुब्भियव्वं, ण अज्झोववज्जियव्वं, ण तूसियव्वं, ण हसियव्वं, ण सइं च मइं च तत्थ कुज्जा ।

पुणरवि फासिंदिएण फासिय फासाइं अमणुण्णपावगाइं—

किं ते ?

अणेगवह-बंध-तालणंकण-अइभारारोवणए, अंगभंजण-सूईणखप्पवेस-गायपच्छणण-लक्खारस-खार-तेल्ल-कलकलंत-तउय- सीसग-काल-लोहसिंचण- हडिबंधण -रज्जुणिगल-संकल- हत्थंडुय-कुंभिपाग-दहण-सीहपुच्छण-उब्बंधण-सूलभेय-गयचलणमलण-करचरण-कण्ण-णासोट्ठ-सीसच्छेयण जिब्भच्छेयण-वसण-णयण-हियय-दंतभंजण- जोत्तलय-कसप्पहार- पाय-पण्हि-जाणु-पत्थर- णिवाय-पीलण- कविकच्छु-अगणि-विच्छुयडक्क-वायातव-दंसमसग-णिवाए दुट्ठणिसज्जदुण्णिसीहिय-दुब्भि-कक्खड-गुरु-सीय-उसिण-लुक्खेसु बहुविहेसु अण्णेसु य एवमाइएसु फासेसु अमणुण्णपावगेसु ण तेसु समणेण रूसियव्वं, ण हीलियव्वं, ण णिंदियव्वं, ण गरहियव्वं, ण खिंसियव्वं, ण छिंदियव्वं, ण भिंदियव्वं, ण वहेयव्वं, ण दुगंछावत्तियव्वं च लुब्भा उप्पाएउं ।

एवं फासिंदियभावणाभाविओ भवइ अंतरप्पा, मणुण्णामणुण्ण-सुब्भि-दुब्भिरागदोसपणिहियप्पा साहू मणवयणकायगुत्ते संवुडेणं पणिहिइंदिए चरिज्ज धम्मं ।

१६६—स्पर्शनेन्द्रिय से मनोज्ञ और सुहावने स्पर्शों को छूकर (रागभाव नहीं धारण करना चाहिए) ।

(प्र.) वे मनोज्ञ स्पर्श कौन-से हैं ?

(उ.) जलमण्डप—झरने वाले मण्डप, हार, श्वेत चन्दन, शीतल निर्मल जल, विविध पुष्पों की शय्या—फूलों की सेज, खसखस, मोती, पद्मनाल, चन्द्रमा की चाँदनी तथा मोर-पिच्छी, ताल-वृन्त—ताड़ का पंखा, वीजना से की गई सुखद शीतल पवन में, ग्रीष्मकाल में सुखद स्पर्श वाले अनेक प्रकार के शयनों और आसनों में, शिशिरकाल—शीतकाल में आवरण गुण वाले अर्थात् ठण्ड से बचाने वाले वस्त्रादि में, अंगारों से शरीर को तपाने, धूप, स्निग्ध—तेलादि पदार्थ, कोमल और शीतल, गर्म और हल्के—जो ऋतु के अनुकूल सुखप्रद स्पर्श वाले हों, शरीर को सुख और मन को आनन्द देने वाले हों, ऐसे सब स्पर्शों में तथा इसी प्रकार के अन्य मनोज्ञ और सुहावने स्पर्शों में श्रमण को आसक्त नहीं होना चाहिए, अनुरक्त नहीं होना चाहिए, गृद्ध नहीं होना चाहिए—उन्हें प्राप्त करने

की अभिलाषा नहीं करनी चाहिए, मुग्ध नहीं होना चाहिए, और स्व-परहित का विघात नहीं करना चाहिए, लुब्ध नहीं होना चाहिए, तल्लीनचित्त नहीं होना चाहिए, उनमें सन्तोषानुभूति नहीं करनी चाहिए, हँसना नहीं चाहिए, यहाँ तक कि उनका स्मरण और विचार भी नहीं करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त स्पर्शनेन्द्रिय से अमनोज्ञ एवं पापक—असुहावने स्पर्शों को छूकर (रुष्ट-द्विष्ट नहीं होना चाहिए।)

(प्र.) वे स्पर्श कौन-से हैं ?

(उ.) वध, बन्धन, ताड़न—थप्पड़ आदि का प्रहार, अंकन—तपाई हुई सलाई आदि से शरीर को दागना, अधिक भार का लादा जाना, अंग-भंग होना या किया जाना, शरीर में सुई या नख का चुभाया जाना, अंग की हीनता होना, लाख के रस, नमकीन (क्षार) तैल, उबलते शीशे या कृष्णवर्ण लोहे से शरीर का सींचा जाना, काष्ठ के खोड़े में डाला जाना, डोरी के निगड़ बन्धन से बाँधा जाना, हथकड़ियाँ पहनाई जाना, कुंभी में पकाना, अग्नि से जलाया जाना, शेफत्रोटन लिंगच्छेद, बाँध कर ऊपर से लटकाना, शूली पर चढ़ाया जाना, हाथी के पैर से कुचला जाना, हाथ-पैर-कान-नाक-होठ और शिर में छेद किया जाना, जीभ का बाहर खींचा जाना, अण्डकोश-नेत्र-हृदय-दांत या आंत का मोड़ा जाना, गाड़ी में जोता जाना, बेत या चाबुक द्वारा प्रहार किया जाना, एड़ी, घुटना या पाषाण का अंग पर आघात होना, यंत्र में पीला जाना, कपिकच्छू— अत्यन्त खुजली होना अथवा खुजली उत्पन्न करने वाले फल—करेंच का स्पर्श होना, अग्नि का स्पर्श, बिच्छू के डंक का, वायु का, धूप का या डांस-मच्छरों का स्पर्श होना, दुष्ट—दोषयुक्त—कष्टजनक आसन, स्वाध्यायभूमि में तथा दुर्गन्धमय, कर्कश, भारी, शीत, उष्ण एवं रूक्ष आदि अनेक प्रकार के स्पर्शों में और इसी प्रकार के अन्य अमनोज्ञ स्पर्शों में साधु को रुष्ट नहीं होना चाहिए, उनकी हीलना नहीं करनी चाहिए, निन्दा और गर्हा नहीं करनी चाहिए, खिसना नहीं करनी चाहिए, अशुभ स्पर्श वाले द्रव्य का छेदन-भेदन नहीं करना चाहिए, स्व-पर का हनन नहीं करना चाहिए। स्व-पर में घृणावृत्ति भी उत्पन्न नहीं करनी चाहिए।

इस प्रकार स्पर्शनेन्द्रियसंवर की भावना से भावित अन्तःकरण वाला, मनोज्ञ और अमनोज्ञ, अनुकूल और प्रतिकूल स्पर्शों की प्राप्ति होने पर राग-द्वेषवृत्ति का संवरण करने वाला साधु मन, वचन और काय से गुप्त होता है। इस भाँति साधु संवृतेन्द्रिय होकर धर्म का आचरण करे।

पंचम संवरद्वार का उपसंहार—

१७०—एवमिणं संवरस्स दारं सम्मं संवरियं होइ सुप्पणिहियं इमेहिं पंचहि पि कारणेहिं मणवयकायपरिरक्खिएहिं। णिच्चं आमरणंतं च एस जोगो णेयव्वो धिइमया मइमया, अणासवो अकलुसो अच्छिद्दो अपरिस्सावी असंकिलिट्ठो सुद्धो सव्वजिणमणुण्णाओ।

एवं पंचमं संवरदारं फासियं पालियं सोहियं तीरियं किट्टियं अणुपालियं आणाए आराहियं भवइ[1]। एवं णायमुणिणा भगवया पण्णवियं परूवियं पसिद्धं सिद्धं सिद्धवरसासणमिणं आघवियं सुदेसियं पसत्थं। त्ति बेमि।

॥ पंचमं संवरदारं समत्तं ॥

---

१. वाचनान्तर में उपलब्ध पाठ इस प्रकार है—"एयाणि पंचावि सुव्वय-महव्वयाणि लोगधिइकरणाणि, सुयसागर-देसियाणि संजमसीलव्वयसच्चज्जवमयाणि णरयतिरियदेवमणुयगइविवज्जयाणि सव्वजिणसासणाणि कम्मरय-वियारयाणि भवसयविमोयगाणि दुक्खसयविणासगाणि सुक्खसयपवत्तयाणि कापुरिससुदुरुत्तराणि सप्पुरिसजण-तीरियाणि णिव्वाणगमणजाणाणि कहियाणि सग्गपवायगाणि पंचावि महव्वयाणि कहियाणि।"

१७०—इस (पूर्वोक्त) प्रकार से यह पाँचवां संवरद्वार—अपरिग्रह सम्यक् प्रकार से मन, वचन और काय से परिरक्षित पांच भावना रूप कारणों से संवृत किया जाए तो सुरक्षित होता है। धैर्यवान् और विवेकवान् साधु को यह योग जीवनपर्यन्त निरन्तर पालनीय है। यह आस्रव को रोकने वाला, निर्मल, मिथ्यात्व आदि छिद्रों से रहित होने के कारण अपरिस्रावी, संक्लेशहीन, शुद्ध और समस्त तीर्थंकरों द्वारा अनुज्ञात है। इस प्रकार यह पाँचवाँ संवरद्वार शरीर द्वारा स्पृष्ट, पालित, अतिचार-रहित शुद्ध किया हुआ, परिपूर्णता पर पहुँचाया हुआ, वचन द्वारा कीर्त्तित किया हुआ, अनुपालित तथा तीर्थंकरों की आज्ञा के अनुसार आराधित होता है।

ज्ञातमुनि भगवान् ने ऐसा प्रतिपादन किया है। युक्तिपूर्वक समझाया है। यह प्रसिद्ध, सिद्ध और भवस्थ सिद्धों—अरिहन्तों का उत्तम शासन कहा गया है, समीचीन रूप से उपदिष्ट है।

यह प्रशस्त संवरद्वार पूर्ण हुआ। ऐसा मैं (सुधर्मा) कहता हूँ।

विवेचन—उल्लिखित सूत्रों में अपरिग्रह महाव्रत रूप संवर की पाँच भावनाओं का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है। वे भावनाएँ इस प्रकार हैं—(१) श्रोत्रेन्द्रियसंवर (२) चक्षुरिन्द्रियसंवर (३) घ्राणेन्द्रियसंवर (४) रसनेन्द्रियसंवर और (५) स्पर्शनेन्द्रियसंवर।

शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श, ये इन्द्रियों के विषय हैं। प्रत्येक विषय अनुभूति की दृष्टि से दो प्रकार का है—मनोज्ञ और अमनोज्ञ।

प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषय को ग्रहण करती है तब वह विषय सामान्यरूप ही होता है। किन्तु उस ग्रहण के साथ ही आत्मा में विद्यमान संज्ञा उसमें प्रियता या अप्रियता का रंग घोल देती है। जो विषय प्रिय प्रतीत होता है वह मनोज्ञ कहलाता है और जो अप्रिय अनुभूत होता है वह अमनोज्ञ प्रतीत होता है।

वस्तुत: मनोज्ञता अथवा अमनोज्ञता विषय में स्थित नहीं है, वह प्राणी की कल्पना द्वारा आरोपित है। उदाहरणार्थ शब्द को ही लीजिए। कोई भी शब्द अपने स्वभाव से प्रिय अथवा अप्रिय नहीं है। हमारी मनोवृत्ति अथवा संज्ञा ही उसमें यह विभेद उत्पन्न करती है और किसी शब्द को प्रिय—मनोज्ञ और किसी को अप्रिय—अमनोज्ञ मान लेती है। मनोवृत्ति ने जिस शब्द को प्रिय स्वीकार कर लिया उसे श्रवण करने मे रागवृत्ति उत्पन्न हो जाती है और जिसे अप्रिय मान लिया उसके प्रति द्वेषभावना जाग उठती है। यही कारण है कि प्रत्येक मनुष्य को कोई भी एक शब्द सर्वदा एक-सा प्रतीत नहीं होता। एक परिस्थिति में जो शब्द अप्रिय—अमनोज्ञ प्रतीत होता है और जिसे सुन कर क्रोध भड़क उठता है, आदमी मरने-मारने को उद्यत हो जाता है, वही शब्द दूसरी परिस्थिति में ऐसा कोई प्रभाव उत्पन्न नहीं करता, प्रत्युत हर्ष और प्रमोद का जनक भी बन जाता है। गाली सुन कर मनुष्य आगबबूला हो जाता है परन्तु ससुराल की गालियाँ मीठी लगती हैं। तात्पर्य यह है कि एक ही शब्द विभिन्न व्यक्तियों के मन पर और विभिन्न परिस्थितियों में एक ही व्यक्ति के मन में अलग-अलग प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करता है। इस विभिन्न प्रभावजनकता से स्पष्ट हो जाता है कि प्रभावजनन की मूल शक्ति शब्दनिष्ठ नहीं, किन्तु मनोवृत्तिनिष्ठ है।

इस वस्तुतत्त्व को भलीभाँति नहीं समझने वाले और शब्द को ही इष्ट-अनिष्ट मान लेने वाले शब्दश्रवण करके राग अथवा द्वेष के वशीभूत हो जाते हैं। राग-द्वेष के कारण नवीन कर्मों

का बन्ध करते हैं और आत्मा को मलीन बनाते हैं। इससे अन्य अनेक अनर्थ भी उत्पन्न होते हैं। शब्दों के कारण हुए भीपण अनर्थों के उदाहरण पुराणों और इतिहास में भरे पड़े हैं। द्रौपदी के एक वाक्य ने महाभारत जैसे विनाशक महायुद्ध की भूमिका निर्मित कर दी।

तत्त्वज्ञानी जन पारमार्थिक वस्तुस्वरूप के ज्ञाता होते हैं। वे अपनी मनोवृत्ति पर नियंत्रण रखते हैं। वे शब्द को शब्द ही मानते हैं। उसमें प्रियता या अप्रियता का आरोप नहीं करते, न किसी शब्द को गाली मान कर रुष्ट होते हैं, न स्तुति मान कर तुष्ट होते हैं। यही श्रोत्रेन्द्रियसंवर है। आचारांग में कहा है—

न सक्का ण सोउं सद्दा, सोत्तविसयमागया।
राग-दोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए॥

अर्थात् कर्ण-कुहर में प्रविष्ट शब्दों को न सुनना तो शक्य नहीं है—वे सुनने में आये विना रह नहीं सकते, किन्तु उनको सुनने से उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष से भिक्षु को बचना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि श्रोत्रेन्द्रिय को बन्द करके रखना संभव नहीं है। दूसरों के द्वारा बोले हुए शब्द श्रोत्रगोचर होंगे ही। किन्तु साधक सन्त उनमें मनोज्ञता अथवा अमनोज्ञता का आरोप न होने दे—अपनी मनोवृत्ति को इस प्रकार अपने अधीन कर रक्खे कि वह उन शब्दों पर प्रियता या अप्रियता का रंग न चढ़ने दे। ऐसा करने वाला सन्त पुरुष श्रोत्रेन्द्रियसंवरशील कहलाता है।

जो तथ्य श्रोत्रेन्द्रिय के विषयभूत शब्दों के विषय में है, वही चक्षुरिन्द्रिय आदि के विषय रूपादि में समझ लेना चाहिए।

इस प्रकार पाँचों इन्द्रियों के संवर से सम्पन्न और मन, वचन, काय से गुप्त होकर ही साधु को धर्म का आचरण करना चाहिए। मूल पाठ में आये कतिपय शब्दों का स्पष्टीकरण इस भाँति है—

नन्दी—बारह प्रकार के वाद्यों की ध्वनि नन्दी कहलाती है। वे वाद्य इस भाँति हैं—

भंभा मउंद मद्दल हुडुक्क तिलिमा य करड कंसाला।
काहल वीणा वंसो संखो पणवओ य बारसमो॥

अर्थात् (१) भंभा (२) मउंद (३) मद्दल (४) हुडुक्क (५) तिलिमा (६) करड (७) कंसाल (८) काहल (९) वीणा (१०) वंस (११) संख और (१२) पणव।

कुष्ठ—कोढ़ नामक रोग प्रसिद्ध है। उनके यहाँ अठारह प्रकार बतलाए गए हैं। इनमें सात महाकोढ़ और ग्यारह साधारण—क्षुद्र कोढ़ माने गए हैं। टीकाकार लिखते हैं कि सात महाकुष्ठ समग्र धातुओं में प्रविष्ट हो जाते हैं, अतएव असाध्य होते हैं। महाकुष्ठों के नाम हैं—(१) अरुण (२) उदुम्बर (३) रिश्यजिह्व (४) करकपाल (५) काकन (६) पौण्डरीक (७) दद्रू। ग्यारह क्षुद्रकुष्ठों के नाम हैं—(१) स्थूलमारुक्क (२) महाकुष्ठ (३) एककुष्ठ (४) चर्मदल (५) विसर्प (६) परिसर्प (७) विचर्चिका (८) सिध्म (९) किटिभ (१०) पामा और शतारुका।[1] विशिष्ट जिज्ञासुओं को आयुर्वेदग्रन्थों से इनका स्वरूप समझ लेना चाहिए।

१—अभय. टीका पृ. १६१

कुब्ज आदि होने के कारण टीकाकार ने उद्धृत किए हैं—

गर्भे वातप्रकोपेण, दोहृदे वाऽपमानिते ।
भवेत् कुब्जः कुणिः पङ्गुर्मूको मन्मन एव वा ।।

अर्थात् गर्भ में वात का प्रकोप होने के कारण अथवा गर्भ का अपमान होने से—गर्भवती की इच्छा की पूर्ति न होने के कारण सन्तान कुवड़ी, टोंटी, लंगड़ी, गूंगी अथवा मन्मन—व्यक्त उच्चारण न करने वाली होती है ।

मूल पाठ का आशय स्पष्ट है । पाँचों भावनाओं का सार-संक्षेप यही है—

जे सद्द-रूव-रस-गंधमागए, फासे य संपप्प मणुण्ण-पावए ।
गेही पओसं न करेज्ज पंडिए, स होति दंते विरए अकिंचणे ।।

अर्थात्—मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के प्राप्त होने पर जो पण्डित पुरुष राग और द्वेष नहीं करता, वही इन्द्रियों का दमनकर्त्ता, विरत और अपरिग्रही कहलाता है ।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बात यह ध्यान में रखनी चाहिए कि राग और द्वेष आभ्यन्तर परिग्रह हैं—एकान्तरूप से मुख्य परिग्रह हैं । अतएव इन्हीं को लक्ष्य में रखकर अपरिग्रह व्रत की भावनाएँ प्रतिपादित की गई हैं ।

।। पंचम संवरद्वार समाप्त ।।

सम्पूर्ण संवरद्वार का उपसंहार

१७१—एयाइं वयाइं पंच वि सुव्वय-महव्वयाइं हेउसय-विवित्त-पुक्कलाइं कहियाइं अरिहंत-सासणे पंच समासेण संवरा, वित्थरेण उ पणवीसंति । समियसहिय-संवुडे सया जयण-घडण-सुविसुद्ध-दंसणे एए अणुचरिय संजए चरमसरीरधरे भविस्सइ ।

पण्हावागरणे णं एगो सुयक्खंधो, दस अज्झयणा एक्कसरगा दससु चेव दिवसेसु उद्दिसिज्जंति एगंतरेसु आयंबिलेसु णिरुद्धेसु आउत्त-भत्तपाणएणं । अंगं जहा आयारस्स ।

॥ इइ पण्हवागरणं सुत्तं समत्तं ॥

१७१—हे सुव्रत ! ये पाँच संवररूप महाव्रत सैकड़ों हेतुओं से पुष्कल-विस्तीर्ण हैं। अरिहंत-शासन में ये संवरद्वार संक्षेप में (पाँच) कहे गए हैं। विस्तार से (प्रत्येक की पाँच-पाँच भावनाएँ होने से) इनके पच्चीस प्रकार होते हैं। जो साधु ईर्यासमिति आदि (पूर्वोक्त पच्चीस भावनाओं) सहित होता है अथवा ज्ञान और दर्शन से सहित होता है तथा कषायसंवर और इन्द्रियसंवर से संवृत होता है, जो प्राप्त संयमयोग का यत्नपूर्वक पालन करता है और अप्राप्त संयमयोग की प्राप्ति के लिए यत्नशील रहता है, सर्वथा विशुद्ध श्रद्धानवान् होता है, वह इन संवरों की आराधना करके अशरीर—मुक्त होगा ।

प्रश्नव्याकरण में एक श्रुतस्कन्ध है, एक सदृश दस अध्ययन हैं। उपयोगपूर्वक आहार-पानी ग्रहण करने वाले साधु के द्वारा, जैसे आचारांग का वाचन किया जाता है, उसी प्रकार एकान्तर आयंबिल युक्त तपस्यापूर्वक दस दिनों में इन (दस अध्ययनों) का वाचन किया जाता है ।

॥ प्रश्नव्याकरण सूत्र समाप्त ॥

उत्थानिका–पाठान्तर

कतिपय प्रतियों में निम्नलिखित पाठ 'जंबू !' इस सम्बोधन से पूर्व पाया जाता है। यह पाठ प्रायः वही है जो अन्य आगमों में पूर्वभूमिका के रूप में आता है, किन्तु प्रस्तुत पाठान्तर में प्रश्नव्याकरण के दो श्रुतस्कन्ध प्रतिपादित किए गए हैं, जब कि मूल पाठ में, अन्त में एक ही श्रुतस्कन्ध बतलाया गया है। यह विरोधी कथन क्या इस तथ्य का सूचक है कि प्राचीन मूल प्रश्नव्याकरण में दो श्रुतस्कन्ध थे और उसका विच्छेद हो जाने के पश्चात् उसकी स्थानपूर्ति के लिए विरचित अथवा उसके लुप्त होने से बचे इस भाग में एक ही श्रुतस्कन्ध है? मगर दोनों श्रुतस्कन्धों के नाम वही आस्रवद्वार और संवरद्वार गिनाए गए हैं। अतएव यह संभावना भी संदिग्ध बनती है और अधिक चिन्तन-अन्वेषण मांगती है। जो हो, पाठ इस प्रकार है—

तेणं कालेणं तेणं समएणं चम्पा नामं नयरी होत्था, पुण्णभद्दे चेइए, वणसंडे, असोगवरपायवे, पुढविसिलापट्टए।

तत्थ णं चम्पाए नयरीए कोणिए नामं राया होत्था, धारिणी देवी।

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अन्तेवासी अज्जसुहम्मे नामं थेरे जाइ-संपण्णे कुल-संपण्णे बलसंपण्णे रूवसंपण्णे विणयसंपण्णे नाणसंपण्णे दंसणसंपण्णे चरित्तसंपण्णे लज्जा-संपण्णे लाघवसंपण्णे ओयंसी तेयंसी वच्चंसी जसंसी जियकोहे जियमाणे जियमाए जियलोभे जियइंदिए जियपरीसहे जीवियास-मरणभय-विप्पमुक्के तवप्पहाणे गुणप्पहाणे मुत्तिप्पहाणे विज्जप्पहाणे मंतप्पहाणे बंभप्पहाणे वयप्पहाणे नयप्पहाणे नियमप्पहाणे सच्चप्पहाणे सोयप्पहाणे नाणप्पहाणे दंसणप्पहाणे चरित्तप्पहाणे चोद्दसपुव्वी चउनाणोवगए पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं संपरिवुडे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे जेणेव चम्पा नयरी तेणेव उवागच्छइ जाव अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति।

तेणं कालेणं तेणं समएणं अज्जसुहम्मस्स अंतेवासी अज्जजंबू नामं अणगारे कासवगोत्तेणं सत्तुस्सेहे जाव संखित्तविउलतेउलेस्से अज्जसुहम्मस्स थेरस्स अदूर-सामंते उड्ढं जाणू जाव संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।

तए णं से अज्जजंबू जायसड्ढे जायसंसए जायकोउहल्ले, उप्पन्नसड्ढे उप्पन्नसंसए उप्पन्न-कोउहल्ले, समुप्पन्नसड्ढे समुप्पन्नसंसए समुप्पन्नकोउहल्ले उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठित्ता जेणेव सुहम्मे थेरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अज्जसुहम्मं थेरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ, करित्ता वंदइ नमंसइ (नमंसित्ता) नाइदूरे विणएणं पंजलिपुडे पज्जुवासमाणे एवं वयासी—

'जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं णवमस्स अंगस्स अणुत्तरोववाइय-दसाणं अयमट्ठे पण्णत्ते, दसमस्स णं अंगस्स पण्हावागरणाणं समणेणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ?'

'जंबू ! दसमस्स अंगस्स समणेणं जाव संपत्तेणं दो सुयक्खंधा पण्णत्ता—आसवदारा य संवरदारा य।'

'पढमस्स णं भंते ! सुयक्खंधस्स समणेणं जाव संपत्तेणं कइ अज्झयणा पण्णत्ता ?'

'जंबू ! पढमस्स सुयक्खंधस्स समणेणं जाव संपत्तेणं पंच अज्झयणा पण्णत्ता ।'

'दोच्चस्स णं भंते ! सुयक्खंधस्स ? एवं चेव ।'

'एएसि णं भंते ! अण्हय-संवराणं समणेणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ?'

तते णं अज्जसुहम्मे थेरे जंबूनामेणं अणगारेणं एवं वुत्ते समाणे जंबू अणगारं एवं वयासी—'जंबू ! इणमो—' इत्यादि ।

सारांश—उस काल, उस समय चम्पा नगरी थी । उसके बाहर पूर्णभद्र चैत्य था, वनखण्ड था । उसमें उत्तम अशोकवृक्ष था । वहाँ पृथ्वीशिलापट्टक था ।

चम्पा नगरी का राजा कोणिक था और उसकी पटरानी का नाम धारिणी था ।

उस काल, उस समय श्रमण भगवान् महावीर के अन्तेवासी स्थविर आर्य सुधर्मा थे । वे जातिसम्पन्न, कुलसम्पन्न, बलसम्पन्न, रूपसम्पन्न, विनयसम्पन्न, ज्ञानसम्पन्न, दर्शनसम्पन्न, चारित्र-सम्पन्न, लज्जासम्पन्न, लाघवसम्पन्न, ओजस्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी, यशस्वी, क्रोध-मान-माया-लोभ-विजेता, निद्रा, इन्द्रियों और परीषहों के विजेता, जीवन की कामना और मरण की भीति से विमुक्त, तपप्रधान, गुणप्रधान, मुक्तिप्रधान, विद्याप्रधान, मन्त्रप्रधान, ब्रह्मप्रधान, व्रतप्रधान, नयप्रधान, नियमप्रधान, सत्यप्रधान, शौचप्रधान, ज्ञान-दर्शन-चारित्रप्रधान, चतुर्दश पूर्वों के वेत्ता, चार ज्ञानों से सम्पन्न, पाँच सौ अनगारों से परिवृत्त, पूर्वानुपूर्वी से चलते, ग्राम-ग्राम विचरते चम्पा नगरी में पधारे । संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए ठहरे ।

उस काल, उस समय, आर्य सुधर्मा के शिष्य आर्य जम्बू साथ थे । वे काश्यपगोत्रीय थे । उनका शरीर सात हाथ ऊँचा था..........(यावत्) उन्होंने अपनी विपुल तेजोलेश्या को अपने में ही संक्षिप्त—समा रक्खा था । वे आर्य सुधर्मा से न अधिक दूर और न अधिक समीप, घुटने ऊपर करके और नतमस्तक होकर संयम एवं तपश्चर्या से आत्मा को भावित कर रहे थे ।

एक बार आर्य जम्बू के मन में जिज्ञासा उत्पन्न हुई और वे आर्य सुधर्मा के निकट पहुँचे । आर्य सुधर्मा की तीन बार प्रदक्षिणा की, उन्हें वन्दन-स्तवन किया, नमस्कार किया । फिर विनयपूर्वक दोनों हाथ जोड़कर—अंजलि करके, पर्युपासना करते हुए बोले—

(प्रश्न)—भंते ! यदि श्रमण भगवान् महावीर ने नौवें अंग अनुत्तरोपपातिक दशा का यह (जो मैं सुन चुका हूँ) अर्थ कहा है तो दसवें अंग प्रश्नव्याकरण का क्या अर्थ कहा है ?

(उत्तर)—जम्बू ! श्रमण भगवान् महावीर ने दसवें अंग के दो श्रुतस्कन्ध कहे हैं—आस्रव-द्वार और संवरद्वार । प्रथम और द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पाँच-पाँच अध्ययन प्ररूपित किए हैं ।

(प्रश्न)—भंते ! श्रमण भगवान् ने आस्रव और संवर का क्या अर्थ कहा है ?

तब आर्य सुधर्मा ने जम्बू अनगार को इस प्रकार कहा— ।

□□

परिशिष्ट—२

गाथानुक्रमसूची

अणुसिट्ठं पि बहुविहं
इणमो अण्हय-संवरविणिच्छयं
एएहिं पंचहिं असंवरेहिं
किं सक्का काउं जे
जंबू ! एतो संवरदाराइं
जारिसओ जं नामा
तत्थ पढमं अहिंसा
तित्थकरेहिं सुदेसियमग्गं
देव-नरिंद नमंसियपूयं
पंचमहव्वयसुव्वहमूलं
पंचविहो पण्णत्तो
पढमं होइ अहिंसा
सव्वगई पक्खंदे काहेंति

□□

परिशिष्ट (३)

कथाएँ

सीता—

मिथिला नगरी के राजा जनक थे। उनकी रानी का नाम विदेहा था। उनके एक पुत्र और एक पुत्री थी। पुत्र का नाम भामंडल और पुत्री का नाम जानकी-सीता था। सीता अत्यन्त रूपवती और समस्त कलाओं में पारंगत थी। जब वह विवाहयोग्य हुई तो राजा जनक ने स्वयंवरमंडप बनवाया और देश-विदेशों के राजाओं, राजकुमारों और विद्याधरों को स्वयंवर के लिए आमन्त्रित किया। राजा जनक ने प्रतिज्ञा की थी कि जो स्वयंवरमंडप में स्थापित देवाधिष्ठित धनुष की प्रत्यंचा चढ़ा देगा, उसी के गले में सीता वरमाला डालेगी।

ठीक समय पर राजा, राजकुमार और विद्याधर आ पहुँचे। अयोध्यापति राजा दशरथ के पुत्र रामचन्द्र भी अपने छोटे भाई लक्ष्मण के साथ उस स्वयंवर में आये। महाराजा जनक ने सभी समागत राजाओं को सम्बोधित करते हुये कहा—'महानुभावो! आपने मेरे आमंत्रण पर यहाँ पधारने का कष्ट किया है, इसके लिए धन्यवाद! मेरी यह प्रतिज्ञा है कि जो वीर इस धनुष को चढ़ा देगा, उसी के गले में सीता वरमाला डालेगी।'

यह सुनकर सभी समागत राजा, राजकुमार, और विद्याधर बहुत प्रसन्न हुए. सब को अपनी सफलता की आशा थी। सब विद्याधरों और राजाओं ने बारी-बारी से अपनी ताकत आजमाई, लेकिन धनुष किसी से टस से मस नहीं हुआ।

राजा जनक ने निराश होकर खेदपूर्वक जब सभी क्षत्रियों को फटकारा कि क्या यह पृथ्वी वीरशून्य हो गई है! तभी लक्ष्मण के कहने पर रामचन्द्रजी उस धनुष को चढ़ाने के लिए उठे। सभी राजा आदि आश्चर्यचकित थे। रामचन्द्रजी ने धनुष के पास पहुँचकर पंचपरमेष्ठी का ध्यान किया। धनुष का अधिष्ठायक देव उसके प्रभाव से शान्त हो गया, तभी श्री रामचन्द्रजी ने सबके देखते ही देखते क्षणभर में धनुष को उठा लिया और झट से उस पर बाण चढ़ा दिया, सभी ने जयनाद किया। सीता ने श्रीरामचन्द्रजी के गले में वरमाला डाल दी। विधिपूर्वक दोनों का पाणिग्रहण हो गया। विवाह के बाद श्रीरामचन्द्रजी सीता को लेकर अयोध्या आये। सारी अयोध्या में खुशियाँ मनाई गई। अनेक मंगलाचार हुए। इस तरह कुछ समय आनन्दोल्लास में व्यतीत हुआ।

एक दिन राजा दशरथ के मन में इच्छा हुई कि रामचन्द्र को राज्याभिषिक्त करके मैं अब त्यागी मुनि बन जाऊँ। परन्तु होनहार बलवान् है। जब रामचन्द्रजी की विमाता कैकेयी ने यह सुना तो सोचा कि राजा अगर दीक्षा लेंगे तो मेरा पुत्र भरत भी साथ ही दीक्षा ले लेगा। अतः भरत को दीक्षा देने से रोकने के लिए उसने राजा दशरथ को युद्ध में अपने द्वारा की हुई सहायता के फलस्वरूप

प्राप्त और सुरक्षित रखे हुये वर को इस समय मांगना उचित समझा। महारानी कैकेयी ने राजा दशरथ से अपने पुत्र भरत को राज्य देने का वर माँगा। महाराजा दशरथ को अपनी प्रतिज्ञानुसार यह वरदान स्वीकार करना पड़ा। फलतः श्रीरामचन्द्रजी ने अपने पिता की आज्ञा का पालन करने और भरत को राज्य का अधिकारी बनाने के लिए सीता और लक्ष्मण के साथ वनगमन किया। वन में भ्रमण करते हुए वे दण्डकारण्य पहुँचे और वहाँ पर्णकुटी बना कर रहने लगे।

एक दिन लक्ष्मणजी घूमते-घूमते उस वन के एक ऐसे प्रदेश में पहुँचे, जहाँ खरदूषण का पुत्र शम्बूक बांसों के बीहड़ में एक वृक्ष से पैर बांधकर औंधा लटका चन्द्रहासखड्ग की एक विद्या सिद्ध कर रहा था। परन्तु उसको विद्या सिद्ध न हो सकी। एक दिन लक्ष्मण ने आकाश में अधर लटकते हुये चमचमाते चन्द्रहासखड्ग को कुतूहलवश हाथ में उठा लिया और उसका चमत्कार देखने की इच्छा से उसे बांसों के बीहड़ पर चला दिया। संयोगवश खरदूषण और चन्द्रनखा के पुत्र तथा रावण के भानजे शम्बूककुमार को वह तलवार जा लगी। बांसों के साथ-साथ उनका भी सिर कट गया। जब लक्ष्मणजी को यह पता चला तो उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने रामचन्द्रजी के पास जाकर सारा वृत्तान्त सुनाया। उन्हें भी बड़ा दुःख हुआ। वे समझ गये कि लक्ष्मण ने एक बहुत बड़ी विपत्ति को बुला लिया है। जब शम्बूककुमार के मार डाले जाने का समाचार उसकी माता चन्द्रनखा को मालूम हुआ तो वह क्रोध से आगबबूला हो उठी और पुत्रघातक से बदला लेने के लिये उस पर्णकुटी पर आ पहुँची, जहाँ राम-लक्ष्मण बैठे हुए थे। वह आई तो थी बदला लेने, परन्तु वहाँ वह श्री राम-लक्ष्मण के दिव्य रूप को देखकर उन पर मोहित हो गई। उसने विद्या के प्रभाव से सुन्दरी युवती का रूप बना लिया और कामज्वर से पीड़ित होकर एक बार राम से तो दूसरी बार लक्ष्मण से कामाग्नि शांत करने की प्रार्थना की। मगर स्वदारसंतोषी, परस्त्रीत्यागी राम-लक्ष्मण ने उसकी यह जघन्य प्रार्थना ठुकरा दी। पुत्र के वध करने और अपनी अनुचित प्रार्थना के ठुकरा देने के कारण चन्द्रनखा का रोष दुगुना भभक उठा। वह सीधी अपने पति खरदूषण के पास आई और पुत्रवध का सारा हाल कह सुनाया। सुनते ही खरदूषण अपनी कोपज्वाला से दग्ध होकर वैर का बदला लेने हेतु सदल-बल दंडकारण्य में पहुँचा। जब राम-लक्ष्मण को यह पता चला कि खरदूषण लड़ने के लिये आया है तो लक्ष्मण उसका सामना करने पहुँचे। दोनों में युद्ध छिड़ गया। उधर लंकाधीश रावण को जब अपने भानजे के वध का समाचार मिला तो वह भी लंकापुरी से आकाश-मार्ग द्वारा दण्डकवन में पहुँचा। आकाश मे ही वह टकटकी लगाकर बहुत देर तक सीता को देखता रहा। सीता को देखकर रावण का अन्तःकरण कामबाण से व्यथित हो गया। उसकी विवेकबुद्धि और धर्मसंज्ञा लुप्त हो गई। अपने उज्ज्वल कुल के कलंकित होने की परवाह न करके दुर्गतिगमन का भय छोड़कर उसने किसी भी तरह से सीता का हरण करने की ठान ली। सन्निपात के रोगी के समान कामोन्मत्त रावण सीता को प्राप्त करने के उपाय सोचने लगा। उसे एक उपाय सूझा। उसने अपनी विद्या के प्रभाव से जहाँ लक्ष्मण संग्राम कर रहा था, उस ओर जोर से सिंहनाद की ध्वनि की। राम यह सुनकर चिन्ता में पड़े कि लक्ष्मण भारी विपत्ति में फँसा है, अतः उसने मुझे बुलाने को यह पूर्वसंकेतित सिंहनाद किया है। इसलिए वे सीता को अकेली छोड़कर तुरन्त लक्ष्मण की सहायता के लिये चल पड़े। परस्त्रीलंपट रावण इस अवसर की प्रतीक्षा में था ही। उसने मायावी साधु का वेश बनाया और दान लेने के बहाने अकेली सीता के पास पहुँचा। ज्यों ही सीता बाहर आई त्यों ही जबरन उसका अपहरण करके अपने विमान में बैठा लिया और आकाश-मार्ग

से लंका की ओर चल दिया। सीता का विलाप और रुदन सुन कर रास्ते में जटायु पक्षी ने विमान को रोकने का भरसक प्रयत्न किया। लेकिन उसके पंख काटकर उसे नीचे गिरा दिया और सीता को लेकर झटपट लंका पहुँचा। वहाँ उसे अशोकवाटिका में रखा। रावण ने सीता को अनेक प्रलोभन देकर और भय वताकर अपने अनुकूल बनाने की भरसक चेष्टाएँ की, लेकिन सीता किसी भी तरह से उसके वश में न हुई। आखिर उसने विद्याप्रभाव से श्रीराम का कटा हुआ सिर भी बताया और कहा कि अब रामचन्द्र तो इस संसार में नहीं रहे, तू मुझे स्वीकार कर ले। लेकिन सीता ने उसकी एक न मानी। उसने श्रीराम के सिवाय अपने मन में और किसी पुरुष को स्थान न दिया। रावण को भी उसने अनुकूल-प्रतिकूल अनेक वचनों से उस अधर्मकृत्य से हटने के लिये समझाया, पर वह अपने हठ पर अड़ा रहा।

उधर श्रीराम, लक्ष्मण के पास पहुँचे तो लक्ष्मण ने पूछा—'भाई! आप माता सीता को पर्णकुटी में अकेली छोड़कर यहाँ कैसे आ गए?' राम ने सिंहनाद को मायाजाल समझा और तत्काल अपनी पर्णकुटी में वापस लौटे। वहाँ देखा तो सीता गायब। सीता को न पाकर श्रीराम उसके वियोग से व्याकुल होकर मूर्च्छित हो गए, भूमि पर गिर पड़े। इतने में लक्ष्मण भी युद्ध में विजय पाकर वापिस लौटे तो अपने बड़े भैया की यह दशा और सीता का अपहरण जानकर अत्यन्त दुःखित हुए। लक्ष्मण के द्वारा शीतोपचार से राम होश में आए। फिर दोनों भाई वहाँ से सीता की खोज में चल पड़े। मार्ग में उन्हें ऋष्यमूक पर्वत पर वानरवंशी राजा सुग्रीव और हनुमान आदि विद्याधर मिले। उनसे पता लगा कि 'इसी रास्ते से आकाशमार्ग से विमान द्वारा रावण सीता को हरण करके ले गया है। उसके मुख से 'हा राम' शब्द सुनाई दे रहा था इसलिए मालूम होता है, वह सीता ही होगी।' अतः दोनों भाई निश्चय करके सुग्रीव, हनुमान आदि वानरवंशी तथा सीता के भाई भामंडल आदि विद्याधरों की सहायता से सेना लेकर लंका पहुँचे। युद्ध से व्यर्थ में जनसंहार न हो, इसलिये पहले श्री राम ने रावण के पास दूत भेज कर कहलाया कि सीता को हमें आदरपूर्वक सौंप दो और अपने अपराध के लिये क्षमायाचना करो तो हम बिना संग्राम किये वापस लौट जाएँगे, लेकिन रावण की मृत्यु निकट थी। उसे विभीषण, मन्दोदरी आदि हितैषियों ने भी बहुत समझाया, किन्तु उसने किसी की एक न मानी। आखिर युद्ध की दुन्दुभि बजी। घोर संग्राम हुआ। दोनों ओर के अगणित मनुष्य मौत के मेहमान बने। अधर्मी रावण के पक्ष के बड़े-बड़े योद्धा रण में खेत रहे। आखिर रावण रणक्षेत्र में आया। रावण तीन खण्ड का अधिनायक प्रतिनारायण था। उससे युद्ध करने की शक्ति राम और लक्ष्मण के सिवाय किसी में न थी। यद्यपि हनुमान आदि अजेय योद्धा राम की सेना में थे, तथापि रावण के सामने टिकने की और विजय पाने की ताकत नारायण के अतिरिक्त दूसरे में नहीं थी। अतः रावण के सामने जो भी योद्धा आए, उन सबको वह परास्त करता रहा, उनमें से कई तो रणचंडी की भेंट भी चढ़ गए। रामचन्द्रजी की सेना में हाहाकार मच गया। राम ने लक्ष्मण को ही समर्थ जान कर रावण से युद्ध करने का आदेश दिया। दोनों ओर से शस्त्रप्रहार होने लगे। लक्ष्मण ने रावण के चलाये हुये सभी शस्त्रों को निष्फल करके उन्हें भूमि पर गिरा दिया। अन्त में क्रोधवश रावण ने अन्तिम अस्त्र के रूप में अपना चक्र लक्ष्मण पर चलाया, लेकिन वह लक्ष्मण की तीन प्रदक्षिणा देकर लक्ष्मण के ही दाहिने हाथ में जा कर ठहर गया। रावण हताश हो गया।

अन्ततः लक्ष्मणजी ने वह चक्र संभाला और ज्यों ही उसे घुमाकर रावण पर चलाया, त्यों ही रावण का सिर कटकर भूमि पर आ-गिरा। रावण यमलोक का अतिथि बन गया।

द्रौपदी—

कांपिल्यपुर में द्रुपद नाम का राजा था, उनकी रानी का नाम चुलनी था। उसके एक पुत्र और एक पुत्री थी। पुत्र का नाम धृष्टद्युम्न और पुत्री का नाम था द्रौपदी। उसके विवाहयोग्य होने पर राजा द्रुपद ने योग्य वर चुनने के लिए स्वयंवरमंडप की रचना करवाई तथा सभी देशों के राजा महाराजाओं को स्वयंवर के लिये आमन्त्रित किया। हस्तिनागपुर के राजा पाण्डु के पाँचों पुत्र— युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम, नकुल और सहदेव भी उस स्वयंवर-मंडप में पहुँचे। मंडप में उपस्थित सभी राजाओं और राजपुत्रों को सम्बोधित करते हुए द्रुपद राजा ने प्रतिज्ञा की घोषणा की 'यह जो सामने वेधयंत्र लगाया गया है, उसके द्वारा तीव्र गति से घूमती हुई ऊपर यंत्रस्थ मछली का प्रतिबिम्ब नीचे रखी हुई कड़ाही के तेल में भी घूम रहा है। जो वीर नीचे प्रतिबिम्ब को देखते हुये धनुष से उस मछली का (लक्ष्य का) वेध कर देगा, उसी के गले में द्रौपदी वरमाला डालेगी।'

उपस्थित सभी राजाओं ने अपना-अपना हस्तकौशल दिखाया, लेकिन कोई भी मत्स्यवेध करने में सफल न हो सका। अन्त में पांडवों की बारी आई। अपने बड़े भाई युधिष्ठिर की आज्ञा मिलने पर धनुर्विद्याविशारद अर्जुन ने अपना गांडीव धनुष उठाया और तत्काल लक्ष्य-वेध कर दिया। अपने कार्य में सफल होते ही अर्जुन के जयनाद से सभामंडप गूंज उठा। राजा द्रुपद ने भी अत्यन्त हर्षित होकर द्रौपदी को अर्जुन के गले में वरमाला डालने की आज्ञा दी। द्रौपदी अपनी दासी के साथ मंडप में उपस्थित थी। वह अर्जुन के गले में ही माला डालने जा रही थी, किन्तु पूर्वकृत निदान के प्रभाव से दैवयोगात् वह माला पाँचों भाइयों के गले में जा पड़ी। इस प्रकार पूर्वकृत-कर्मानुसार द्रौपदी के युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम आदि पाँच पति कहलाए।

एक समय पाण्डु राजा राजसभा के सिंहासन पर बैठे थे। उनके पास ही कुन्ती महारानी बैठी थी और युधिष्ठिर आदि पाँचों भाई भी बैठे हुये थे। द्रौपदी भी वहीं थी। तभी आकाश से उतर कर देवर्षि नारद सभा में आए। राजा आदि ने तुरंत खड़े होकर नारद-ऋषि का आदर-सम्मान किया। लेकिन द्रौपदी किसी कारणवश उनका उचित सम्मान न कर सकी। इस पर नारदजी का पारा गर्म हो गया। उन्होंने द्रौपदी द्वारा किये हुए इस अपमान का बदला लेने की ठान ली। उन्होंने सोचा—"द्रौपदी को अपने रूप पर बड़ा गर्व है। इसके इस गर्व को चूर-चूर न कर दिखाऊँ तो मेरा नाम नारद ही क्या?"

वे इस दृढ़संकल्पानुसार मन ही मन द्रौपदी को नीचा दिखाने की योजना बनाकर वहाँ से चल दिये। देश-देशान्तर घूमते हुये नारदजी धातकीखण्ड के दक्षिणार्ध भरतक्षेत्र की राजधानी अमरकंका नगरी में पहुँचे। वहाँ के राजा पद्मनाभ ने नारदजी को अपनी राजसभा में आये देखकर उनका बहुत आदर-सत्कार किया, कुशलक्षेम पूछने के बाद राजा ने नारदजी से पूछा—"ऋषिवर! आप की सर्वत्र अबाधित गति है। आपको किसी भी जगह जाने की रोक-टोक नहीं है। इसलिये यह बताइये कि सुन्दरियों से भरे मेरे अन्तःपुर जैसा और कहीं कोई अन्तःपुर आपने देखा है?"

यह सुनकर नारदजी हँस पड़े और बोले—"राजन्! तू अपनी नारियों के सौन्दर्य का वृथा गर्व करता है। तेरे अन्तःपुर में द्रौपदी सरीखी कोई सुन्दरी नहीं है। सच कहूँ तो, द्रौपदी के पैर के अंगूठे की बराबरी भी ये नहीं कर सकतीं।"

यह वात सुनते ही विषयविलासानुरागी राजा पद्मनाभ के चित्त में द्रौपदी के प्रति अनुराग का अंकुर पैदा हो गया। उसे द्रौपदी के विना एक क्षण भी वर्षो के समान संतापकारी मालूम होने लगा। उसने तत्क्षण पूर्व-संगतिक देवता को आराधना की। स्मरण करते ही देव प्रकट हुआ। राजा ने अपना मनोरथ पूर्ण कर देने की वात उससे कही।

अपने महल में सोई हुई द्रौपदी को देव ने शय्या सहित उठा कर पद्मनाभ नृप के क्रीड़ोद्यान में ला रखा। जागते ही द्रौपदी अपने को अपरिचित प्रदेश में पाकर घवरा उठी। वह मन ही मन पंचपरमेष्ठी का स्मरण करने लगी। इतने में राजा पद्मनाभ ने आकर उससे प्रेमयाचना की, अपने वैभव एवं सुख-सुविधाओं आदि का भी प्रलोभन दिया। नीतिकुशल द्रौपदी ने सोचा—'इस समय यह पापात्मा कामान्ध हो रहा है। अगर मैंने साफ इन्कार कर दिया तो विवेकशून्य होने से शायद यह मेरा शीलभंग करने को उद्यत हो जाए। अतः फिलहाल अच्छा यही है कि उसे भी वुरा न लगे और मेरा शील भी सुरक्षित रहे।' ऐसा सोच कर द्रौपदी ने पद्मनाभ से कहा—'राजन्! आप मुझे छह महीने की अवधि इस पर सोचने के लिये दीजिये। उसके वाद आपकी जैसी इच्छा हो करना।' उसने वात मंजूर कर ली। इसके वाद द्रौपदी अनशन आदि तपश्चर्या करती हुई सदा पंचपरमेष्ठी के ध्यान में लीन रहने लगी।

पांडवों की माता कुन्ती द्रौपदीहरण के समाचार लेकर हस्तिनापुर से द्वारिका पहुँची और श्रीकृष्ण से द्रौपदी का पता लगाने और लाने का आग्रह किया। इसी समय कलहप्रिय नारदऋषि भी वहाँ आ धमके। श्रीकृष्ण ने उनसे पूछा—"मुने! आपकी सर्वत्र अवाधित गति है। अढाई द्वीप में ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ आपका गमन न होता हो। अतः आपने कहीं द्रौपदी को देखा हो तो कृपया वतलाइये।"

नारदजी वोले—"जनार्दन! धातकीखण्ड में अमरकंका नाम की राजधानी है। वहाँ के राजा पद्मनाभ के क्रीड़ोद्यान के महल में मैंने द्रौपदी जैसी एक स्त्री को देखा तो है।"

नारदजी से द्रौपदी का पता मालूम होते ही श्रीकृष्णजी पांचों पांडवों को साथ लेकर अमरकंका की ओर रवाना हुए। रास्ते में लवणसमुद्र था, जिसको पार करना उनके वूते की वात नहीं थी। तव श्रीकृष्णजी ने तेला (तीन उपवास) करके लवणसमुद्र के अधिष्ठायक देव की आराधना की। देव प्रसन्न होकर श्रीकृष्णजी के सामने उपस्थित हुआ। श्रीकृष्णजी के कथनानुसार समुद्र में उसने रास्ता वना दिया। फलतः श्रीकृष्णजी पांचों पांडवों को साथ लिये राजधानी अमरकंका नगरी में पहुँचे और एक उद्यान में ठहर कर अपने सारथी के द्वारा पद्मनाभ को सूचित कराया।

पद्मनाभ अपनी सेना लेकर युद्ध के लिये आ डटा। दोनों ओर से युद्ध प्रारम्भ होने की दुन्दुभि वज उठी। वहुत देर तक दोनों में जम कर युद्ध हुआ। पद्मनाभ ने जव पांडवों को परास्त कर दिया तव श्रीकृष्ण स्वयं युद्ध के मैदान में आ डटे और उन्होंने अपना पांचजन्य शंख वजाया। पांचजन्य का भीषण नाद सुनते ही पद्मनाभ की तिहाई सेना तो भाग खड़ी हुई, एक तिहाई सेना को उन्होंने सारंग-गांडीव धनुष की प्रत्यंचा की टंकार से मूर्च्छित कर दिया। शेष वची हुई तिहाई सेना और पद्मनाभ अपने प्राणों को वचाने के लिये दुर्ग में जा घुसे। श्रीकृष्ण ने नरसिंह का रूप

बनाया और नगरी के द्वार, कोट और अटारियों को अपने पंजों की मार से भूमिसात कर दिया। बड़े-बड़े विशाल भवनों और प्रासादों के शिखर गिरा दिये। सारी राजधानी (नगरी) में हाहाकार मच गया। पद्मनाभ राजा भय से कांपने लगा और श्रीकृष्ण के चरणों में आ गिरा तथा आदर-पूर्वक द्रौपदी को उन्हें सौंप दिया। श्रीकृष्णजी ने उसे क्षमा किया और अभयदान दिया।

तत्पश्चात् श्रीकृष्ण द्रौपदी और पांचों पांडवों को लेकर जयध्वनि एवं आनन्दोल्लास के साथ द्वारिका पहुँचे।

इस प्रकार राजा पद्मनाभ की कामवासना—मैथुन-संज्ञा—के कारण महाभारत काल में द्रौपदी के लिये भयंकर संग्राम हुआ।

रुक्मिणी—

कुंडिनपुर नगरी के राजा भीष्म के दो संतान थीं—एक पुत्र और एक पुत्री। पुत्र का नाम रुक्मी था और पुत्री का नाम था—रुक्मिणी।

एक दिन घूमते-घामते नारदजी द्वारिका पहुँचे और श्रीकृष्ण की राजसभा में प्रविष्ट हुए। उनके आते ही श्रीकृष्ण अपने आसन से उठकर नारदजी के सम्मुख गए और प्रणाम करके उन्हें विनयपूर्वक आसन पर बिठाया। नारदजी ने कुशलमंगल पूछ कर श्रीकृष्ण के अन्तःपुर में गमन किया। वहाँ सत्यभामा अपने गृहकार्य में व्यस्त थी। अतः वह नारदजी की आवभगत भलीभांति न कर सकी। नारदजी ने उसे अपना अपमान समझा और गुस्से में आ कर प्रतिज्ञा की—"इस सत्य-भामा पर सौत लाकर यदि मैं अपने अपमान का मजा न चखा दूँ तो मेरा नाम नारद ही क्या?"

तत्काल वे वहाँ से रवाना हुये और कुंडिनपुर के राजा भीष्म की राजसभा में पहुँचे। राजा भीष्म और उनके पुत्र रुक्म ने उनको बहुत सम्मान दिया, फिर उन्होंने हाथ जोड़ कर आगमन का प्रयोजन पूछा। नारदजी ने कहा—"हम भगवद्-भजन करते हुये भगवद्भक्तों के यहाँ घूमते-घामते पहुँच जाते हैं।" इधर-उधर की बातें करने के पश्चात् नारदजी अन्तःपुर में पहुँचे। रानियों ने उनका सविनय सत्कार किया। रुक्मिणी ने भी उनके चरणों में प्रणाम किया। नारदजी ने उसे आशीर्वाद दिया—"कृष्ण की पटरानी हो।" इस पर रुक्मिणी की बुआ ने साश्चर्य पूछा—"मुनिवर! आपने इसे यह आशीर्वाद कैसे दिया? और श्रीकृष्ण कौन हैं? उनमें क्या-क्या गुण हैं?" इस प्रकार पूछने पर नारदजी ने श्रीकृष्ण के वैभव और गुणों का वर्णन करके रुक्मिणी के मन में कृष्ण के प्रति अनुराग पैदा कर दिया। नारदजी भी अपनी सफलता की सम्भावना से हर्षित हो उठे। नारदजी ने यहाँ से चल कर पहाड़ की चोटी पर एकान्त में बैठ कर एक पट पर रुक्मिणी का सुन्दर चित्र बनाया। उसे लेकर वे श्रीकृष्ण के पास पहुँचे और उन्हें वह दिखाया। चित्र इतना सजीव था कि श्रीकृष्ण देखते ही भावविभोर हो गए और रुक्मिणी के प्रति उनका आकर्षण जाग उठा। वे पूछने लगे—"नारदजी! यह बताइये, यह कोई देवी है, किन्नरी है? या मानुषी? यदि यह मानुषी है तो वह पुरुष धन्य है, जिसे इसके करस्पर्श का अधिकार प्राप्त होगा।"

नारदजी मुसकरा कर बोले—"कृष्ण! वह धन्य पुरुष तो तुम ही हो।" नारदजी ने सारी

घटना आद्योपान्त कह सुनाई। तदनन्तर श्रीकृष्ण ने राजा भीष्म से रुक्मिणी के लिये याचना की। राजा भीष्म तो इससे सहमत हो गए, लेकिन रुक्मी इसके विपरीत था। उसने इन्कार कर दिया कि, "मैं तो शिशुपाल के लिये अपनी वहन को देने का संकल्प कर चुका हूँ।" रुक्मी ने श्रीकृष्ण के निवेदन पर कोई ध्यान नहीं दिया और माता-पिता की अनुमति की भी परवाह नहीं की। उसने सवकी वात को ठुकरा कर शिशुपाल राजकुमार के साथ अपनी वहन रुक्मिणी के विवाह का निश्चय कर लिया। शिशुपाल को वह वड़ा प्रतापी और तेजस्वी तथा भू-मंडल में वेजोड़ वलवान् मानता था। रुक्मी ने शिशुपाल के साथ अपनी वहिन की शादी की तिथि निश्चित कर ली। शिशुपाल भी वड़ी भारी वरात ले कर सजधज के साथ विवाह के लिये कुंडिनपुर की ओर चल पड़ा। अपने नगर से निकलते ही उसे अमंगलसूचक शकुन हुए, किन्तु शिशुपाल ने कोई परवाह न की। वह विवाह के लिये चल ही दिया। कुंडिनपुर पहुँचकर नगर के वाहर वह एक उद्यान में ठहरा। उधर रुक्मिणी नारदजी से आशीर्वाद प्राप्त कर और श्रीकृष्ण के गुण सुन कर उनसे प्रभावित हो गई थी। फलतः मन ही मन उन्हें पति रूप में स्वीकृत कर चुकी थी। वह यह सुनकर अत्यन्त दुःखी हुई कि भाई रुक्मी ने उसकी व पिताजी की इच्छा के विरुद्ध हठ करके शिशुपाल को विवाह के लिये वुला लिया है और वह वारात सहित उद्यान में आ भी पहुँचा है। रुक्मिणी को उसकी वुआ वहुत प्यार करती थी। उसने रुक्मिणी को दुःखित और संकटग्रस्त देखकर उसे आश्वासन दिया और श्रीकृष्णजी को एक पत्र लिखा—"जनार्दन! रुक्मिणी के लिये इस समय तुम्हारे सिवाय कोई शरण नही है। यह तुम्हारे प्रति अनुरक्त है और अहर्निश तुम्हारा ही ध्यान करती है। उसने यह संकल्प कर लिया है कि कृष्ण के सिवाय संसार के सभी पुरुप मेरे लिये पिता या भाई के समान हैं। अतः तुम ही एकमात्र इसके प्राणनाथ हो! यदि तुमने समय पर आने की कृपा न की तो रुक्मिणी को इस संसार में नहीं पाओगे और एक निरपराध अवला की हत्या का अपराध आपके सिर लगेगा। अतः इस पत्र के मिलते ही प्रस्थान करके निश्चित समय से पहले ही रुक्मिणी को दर्शन दें।"

इस आशय का करुण एवं जोशीला पत्र लिख कर वुआ ने एक शीघ्रगामी दूत द्वारा श्रीकृष्णजी के पास द्वारिका भेजा। दूत पवनवेग के समान द्वारिका पहुँचा और वह पत्र श्रीकृष्ण के हाथ में दिया। पत्र पढ़ते ही श्रीकृष्ण को हर्प से रोमांच हो उठा और क्रोध से उनकी भुजाएं फड़क उठीं। वे अपने आसन से उठे और अपने साथ वलदेव को लेकर शीघ्र कुंडिनपुर पहुँचे। वहाँ नगर के वाहर गुप्तरूप से एक वगीचे में ठहरे। उन्होंने अपने आने की एवं स्थान की सूचना गुप्तचर द्वारा रुक्मिणी और उसकी वुआ को दे दी। वे दोनों इस सूचना को पाकर अतीव हर्पित हुई।

रुक्मिणी के विवाह में कोई अड़चन पैदा न हो, इसके लिये रुक्मी और शिशुपाल ने नगर के चारों ओर सभी दरवाजों पर कड़ा पहरा लगा दिया था। नगर के वाहर और भीतर सुरक्षा का भी पूरा प्रवन्ध कर रखा था। लेकिन होनहार कुछ और ही थी।

रुक्मिणी की वुआ इस पेचीदा समस्या को देख कर उलझन में पड़ गई। आखिर उसे एक विचार सूझा। उसने श्रीकृष्णजी को उसी समय पत्र द्वारा सूचित किया—"हम रुक्मिणी को साथ लेकर कामदेव की पूजा के वहाने कामदेव के मन्दिर में आ रही हैं और यही उपयुक्त अवसर है—रुक्मिणी के हरण का। इसलिए आप इस स्थान पर सुसज्जित रहें।

पत्र पाते ही श्रीकृष्ण ने तदनुसार सब तैयारी कर ली। ठीक समय पर पूजा की सामग्री से सुसज्जित थालों को लिये मंगलगीत गाती हुई रुक्मिणी अपनी सखियों के साथ महल से निकली। नगर के द्वार पर राजा शिशुपाल के पहरेदारों ने यह कह कर रोक दिया कि—"ठहरो! राजा की आज्ञा किसी को बाहर जाने देने की नहीं है।" रुक्मिणी की सखियों ने उनसे कहा—"हमारी सखी शिशुपाल की शुभकामना के लिये कामदेव की पूजा करने जा रही है। तुम इस मंगलकार्य में क्यों विघ्न डाल रहे हो? खबरदार! यदि तुम इस शुभकार्य में वाधा डालोगे तो इसका बुरा परिणाम तुम्हें भोगना पड़ेगा। तुम कैसे स्वामिभक्त हो कि अपने स्वामी के हित में वाधा डालते हो!" द्वाररक्षकों ने यह सुन कर खुशी से उन्हें बाहर जाने दिया। रुक्मिणी अपनी सखियों और बुआ सहित आनन्दोल्लास के साथ कामदेवमन्दिर में पहुँची। परन्तु वहाँ किसी को न देखकर व्याकुल हो गई।

उसने आर्त्त स्वर में प्रार्थना की। श्रीकृष्ण और वलदेव दोनों एक ओर छिपे रुक्मिणी की भक्ति और अनुराग देख रहे थे। यह सब देख-सुन कर वे सहसा रुक्मिणी के सामने आ उपस्थित हुए। लज्जा के मारे रुक्मिणी सिकुड़ गई और पीपल के पत्तों के समान थर-थर कापने लगी। श्रीकृष्ण को चुपचाप खड़े देख बलदेवजी ने कहा—"कृष्ण! तुम बुत-से खड़े क्या देख रहे हो! क्या लज्जावती ललना प्रथम दर्शन में अपने मुँह से कुछ बोल सकती है?"

इतना सुनते ही कृष्ण ने कहा—"आओ प्रिये! चिरकाल से तुम्हारे वियोग में दुःखित कृष्ण यही है।" यों कह कर रुक्मिणी का हाथ पकड़ कर उसे सुसज्जित रथ में बैठा लिया। कुंडिनपुर के बाहर रथ के पहुँचते ही उन्होंने पांचजन्य शंख का नाद किया, जिससे नागरिक एवं सैनिक कांप उठे।

इधर रुक्मिणी की सखियों ने शोर मचाया कि रुक्मिणी का हरण हो गया है। इसके बाद श्रीकृष्ण ने जोर से ललकारते हुए कहा—'ए शिशुपाल! मैं द्वारिकापति कृष्ण तेरे आनन्द की केन्द्र रुक्मिणी को ले जा रहा हूँ। अगर तुझ में कुछ भी सामर्थ्य हो तो छुड़ा ले।' इस ललकार को सुनकर शिशुपाल और रुक्मी के कान खड़े हुए। वे दोनों क्रोधावेश में अपनी-अपनी सेना लेकर संग्राम करने के लिए रणांगण में उपस्थित हुए। मगर श्रीकृष्ण और बलदेव दोनों भाइयों ने सारी सेना को कुछ ही देर में परास्त कर दिया। शिशुपाल को उन्होंने जीवनदान दिया। शिशुपाल हार कर लज्जा से मुँह नीचा किए वापिस लौट गया। रुक्मी की सेना तितर-वितर हो गई और उसकी दशा भी बड़ी दयनीय हो गई। अपने भाई को दयनीय दशा में देखकर रुक्मिणी ने प्रार्थना की—मेरे भैया को प्राणदान दिया जाय। श्रीकृष्ण ने हंस कर कहा—'ऐसा ही होगा।' रुक्मी को उन्होंने पकड़ कर रथ के पीछे बांध रखा था, रुक्मिणी के कहने पर छोड़ दिया। दोनों वीर बलराम और श्रीकृष्ण विजयश्री सहित रुक्मिणी को लेकर अपनी राजधानी द्वारिका में आए और वही श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी के साथ विधिवत् विवाह किया।

पद्मावती—

भारतवर्ष में अरिष्ट नामक नगर था। वहाँ बलदेव के मामा हिरण्यनाभ राज्य करते थे। उनके पद्मावती नाम की एक कन्या थी। सयानी होने पर राजा ने उसके स्वयंवर के लिये बलराम और कृष्ण आदि तथा अन्य सब राजाओं को आमंत्रित किया। स्वयंवर का निमंत्रण पाकर बलराम और श्रीकृष्ण तथा दूसरे अनेक राजकुमार अरिष्टनगर पहुँचे।

हिरण्यनाभ के एक बड़े भाई थे—रैवत । उनके रैवती, रामा, सीमा और बन्धुमती नाम की चार कन्याएँ थीं । रैवत ने सांसारिक मोहजाल को छोड़ कर स्व-पर-कल्याण के हेतु अपने पिता के साथ ही बाईसवें तीर्थंकर श्रीअरिष्टनेमि के चरणों में जैनेन्द्री मुनिदीक्षा धारण कर ली थी । वे दीक्षा लेने से पहले अपनी उक्त चारों पुत्रियों का विवाह बलराम के साथ करने के लिए कह गए थे ।

इधर पद्मावती के स्वयंवर में बड़े-बड़े राजा महाराजा आए हुए थे । वे सब युद्धकुशल और तेजस्वी थे । पद्मावती ने उन सब राजाओं को छोड़कर श्रीकृष्ण के गले में वरमाला डाल दी । इससे नीतिपालक सज्जन राजा तो अत्यन्त प्रसन्न हुए और कहने लगे—"विचारशील कन्या ने योग्य वर चुना है ।" किन्तु जो दुर्बुद्धि, अविवेकी और अभिमानी थे, वे अपने बल और ऐश्वर्य के मद में आकर श्रीकृष्ण से युद्ध करने को प्रस्तुत हो गए । उन्होंने वहाँ उपस्थित राजाओं को भड़काया—"ओ क्षत्रियवीर राजकुमारो ! तुम्हारे देखते ही देखते यह ग्वाला स्त्री-रत्न ले जा रहा है । उत्तम वस्तु राजाओं के ही भोगने योग्य होती है । अतः देखते क्या हो ! उठो, सब मिल कर इससे लड़ो और यह कन्या-रत्न छुड़ा लो ।" इस प्रकार उत्तेजित किए गए अविवेकी राजा मिल कर श्रीकृष्ण से लड़ने लगे । घोर युद्ध छिड़ गया । श्रीकृष्ण और बलराम सिंहनाद करते हुए निर्भीक होकर शत्रुराजाओं से युद्ध करने लगे । वे जिधर पहुँचते उधर ही रणक्षेत्र योद्धाओं से खाली हो जाता । रणभूमि में खलबली और भगदड़ मच गई । जल्दी भागो, प्राण बचाओ ! ये मनुष्य नहीं, कोई देव या दानव प्रतीत होते हैं । ये तो हमें शस्त्र चलाने का अवसर ही नहीं देते । अभी यहाँ और पलक मारते ही और कहीं पहुँच जाते हैं । इस प्रकार भय और आतंक से विह्वल होकर चिल्लाते हुए बहुत से प्राण बचा कर भागे । जो थोड़े से अभिमानी वहाँ डटे रहे, वे यमलोक पहुँचा दिये गए । इस प्रकार बहुत शीघ्र ही उन्हें अनीति का फल मिल गया, वहाँ शान्ति हो गई ।

अन्त में रैवती, रामा आदि (हिरण्यनाभ के बड़े भाई रैवत की) चारों कन्याओं का विवाह बड़ी धूमधाम से बलरामजी के साथ हुआ और पद्मावती का श्रीकृष्णजी के साथ । इस तरह वैवाहिक मंगलकार्य सम्पन्न होने पर बलराम और श्रीकृष्ण अपनी पत्नियों को साथ लेकर द्वारिका नगरी में पहुँचे । जहाँ पर अनेक प्रकार के आनन्दोत्सव मनाये गए ।

तारा

किष्किन्धा नगर में वानरवंशी विद्याधर आदित्य राज्य करता था । उसके दो पुत्र थे—बाली और सुग्रीव । एक दिन अवसर देख कर बाली ने अपने छोटे भाई सुग्रीव को अपना राज्य सौंप दिया और स्वयं मुनि-दीक्षा लेकर घोर तपस्या करने लगा । उसने चार घातिकर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया और सिद्ध, बुद्ध, मुक्त बन कर मोक्ष प्राप्त किया ।

सुग्रीव की पत्नी का नाम तारा था । वह अत्यन्त रूपवती और पतिव्रता थी । एक दिन खेचराधिपति साहसगति नाम का विद्याधर तारा का रूप-लावण्य देख उस पर आसक्त हो गया । वह तारा को पाने के लिये विद्या के बल से सुग्रीव का रूप बनाकर तारा के महल में पहुँच गया । तारा ने कुछ चिह्नों से जान लिया कि मेरे पति का बनावटी रूप धारण करके यह कोई विद्याधर आया है । अतः यह बात उसने अपने पुत्रों से तथा जाम्बवान आदि मंत्रियों से कही । वे भी दोनों सुग्रीव को देखकर विस्मय में पड़ गए । उन्हें भी असली और नकली सुग्रीव का पता न चला, अतएव उन्होंने

दोनों सुग्रीवों को नगरी से बाहर निकाल दिया। दोनों में घोर युद्ध हुआ, लेकिन हार-जीत किसी की भी न हुई। नकली सुग्रीव को किसी भी सूरत से हटते न देख कर असली सुग्रीव विद्याधरों के राजा महाबली हनुमानजी के पास आया और उन्हें सारा हाल कहा। हनुमानजी वहाँ आए, किन्तु दोनों सुग्रीवों में कुछ भी अन्तर न जान सकने के कारण कुछ भी समाधान न कर सके और अपने नगर को वापिस लौट गए।

असली सुग्रीव निराश होकर श्रीरामचन्द्रजी की शरण में पहुँचा। उस समय रामचन्द्रजी पाताललंका के खरदूषण से संबंधित राज्य कि सुव्यवथा कर रहे थे। सुग्रीव उनके पास जब पहुँचा और उसने अपनी दुःखकथा उन्हें सुनाई तो श्रीराम ने उसे आश्वासन दिया कि "मैं तुम्हारी विपत्ति दूर करूंगा।' उसे अत्यन्त व्याकुल देख कर श्रीराम और लक्ष्मण ने उसके साथ प्रस्थान कर दिया।

वे दोनों किष्किन्धा के बाहर ठहर गए और असली सुग्रीव से पूछने लगे—"वह नकली सुग्रीव कहाँ है? तुम उसे ललकारो और भिड़ जाओ उसके साथ।" असली सुग्रीव द्वारा ललकारते ही युद्धरसिक नकली सुग्रीव भी रथ पर चढ़ कर लड़ाई के लिये युद्ध के मैदान में आ डटा। दोनों में बहुत देर तक जम कर युद्ध होता रहा पर हार या जीत दोनों में से किसी की भी न हुई। राम भी दोनों सुग्रीवों का अन्तर न जान सके। नकली सुग्रीव से असली सुग्रीव बुरी तरह परेशान हो गया। अतः निराश होकर वह पुनः श्रीराम के पास आकर कहने लगा—"देव! आपके होते मेरी ऐसी दुर्दशा हुई। आप स्वयं मेरी सहायता करें।" राम ने उससे कहा—"तुम भेदसूचक ऐसा कोई चिह्न धारण कर लो और उससे पुनः युद्ध करो। मैं अवश्य ही उसे अपने किए का फल चखाऊंगा।"

असली सुग्रीव ने वैसा ही किया। जब दोनों का युद्ध हो रहा था तो श्रीराम ने कृत्रिम सुग्रीव को पहिचान कर बाण से उसका वहीं काम तमाम कर दिया। इससे सुग्रीव प्रसन्न होकर श्रीराम और लक्ष्मण को स्वागतपूर्वक किष्किन्धा ले गया। वहाँ उनका बहुत ही सत्कार-सम्मान किया। सुग्रीव अब अपनी पत्नी तारा के साथ आनन्द से रहने लगा।

इस प्रकार राम और लक्ष्मण की सहायता से सुग्रीव ने तारा को प्राप्त किया और जीवन भर उनका उपकार मानता रहा।

कांचना

कांचना के लिये भी संग्राम हुआ था, लेकिन उसकी कथा अप्रसिद्ध होने से यहाँ नहीं दी जा रही है। कई टीकाकार मगधसम्राट् श्रेणिक की चिलणा रानी को ही 'कांचना' कहते हैं। अस्तु, जो भी हो, कांचना भी युद्ध की निमित्त बनी है।

रक्तसुभद्रा

सुभद्रा श्रीकृष्ण की बहन थी। वह पांडुपुत्र अर्जुन के प्रति रक्त-आसक्त थी, इसलिये उसका नाम 'रक्तसुभद्रा' पड़ गया। एक दिन वह अत्यन्त मुग्ध होकर अर्जुन के पास चली आई। श्रीकृष्ण को जब इस बात का पता चला तो उन्होंने सुभद्रा को वापस लौटा लाने के लिये सेना भेजी। सेना को युद्ध के लिये आती देख कर अर्जुन किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर सोचने लगा—श्रीकृष्णजी के

खिलाफ युद्ध कैसे करूँ ? वे मेरे आत्मीयजन हैं और युद्ध नहीं करूँगा तो सुभद्रा के साथ हुआ प्रेमबन्धन टूट जाएगा। इस प्रकार दुविधा में पड़े हुए अर्जुन को सुभद्रा ने क्षत्रियोचित कर्त्तव्य के लिये प्रोत्साहित किया। अर्जुन ने अपना गांडीव धनुष उठाया और श्रीकृष्णजी द्वारा भेजी हुई सेना से लड़ने के लिये आ पहुँचा। दोनों में जम कर युद्ध हुआ। अर्जुन के अमोघ वाणों की वर्षा से श्रीकृष्णजी की सेना तितर-बितर हो गई। विजय अर्जुन की हुई। अन्ततोगत्वा सुभद्रा ने वीर अर्जुन के गले में वरमाला डाल दी, दोनों का पाणिग्रहण हो गया। इसी वीरांगना सुभद्रा की कुक्षि से वीर अभिमन्यु का जन्म हुआ, जिसने अपनी नववधू का मोह छोड़ कर छोटी उम्र में ही महाभारत के युद्ध में वीरोचित क्षत्रियकर्त्तव्य.वजाया और वहीं वीरगति को पाकर इतिहास में अमर हो गया। सचमुच वीर माता ही वीर पुत्र को पैदा करती है।

मतलव यह है कि रक्तसुभद्रा को प्राप्त करने के लिये अर्जुन ने श्रीकृष्ण सरीखे आत्मीय जन के विरुद्ध भी युद्ध किया।

अहिन्निका

अहिन्निका की कथा अप्रसिद्ध होने से उस पर प्रकाश डालना अशक्य है। कई लोग 'अहिन्नियाए' पद के बदले 'अहिल्लियाए' मानते हैं। उसका अर्थ होता है—अहिल्या के लिये हुआ संग्राम। अगर यह अर्थ हो तो वैष्णव रामायण में उक्त 'अहिल्या' की कथा इस प्रकार है—अहिल्या गौतमऋषि की पत्नी थी। वह बड़ी सुन्दर और धर्मपरायणा स्त्री थी। इन्द्र उसका रूप देख कर मोहित हो गया। एक दिन गौतमऋषि बाहर गए हुए थे। इन्द्र ने उचित अवसर जान कर गौतमऋषि का रूप वनाया और छलपूर्वक अहिल्या के पास पहुँच कर संयोग की इच्छा प्रकट की। निर्दोष अहिल्या ने अपना पति जानकर कोई आनाकानी न की। इन्द्र अनाचार सेवन करके चला गया। जब गौतमऋषि आए तो उन्हें इस वृत्तान्त का पता चला। उन्होंने इन्द्र को शाप दिया कि—तेरे एक हजार भग हो जाएँ। वैसा ही हुआ। बाद में, इन्द्र के वहुत स्तुति करने पर ऋषि ने उन भगों के स्थान पर एक हजार नेत्र वना दिए। परन्तु अहिल्या पत्थर की तरह निश्चेष्ट होकर तपस्या में लीन हो गई। वह एक ही जगह गुमसुम होकर पड़ी रहती। एक वार श्रीराम विचरण करते-करते आश्रम के पास से गुजरे तो उनके चरणों का स्पर्श होते ही वह जाग्रत होकर उठ खड़ी हुई। ऋषि ने भी प्रसन्न होकर उसे पुनः अपना लिया।

सुवर्णगुटिका

सिन्धु-सौवीर देश में वीतभय नामक एक पत्तन था। वहाँ उदयन राजा राज्य करता था। उसकी महारानी का नाम पद्मावती था। उसकी देवदत्ता नामक एक दासी थी। एक वार देश-देशान्तर में भ्रमण करता हुआ एक परदेशी यात्री उस नगर में आ गया। राजा ने उसे मन्दिर के निकट धर्मस्थान में ठहराया। कर्मयोग से वह वहाँ रोगग्रस्त हो गया। रुग्णावस्था में इस दासी ने उसकी वहुत सेवा की। फलतः आगन्तुक ने प्रसन्न होकर इस दासी को सर्वकामना पूर्ण करने वाली १०० गोलियां दे दीं और उनकी महत्ता एवं प्रयोग करने की विधि भी बतला दी। प्रथम तो स्त्री-जाति, फिर दासी। भला दासी को उन गोलियों का सदुपयोग करने की वात कैसे सूझती ? उस वदसूरत दासी ने सोचा—"क्यों नहीं, मैं एक गोली खा कर सुन्दर वन जाऊं!" उसने आजमाने के लिये एक गोली मुँह में डाल ली। गोली के प्रभाव से वह दासी सोने के समान रूप वाली—खूबसूरत

वन गई। तव से उसका नाम सुवर्णगुटिका प्रसिद्ध हो गया। वह नवयुवती तो थी ही। एक दिन वैठे-वैठे उसके मन में विचार आया—"मुझे सुन्दर रूप तो मिला; लेकिन विना पति के सुन्दर रूप भी किस काम का ? पर किसे पति वनाऊँ ? राजा को तो वनाना ठीक नहीं; क्योंकि एक तो यह बूढ़ा है, दूसरे, यह मेरे लिये पितातुल्य है। अतः किसी नवयुवक को ही पति वनाना चाहिये। सोचते-सोचते उसकी दृष्टि में उज्जयिनी का राजा चन्द्रप्रद्योत जँचा। फिर क्या था ? उसने मन में चन्द्रप्रद्योत का चिन्तन करके दूसरी गोली निगल ली। गोली के अधिष्ठाता देव के प्रभाव से उज्जयिनी-नृप चन्द्रप्रद्योत को स्वप्न में दासी का दर्शन हुआ। फलतः सुवर्णगुटिका से मिलने के लिये वह आतुर हो गया। वह शीघ्र ही गंधगज नामक उत्तम हाथी पर सवार होकर वीतभय नगर में पहुँचा। सुवर्णगुटिका तो उससे मिलने के लिये पहले से ही तैयार वैठी थी। चन्द्रप्रद्योत के कहते ही वह उसके साथ चल दी।

प्रातःकाल राजा उदयन उठा और नित्य-नियमानुसार अश्वशाला आदि का निरीक्षण करता हुआ हस्तिशाला में आ पहुँचा। वहाँ सव हाथियों का मद सूखा हुआ देखा तो वह आश्चर्य में पड़ गया। तलाश करते-करते राजा को एक गजरत्न के मूत्र की गन्ध आ गई। राजा ने शीघ्र ही जान लिया कि यहाँ गंधहस्ती आया है। उसी के गन्ध से हाथियों का मद सूख गया। ऐसा गंधहस्ती सिवाय चन्द्रप्रद्योत के और किसी के पास नहीं है। फिर राजा ने यह भी सुना कि सुवर्णगुटिका दासी भी गायव है। अतः राजा को पक्का शक हो गया कि चन्द्रप्रद्योत राजा ही दासी को भगा ले गया है। राजा उदयन ने रोषवश उज्जयिनी पर चढ़ाई करने का विचार कर लिया। परन्तु मंत्रियों ने समझाया—"महाराज ! चन्द्रप्रद्योत कोई साधारण राजा नहीं है। वह वड़ा वहादुर और तेजस्वी है। केवल एक दासी के लिये उससे शत्रुता करना वुद्धिमानी नहीं है।" परन्तु राजा उनकी वातों से सहमत न हुआ और चढ़ाई करने को तैयार हो गया। राजा ने कहा—"अन्यायी, अत्याचारी और उद्दण्ड को दण्ड देना मेरा कर्त्तव्य है।" अन्त में यह निश्चय हुआ कि 'दस मित्र राजाओं को ससैन्य साथ लेकर उज्जयिनी पर चढ़ाई की जाए।' ऐसा ही हुआ। अपनी अपनी सेना लेकर दस राजा उदयन नृप के दल में शामिल हुए। अन्ततः महाराज उदयन ने उज्जयिनी पर आक्रमण किया। वड़ी मुश्किल से उज्जयिनी के पास पहुँचे। चन्द्रप्रद्योत यह समाचार सुनते ही विशाल सेना लेकर युद्ध करने के लिये मैदान में आ डटा। दोनों में घमासान युद्ध हुआ। राजा चन्द्रप्रद्योत का हाथी तीव्रगति से मण्डलाकार घूमता हुआ विरोधी सेना को कुचल रहा था। उसके मद के गंध से ही विरोधी सेना के हाथी भाग खड़े हुए। अतः उदयन की सेना में कोलाहल मच गया। यह देख कर रथारूढ़ उदयन ने गंधहस्ती के पैर में खींच कर तीक्ष्ण वाण मारा। हाथी वहीं धराशायी हो गया और उस पर सवार चन्द्रप्रद्योत भी नीचे आ गिरा। अतः सव राजाओं ने मिलकर उसे जीते-जी पकड़ लिया। राजा उदयन ने उसके ललाट पर 'दासीपति' शब्द अंकित कर अन्ततः उसे क्षमा कर दिया।

सचमुच सुवर्णगुटिका के लिये जो युद्ध हुआ, वह परस्त्रीगामी कामी चन्द्रप्रद्योत राजा की रागासक्ति के कारण हुआ।

रोहिणी

अरिष्टपुर में रुधिर नामक राजा राज्य करता था, उसकी रानी का नाम सुमित्रा था। उसके एक पुत्री थी। उसका नाम था—रोहिणी। रोहिणी अत्यन्त रूपवती थी, उसके सौन्दर्य की वात सर्वत्र

फैल गई थी। इसलिये अनेक राजा-महाराजाओं ने रुधिर राजा से उसकी याचना की थी। राजा बड़े असमंजस में पड़ गया कि वह किसको अपनी कन्या दे, किसको न दे ? अन्ततोगत्वा उसने रोहिणी के योग्य वर का चुनाव करने के लिये स्वयंवर रचने का निश्चय किया। रोहिणी पहले से ही वसुदेवजी के गुणों पर मुग्ध थी। वसुदेवजी भी रोहिणी को चाहते थे। वसुदेवजी उन दिनों गुप्तरूप से देशाटन के लिये भ्रमण कर रहे थे। राजा रुधिर की ओर से स्वयंवर की आमंत्रणपत्रिकाएँ जरासंध आदि सब राजाओं को पहुँच चुकी थीं। फलतः जरासंध आदि अनेक राजा स्वयंवर में उपस्थित हुए। वसुदेवजी भी स्वयंवर का समाचार पाकर वहाँ आ पहुँचे। वसुदेवजी ने देखा कि उन बड़े-बड़े राजाओं के समीप बैठने से मेरे मनोरथ में विघ्न पड़ेगा, अतः मृदंग बजाने वालों के बीच में वैसा ही वेष बनाकर बैठ गए। वसुदेवजी मृदंग बजाने में बड़े निपुण थे। वे मृदंग बजाने लगे। नियत समय पर स्वयंवर का कार्य प्रारम्भ हुआ। ज्योतिषी के द्वारा शुभमुहूर्त की सूचना पाते ही राजा रुधिर ने रोहिणी (कन्या) को स्वयंवर में प्रवेश कराया। रूपराशि रोहिणी ने अपनी हंसगामिनी गति एवं नूपुर की झंकार से तमाम राजाओं को आकर्षित कर लिया। सबके सब टकटकी लगाकर उसकी ओर देख रहे थे। रोहिणी धीरे-धीरे अपनी दासी के पीछे-पीछे चल रही थी। सब राजाओं के गुणों और विशेषताओं से परिचित दासी क्रमशः प्रत्येक राजा के पास जाकर उसके नाम, देश, ऐश्वर्य, गुण और विशेषता का स्पष्ट वर्णन करती जाती थी। इस प्रकार दासी द्वारा समुद्रविजय, जरासंध आदि तमाम राजाओं का परिचय पाने के बाद उन्हें स्वीकार न कर रोहिणी जब आगे बढ़ गई तो वासुदेवजी हर्षित होकर मृदंग बजाने लगे। मृदंग की सुरीली आवाज में ही उन्होंने यह व्यक्त किया—

'मुग्धमृगनयनयुगले ! शीघ्रमिहागच्छ मैव चिरयस्व।
कुलविक्रमगुणशालिनि ! त्वदर्थमहमिहागतो यदिह ॥'

अर्थात्—हे मुग्धमृगनयने ! अब झटपट यहाँ आ जाओ। देर मत करो। हे कुलीनता और पराक्रम के गुणों से सुशोभित सुन्दरी ! मैं तुम्हारे लिये ही यहाँ (मृदंगवादकों की पंक्ति में) आकर बैठा हूँ।

मृदंगवादक के वेष में वसुदेव के द्वारा मृदंग से ध्वनित उक्त आशय को सुन कर रोहिणी हर्ष के मारे पुलकित हो उठी। जैसे निर्धन को धन मिलने पर वह आनन्दित हो जाता है, वैसे ही निराश रोहिणी भी आनन्दविभोर हो गई और शीघ्र ही वसुदेवजी के पास जाकर उनके गले में वरमाला डाल दी।

एक साधारण मृदंग बजाने वाले के गले में वरमाला डालते देख कर सभी राजा, राजकुमार विक्षुब्ध हो उठे। सारे स्वयंवरमंडप में शोर मच गया। सभी राजा चिल्लाने लगे—"बड़ा अनर्थ हो गया ! इस कन्या ने कुल की रीति-नीति पर पानी फेर दिया। इसने इतने तेजस्वी, सुन्दर और पराक्रमी राजकुमारों को ठुकरा कर और न्यायमर्यादा को तोड़कर एक नीच वादक के गले में वरमाला डाल दी ! यदि इसका वादक के साथ अनुचित संबंध या गुप्त-प्रेम था तो राजा रुधिर ने स्वयंवर रचाकर क्षत्रिय कुमारों को आमन्त्रित करने का नाटक क्यों रचा ! यह तो हमारा सरासर अपमान है।" इस प्रकार के अनेक आक्षेप-विक्षेपों से उन्होंने राजा को परेशान कर दिया। राजा रुधिर किंकर्त्तव्यविमूढ और आश्चर्यचकित होकर सोचने लगा—विचार-

शील, नीतिनिपुण और पवित्र विचार की होते हुए भी, पता नहीं रोहिणी ने इन सब राजाओं को छोड़ कर एक नीच व्यक्ति का वरण क्यों किया ? रोहिणी ऐसा अज्ञानपूर्ण कृत्य नहीं कर सकती। फिर रोहिणी ने यह अनर्थ क्यों किया ? अपने पिता को इसी उधेड़बुन में पड़े देख कर रोहिणी ने सोचा कि 'मैं लज्जा छोड़कर पिताजी को इनका (अपने पति का) परिचय कैसे दूँ ?' वसुदेवजी ने अपनी प्रिया का मनोभाव जान लिया। इधर जब सारे राजा लोग कुपित होकर अपने दल-बलसहित वसुदेवजी से युद्ध करने के लिये तैयार हो गए, तब वसुदेवजी ने भी सबको ललकारा—

"क्षत्रियवीरो ! क्या आपकी वीरता इसी में है कि आप स्वयंवर-मर्यादा का भंग कर अनीति-पथ का अनुकरण करें ? स्वयंवर के नियमानुसार जब कन्या ने अपने मनोनीत वर को स्वीकार कर लिया है, तब आप लोग क्यों अड़चन डाल रहे हैं ? राजा लोग न्याय-नीति के रक्षक होते हैं, नाशक नहीं। आप समझदार हैं, इतने में ही सब समझ जाइये।"

इस नीतिसंगत बात को सुनकर न्याय-नीतिपरायण सज्जन राजा तो झटपट समझ गए और उन्होंने युद्ध से अपना हाथ खींच लिया। वे सोचने लगे कि इस बात में अवश्य कोई न कोई रहस्य है। इस प्रकार की निर्भीक और गंभीर वाणी किसी साधारण व्यक्ति की नहीं हो सकती। लेकिन कुछ दुर्जन और अड़ियल राजा अपने दुराग्रह पर अड़े रहे। जब वसुदेवजी ने देखा कि अब सामनीति से काम नहीं चलेगा, ऐसे दुर्जन तो दण्डनीति—दमननीति से ही समझेंगे, तो उन्होंने कहा, "तुम्हें वीरता का अभिमान है तो आ जाओ मैदान में ! अभी सब को मजा चखा दूंगा।"

वसुदेवजी के इन वचनों ने जले पर नमक छिड़कने का काम किया। सभी दुर्जन राजा उत्तेजित होकर एक साथ वसुदेवजी पर टूट पड़े और शस्त्र-अस्त्रों से प्रहार करने लगे। अकेले रणशूर वसुदेवजी ने उनके समस्त शस्त्रास्त्रों को विफल कर सब राजाओं पर विजय प्राप्त की।

राजा रुधिर भी वसुदेवजी के पराक्रम से तथा बाद में उनके वंश का परिचय पाकर मुग्ध हो गया। हर्षित हो कर उसने वसुदेवजी के साथ रोहिणी का विवाह कर दिया। प्राप्त हुए प्रचुर दहेज एवं रोहिणी को साथ लेकर वसुदेवजी अपने नगर को लौटे। इसी के गर्भ से भविष्य में बलदेवजी का जन्म हुआ, जो श्रीकृष्णजी के बड़े भाई थे।

इसी तरह किन्नरी, सुरूपा और विद्युन्मती के लिये भी युद्ध हुआ। ये तीनों अप्रसिद्ध हैं। कई लोग विद्युन्मती को एक दासी बतलाते हैं, जो कोणिक राजा से सम्बन्धित थी और उसके लिये युद्ध हुआ था। इसी प्रकार किन्नरी भी चित्रसेन राजा से सम्बन्धित मानी जाती है, जिसके लिए राजा चित्रसेन के साथ युद्ध हुआ था। जो भी हो, संसार में ज्ञात-अज्ञात, प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध अगणित महिलाओं के निमित्त से भयंकर युद्ध हुए हैं।

□□

विशिष्ट शब्दों एवं नामों का कोश

		पृष्ठ
अकारको	अकर्त्ता—क्रिया न करने वाला	६२
अकिच्चं	अकृत्य—हिंसा का एक नाम	६
अकिरिया	अक्रिया	५५
अंकुस	अंकुश	१३२
अगम्मगामी	बहिन-बेटी आदि के साथ गमन करने वाला	६८
अगर	सुगन्धित द्रव्यविशेष	२५७
अगार	घर	२२
अगुत्ती	अगुप्ति—परिग्रह का २३ वां नाम	१४३
अचक्खुसे	अचाक्षुष—आंख से नहीं दिखने वाला	२०
अच्छभल्ल	रीछ—भालू	१३
अच्छरा	अप्सरा—देवांगना	११५
अज्झप्पज्झाण	अध्यात्मध्यान	२०८
अंजणकसेल	अंजनक पर्वत	१४६
अट्टालग	अट्टालिका—अटारी	२१
अट्टं	आर्त्त	२२२
अट्ठकम्म	ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्म	२४८
अट्ठमयमहणे	आठ मदों का मथन करने वाला	२४८
अट्ठावय	अष्टापद—पशुविशेष	१३२
अट्ठि	अस्थि—हड्डी	१६
अडवी	जंगल	४१
अंडग	अंडा	५६
अंडज	अंडे से उत्पन्न होने वाला	१३८
अंणकर	हिंसा का एक नाम	६
अणक्क (क्ख)	देशविशेष	२५
अणज्ज	अनार्य	५१
अणत्थको	अनर्थकारी—परिग्रह का एक नाम	१४३
अणत्थो	" "	१४३
अणवदग्गं	अनन्त	१३८

अण्हय	आस्रव	५
अणासवो	अनास्रव—अहिंसा का एक नाम	१६१
अणाह	अनाथ	१९
अणिल	वायु	२०
अणिहुय	अस्थिर	१३
अत्ताणे	अत्राण—त्राण से रहित	१९
अत्थसत्थ	अर्थशास्त्र, राजनीति	१४८
अत्थालियं	अर्थालीक—धनसम्बन्धी असत्य	६९
अंत	आंत	१६
अंध	आन्ध्र——आन्ध्र प्रदेश	२५
अद्धचंद	अर्धचन्द्र के आकार की खिड़की या सोपान	२२
अप्पसुह	अल्पसुख—सुख से शून्य	१४९
अवितिज्जओ	अद्वितीय—असहाय	१९३
अभिज्जा	आसक्ति	१४८
अयगर	अजगर	१४
अरविंद	कमल	२१७
अरास	मानवजातिविशेष	२५
अलिय	अलीक—मिथ्या	५१
अवकोडकवंधन	पीठ पीछे हाथ बाँधना	३२
अवज्ज	अवद्य—पाप	२२४
अवधिका	उधेई—दीमक	४४
अविभाव	अज्ञात वन्धु	१३
अवीसंभो	अविश्रम्भ—हिंसा का एक नाम	९
अस्समड	मृत घोड़े का कलेवर	२३७
असि	तलवार	२९
असिवण	तलवार की धार के समान पत्तों वाले वृक्षों का वन	३६
असंजओ	संयम-रहित—हिंसा का एक नाम	९
असंजम	असंयम	९
असंतोस	असन्तोष—परिग्रह का एक नाम	१४३
अहरगइ	अधोगति, कुगति	६९
अहिमड	अहिमृत—सांप का कलेवर	२३७
अहिसंधि	अभिप्राय	७१
आगमेसिभद्द	आगामी काल में कल्याणकारी	२५२
आगर	खान	९३
आडा	आडपक्षी	१५
आतोज्ज	वाजे	२२

उप्पाय	उत्पात पर्वत	१४६
उद्	उद्देश	२५
उदरि	जलोदर वाला	२५५
उद्दवणा	उपद्रवण-हिंसा का ६ वां नाम	६
उब्भिय	भूमि को फोड़कर उत्पन्न होने वाला जीव	१३८
उम्मी	ऊर्मि—लहर	६१
उम्मूलणा	उन्मूलना—हिंसा का दूसरा नाम	६
उरग	पेट के बल से चलने वाला सर्प-विशेष	१४
उरब्भ	मेढा	१३
उवहिया	ठगाई करने वाला ठग	५३
उवकरण	परिग्रह का एक नाम	१४३
उवचयो	उपचय, परिग्रह का चतुर्थ नाम	१४३
उवाणहा	जूता	२४१
उस्सओ	उच्छ्रय-भाव की उन्नति, अहिंसा का ४५ वाँ नाम	१६२
उसीर	उशीर—सुगन्धित द्रव्य	२५७
एगचक्खु	काणा	४७
एगेंदिए	एक इन्द्रिय वाला जीव	४५
एणीयारा	मृग पकड़ने के लिये हिरणी लेकर फिरने वाले	२४
एरावण	ऐरावत—इन्द्र का हाथी	२१७
एलारसं	इलायची का रस	२५७
ओदण	चावल-भात	२४२
ओवाय	अवपात—पर्वतविशेष	१४६
ओसह	औषध	१५६
कक्क	कपट	५३
कक्कणा	असत्य का एक नाम	५१
कच्छभ	कछुआ	१३
कच्छभी	वाद्य—वाजाविशेष	२५३
कच्छुल्ल	खुजली के रोग वाला	२५५
कडगमद्दणं	कटकमर्दन—हिंसा का १५ वां नाम	६
कडुय	कड़ुआ	६
कढिणगं	कठिण-तृणविशेष	२०८
कणग	सोना	२००
कणगनियल	सोने का बना गहनाविशेष	२५३
कणवीर	कनेर	६६
कण्ण	कान	१६
कन्दु	लोही—भूंजने का एक पात्र	३२

कन्नालियं	कन्या सम्बन्धी झूठ	९६
कप्पणि	कैंची	३७
कप्पड	कोड़ा	९६
कपिंजलक	कपिंजल पक्षी	१५
कव्वड	खराव नगर	१४१
कमंडलु	कुण्डी, कमण्डलु	१३२
कम्मंत	कारखाना, जहाँ चूना आदि तैयार किया जाता है	२०७
कम्मकर	सेवक	७४
कयली	केला	१३२
करक	करक पक्षी	१५
करभ	ऊंट	१३
करवत्त	करवत	२९
करिसण	कृषि	२१
कलस	कलश, घट	१३२
कलाओ	कलाएँ	१४८
कलाय	कलाद—सुनार	५३
कल्लाण	कल्याणकारी—अहिंसा का २९ वां नाम	१६१
कलिकरंडो	कलह की पेटी, परिग्रह का १९ वां नाम	१४३
कवड	कपट	५१
कविल	कपिल पक्षी	१५
कवोल	कबूतर	१५
कवोल	कपोल, गाल	१३२
कस	चमडे का चाबुक	४१
कहक	कथा करने वाला	२५५
काउदर	काकोदर—एक प्रकार का साँप	१४
काणा	काणे	४७
कादम्बक	हंस विशेष	१५
कापुरिस	कायर मनुष्य	१६०
कायगुत्ते	कायगुप्त	२४८
कारंडग	कारंडक पक्षी	१५
कारुइज्जा	छीपें—शिलूरी	५३
कालोदधि	कालोदधि समुद्र	१४६
काहावण	कार्पापण—एक प्रकार का सिक्का	५३
कित्ती	कीर्ति—अहिंसा का ५ वां नाम	१६१
किन्नर	किन्नर देव, वाद्यविशेष	११५
किन्नरी	महिलाविशेष का नाम	१३७

किमिय	कृमि—कीड़े	४५
किरिया	प्रशस्त या अप्रशस्त कार्य	५५
किरियाठाण	क्रियास्थान	१२६
कीड	कीड़ा	१७७
कीर	तोता	१५
कुक्कुड	मुर्गा	१५
कुकूलाऽनल	कोयले की आग	२६
कुच्च	कूची बनाने योग्य घास	२०८
कुडिल	कुटिल—टेढा	५३
कुड्ड	कुड्य—दीवाल	२८
कुणी	कर से हीन	२५५
कुद्दाल	कुदाल	४६
कुद्ध	क्रोधी	१९२
कुम्म	कछुवा	११७
कुम्मास	उड़द	२४२
कुरंग	हिरण	१३
कुलकोडी	कुलकोटि	४३
कुलल	कुलल पक्षी	१५
कुलक्ख	कुलक्ष—पक्षी की एक जाति, एक देश	२५
कुलिंगी	कुतीर्थी	५३
कुलिय	विशेष प्रकार का हल—वखर	२२
कुलीकोस	कुटीक्रोश पक्षी	१५
कुवितसाला	तृण आदि रखने का घर	२०७
कुस	कुश—तृण विशेष	११७
कुसंघयण	कमजोर अस्थिबंध वाला	४७
कुसंठिया	खराब आकार वाले	४७
कुहण	कुहण देश	२५
कुहंड	कूष्माण्ड—देवविशेप	९२
कूडतुल	झूठा तोलने वाले	५३
कूडमाणी	झूठा माप करने वाले	५३
कूरकम्मा	क्रूर कर्म करने वाले	२४
कूरिकड	चोरी का एक नाम	८४
कूव	कूआ	२१
केकय	केकय देश	२५
केवलीणठाणं	केवलियों का स्थान—अहिंसा का ३६ वां नाम	१६१
केसरिमुहविप्फारगा	सिंह का मुंह फाड़ने वाले	१२२

कोइल	कोकिल	१३२
कोकंतिय	लोमड़ी	१३
कोट्टवलिकरण	वलिदान का एक प्रकार	३२
कोढिक	कुष्ठ रोगी	२५५
कोणालग	कोणालक पक्षी	१५
कोरंग	कोरंग पक्षी	१५
कोल	कोल—चूहे के समान जीव	१३
कोल-सुणक	वड़ा सूअर	१३
कोसिकार-कीडो	रेशम का कीड़ा	१०४
कंक	कंक पक्षी	३८
कंचणक	काञ्चनक पर्वत	१४६
कंचणा	कंचना, एक नारी	१३७
कंची	काञ्ची—कन्दोरा	२५३
कुंडिया	कुण्डी कमण्डलु	२४१
कंती	कान्ति-चमक, अहिंसा का ६ ठा नाम	१६१
कंदमूलाई	कन्दमूल	२४१
कंस	कांस्य, कांसे का पात्र	२००
कुंकुम	कुंकुम	२५७
कुंच	क्रौंच पक्षी	१५
कुंजर	हाथी	११७
कुंट	खराव हाथ वाला, टोंटा	४७
कुंडल	कुण्डलाकार पर्वत	१४६
कुंत (कोंत)	भाला, अस्त्रविशेष	३७
कुंथु	कुन्थु-जीवविशेष	४४
कोंकणग	कोंकण देश	२५
कोंत	भाला	३७
कोंच	क्रौंच देश	२५
खग	पक्षी	१५
खग्ग	खड्ग-गेंडा	१३
खग्ग	खड्ग-तलवार	८९
खद्धं	जल्दी, शीघ्र	२०९
खर	गधा	१३
खस	खस देश	२५
खहयर	खेचर-पक्षी	१५
खाडहिल	गिलहरी	१४
खाति(इ)य	खाई	२१

खासिय	खासिक देश	२५
खील	खील	२२
खुज्ज	कुबड़ा	४७
खुड्डिय	तलाई	२५५
खुर	छुरा	२९
खुहिय	भूखा	१६५
खेड	खेडा—छोटा गांव	९३
खेलोसहि	एक प्रकार की लब्धि	१६७
खेव	चोरी	८४
खंडरक्ख	चुंगी लेने वाला अथवा कोतवाल	५३
खंड	खांड—शक्कर	२५८
खंती	क्षान्ति—अहिंसा का १३ वां नाम	१६१
खंध	स्कन्ध	५३
खिंखिणी	पायल, आभूषणविशेष	२५३
गंडि	गंडमाला	२५५
गय	हाथी	१३
गयकुल	हाथियों का झुण्ड	७१
गया	गदा—अस्त्रविशेष	८९
गरल	अन्य वस्तु में मिला विष	२४
गरुल	गरुड पक्षी	१५
गरुलवूह	गरुडव्यूह	८६
गवय	रोझ—नीली गौ	१३
गवालिय	गाय सम्बन्धी झूठ	६९
गहियगहणा	गिरवी रखने वाले—गिरवी का माल हजम करने वाले	५३
गागर	घड़ा	११७
गाम	ग्राम	९३
गाय (काय)	एक म्लेच्छ जाति	२५
गालणा	हिंसा का एक नाम	९
गिद्द	गीध	३८
गाह	ग्राह—जल जन्तु	१३
गिलाण	बीमार	२०४
गुज्झ	अब्रह्म का एक नाम	११३
गुत्ती	गुप्ति	२२६
गुणाणं विराहणत्ति	गुणों की विराधना—हिंसा का ३० वां नाम	९
गुरुतप्पओ	गुरुपत्नीगामी	६८
गुल (ड)	गुड़	२४२

गोउर	गोपुर—नगर का मुख्य द्वार	२१
गोकण्ण	दो खुर वाला चौपाया जानवर	१३
गोच्छओ	पूंजनी	२४७
गोड	गौड देश	२५
गोण	गाय बैल	१३
गोणस	विना फण का सांप	१४
गोध	गोधा	१४
गोमड	गाय का कलेवर	२५७
गोमिय	अधिकारीविशेष	६४
गोहा	गोधा	७१
गोसीससरसचंदन	गोशीर्ष नामक शीतल चन्दन	२५७
गंडूलय	गिंडोला, जन्तुविशेष	४५
गंथिभेदग	गांठ काटने वाला	८६
गंध	ंध	२५७
गंधमादण	पर्वतविशेष	१८४
गंधहारग	गन्धहारक देश (कन्धार)	२५
घत्थ	ग्रस्त—जकड़ा हुआ	१४९
घय	घी	२५८
घर	घर—गृह	२१
घायणा	हिंसा का छट्ठा नाम	९
घीरोली	घरमें रहने वाली गोह	१४
घूय	घूक—उल्लू	९४
घंटिय	घंटिका-घुंघरू	२५३
चउक्क	चौक	९८
चउम्मुह	चारों ओर द्वार वाली इमारत	९८
चउरंग	चकोर पक्षी	१५
चउरिंदिए	चार इन्द्रिय वाला जीव	४३
चक्क	चक्र—चक्रव्यूह	८७
चक्कवट्टी	चक्रवर्ती	५५
चक्कवाग	चक्रवाक, चकवा	१५
चक्खुसे	चाक्षुष—आंख से देखने योग्य	२०
चच्चर	चार से अधिक मार्गों का संगम	९८
चडग	चिड़िया	१५
चडगर	समूह	८९
चमर	चमरी गाय	१३
चम्म	चमड़ा	१६

चम्मट्ठिल	चमगादर	१५
चम्मपत्र	चर्मपात्र	२४१
चम्मेट्ठ	चमड़े से मढा पत्थर	८९
चय	वस्तुओं की ढेरी, परिग्रह का तीसरा भेद	१४३
चरंत	अब्रह्मचर्य का एक नाम	११३
चरिया	नगर और कोट के मध्य का मार्ग	२१
चलण	चरण—पैर	१३२
चलणमालिय	आभूषणविशेष	२५३
चवल	चपल	१२३
चाई	त्यागी	२४८
चाडुयार	खुशामदी	५३
चाणूर	चाणूर मल्ल	१२२
चारक	वन्दीखाना	९६
चार	गुप्त दूत	५३
चाव	धनुष	८९
चास	चाश पक्षी	१५
चिक्खल्ल	कीचड़	२९
चित्त	चित्रकूट पर्वत	१४६
चित्तसभा	चित्रसभा	२१
चिइ	भित्ति आदि का वनाना	२१
चिइका	चिता	९४
चिल्लल	चीता या दो खुर वाला पशुविशेष	१३
चीण	चीन देश	२५
चिलाय	चिलात देशवासी	२५
चीरल्ल	चील	१५
चूलिया	चूलिका	२५
चेइय	चैत्य	२१
चोक्ख	चोक्ष—अहिंसा का ५४ वां नाम	१६२
चोरिक्क	चोरी	८४
चोलपट्टक	चोलपट्टा, साधु के पहनने का वस्त्र	१८०
चंगेरी	फूलों की डाली या वाद्यविशेष	२२
चंडो	उद्धत—प्राणवध का विशेषण	६
चंदनक	कौड़ी	४५
चंदसालिय	अटारी	२२
चुंचुया	चुंचुक	२५
छगल	वकरे की एक जाति	१३

छत्त	छत्रं	१३२
छरुप्पगयं	एक कला	१४८
छविच्छेश्रो	हिंसा का २१ वां नाम	९
छीरल	वाहुश्रों से चलने वाला जीव	१४
छुद्दिय	श्राभरणविशेप	२५३
जक्ख	यक्ष—देवविशेप	९२
जग	यकृत—पेट के दाहिनी तरफ रहने वाली मांसग्रन्थि	१६
जच्च	उत्तम जातीय	१३२
जणवय	देश	९३
जत(य)नं	यजन श्रभयदान—श्रहिंसा का ४८ वां नाम	१६२
जदिच्छाए	यदृच्छा	६५
जन्नो	यज्ञ, श्रहिंसा का ४६ वां नाम	१६२
जमपुरिस	यमपुरुष—परमाधर्मी देव	२९
जमकवर	यमकवर पर्वत	१४६
जराउय	जरायुज—जड़ के साथ उत्पन्न होने वाला जीव	१३८
जरासंधमाणमहणा	जरासन्ध राजा के मान को मथने वाले	१२२
जलगए	जल में रहने वाले कीड़े श्रादि	१९
जलमए	जलकाय के जीव	१९
जलयर	जलचर	२६
जल्ल	जल्लदेश या डोरी पर खेलने वाला	२५
जल्लोसहि	एक प्रकार की लव्धि	१६७
जलूय	जलूका, जौंक	४५
जव	जौ-जव	११७
जवण	यवन लोग	२५
जहण	जघन, जंघा	१३२
जाइ	जाति, जन्म	५३
जाण	यान	२२
जाणसाला	यानशाला, वाहन श्रादि रखने का घर	२२
जारिसश्रो	जैसा	५
जाल	ज्वाला	२९
जालक	जालियां	२२
जाहक	कांटों से ढका हुश्रा शरीर वाला जन्तु	१४
जिणेहिं	जिनेन्द्रदेवों द्वारा	१५
जीवनिकाया	जीवनिकाय	२३१
जीवियंतकरणो	हिंसा का २२ वां नाम	९

जीवंजीवक	चकोर पक्षी	१५
जुय	युग, जूवा	२२
जूयकरा	जुआरी	५३
जूव	यूप	१३२
जोगसंगहे	योगसंग्रह	२३१
जोग्ग	दो हाथ का यानविशेष—युग्य	२२
जोणी	योनि—जन्मस्थान	२४१
जंत	यन्त्र	२२
जंतुगं	पानी में पैदा होने वाला तृणविशेष	२०८
जंबुय	शृगाल	६४
जंबू	सुधर्मा गणधर के शिष्य	५
जंभग	जृम्भक—देवविशेष	१८४
झय	ध्वज	८६
झस	जल-जन्तु	१३
झाण	ध्यान	२१८
ठिति	स्थिति, अहिंसा का २२ वां नाम	१६१
डब्भ	डाभ—तृणविशेष	२०८
डमर	संग्राम	७५
डाइणी	डाकिन	६४
डोंब	डोंब जाति	२५
डोबिलग	डोबिलक देश	२५
डंसमसग	डांस-मच्छर	२०९
ढेणियालग	ढेणिकालग—एक प्रकार का पक्षी	१५
ढिंक	ढंक पक्षी	१५
णउल	नकुल	१४
णक्क	नाक	१६
णग	पर्वत	११७
णगर	नगर	११७
णत्थिवाइणो	नास्तिवादी—नास्तिक	५४
णयण	नेत्र	१६
णह	नख	१६
णिक्खेव	धरोहर	६९
णित्तुसं	सारयुक्त-असारतारहित	२१३
णियडि	माया	१४१
णिवाय	पवनरहित	२०८
णिव्वाण	अहिंसा का एक नाम	१६१

णिव्वुई	अहिंसा का एक नाम	१६१
णिव्वुइघर	मोक्ष	२१३
ण्हुणं	सौभाग्यस्नान	७५
ण्हारूणि	स्नायु	१६
णिग्घिणो	घृणारहित	४८
णिज्जवणा	णिज्जूहग-द्वारशाखा	२२
णिस्सेणि	निस्सरणी	२२
णिस्संद	सार	५
णिस्संसो	नृशंस, क्रूर	४८
णेउर	नूपुर	११७
णंदमाणक	नंदीमुख	१५
णंगल	हल	२२
तउय	त्रपु	२४१
तक्कर	चोर	६६
तण्हा	तृष्णा—परिग्रह का २७ वां नाम	१४३
तत	वीणा आदि वाद्य	२२
तत्तिय	संताप	७४
तप्पण	सत्तू	२४२
तय	त्वचा	२४०
तरच्छ	जंगली पशु	१३
तलताल	वाद्यविशेष	२५३
तलवर	मस्तक पर स्वर्णपट्टधारक राजपुरुष	१४६
तलाग	तालाव	२१
तव	तप	२२२
तस	त्रस जीव	१३८
ताय	तात	३४
तारा	तारा	१३७
तालयंट	ताल पत्र के पंखे	११७
तित्त	तीता रस	२५८
तित्ती	तृप्ति—अहिंसा का १० वां नाम	१६१
तित्तिय	तित्तिक देश	२५
तित्तिर	तीतर पक्षी	१५
तिमि	वड़े मत्स्य	१३
तिमिसंधयार	घोर अन्धकार	१५४
तिमिंगिल	वहुत वड़े मत्स्य	१३
तिरिय	तिर्यञ्च	३९

तिवायणा	त्रिपातना (अतिपातना)—हिंसा का १०वां नाम	९
तिसिय	प्यासा	१६५
तिहि	तिथि	२४३
तुरय	घोड़ा	११७
तूणइल्ल	वाद्यविशेष वजाने वाला	२५३
तेणिक्क	चोरी	८४
तेल्ल	तेल	२४२
तोमर	वाण	३७
तोरण	तोरण	२२
तंती	तन्त्री-वीणा	२५३
तंव	ताम्र	१३२
तुंड	मुख	३८
थण	स्तन	१३३
थलयर	स्थलचर	२६
थावर	स्थावर—एकेन्द्रिय जीव	१३८
थूभ	स्तूप	२१
थोवगं	थोड़ा	५५
दइओ	दयित—प्रिय	१३९
दईवतप्पभावओ	भाग्य के प्रभाव से	६५
दग	उदक, पानी	९१
दगतुंड	दगतुंड पक्षी	१५
दच्छ	दक्ष-चतुर	५३
दद्दुर	वाद्यविशेष	२५३
दब्भपुप्फ	एक प्रकार का सर्प	१४
दया	दया—अहिंसा का ११ वां नाम	१६१
दरदड्ढ	कुछ जला हुआ	९४
दवग्गि	दावानल	२४
दव्वसारो	द्रव्यसार वाला-परिग्रह का १० वां नाम	१४३
दविल	द्रविड	२५
दह	ह्रद	२४
दहपति	ह्रदपति—पद्म ह्रद आदि	१४६
दहिमुह	दधिमुख पर्वत	१४६
दाढि	दाढ	१६
दामिणी	माला	१३२
दार	द्वार—दरवाजा	२१
दालियंव	खट्टी दाल	२५८

दिलिवेढय	जलीय जन्तुविशेष	१३
दीविय	चीता	१३
दीविय	एक प्रकार की चिड़िया	१५
दीहिया	वावड़ी	२४
दुक्कयं	दुष्कृत	६२
दुग्गइप्पवाओ	हिंसा का एक नाम	९
दुद्ध	दुग्ध	२५८
दुहण	द्रुघन—वृक्षों को गिराने वाला मुद्गर द्रुहना	८९
देवई (की)	देवकी रानी	१२२
देवकुल	देवमन्दिर	२१
दोणमुह	जलमार्ग और स्थलमार्ग दोनों से जाने योग्य नगर	९३
दोणि	छोटी नौका	२२
दोवई	द्रौपदी	१३७
दोहग्ग	दुर्भाग्य	१३२
दंतट्ठा	दांत के लिए	१६
दंसण	सामान्य बोध, श्रद्धागुण	११५
दंसमसग	डांस-मच्छर	२२२
धणित	अत्यर्थ	९२
धत्तरिट्ठग	धार्तराष्ट्र—हंस विशेष	१५
धमण	भैंस आदि के देह में हवा भरना	४२
धमणि	नाडी	१६
धिती	धृति—अहिंसा का २८ वां नाम	१६१
धूम	धूम—आहारसंबंधी एक दोष	२४५
नक्क	जलजन्तु विशेष	१३
नगरगोत्तिय	नगररक्षक	५३
नट्टक	नर्तक	२५५
नड	नट	२५५
नह	नख	१६
नाराय	लोहे का वाण	३७
निक्किंओ	निष्क्रिय	६२
निगड	लोहे की वेडी	१९
निगम	वणिकों का निवासस्थान	९३
निग्गुणो	निर्गुण	६२
निच्चो	नित्य	६२
निज्जवणा	हिंसा का २८ वां नाम	९
नत्थिकवादिणो	नास्तिकवादी	५४

निम्मलतर	खूब स्वच्छ, अहिंसा का ६० वां नाम	१६१
नि (णि) यडि	कपट-मायाचार	१३९
निव्वाणं	निर्वाण-मोक्ष, अहिंसा का एक नाम	१६१
निव्वुइ	निवृत्ति, शान्ति	७७
निहाणं	निधान, परिग्रह का ८ वां नाम	१४३
नू(णू)मं	नूम-ढक्कन	५१
नेउर	नूपुर	२५३
नेरइय	नरक के जीव	३५
नेहुर	नेहुर देश	२५
नंदा	समृद्धिदायक, अहिंसा का २४ वां नाम	१६१
नंदि	वाद्यविशेष	२५३
पइभय	प्रतिभय	२९
पइल्ल	श्लीपद-फीलपांव	२५५
पउम	पद्म-कमल, पद्मव्यूह	३५, ८६
पउमावई	पद्मावती रानी	१३७
पएणीयारा	विशेष रूप से हिरनियों को मारने के लिये फिरने वाले	२४
पक्कणिय	पक्कणिक देश	२५
पच्चक्खाणं	प्रत्याख्यान	५५
पच्छाय	ढंकने का वस्त्र	२४७
पज्जत्त	पर्याप्त-पर्याप्ति की पूर्णता वाले जीव	२६
पट्टण	पाटन	६३
पट्टिस	प्रहरणविशेष	८९
पडगार	जुलाहा	५३
पडिग्गहो	पात्र	२४७
पडिबंधो	प्रतिबन्ध—बाह्य पदार्थों में स्नेहबन्ध होना, परिग्रह का १२वां नाम	१४३
पडिलेहण	प्रतिलेखना	२४७
पडिसीसग	कृत्रिम शिर	७५
पडिसुआ	प्रतिध्वनि	३५
पणव	वाद्यविशेष	२५३
पण्हव	पह्लव देश	२५
पतरक	भूषणविशेष	२५३
पत्तेयसरीर	प्रत्येक शरीर, ऐसे जीव जिनके एक शरीर का स्वामी एक ही हो	२०
पभासा	प्रभासा-अतिशय दीप्ति वाली, अहिंसा का ५७वां नाम	१६२
पमया	प्रमदा—स्त्री	१३२
पमोओ	प्रमोद, अहिंसा का २३वां नाम	१६१

पयावई	प्रजापति	६२
परदार	परस्त्री	१३५
परभवसंकामकारओ	परभवसंक्रामकारक, हिंसा का १८वां नाम	६
परसु	फरसा	३७, ८६
परहड	चोरी का दूसरा नाम	८४
परा	तृणविशेष	२०८
परिग्गहो	परिग्रह का पहला नाम	१४३
परिचारगा	व्यभिचार में सहायक	५३
परिजण	परिजन	७४
परिट्ठावणियासमित	मल-मूत्र आदि परठने की समिति से युक्त	२४८
परितावण अण्हओ	परितापन आस्रव, हिंसा का २६वां नाम	६
परियार	तलवार की म्यान	२२
परीसह	परिषह—कष्ट	२३२
पल्लल	पल्वल-छोटा तालाव	२४
पलाल	पलाल—पोआल	२०८
पलिओवम	उपमाकालविशेप	३३
पलित्त	प्रदीप्त	२६
पलिय	सफेद वाल	१३२
पवक	उछलने कूदनेवाला	२५५
पवयण	प्रवचन	५
पव्वक	वाद्यविशेप	२५३
पवा	प्याऊ	२१
पवित्ता	पवित्रा, अहिंसा का ५५वां नाम	१६२
पवित्थरो	धन का विस्तार, परिग्रह का २०वां नाम	१४३
पव्वीसग	वाद्यविशेष	११७
पसय	दो खुर वाला जानवर	१३
पहरण	शस्त्र	२२
पहाण	प्रधान	१३२
पहेरक	भूषणविशेष	२५३
पाइक्क	पैदल	६१
पागार	कोट	२१
पाठीण	एक जाति का मत्स्य	१३
पाणवहो	प्राणवध, हिंसा का पहला नाम	६
पाणियं	पानी	३४

भद्दा	भद्रा-कल्याणकारी, अहिंसा का २५ वां नाम	१६१
भमर	भंवरा	१६
भयग	नौकर	७४
भयंकरो	हिंसा का २३ वां नाम	६
भरहं	भरत क्षेत्र	११७
भवण	भवन	२१
भाइल्लगा	सेवक	७४
भायण	पात्र	२१
भारो	भार—आत्मा को भारी करने वाला, परिग्रह का १७ वां नाम	१४३
भावणा	भावना	१७७
भाविओ	भावित—संस्कार वाला	१७७
भास	भाप पक्षी	१५
भासासमित	भापासमिति वाला	२४८
भिक्खुपडिमा	साधु की पडिमा (प्रतिज्ञा)	२३१
भिंगारग	भिंगारक पक्षी	१५
भुज्जिय	भूंजे हुए धानी	२४२
भुयगीसर	शेपनाग	१२८
भूमिघर	भूमिगृह—तलघर	२१
भूयगामा	जीवों के समूह	२३१
भेयणिट्ठवग	भेदनिष्ठापन—हिंसा का एक नाम	६
भेसज्ज	भेपज	२४१
भोमालियं	भूमि सम्बन्धी झूठ	६६
भंडोवगरण	मिट्टी के भांड	२१
भिंडिमाल	भिंडिपाल	८६
मइय	मतिक—खेत जोतने के वाद ढेला फोड़ने का मोटा काष्ठ	२२
मउड	मुकुट	८६
मउलि	फण वाले सर्प	१४
मगर	मगरमच्छ	१३
मच्चू	मृत्यु, हिंसा का एक नाम	६
मच्छवंधा	मछली पकड़ने वाले	२४
मच्छी	मक्खी	४३
मच्छंडी	मिश्री	२४२
मज्ज	मद्य	२४२
मज्जण	मज्जन-मर्दन	२२१
मज्जार	विल्ली	१३
मडंव	जिसके नजदीक कोई वस्ती न हो ऐसी वस्ती	६२

मणगुत्ते	मनोगुप्त	२४८
मणपज्जवनाणी	मनःपर्यवज्ञानी	१६७
मणि	चन्द्रकान्त आदि	२००
मत्थुलिंग	मस्तुलिंग	१६
मयणसाल	मैना	१५
मधु	शहद	२४२
मम्मण	अस्पष्ट उच्चारण करने वाला	४७
मय	मद	२३१
मयूर	मोर	१५
मरहट्ठ	महाराष्ट्र देश	२५
मरुय	मरुआ	२५७
मरुया	मरुक देश	२५
मलय	मलय देश	२५
मल्ल	पहलवान	२५३
मसग	मशक, मच्छर	४३
महप्पा	महात्मा	७७
महव्वय	महाव्रत	२२०
महाकुंभि	बड़ी कुंभी	३२
महापह	राजमार्ग	६८
महासउणिपूतनारिपु	महाशकुनि और पूतना के शत्रु	१२२
महार्दि	अपरिमित याचना वाला, परिग्रह का १४ वां नाम	१४३
महिच्छा	तीव्र इच्छा, परिग्रह का एक नाम	१४३
महिस	भैंसा	१३
महुकरी	मधुमक्खी	१६
महुकोसए	मधु के छत्ते	७२
महुघाय	मधु लेने वाला	२४
महुर	महुर देश	२५
महेसी	महर्षि	५
महोरग	बड़ा सर्प	१४
माढि	ढाल	८६
माणुसोत्तर	मनुषोत्तर पर्वत	१४६
माया	माया—कपट	५१
मायामोसो	माया-मृषा	५१
मारणा	हिंसा का ७ वां नाम	६
मारुय	मारुत—वायु	४५
मालव	मालव देश	२५

मास	माष देश	२५
मित्तकलत्त	मित्र की पत्नी	६८
मिच्छद्दिट्ठी	मिथ्यादृष्टि वाला	१५६
मिलक्खुजाई	म्लेच्छजातीय	२५
मिय	मृग	१३
मुइंग	मृदङ्ग	२५३
मुगुंस	मंगूस-भुजपरिसर्प जन्तुविशेष	१४
मुट्ठिग्र	मौष्टिक देश	२५
मुट्ठिय	मौष्टिक मल्ल	२५३
मुत्त	मोती	२००
मुद्ध	मूर्धा—मस्तक	१२८
मुम्मुर	अग्नि के कण	२६
मुरय	मर्दल	२५३
मुरुंड	मुरुंड देश	२५
मुसल	मूसल	१२३
मुसंढि	प्रहरणविशेष—भुशुंडी	२२
मुहणंतक (पोत्तिय)	मुखवस्त्रिका	१८०
महंती	महती—महिता—सम्पन्न, अहिंसा का १५ वां नाम	१६१
मूक	गूंगा	४७
मूयक	एक प्रकार का तृण	२०८
मूलकम्मं	गर्भपात आदि मूल कर्म	७३
मूसल	खांडने का उपकरण	२२
मेयणी	पृथ्वी	१३२
मेय	मेद—धातु	१६
मेत्त	मेद देश	२५
मेर	मूंज के तन्तु	२०८
मेहला	मेखला	२५३
मोक्ख	मोक्ष	२१३
मेहुण	मैथुन	१३५
मोग्गर	मुद्गर	३७
मोट्ठिय	मुष्टिप्रमाण पत्थर	८६
मोयग	मोदक	२४२
मोसं	मिथ्या	५१
मोह	मोह—अब्रह्म का एक नाम	११३
मंगल	मङ्गलकारी, अहिंसा का ३० वाँ नाम	१६१
मंडक	मण्डप-रावटी	२२

रोम	रोम देश	२५
रोहिय	रोहित, पशुविशेष	७१
रोहिणी	रोहिणी, महिलाविशेष का नाम	१३८
लउड	लकुट—छोटा डंडा	२२
लट्ठी	लाठी	३२
लद्धी	लब्धि, अहिंसा का २७ वां नाम	१६१
लयण	पर्वत खोद कर बनाया गया स्थानविशेष	२१
लवण	लवणसमुद्र	१४६
लवंग	लौंग	२५७
लावक	लवा पक्षी	१५
लासग	रास गाने वाले	२५५
ल्हासिय	ल्हासिक देश	२५
लुद्धगा	व्याध	२४
लुद्धा	लोभग्रस्त	८७
लुंपणा	हिंसा का एक नाम	६
लेट्ठु	पत्थर	२००
लेण	पहाड़ में बना घर	२०७
लेस्साओ	लेश्या	२३१
लोलिक्क	चोरी का एक नाम	८४
लोहसंकल	लोह की बेडी	९६
लोहपंजर	लोहे का पींजरा	९६
लोहप्पा	लोभात्मा, परिग्रह का १३ वां नाम	१४३
लंगल	शस्त्रविशेष	८९
लुंपणा	हिंसा का २९ वां नाम	६
वइर	वज्र	१३२
वउस	वकुशदेश	२५
वक्खार	विजयों को विभक्त करने वाले पर्वत	१४६
वग्गुली	वागुल	१५
वज्ज-रिसह-नाराय-संघयण	वज्रऋषभनाराच संहनन	२१८
वज्जो	वर्ज्य, हिंसा का २५ वां नाम	६
वट्टग	वतक	१५
वट्टपव्वय	गोलाकार पर्वत	१४६
वडभ	टेढे-मेढे शरीर वाला	४७
वणचरगा	जंगल में घूमने वाले	२४
वणस्सइ (वणप्फइ)	वनस्पति	४५
वद्धीसक	वाद्यविशेष	२५३

वप्पणि	पानी की नाली	२१
वप्पिणि	बावडी	२१
वम्म	कवच	८६
वय	व्रत	२१३
वयगुत्ते	वचनगुप्त	२४८
वयरामय	वज्रमय	२८
वरत्त	चमडे की डोड़ी	६६
वरहिण	मयूर	७२
वराय	वराक—वेचारे	१५
वराहि	दृष्टिविष-सर्प	१४
वल्लकी (यी)	वीणा	२५३
वल्लय	वल्वज	२०८
वल्लर	खेतविशेष	२४
ववसाओ	व्यवसाय, अहिंसा का ४४ वां नाम	१६२
वव्वर	वर्वर देश	२५
वसहि	उपाश्रय—साधु के ठहरने का स्थान	२०७
वसा	चरवी	१६
वसीकरण	वशीकरण	७३
वहण	नौका	२२
वहणा	हिंसा का ८ वां नाम	६
वाउप्पिय	भुजपरिसर्पविशेष	१४
वाउरिय	जाल लेकर घूमने वाले	२४
वाणियगा	वणिक लोग	५३
वानर	वन्दर	१३
वानरकुल	वन्दर जाति	७१
वामण	छोटेशरीर वाला	४७
वामलोकवादी	लोकविरुद्ध—विपरीत वोलने वाला	५४
वायर	वादर—स्थूल	१३८
वायस	कौवा	१५
वाल	वाल	१६
वालरज्जुय	वाल की रस्सी	६६
वावि	कमल रहित या गोल वावडी	२१
वासहर	वर्षधर हिमवान् आदि पर्वत	१४६
वासि	वसूला	३७
वासुदेवा	वासुदेव	५५
वाहण	गाड़ी आदि	२२

वाहा	व्याध	२४
विउलमई	विपुलमति—ज्ञानविशेष	१६७
विकप्प	एक तरह का महल	२१
विकहा	विकथा	२३१
विग	भेड़िया, व्याघ्र	१३
विगला	अंगहीन	४७
विचित्त	विचित्रकूट पर्वत	१४६
विच्छुय	विच्छू	२६
विडव	शाखाग्र	१४१
विडंग	कबूतरों का घर	२२
विणासो	विनाश, हिंसा का २७ वां नाम	६
विण्हुमय	विष्णुमय	६२
वितत	ढोल आदि वाद्य	२२
वितत (वियय) पक्खि	वितत पक्षी	१५
विद्धि	वृद्धि, अहिंसा का २१ वां नाम	१६१
विप्पोसहिपत्त	एक विशिष्ट लब्धि का धारक	१६७
विपंची	वीणा	११७
विभूती	विभूति, अहिंसा का ३२ वां नाम	१६१
विभंग	मैथुन का एक नाम	११३
विमुत्ती	विमुक्ति—अहिंसा का १२ वां नाम	१६१
विमल	विमल—अहिंसा का ५८ वां नाम	१६२
वियग्घ	व्याघ्र	१३
विराहणा	विराधना	११३
विस	विष	१६
विसाण	हाथी का दांत	१६
विसिट्ठदिट्ठि	विशिष्टदृष्टि, अहिंसा का २८ वां नाम	१६१
विसुद्धी	विशुद्धि, अहिंसा का २६ वां नाम	१६१
विहग	पक्षीविशेष	१५
विहार	मठ	२२
वीसत्थछिद्दघाई	विश्वासी का अवसर देखकर घात करने वाला	९५
वीसासो	विश्वास, अहिंसा का ५१ वां नाम	१६२
वीसुय	विश्रुत—प्रसिद्ध	२१८
वेजयन्ती	विजयपताका	८९
वेढिम	वेष्टिम—जलेबी	२४२
वेतिय	वेदिका, चबूतरा	२१
वेयत्थी	वेदविहित अनुष्ठान के अर्थी	२३

सरड	गिरगिट नामक जीवविशेष	१४
सरण	शरण—स्थलविशेष	२१
सरंव	जन्तुविशेप	१४
सल्लय	जीवविशेप	७१
ससमय	स्वसमय—स्वकीय सिद्धान्त	२४८
ससय	शशक—खरगोश	१३, ७१
साउणिया	पक्षीमार—व्याध	२४
साल	शाखा—वृक्ष की डाली	१४१
साली	शाली धान्य विशेष	७४
साहसिय	साहसी—विना फल सोचे काम करने वाला	५३
साहारणसरीर	साधारण शरीर (जीव विशेष)	२०
सिद्धाति (इ) गुणा	सिद्धों के गुण	२३२
सिद्धावासो	सिद्धावास, अहिंसा का ३४वां नाम	१६१
सिप्प	शिल्पकला	१४८
सियाल	श्रृगाल	१३
सिरियंदलग	श्रीकन्दलक	१३
सिलप्पवाल	शिलाप्रवाल	२००
सिवं	शिव—उपद्रव रहित, अहिंसा का ३७वां नाम	१६१
सिहरि	शिखरी नामक पर्वत	१४६
सिहरिणि	दही और शक्कर से वना पेयविशेष—श्रीखंड	२४२
सीमागार	एक प्रकार का ग्राह	१३
सीया	सीता	१३७
सीया	शिविका—वड़ी पालकी	२२
सील	शील, अहिंसा का ३९वां नाम	१६१
सीलपरिघरो	शीलपरिग्रह, अहिंसा का ४१वां नाम	१६१
सीसक	सीसा	२४१
सीह	सिंह	१३
सीहल	सिंहल देश	२५
सूइ	व्यूहविशेप	८७
सुईमुह	सूचीमुख—तीखी चोंच वाला पक्षी	१५
सुक (य)	तोता	७२
सुकयं	सुकृत	५९
सुघोस	घंटा	२५३
सुणग	कुत्ता	३८
सुय	तोता	१५
सुयनाणी	श्रुतज्ञानी	१६७

संठाण	संस्थान—शारीरिक आकृति	१२७
संडासतोंड	संडास की आकृति की तरह मुंह वाला जीव	२६
संथवो	वाह्य पदार्थों का अधिक परिचय, परिग्रह का २२ वां नाम	१४३
संधिच्छेय	खात खोदने वाला	८६
संपाउप्पायको	झूठ आदि पाप को करने वाला, परिग्रह का १८ वां नाम	१४३
संदण	युद्धरथ तथा देवरथ	२२
संवह	संवाध, वस्ती विशेष	१४१
संवर	सांभर	१३
संभारो	संभार, जो अच्छी तरह से धारण किया जाय, परिग्रह का छठा नाम	१४३
संमुच्छिम	सम्मूर्च्छिम, विना गर्भ के उत्पन्न होने वाला जीव	१३८
संवरो	संवर, अहिंसा का ४२ वां नाम	१६२
संवट्टगसंखेवो	हिंसा का एक नाम	६
संसग्गि	मैथुन का एक नाम	११३
संसेइम	पसीने से पैदा होने वाला जीव	१३८
संरक्खणा	संरक्षणा—मोहवश शरीर आदि की रक्षा करना, परिग्रह का १६ वां नाम	१४३
सिंग	सींग	१६
सुंसुमार	जलचर जन्तुविशेष	१३
हडि	काष्ठ का खोड़ा	६६
हत्थि	हाथी	२५७
हत्थिमड	हाथी का कलेवर	२५७
हणि हणि	प्रतिदिन	२०८
हत्थंदुय	हस्तान्दुक, एक प्रकार का वन्धन	६६
हय	घोड़ा	१३
हयपुंडरिय	ह्रदपुण्डरीक पक्षी	१५
हरिएसा	चाण्डाल	२४
हल	हल	१२३
हस्स	हास्य	२३
हितयंत	हृदय और आंत	१६
हिमवंत	इस नाम का पर्वत	२१३
हिरण्ण	चांदी	२४१
हीण	हीन	४७
हीणसत्तां	सत्त्व से रहित	४७
हुलियं	शीघ्र	२८
हूण	हूण नामक जाति	२५

हेसिय	घोड़े की हिनहिनाहट	८९
हंस	हंस	२५
हिंसविहंसा	हिंस्य (हिंस्र) विहिंसा, हिंसा का चौथा नाम	९
हुंड	वेडोल शरीर	२९

□□

अनध्यायकाल

[स्व० आचार्यप्रवर श्री आत्मारामजी म० द्वारा सम्पादित नन्दीसूत्र से उद्धृत]

स्वाध्याय के लिए आगमों में जो समय बताया गया है, उसी समय शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए। अनध्यायकाल में स्वाध्याय वर्जित है।

मनुस्मृति आदि स्मृतियों में भी अनध्यायकाल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। वैदिक लोग भी वेद के अनध्यायों का उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार अन्य आर्ष ग्रन्थों का भी अनध्याय माना जाता है। जैनागम भी सर्वज्ञोक्त, देवाधिष्ठित तथा स्वरविद्या संयुक्त होने के कारण, इन का भी आगमों में अनध्यायकाल वर्णित किया गया है, जैसे कि—

दसविधे अंतलिक्खिते असज्झाए पण्णत्ते, तं जहा—उक्कावाते, दिसिदाघे, गज्जिते, निग्घाते, जुवते, जक्खालित्ते, धूमिता, महिता, रयउग्घाते।

दसविहे ओरालिते असज्झातिते, तं जहा—अट्ठी, मंसं, सोणिते, असुतिसामते, सुसाणसामते, चंदोवराते, सूरोवराते, पडने, रायवुग्गहे, उवस्सयस्स अंतो ओरालिए सरीरगे।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान १०

नो कप्पति निग्गंथाण वा, निग्गथीण वा चउहिं महापाडिवएहिं सज्झाय करित्तए, तं जहा—आसाढपाडिवए, इंदमहपाडिवए, कत्तिअपाडिवए, सुगिम्हपाडिवए। नो कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा, चउहिं संझाहिं सज्झायं करेत्तए, तं जहा—पडिमाते, पच्छिमाते, मज्झण्हे, अड्ढरत्ते। कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीण वा, चाउक्कालं सज्झाय करेत्तए, तं जहा—पुव्वण्हे, अवरण्हे, पओसे, पच्चूसे।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान ४, उद्देश २

उपरोक्त सूत्रपाठ के अनुसार, दस आकाश से सम्बन्धित, दस औदारिक शरीर से सम्बन्धित, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदा की पूर्णिमा और चार सन्ध्या, इस प्रकार बत्तीस अनध्याय माने गए हैं। जिनका संक्षेप में निम्न प्रकार से वर्णन है, जैसे—

आकाश सम्बन्धी दस अनध्याय

१. उल्कापात-तारापतन—यदि महत् तारापतन हुआ है तो एक प्रहर पर्यन्त शास्त्र-स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

२. दिग्दाह—जब तक दिशा रक्तवर्ण की हो अर्थात् ऐसा मालूम पड़े कि दिशा में आग सी लगी है, तब भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

३. गर्जित—बादलों के गरजने पर दो प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय न करे।

४. विद्युत—बिजली चमकने पर एक प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।
किन्तु गर्जन और विद्युत् का अस्वाध्याय चातुर्मास में नहीं मानना चाहिए। क्योंकि वह

गर्जन और विद्युत प्रायः ऋतु स्वभाव से ही होता है। अतः आर्द्रा में स्वाति नक्षत्र पर्यन्त अनध्याय नहीं माना जाता।

५. **निर्घात**—विना बादल के आकाश में व्यन्तरादिकृत घोर गर्जन होने पर, या बादलों सहित आकाश में कड़कने पर दो प्रहर तक अस्वाध्याय काल है।

६. **यूपक**—शुक्ल पक्ष मे प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया को सन्ध्या चन्द्रप्रभा के मिलने को यूपक कहा जाता है। इन दिनो प्रहर रात्रि पर्यन्त स्वाध्याय नही करना चाहिए।

७. **यक्षादीप्त**—कभी किसी दिशा में बिजली चमकने जैसा, थोड़े थोड़े समय पीछे जो प्रकाश होता है वह यक्षादीप्त कहलाता है। अतः आकाश में जब तक यक्षाकार दीखना रहे तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

८. **धूमिका कृष्ण**—कार्तिक से लेकर माघ तक का समय मेघों का गर्भमास होता है। इसमें धूम वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुंध पड़ती है। वह धूमिका-कृष्ण कहलाती है। जब तक यह धुंध पड़ती रहे, तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

९. **मिहिकाश्वेत**—शीतकाल में श्वेत वर्ण का सूक्ष्म जलरूप धुंध मिहिका कहलाती है। जब तक यह गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय काल है।

१०. **रज उद्घात**—वायु के कारण आकाश में चारों ओर धूलि छा जाती है। जब तक यह धूलि फैली रहती है, स्वाध्याय नही करना चाहिए।

उपरोक्त दस कारण आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय के हैं।

औदारिक सम्बन्धी दस अनध्याय

११-१२-१३ **हड्डी मांस और रुधिर**—पंचेन्द्रिय तिर्यंच की हड्डी मांस और रुधिर यदि सामने दिखाई दें, तो जब तक वहाँ से यह वस्तुएँ उठाई न जाएँ तब तक अस्वाध्याय है। वृत्तिकार आस पास के ६० हाथ तक इन वस्तुओं के होने पर अस्वाध्याय मानते हैं।

इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी अस्थि, मांस और रुधिर का भी अनध्याय माना जाता है। विशेषता इतनी है कि इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन रात का होना है। स्त्री के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन तक। बालक एवं बालिका के जन्म का अस्वाध्याय क्रमशः सात एवं आठ दिन पर्यन्त का माना जाता है।

१४. **अशुचि**—मल-मूत्र सामने दिखाई देने तक अस्वाध्याय है।

१५. **श्मशान**—श्मशानभूमि के चारों ओर सौ-सौ हाथ पर्यन्त अस्वाध्याय माना जाता है।

१६. **चन्द्रग्रहण**—चन्द्रग्रहण होने पर जघन्य आठ, मध्यम बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नही करना चाहिए।

१७. **सूर्यग्रहण**—सूर्यग्रहण होने पर भी क्रमशः आठ, बारह और सोलह प्रहर पर्यन्त अस्वाध्यायकाल माना गया है।

१८. पतन—किसी बड़े मान्य राजा अथवा राष्ट्रपुरुष का निधन होने पर जब तक उसका दाहसंस्कार न हो, तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। अथवा जब तक दूसरा अधिकारी सत्तारूढ न हो, तब तक शनैः शनैः स्वाध्याय करना चाहिए।

१९. राजव्युद्ग्रह—समीपस्थ राजाओं में परस्पर युद्ध होने पर जब तक शान्ति न हो जाए, तब तक और उसके पश्चात् भी एक दिन-रात्रि स्वाध्याय नहीं करें।

२०. औदारिक शरीर—उपाश्रय के भीतर पंचेन्द्रिय जीव का वध हो जाने पर जब तक कलेवर पड़ा रहे, तब तक तथा १०० हाथ तक यदि निर्जीव कलेवर पडा हो तो स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

अस्वाध्याय के उपरोक्त १० कारण औदारिक शरीर सम्बन्धी कहे गये हैं।

२१-२८. चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदा—आषाढ-पूर्णिमा, आश्विन-पूर्णिमा, कार्तिक-पूर्णिमा और चैत्र-पूर्णिमा ये चार महोत्सव हैं। इन पूर्णिमाओं के पश्चात् आने वाली प्रतिपदा को महाप्रतिपदा कहते हैं। इनमें स्वाध्याय करने का निषेध है।

२९-३२. प्रातः, सायं, मध्याह्न और अर्धरात्रि—प्रातः सूर्य उगने से एक घडी पहिले तथा एक घड़ी पीछे। सूर्यास्त होने से एक घड़ी पहले तथा एक घड़ी पीछे। मध्याह्न अर्थात् दोपहर में एक घड़ी आगे और एक घड़ी पीछे एवं अर्धरात्रि में भी एक घड़ी आगे तथा एक घड़ी पीछे स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

अर्थसहयोगी सदस्यों की शुभ नामावली

महास्तम्भ

१. श्री सेठ मोहनमलजी चोरड़िया, मद्रास
२. श्री गुलाबचन्दजी मांगीलालजी सुराणा, सिकन्दराबाद
३. श्री पुखराजजी शिशोदिया, ब्यावर
४. श्री सायरमलजी जेठमलजी चोरड़िया, बैंगलोर
५. श्री प्रेमराजजी भंवरलालजी श्रीश्रीमाल, दुर्ग
६. श्री एस. किशनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
७. श्री कंवरलालजी बेताला, गोहाटी
८. श्री सेठ खींवराजजी चोरड़िया, मद्रास
९. श्री गुमानमलजी चोरड़िया, मद्रास
१०. श्री एस. बादलचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
११. श्री जे. दुलीचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१२. श्री एस. रतनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१३. श्री जे. अन्नराजजी चोरडिया, मद्रास
१४. श्री एस. सायरचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१५. श्री आर. शान्तिलालजी उत्तमचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१६. श्री सिरेमलजी हीराचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१७. श्री जे. हुक्मीचन्दजी चोरड़िया, मद्रास

स्तम्भ सदस्य

१. श्री अगरचन्दजी फतेचन्दजी पारख, जोधपुर
२. श्री जसराजजी गणेशमलजी सचेती, जोधपुर
३. श्री तिलोकचंदजी सागरमलजी सचेती, मद्रास
४. श्री पूसालालजी किस्तूरचंदजी सुराणा, कटंगी
५. श्री आर. प्रसन्नचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
६. श्री दीपचन्दजी बोकड़िया, मद्रास
७. श्री मूलचन्दजी चोरड़िया, कटंगी
८. श्री वर्द्धमान इण्डस्ट्रीज, कानपुर
९. श्री मांगीलालजी मिश्रीलालजी सचेती, दुर्ग

संरक्षक

१. श्री बिरदीचंदजी प्रकाशचंदजी तलेसरा, पाली
२. श्री ज्ञानराजजी केवलचन्दजी मूथा, पाली
३. श्री प्रेमराजजी जतनराजजी मेहता, मेड़ता सिटी
४. श्री शा० जड़ावमलजी माणकचन्दजी बेताला, बागलकोट
५. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपड़ा, ब्यावर
६. श्री मोहनलालजी नेमीचंदजी ललवाणी, चांगाटोला
७. श्री दीपचंदजी चन्दनमलजी चोरड़िया, मद्रास
८. श्री पन्नालालजी भागचन्दजी बोथरा, चांगाटोला
९. श्रीमती सिरेकुँवर बाई धर्मपत्नी स्व. श्री सुगनचंदजी झामड़, मदुरान्तकम्
१०. श्री बस्तीमलजी मोहनलालजी बोहरा (K.G.F.) जाड़न
११. श्री थानचंदजी मेहता, जोधपुर
१२. श्री भैरुदानजी लाभचंदजी सुराणा, नागौर
१३. श्री खूबचन्दजी गादिया, ब्यावर
१४. श्री मिश्रीलालजी धनराजजी विनायकिया, ब्यावर
१५. श्री इन्द्रचंदजी बैद, राजनांदगांव
१६. श्री रावतमलजी भीकमचंदजी पगारिया, बालाघाट
१७. श्री गणेशमलजी धर्मीचंदजी कांकरिया, टंगला
१८. श्री सुगनचन्दजी बोकड़िया, इन्दौर
१९. श्री हरकचंदजी सागरमलजी बेताला, इन्दौर
२०. श्री रघुनाथमलजी लिखमीचंदजी लोढ़ा, चांगाटोला
२१. श्री सिद्धकरणजी शिखरचन्दजी बैद, चांगाटोला

२२. श्री सागरमलजी नोरतमलजी पींचा, मद्रास
२३. श्री मोहनराजजी मुकनचन्दजी बालिया, अहमदाबाद
२४. श्री केशरीमलजी जंवरीलालजी तलेसरा, पाली
२५. श्री रतनचंदजी उत्तमचंदजी मोदी, ब्यावर
२६. श्री धर्मीचंदजी भागचंदजी बोहरा, झूठा
२७. श्री छोगमलजी हेमराजजी लोढ़ा, डोंडीलोहारा
२८. श्री गुणचंदजी दलीचंदजी कटारिया, बेल्लारी
२९. श्री मूलचंदजी सुजानमलजी संचेती, जोधपुर
३०. श्री सी० अमरचंदजी बोथरा, मद्रास
३१. श्री भंवरीलालजी मूलचंदजी सुराणा, मद्रास
३२. श्री बादलचंदजी जुगराजजी मेहता, इन्दौर
३३. श्री लालचंदजी मोहनलालजी कोठारी, गोठन
३४. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपड़ा, अजमेर
३५. श्री मोहनलालजी पारसमलजी पगारिया, बैंगलोर
३६. श्री भंवरीमलजी चोरड़िया, मद्रास
३७. श्री भंवरलालजी गोठी, मद्रास
३८. श्री जालमचंदजी रिखबचंदजी बाफना, आगरा
३९. श्री घेवरचंदजी पुखराजजी भुरट, गोहाटी
४०. श्री जबरचंदजी गेलड़ा, मद्रास
४१. श्री जड़ावमलजी सुगनचंदजी, मद्रास
४२. श्री पुखराजजी विजयराजजी, मद्रास
४३. श्री चेनमलजी सुराणा ट्रस्ट, मद्रास
४४. श्री लूणकरणजी रिखबचंदजी लोढ़ा, मद्रास
४५. श्री सूरजमलजी सज्जनराजजी मेहता, कोप्पल

सहयोगी सदस्य

१. श्री देवकरणजी श्रीचन्दजी डोसी, मेड़तासिटी
२. श्री छगनीबाई विनायकिया, ब्यावर
३. श्री पूनमचंदजी नाहटा, जोधपुर
४. श्री भंवरलालजी विजयराजजी कांकरिया, विल्लीपुरम्
५. श्री भंवरलालजी चौपड़ा, ब्यावर
६. श्री विजयराजजी रतनलालजी चतर, ब्यावर
७. श्री बी. गजराजजी बोकड़िया, सलेम
८. श्री फूलचन्दजी गौतमचन्दजी कांठेड, पाली
९. श्री के. पुखराजजी बाफणा, मद्रास
१०. श्री रूपराजजी जोधराजजी मूथा, दिल्ली
११. श्री मोहनलालजी मंगलचंदजी पगारिया, रायपुर
१२. श्री नथमलजी मोहनलालजी लूणिया, चण्डावल
१३. श्री भंवरलालजी गौतमचन्दजी पगारिया, कुशालपुरा
१४. श्री उत्तमचंदजी मांगीलालजी, जोधपुर
१५. श्री मूलचन्दजी पारख, जोधपुर
१६. श्री सुमेरमलजी मेड़तिया, जोधपुर
१७. श्री गणेशमलजी नेमीचन्दजी टांटिया, जोधपुर
१८. श्री उदयराजजी पुखराजजी संचेती, जोधपुर
१९. श्री बादरमलजी पुखराजजी बंट, कानपुर
२०. श्रीमती सुन्दरबाई गोठी W/o श्री जंवरीलालजी गोठी, जोधपुर
२१. श्री रायचंदजी मोहनलालजी, जोधपुर
२२. श्री घेवरचंदजी रूपराजजी, जोधपुर
२३. श्री भंवरलालजी माणकचंदजी सुराणा, मद्रास
२४. श्री जंवरीलालजी अमरचन्दजी कोठारी, ब्यावर
२५. श्री माणकचन्दजी किशनलालजी, मेड़तासिटी
२६. श्री मोहनलालजी गुलाबचन्दजी चतर, ब्यावर
२७. श्री जसराजजी जंवरीलालजी धारीवाल, जोधपुर
२८. श्री मोहनलालजी चम्पालालजी गोठी, जोधपुर
२९. श्री नेमीचंदजी डाकलिया मेहता, जोधपुर
३०. श्री ताराचंदजी केवलचंदजी कर्णावट, जोधपुर
३१. श्री आसूमल एण्ड कं०, जोधपुर
३२. श्री पुखराजजी लोढ़ा, जोधपुर
३३. श्रीमती सुगनीबाई W/o श्री मिश्रीलालजी सांड, जोधपुर
३४. श्री बच्छराजजी सुराणा, जोधपुर
३५. श्री हरकचन्दजी मेहता, जोधपुर
३६. श्री देवराजजी लाभचंदजी मेड़तिया, जोधपुर
३७. श्री कनकराजजी मदनराजजी गोलिया, जोधपुर
३८. श्री घेवरचन्दजी पारसमलजी टांटिया, जोधपुर
३९. श्री मांगीलालजी चोरड़िया, कुचेरा

४०. श्री सरदारमलजी सुराणा, भिलाई
४१. श्री ओकचंदजी हेमराज जी सोनी, दुर्ग
४२. श्री सूरजकरणजी सुराणा, मद्रास
४३. श्री घीसूलालजी लालचंदजी पारख, दुर्ग
४४. श्री पुखराजजी बोहरा, (जैन ट्रान्सपोर्ट कं.) जोधपुर
४५. श्री चम्पालालजी सकलेचा, जालना
४६. श्री प्रेमराजजी मीठालालजी कामदार, बैंगलोर
४७. श्री भवरलालजी मूथा एण्ड सन्स, जयपुर
४८. श्री लालचंदजी मोतीलालजी गादिया, बैंगलोर
४९. श्री भंवरलालजी नवरत्नमलजी साखला, मेट्टूपालियम
५०. श्री पुखराजजी छल्लाणी, करणगुल्ली
५१. श्री आसकरणजी जसराज जी पारख, दुर्ग
५२. श्री गणेशमलजी हेमराजजी सोनी, भिलाई
५३. श्री अमृतराजजी जसवन्तराजजी मेहता, मेड़तासिटी
५४. श्री घेवरचदजी किशोरमलजी पारख, जोधपुर
५५. श्री मागीलालजी रेखचंदजी पारख, जोधपुर
५६. श्री मुन्नीलालजी मूलचंदजी गुलेच्छा, जोधपुर
५७. श्री रतनलालजी लखपतराजजी, जोधपुर
५८. श्री जीवराजजी पारसमलजी कोठारी, मेड़ता सिटी
५९. श्री भंवरलालजी रिखबचंदजी नाहटा, नागौर
६०. श्री मांगीलालजी प्रकाशचन्दजी रूणवाल, मैसूर
६१. श्री पुखराजजी बोहरा, पीपलिया
६२. श्री हरकचंदजी जुगराजजी बाफना, बैंगलोर
६३. श्री चन्दनमलजी प्रेमचंदजी मोदी, भिलाई
६४. श्री भींवराजजी बाघमार, कुचेरा
६५. श्री तिलोकचंदजी प्रेमप्रकाशजी, अजमेर
६६. श्री विजयलालजी प्रेमचंदजी गुलेच्छा, राजनांदगाँव
६७. श्री रावतमलजी छाजेड़, भिलाई
६८. श्री भंवरलालजी डूंगरमलजी कांकरिया, भिलाई
६९. श्री हीरालालजी हस्तीमलजी देशलहरा, भिलाई
७०. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावकसंघ, दल्ली-राजहरा
७१. श्री चम्पालालजी बुद्धराजजी बाफणा, ब्यावर
७२. श्री गंगारामजी इन्द्रचंदजी बोहरा, कुचेरा
७३. श्री फतेहराजजी नेमीचंदजी कर्णावट, कलकत्ता
७४. श्री बालचंदजी थानचन्दजी भुरट, कलकत्ता
७५. श्री सम्पतराजजी कटारिया, जोधपुर
७६. श्री जवरीलालजी शांतिलालजी सुराणा, बोलारम
७७. श्री कानमलजी कोठारी, दादिया
७८. श्री पन्नालालजी मोतीलालजी सुराणा, पाली
७९. श्री माणकचंदजी रतनलालजी मुणोत, टंगला
८०. श्री चिम्मनसिंहजी मोहनसिंहजी लोढ़ा, ब्यावर
८१. श्री रिद्धकरणजी रावतमलजी भुरट, गौहाटी
८२. श्री पारसमलजी महावीरचंदजी बाफना, गोठन
८३. श्री फकीरचदजी कमलचंदजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
८४. श्री मांगीलालजी मदनलालजी चोरड़िया भैरूंदा
८५. श्री सोहनलालजी लूणकरणजी सुराणा, कुचेरा
८६. श्री घीसूलालजी, पारसमलजी, जंवरीलालजी कोठारी, गोठन
८७. श्री सरदारमलजी एन्ड कम्पनी, जोधपुर
८८. श्री चम्पालालजी हीरालालजी बागरेचा, जोधपुर
८९. श्री पुखराजजी कटारिया, जोधपुर
९०. श्री इन्द्रचन्दजी मुकन्दचन्दजी, इन्दौर
९१. श्री भंवरलालजी बाफणा, इन्दौर
९२. श्री जेठमलजी मोदी, इन्दौर
९३. श्री बालचन्दजी अमरचन्दजी मोदी, ब्यावर
९४. श्री कुन्दनमलजी पारसमलजी भंडारी
९५. श्री कमलाकंवर ललवाणी धर्मपत्नी श्री स्व. पारसमलजी ललवाणी, गोठन
९६. श्री अखेचंदजी लूणकरणजी भण्डारी, कलकत्ता
९७. श्री सुगनचन्दजी संचेती, राजनांदगाँव

९८. श्री प्रकाशचंदजी जैन, भरतपुर
९९. श्री कुशालचंदजी रिखवचंदजी सुराणा, वोलारम
१००. श्री लक्ष्मीचंदजी अशोककुमारजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
१०१. श्री गूदड़मलजी चम्पालालजी, गोठन
१०२. श्री तेजराज जी कोठारी, मांगलियावास
१०३. श्री सम्पतराजजी चोरड़िया, मद्रास
१०४. श्री अमरचंदजी छाजेड़, पादु वड़ी
१०५. श्री जुगराजजी धनराजजी वरमेचा, मद्रास
१०६. श्री पुखराजजी नाहरमलजी ललवाणी, मद्रास
१०७. श्रीमती कंचनदेवी व निर्मलादेवी, मद्रास
१०८. श्री दुलेराजजी भंवरलालजी कोठारी, कुशालपुरा
१०९. श्री भंवरलालजी मांगीलालजी वेताला, डेह
११०. श्री जीवराजजी भंवरलालजी, चोरड़िया भैरूंदा
१११. श्री माँगीलालजी शांतिलालजी रूणवाल, हरसोलाव
११२. श्री चांदमलजी धनराजजी मोदी, अजमेर
११३. श्री रामप्रसन्न ज्ञानप्रसार केन्द्र, चन्द्रपुर
११४. श्री भूरमलजी दुल्लीचंदजी वोकड़िया, मेड़ता सिटी
११५. श्री मोहनलालजी धारीवाल, पाली
११६. श्रीमती रामकुंवरवाई धर्मपत्नी श्री चांदमलजी लोढ़ा, वम्बई
११७. श्री माँगीलालजी उत्तमचदजी वाफणा, वेंगलोर
११८. श्री सांचालालजी वाफणा, औरंगावाद
११९. श्री भीकमचन्दजी माणकचन्दजी खाबिया, (कुडालोर), मद्रास
१२०. श्रीमती अनोपकुंवर धर्मपत्नी श्री चम्पालालजी सघवी, कुचेरा
१२१. श्री सोहनलालजी सोजतिया, थांवला
१२२. श्री चम्पालालजी भण्डारी, कलकत्ता
१२३. श्री भीकमचदजी गणेशमलजी चौधरी, धूलिया
१२४. श्री पुखराजजी किशनलालजी तातेड़, सिकन्दरावाद
१२५. श्री मिश्रीलालजी सज्जनलालजी कटारिया, सिकन्दरावाद
१२६. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ, वगड़ीनगर
१२७. श्री पुखराजजी पारसमलजी ललवाणी, विलाड़ा
१२८. श्री टी. पारसमलजी चोरडिया मद्रास
१२९. श्री मोतीलालजी आसूलालजी वोहरा एण्ड कं. वेंगलोर
१३०. श्री सम्पतराजजी सुराणा, मनमाड़

□□